ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

कारण-कार्यनियम

(नियमसार प्रवचन, भाग-४)

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री नियमसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
गाथा ९६ से ११८ और कलश १२७ से १८८ पर
धारावाहिक शब्दशः प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

परम पूज्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री नियमसारजी नामक शास्त्र अध्यात्म प्रधान द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सत्शास्त्रों में से एक सर्वोत्कृष्ट तथा चारित्र प्रधान श्रेष्ठतम शास्त्र है।

परम भट्टारक शासननायक श्री महावीरस्वामी के निर्वाण के पश्चात् अन्य केवली तथा श्रुतकेवली कथित आगम और अध्यात्म विद्या का संकलन चार अनुयोग के असंख्य शास्त्रों में अनेक आचार्यों-मुनिभगवन्तों द्वारा सम्पन्न हुआ है। सनातन दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में कलिकाल सर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान अजोड़ है। लगभग चौरासी पाहुड़ शास्त्रों की भेंट आपश्री ने प्रदान की है, तथापि अभी मात्र १२-१५ ही उपलब्ध हो सके हैं।

उन उपलब्ध सत्शास्त्रों में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार जैसे उत्तमोत्तम परमागमों में हजारों शास्त्रों का सार समाहित हो जाता है। जैसे समयसार में शुद्धनय से नौ तत्त्वों का निरूपण किया है, वैसे नियमसार में शुद्धनय से ही जीव-अजीव, शुद्धभाव, प्रतिक्रमण इत्यादि विषयों का वर्णन है।

वर्तमान में उपलब्ध भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के उत्कृष्ट परमागमों में अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिये रचित सर्वोत्कृष्ट श्री समयसारजी में दृष्टिप्रधान कथन से शुद्धात्मा का स्वरूप समझाया है। दिव्यध्वनि के सार श्री प्रवचनसारजी में ज्ञानप्रधान कथन से वही स्वरूप वर्णन किया है। श्री नियमसारजी में चारित्र अधिकार की मुख्यता से उसी स्वरूप का वर्णन है। वीतरागता प्रगट करने के प्रयोजन से दृष्टि-ज्ञान-चारित्र के आश्रयभूत शुद्धात्मा का ही वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है।

श्री नियमसारजी की तो आचार्यदेव ने स्वयं के जीवन की सन्ध्याकाल में निज भावना के निमित्त से रचना की होने से कारणपरमात्मा का बहुत ही घोलन किया है।

इस असाधारण परमागम की टीका भावी तीर्थाधिनाथ अतीन्द्रिय आनन्द के रसिक भावलिंगी मुनिराज श्रीमद् पद्मप्रभमलधारिदेव ने की है। जिनके मुख में से परमागमरूपी मकरन्द झरता है, ऐसे मुनिराज कहते हैं कि गुण के धारक गणधरों से रचित तथा श्रुतधरों की परम्परा से भली प्रकार से व्यक्त किये गये इस परमागम के सार की पुष्टरुचि से यह टीका सहज रची गयी है। टीकाकार ने श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के हृदय में रहे हुए आध्यात्मिक भावों को स्वानुभूति से प्रमाण करके, परमपारिणामिकभाव में रहे हुए अन्तर रहस्यों को खोला है।

श्री नियमसार भरतक्षेत्र के उत्तमोत्तम शास्त्रों में से एक होने पर भी प्राभृतत्रय की समानता में इसकी प्रसिद्ध बहुत कम है। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी विक्रम संवत् १९७२ में नियमसार की भूमिका में सत्य ही लिखते हैं कि '**आज तक श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पंचास्तिकाय संग्रह, प्रवचनसार, और समयसार, ये तीन रत्न ही बहुत प्रसिद्ध हैं। खेद की बात है कि उनके जैसा,**

तथापि कितने ही अंशों में उनसे भी अधिक ऐसा नियमसार रत्न है, उसकी प्रसिद्धि इतनी कम है कि कोई कोई तो उसका नाम भी नहीं जानते।'

नियमसार अर्थात् भागवत् शास्त्र (गाथा १८७)। श्रुतपरम्परा में शास्त्रों का प्रणयन शिष्यों को सम्बोधन के लिए अथवा व्यक्तिगत उद्देश्य से किया जाता है परन्तु इस ग्रन्थाधिराज की रचना आचार्यश्री ने अपने दैनिक पाठ के लिए की होनी चाहिए, क्योंकि आचार्यश्री की ग्रन्थ की अन्तिम उक्ति द्वारा स्पष्ट होता है कि 'णियभावणाणिमित्तं' अर्थात् निजभावना के अर्थ / निमित्त से पूर्वापर दोषों से रहित जिनोपदेश को जानकर मैंने नियमसार नाम का शास्त्र रचा है।

नियमसार अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय की अपेक्षारहित शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप। इस ग्रन्थ में पर्याय की मुख्यता से कथन होने पर भी भावलिंगी सन्तों की दृष्टि तो उसके कारण पर ही रहा करती है।

भव्य जीवों को भाग्योदय से इस नियमसार कृति पर तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका लिखनेवाले महासमर्थ मुनिराजश्री पद्मप्रभमलधारिदेव हुए, जो वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य थे और विक्रम की १३वीं शताब्दी में हो गये हैं। इस शास्त्रजी में १८७ गाथाओं में प्रतिपादित विषयवस्तु को निम्न अनुसार बारह विभागों में प्रस्तुत किया गया है।

१. जीव अधिकार	७. परम आलोचना अधिकार
२ अजीव अधिकार	८. शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त अधिकार
३. शुद्धभाव अधिकार	९. परम समाधि अधिकार
४. व्यवहारचारित्र अधिकार	१०. परमभक्ति अधिकार
५. परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार	११. परम आवश्यक अधिकार
६. निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार	१२. शुद्धोपयोग अधिकार

निश्चयप्रत्याख्यान परम आलोचना और शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त अधिकार का संक्षिप्त परिचय

ग्रन्थाधिराज नियमसार भावनाप्रधान शास्त्र है। चारित्र की विशेष भावना इस ग्रन्थ में प्रस्तुत हुई है। परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार की ९३ नम्बर की गाथा में 'ध्यान में लीन साधु सर्व दोषों का परित्याग करता है, इसलिए ध्यान ही वास्तव में अतिचार का प्रतिक्रमण है' ऐसा कहकर स्वरूप ध्यान की विशेषता बतलाकर उसकी महिमा वर्णन की गयी है। उसी प्रकार बाद के परमार्थ प्रत्याख्यान अधिकार में और आलोचना अधिकार में भी ध्यान की ही विशेषता दर्शायी गयी है।

इसलिए ये दोनों अधिकार भी ध्यानरूप ही है।

प्रतिक्रमण में ध्यान द्वारा भूतकाल के दोषों का निराकरण होता है, जबकि आलोचना और

प्रत्याख्यान में वर्तमान तथा भावि काल के दोषों का निराकरण होता है। ९५ गाथा में आचार्यश्री फरमाते हैं कि

भावी शुभाशुभ छोड़कर तजकर वचन विस्तार रे।
जो जीव ध्याता आत्म, प्रत्याख्यान होता है उसे॥९५॥

इस गाथा में आया हुआ 'अनागत' अर्थात् 'भावि' शब्द ही दर्शाता है कि प्रत्याख्यान का सम्बन्ध भविष्य के दोषों के त्याग के अर्थ में है। लगातार गाथा क्रमांक ९५ से १०६ तक की बारह गाथाओं में मूल ग्रन्थकर्ता ने साधक की प्रत्याख्यान भावना को नचाया है इस प्रकरण में बीच में आयी हुई १००वीं गाथा विशेष दृष्टव्य है।

मम ज्ञान में है आतमा, दर्शन चरित में आतमा।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योग में भी आतमा॥१००॥

इस प्रकार सर्वत्र आत्मभावना से आचार्य का मन झूले पर चढ़ा हुआ दिखता है। १०२वीं गाथा अन्य अनेक ग्रन्थों में भी दृष्टिगोचर होती है, विशेषरूप से सामायिक पाठ में भी जिसका उल्लेख देखने को मिलता है, वह गाथा विशेषरूप से ध्यान में लेने योग्य है।

दृग्ज्ञान-लक्षित और शाश्वत मात्र-आत्मा मम अरे।
अरु शेष सब संयोग लक्षित भाव मुझसे है परे॥१०२॥

आगे जाते हुए सर्व जीवों के प्रति समता धारण करके समाधि को प्राप्त करने की प्रतिज्ञा आचार्यश्री साधक को 'निष्कषाय है, संयमी है, शूरवीर है, शुद्धता के प्रति उद्यमवन्त है और संसार से भयभीत है, उसे सुख में प्रत्याख्यान होता है' - ऐसा दर्शाया है।

इस निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार में १२ गाथाएँ, २५ कलश काव्य तथा ग्रन्थान्तरों में से १२ उद्धरण हैं।

तत्पश्चात् सातवाँ अधिकार परम आलोचना का है, जो १०७ गाथा से गाथा क्रमांक ११२वीं, तक कुल ६ गाथाओं में निबद्ध है।

अधिकार के प्रारम्भ में निश्चय आलोचना का स्वरूप कथन करके बाद की १०८वीं गाथा में आलोचना के स्वरूप का चार भेदों में कथन स्पष्ट किया गया है। इस अधिकार की अन्तिम गाथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमें भावविशुद्धि के उल्लेख के साथ अधिकार का उपसंहाररूप कथन है।

इस प्रकार केवल ६ गाथा प्रमाणरूप तथा २८ काव्यों और दो सन्दर्भ काव्यों से भरपूर यह अधिकार की चारित्र की श्रेष्ठ आध्यात्मिक कविता है।

इसके पश्चात् गाथा ११३ से १२१ तक आठवाँ शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त अधिकार आता है।

जिस अधिकार की शुरुआत में ही आचार्यश्री 'बहुत कहने से क्या? अनेक कर्मों के क्षय का हेतु ऐसा जो महर्षियों का उत्तम तपश्चरण है, वह सब प्रायश्चित्त जान' ऐसी शिक्षा प्रदान की गयी है। बाद की गाथाओं में तप की महिमा दर्शाते हुए अनन्तानन्त भवों द्वारा उपार्जित शुभाशुभ कर्मराशि तपश्चरण से विनाश को प्राप्त होती है, इसलिए तप प्रायश्चित्त है, ऐसा कथन किया गया है। आत्मध्यान की सर्वस्व महिमा वर्णन करते हुए मूल ग्रन्थकार कहते हैं कि

शुद्धात्म आश्रित भाव से सब भाव का परिहार रे।
यह जीव कर सकता अतः सर्वस्व है वह ध्यान रे॥११९॥

इस प्रकार आठवें अधिकार में ९ मूल गाथाएँ तथा १० कलश काव्य और दूसरे शास्त्रों के चार सन्दर्भ हैं।

इस शास्त्र के भावों का विवेचन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री भावविभोर होकर कहते हैं – **टीकाकार मुनिराज ने कार्य के साथ ही त्रैकालिक कारण (कारणशुद्धपर्याय) की बात करके टीका में अलौकिक रहस्य खोले हैं। अहो! जंगल में बसनेवाले और आत्मानन्द में लीन रहनेवाले सन्तों के श्रीमुख से परमागमरूपी अमृत की वर्षा हुई, उसमें आया है कि हे भाई! तेरे धर्म का ध्रुव कारण तो तुझमें सदा विद्यमान है, परन्तु तू उसे कारण नहीं बनाता, इसलिए दुःखी है। अहो! अन्तर का कारण मुनियों के आत्मा में से ही अमृत झरे हैं, उसकी यह अचिन्त्य और अपूर्व बात है। भारतवर्ष के लिए अभी यह बात एकदम नयी है। जिसके महाभाग्य होंगे, उसे यह बात सुनने को मिलती है और जिसे अन्दर में यह बात बैठ गयी, उसका तो कहना ही क्या? उसका तो बेड़ा पार हो गया।**

सन्तों के अन्तरआत्मा में रहे हुए रहस्यों को खोलनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा समझाये गये भावों को ग्रहण करके हम भी उन्हें स्वानुभव से प्रमाण करें, यही भावना है।

इस नियमसार शास्त्र पर धारावाही अक्षरशः प्रवचन २१४ हैं। जिन्हें सात भागों में प्रकाशित किया जाएगा।

प्रस्तुत चौथे भाग में ग्रन्थ के निश्चयप्रत्याख्यान, परम आलोचना तथा निश्चय प्रायश्चित्त अधिकार पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अतीन्द्रिय आनन्दरस से सराबोर कुल ४० प्रवचन अक्षरशः प्रकाशित किये गये हैं तथा गाथा १०५-१०६ और श्लोक १४१ से १४४ के धारावाही प्रवचन उपलब्ध न होने से तीन प्रवचन गाथा की पूर्ति के रूप में १९७१ के प्रवचनों में से अक्षरशः प्रकाशित किये गये हैं। इस प्रकार कुल ४० प्रवचन हुए हैं।

प्रवचन प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दशः लिखा जाता है। तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्टक भरा जाता है और प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया

जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य को श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा सम्पन्न किया गया है। जिसका प्रकाशन राजकोट दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट से हुआ है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है। मूल गाथाओं का बाबू युगलजी, कोटा एवं कलशों का पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, देवलाली कृत पद्यानुवाद भी समाहित है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए ..... के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्त में कारण नियमस्वरूप स्वशुद्धात्मा के लक्ष्य से सभी जीव कार्यनियम अर्थात् निश्चय मोक्षमार्गरूप परिणमित हों, इसी भावना के साथ.....

यह पुस्तक www.vitragvani.com पर भी उपलब्ध है।

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने

से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा

विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते

थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त

नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	दिनांक	गाथा / श्लोक नं.	पृष्ठ नं.
९९	०७-१२-१९७९	९६, १२७	१
१००	०८-१२-१९७९	९६	१६
१०१	०९-१२-१९७९	९७, १२८	२८
१०२	१०-१२-१९७९	९७	४३
१०३	११-१२-१९७९	१२९-१३०	५६
१०४	१२-१२-१९७९	९८, १३१-१३२	७२
१०५	१३-१२-१९७९	९८-९९, १३३	८८
१०६	१४-१२-१९७९	९९-१००, १३४	१०४
१०७	१५-१२-१९७९	१००	१२१
१०८	१६-१२-१९७९	१००	१३५
१०९	१७-१२-१९७९	१३५	१४९
११०	१८-१२-१९७९	१०१, १३६	१६४
१११	१९-१२-१९७९	१०२, १३७	१८२
११२	२०-१२-१९७९	१०२, १३८	१९८
११३	२१-१२-१९७९	१०३	२१६
११४	२२-१२-१९७९	१०४, १३९	२३०
११५	२३-१२-१९७९	१४०-१४१	२४८
१००	२०-०८-१९७१	१०५, १४१	२६५
१०१	२१-०८-१९७१	१०५-१०६, १४१-१४२	२८१
१०२	२२-०८-१९७१	१०६, १४३-१४४	३०१
११७	२५-१२-१९७९	१४४-१४९	३१६
११८	२६-१२-१९७९	१०७, १५०-१५१	३३७
११९	२७-१२-१९७९	१०८-१०९, १५२-१५३	३५६

प्रवचन नं.	दिनांक	गाथा / श्लोक नं.	पृष्ठ नं.
१२०	२८-१२-१९७९	१५४-१५७	३७६
१२१	०१-०२-१९८०	११०, १५८-१५९	३९४
१२२	०२-०२-१९८०	११०	४१२
१२३	०३-०२-१९८०	११०	४२४
१२४	०४-०२-१९८०	१११, १६०-१६१	४३६
१२५	०५-०२-१९८०	१६२-१६४	४५०
१२६	०६-०२-१९८०	१६५-१६७	४६५
१२७	०७-०२-१९८०	१६८-१६९	४८०
१२८	०८-०२-१९८०	११२, १७०-१७२	४९५
१२९	२०-०५-१९८०	१७३-१७५	५१३
१३०	२१-०५-१९८०	१७६-१७७	५२९
१३१	२२-०५-१९८०	११३, १७८-१७९	५४४
१३२	२३-०५-१९८०	११४, १८०-१८१	५६२
१३३	२४-०५-१९८०	११५, १८२	५८२
१३४	२५-०५-१९८०	११६, १८२	५९७
१३५	२६-०५-१९८०	११६-११७, १८३-१८५	६१५
१३६	२७-०५-१९८०	११८, १८६-१८८	६३३

ॐ

परमात्मने नमः

कारण-कार्यनियम

(नियमसार-प्रवचन)

(भाग-४)

६

निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार

प्रवचन-९९, श्लोक-१२७, गाथा-९६, शुक्रवार, मागशर कृष्ण ४, दिनांक ०७-१२-१९७९

नियमसार। समयसार की गाथा है न?

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।।

'अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं'... आहाहा! दो ही बात। स्वयं आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप एक ही वस्तु; इसके अतिरिक्त दूसरा सब पर है। दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प से लेकर परपदार्थ, सब पर हैं। **'अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं'—ऐसा जानकर...** पर हैं – ऐसा जानकर.... आहाहा! **प्रत्याख्यान करता है...** अर्थात् उनमें जुड़ता नहीं है और ज्ञान में रहता है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में रहता है। **इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही है...** वह ज्ञानस्वरूप आत्मा, वह प्रत्याख्यान है।

बाहर के क्रियाकाण्ड में जो विकल्प उठे, प्रत्याख्यान और पच्चखाण करे, वह कोई पच्चखाण (त्याग) नहीं है। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा स्वपदार्थ; परपदार्थ से अत्यन्त भिन्न, ऐसे ज्ञानभाव में स्थिर रहना; वह ज्ञानभाव, रागरूप नहीं हुआ; इसलिए छोड़ना – ऐसा भी

नहीं कहा। उसमें स्थिर रहना। आहाहा! है ? **ऐसा जानकर...** वापस ऐसा लिया है। पर है - ऐसा जानना; तो जानने का स्वभाव तो अपना है, अपने में है। रागादि परपदार्थ पर हैं। मैं स्व ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ—ये दो मुख्य लक्षण। सम्यग्ज्ञान ख्याल में आवे और अतीन्द्रिय आनन्द ख्याल में आवे, यह ज्ञान और आनन्द मैं हूँ। ऐसा जहाँ प्रत्याख्यान में आया; इसलिए वह त्याग जानकर प्रत्याख्यान / त्यागता है। त्यागता है, इसका अर्थ यह कि **इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही है...** उस ज्ञान में, ज्ञान आत्मा में रहे, वह प्रत्याख्यान है। ऐसी बात है। इसका नाम प्रत्याख्यान है।

आत्मा जिस स्वरूप से है, उस स्वरूप से रहना; पर को जानना, जाना, परन्तु स्व में रहना। ज्ञानस्वरूप है, उस स्वरूप में रहना, वह ज्ञान प्रत्याख्यान है; वह ज्ञान पच्चखाण है। हाथ जोड़े और विकल्प उठा, इसलिए प्रत्याख्यान हो गया, वह प्रत्याख्यान नहीं है। आहाहा! प्रवचनसार में चरणानुयोग (सूचक चूलिका) में आता है न ? गुरु उसे (दीक्षार्थी को) अट्ठाईस मूलगुण देते हैं। आता है ? यह चरणानुयोग की बात व्यवहार से बात है। तत्त्वदृष्टि के द्रव्यानुयोग की दृष्टि से तो वह देता नहीं और लेता नहीं। राग है, ये पुण्य-पाप के भाव हैं, वे पर हैं। वे पर हैं—ऐसा जाना, तो ही स्वयं अपने में स्थिर होता है, इसका नाम प्रत्याख्यान है। आहाहा!

अब चरणानुयोग के अधिकार में ऐसा आता है, गुरु उसे अट्ठाईस मूलगुण देते हैं, वह अंगीकार करता है। निमित्त से कथन है। अन्दर यह व्यवहार होता अवश्य है न ? परन्तु वह वस्तुस्थिति नहीं है। वस्तुस्थिति तो ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में (से) हिलने न देना, उसे राग और पुण्य-पाप में हिलने न देना, उनमें जुड़ना नहीं। ज्ञान, ज्ञान में रहना; आत्मा, आत्मा में रहना, आत्मा के स्वरूप में रहना, वह प्रत्याख्यान है। अहो! ऐसी कठिन व्याख्या है।

(अर्थात् अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था...) राग के अभावरूप अवस्था। आहाहा! क्योंकि आत्मा में एक अभाव नाम का गुण है। इसलिए अपने गुण से राग के अभाव-स्वभावरूप से परिणमना, इसका (आत्मा का) अभाव-स्वभाव का गुण है। आहाहा! समझ में आया ? राग का त्याग करूँ—ऐसा भी नहीं। राग के त्याग के अभावस्वभावरूप, अभावस्वभाव गुण है। आत्मा में अभावस्वभाव गुण है। यह दृष्टि द्रव्य के ऊपर पड़ने पर और उसमें एकाग्र होने पर रागरूप न होना और ज्ञानरूप होना, इसका

नाम प्रत्याख्यान है। आहाहा! अब यह पच्चखाण वापस यह पर्यूषण में सब प्रतिक्रमण, अपवास करे। चन्दुभाई! यह सब तुम वहाँ क्या करते हो? प्रतिक्रमण करे, अपवास करे, दो अपवास किये, तीन उपवास किये, यह प्रत्याख्यान किया। यहाँ यह कहते हैं, वह प्रत्याख्यान नहीं है; वह तो विकल्प है। आहाहा!

स्व को जानते हुए पर को जानना। स्व को जानने में रहते हुए पर को जानना। ऐसा जानकर पररूप न होना, द्रव्यस्वभाव पररूप हुआ नहीं। यह स्वभाव पररूप हुआ नहीं। उसरूप उसे होना, उसरूप स्थिर होना, इसका नाम प्रत्याख्यान है। आहाहा! ऐसी कठिन व्याख्या है। नये लोगों को कठिन लगता है।

मुमुक्षु : ऐसी व्याख्या तो आपने की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें है या नहीं? बापू! आहाहा! प्रभुता! प्रभुता प्रभु तारी तो खरी। प्रभु! तेरी प्रभुता तब वास्तविक... मुजरो मुज रोग ले हरि। इस राग के रोग को हरकर स्वरूप में स्थिर हो, तब तेरी प्रभुता वास्तविक कहलाये। आहाहा! तेरी प्रभुता अर्थात् गुण है। आत्मा में प्रभुता नाम का अनादि-अनन्त गुण है, उस प्रभुता का गुण और एक अकार्यकारण नाम का गुण है, इसलिए राग छूटना और स्थिर होना, ऐसा भी नहीं है। इसलिए राग का छूटना, वह कारण और स्थिर होना कार्य, यह नहीं। वह तो अकार्यकारण नाम का गुण है। राग के कारण के अभाव-स्वभावरूप परिणमित होना... आहाहा! ऐसा उसका स्वरूप ही है।

सच्चिदानन्दस्वरूप वीतरागमूर्ति आत्मा, अनन्त गुण का सागर, हीरा वह जहाँ पकड़ने में आया, उसमें स्थिर हुआ, उसने पर को जाना कि यह पर है परन्तु पररूप जाना और जो पररूप हुआ नहीं। पर को जाना, इसलिए पररूप हुआ नहीं; स्वरूप से हुआ। आहाहा! इसका नाम पच्चक्खाण है, इसका नाम त्याग है। राग का त्याग इस प्रकार नाममात्र कहा जाता है। आहाहा! भगवान आत्मा रागरूप हुआ नहीं। चैतन्यस्वरूप जानने-देखनेवाला स्वभाव पूर्ण; यह राग अचेतन है, उस अचेतनरूप स्वरूप। स्वरूप, अपना स्वभाव, स्व-अपना स्वभाव, ज्ञान-दर्शन-आनन्द वह स्वभाव है। स्व-भाव अर्थात् अपना भाव है। रागादि अपना भाव नहीं है। आहाहा!

यह अपना जो स्वभाव है। स्व-भाव अपना भाव है। आत्मा का अपना

ज्ञानस्वभावभाव, स्वभाव, अपना भाव, आनन्दभाव, शान्तभाव, वीतरागभाव, श्रद्धाभाव। उस भावरूप से स्थिर रहना... आहाहा! मात्र जाना कि यह राग है, वह पर है। यह भी ज्ञान की पर्याय की ताकत से स्वयं अपने में जाना। उसमें स्थिर हुआ, इसका नाम प्रत्याख्यान है। ऐसी व्याख्या है। यहाँ तो प्रत्याख्यान सरल हो पड़ा है। आठ वर्ष की लड़की हो तो सामायिक करके बैठे, प्रतिक्रमण करके बैठे, पच्चक्खाण करे, प्रत्याख्यान करे और फिर सेठ पैसे दें। इसने पाँच सामायिक की, प्रतिक्रमण किये और दो-दो रुपये दो, पाँच-पाँच रुपये दो, जाओ। आहाहा! यह तो सब शुभभाव की बातें, बापू!

स्वद्रव्य को अपनी स्थिरता के लिये परद्रव्य की कोई अपेक्षा ही नहीं है। आहाहा! यह भगवान आत्मा चैतन्य जलहल ज्योति प्रभु स्व स्वयंभाव, स्व का स्वयं अपना निजभाव, उस भाव में स्थिर होना, वही त्याग है, वही राग का त्याग कहने में आता है। उसका नाम प्रत्याख्यान है। है इसमें? **(अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था...)** ज्ञान अर्थात् अपना स्वभाव जो शुद्ध त्रिकाल, उस गुण की अवस्था होना, वह प्रत्याख्यान है। उस गुण की निर्मल अवस्था होना... आहाहा! सूक्ष्म पड़े परन्तु मार्ग यह है। दूसरी बातें सरल लगें। यह सब सरल राग है। सरल... सरल... राग। यह तो हीरा है। आहाहा!

चैतन्य हीरे को, उसकी कीमत करके उसमें रहना... आहाहा! पर को जानना पररूप है इतना। **ऐसा नियम से जानना।** इसका नाम प्रत्याख्यान है—ऐसा नियम से जानना। ऐसा नियम से, निश्चय से, वस्तु की मर्यादा का नियम ही यह है। वस्तु की मर्यादा ही यह है। आहाहा! वस्तु... वस्तु... स्वयं स्व...भाव। स्वभाव अर्थात् अपना भाव, उसकी अवस्था होना, इसका नाम प्रत्याख्यान है। यह नियम से, निश्चय से ऐसा जानना। निश्चय से, यथार्थ से यह बात सत्य है। आहाहा! अब अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्त-सम्मोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।

यह समयसार में अन्त में प्रत्याख्यान अधिकार है न? वहाँ यह गाथा है। **(प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि—)** आहाहा! प्रत्याख्यान करनेवाला ऐसा भाता है कि **भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके (-त्यागकर),....** भविष्य के समस्त राग के विकल्प आदि त्यागकर। यह वर्तमान प्रतिक्रमण और भविष्य का प्रत्याख्यान। भविष्य

के उस किसी भी विकल्प को सर्वथा त्याग कर... आहाहा! **जिसका मोह नष्ट हुआ है...** जिसका मिथ्यात्व नाश हुआ है, जिसकी भ्रमणा नाश हुई है। राग, वह मैं और राग की एकता, उसका जिसे नाश हुआ है, उसे प्रत्याख्यान होता है। आहाहा! यह तो शान्ति से समझने जैसी बात है। भाई!

जिसका मोह नष्ट हुआ है-ऐसा मैं... ऐसा मैं... आहाहा! जिसकी राग की एकता नष्ट हुई है। राग का विकल्प सूक्ष्म में सूक्ष्म, उसकी एकता जिसकी नाश हुई है, ऐसा मैं... आहाहा! **निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में...** कहते हैं किसमें रहता हूँ? सब ही त्याग कर, सब ही छोड़कर **चैतन्यस्वरूप आत्मा...** चैतन्य का स्व... रूप आत्मा, उसका रूप ही चैतन्य है। आत्मा का रूप ही चैतन्य है। आहाहा! दया, दान, व्रत, विकल्प आदि वह आत्मा का रूप नहीं है, आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप ऐसा जो आत्मा। आत्मा कैसा? - कि चैतन्यस्वरूप आत्मा। यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं हैं; वे तो अनात्मा हैं। आहाहा! राग का विकल्प उठता है, वह अनात्मा है। **चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही...** आत्मा से ही। आत्मा में निर्मल वीतरागी स्वभाव से ही। आहाहा! आत्मा निजस्वभाव शुद्धचैतन्य, उसे **आत्मा में आत्मा से ही...** जो स्वभाव जिसका शुद्ध है, वीतरागी स्वभाव है। स्व / अपना भाव वीतरागी है। वीतरागी भाव द्वारा आत्मा में स्थिर होता हूँ। आहाहा! यह प्रत्याख्यान। कठिन पड़ता है, हों! सम्प्रदायवाले सुनते हुए... यह व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... उड़ जाता है। व्यवहार रहता ही है। जाननेयोग्य व्यवहार रहता है, आदरनेयोग्य नहीं। आहाहा!

आगे कहा न? जानकर। आया न? जानकर कहा न? आहाहा! पहले '**अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं'—ऐसा जानकर...** आहाहा! एक ओर भगवान आत्मा तथा एक ओर अनन्त परपदार्थ, उन सब अनन्त से मैं पृथक्। मुझमें उन अनन्त में से कोई अंश भी नहीं है और मेरे में जो अंश हैं, अनन्त गुण का स्वरूप, स्वभाव वह पर में नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। **चैतन्यस्वरूप आत्मा में...** आत्मा की व्याख्या की है। कैसा आत्मा? - कि चैतन्यस्वरूप। यह दया, दान, व्रत, भक्ति स्वरूप नहीं। वह तो राग है। आहाहा! यह राग आवे परन्तु जाननेयोग्य है। ज्ञेयरूप से जाननेयोग्य आता है। ऐसा

चैतन्यस्वरूप वह आत्मा, उस **आत्मा से ही (-स्वयं से ही)...** अर्थात् वीतरागभाव से ही है। आहाहा!

रागभाव रहित वीतरागभाव से, क्योंकि स्वयं वीतरागस्वरूप है। वह वीतरागस्वरूप ऐसा आत्मा अर्थात् चैतन्यस्वरूप ऐसा आत्मा, चैतन्यस्वरूप की परिणति द्वारा... आहाहा! है? यह तो **(-स्वयं से ही) निरन्तर वर्तता हूँ।** मुनिराज अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, मैं तो चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप, वीतरागस्वरूप आत्मा, उसमें मैं तो वर्तता हूँ। उसमें मैं तो चारित्र-चरना अर्थात् रमना। उसमें रमता हूँ, वह मेरा चारित्र और वह मेरा प्रत्याख्यान है। आहाहा! निश्चय की बात दूसरे को ऐसी लगती है कि यह तो एकान्त है। व्यवहार तो था परन्तु व्यवहार बीच में नहीं आता? व्यवहार पररूप से है पररूप से अनन्त है। राग से लेकर पररूप से अनन्त है। वह जाननेयोग्य है। वह व्यवहाररूप से जाननेयोग्य है। आहाहा!

परन्तु चैतन्यस्वरूप ऐसा जो आत्मा, उसे चैतन्यस्वरूप आत्मा से ही, चैतन्यस्वरूप आत्मा से ही... आहाहा! **निरन्तर वर्तता हूँ।** आहाहा! लिखते हैं उस समय विकल्प है, तथापि मैं तो वहाँ वर्तता हूँ। विकल्प का तो ज्ञान करता हूँ। आहाहा! विकल्प तो पररूप से है, ऐसा ज्ञान करता हूँ। मेरा वर्तना तो रागरहित स्वरूप में वर्तना, वह मेरा स्वरूप है। आहाहा! लिखते समय ऐसा कहते हैं। लिखने की क्रिया मेरी नहीं है। आहाहा! वह तो परमाणु की पर्याय की क्रिया है। आहाहा! लिखने में विकल्प उठे, वह क्रिया मेरी नहीं है। वह पर में जाती है। पर से भिन्न मेरा चैतन्यस्वरूप आत्मा, उस आत्मा से अर्थात् चैतन्यस्वरूप ऐसे आत्मा से ही मैं उसमें वर्तता हूँ। चैतन्यस्वरूप आत्मा, चैतन्यस्वरूप आत्मा से ही वर्तता हूँ। आहाहा! भाषा तो गजब की है! अन्दर वाच्य क्या है? यह तो शब्द हैं। वाच्य अन्दर पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान—ऐसा जो चैतन्य का स्वरूप, वह आत्मा, उस आत्मा से अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा से वर्तना; राग से नहीं, विकल्प से नहीं, निर्विकल्परूप से आत्मा में वर्तना, इसका नाम प्रत्याख्यान है। ऐसी बात है।

लो, इसमें अर्थ क्या करते होंगे? वस्तु ऐसी है। वस्तुस्थिति जहाँ ऐसी है। वस्तु की मर्यादा, स्वभाव। स्व अर्थात् अपना भाव। ज्ञान, शान्ति, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, यह स्व है, अपना भाव है और दया, दान, विकल्प, वह तो स्वभाव नहीं; वह तो परभाव है। आहाहा! परभाव है, उसे जानकर स्वभाव में मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा में चैतन्यस्वरूप

आत्मा से वर्तता हूँ। आहाहा! ऐसा काम है। इसका नाम प्रत्याख्यान। आठ उपवास करे, रात्रिभोजन त्याग करे, शोभायात्रा निकाले... ओहोहो! आठ उपवास किये, पश्चात् दान करे, वहाँ दो, चार, पाँच, दस हजार, पच्चीस हजार खर्च करे। आहाहा! वह तो बाहर की चीज़ है। खर्च करना या न खर्च करना, वह क्रिया आत्मा के अधिकार की नहीं है। यह राग की मन्दता होना या तीव्रता होना, वह उसके उल्टे पुरुषार्थ की बात है। आहाहा! उल्टे पुरुषार्थ में पर का करना, यह नहीं आता। उल्टे पुरुषार्थ में शरीर का या पर का करना, यह नहीं आता। उल्टे पुरुषार्थ में राग मेरा, (ऐसा) भ्रम और राग यह उल्टे पुरुषार्थ में आता है। आहाहा! सुल्टे पुरुषार्थ में वीतरागता और सम्यग्दर्शन आते हैं। आहाहा! इस सम्यग्दर्शन में मैं वर्तता हूँ। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, ऐसी प्रतीति का अनुभव और उसमें मैं वर्तता हूँ। यह वर्तता हूँ, वह चारित्र है। वर्तता हूँ, यह प्रत्याख्यान है। आहाहा! है ?

श्लोक-१२७

तथाहि ह्न

और (इस ९५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):—

(मंदाक्रांता)

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्म-नोकर्म-जातं,
प्रत्याख्यानं भवति नियतं तस्य सञ्ज्ञानमूर्तेः।
सच्चारित्राण्यघकुलहराण्यस्य तानि स्युरुच्चैः,
तं वन्देऽहं भव-परिभव-क्लेशनाशाय नित्यम्।।१२७।।

(वीरछन्द)

जो सुदृष्टि सब कर्म और नोकर्म पुञ्ज परित्याग करे।
सम्यग्ज्ञान मूर्ति उस ज्ञानी को नित प्रत्याख्यान वरे॥

पापसमूह विनाशक सत् चारित्र उसे अतिशय होता।
भव-भव के दुख नाश हेतु मैं नित्य उसे वन्दन करता॥१२७॥

[श्लोकार्थ :] जो सम्यग्दृष्टि समस्त कर्म-नोकर्म के समूह को छोड़ता है, उस सम्यग्ज्ञान की मूर्ति को सदा प्रत्याख्यान है और उसे पापसमूह का नाश करनेवाले ऐसे सत्-चारित्र अतिशयरूप से हैं। भव-भव के क्लेश का नाश करने के लिए उसे मैं नित्य वन्दन करता हूँ॥१२७॥

श्लोक -१२७ पर प्रवचन

और (इस ९५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):—

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्म-नोकर्म-जातं,
प्रत्याख्यानं भवति नियतं तस्य सज्ज्ञानमूर्तेः।
सच्चारित्राण्यघकुलहराण्यस्य तानि स्युरुच्चैः,
तं वन्देऽहं भव-परिभव-क्लेशनाशाय नित्यम्॥१२७॥

पद्मप्रभमलधारिदेव टीकाकार कहते हैं। **जो सम्यग्दृष्टि...** जीव... आहाहा! शुद्ध पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, पूर्ण स्वरूप चैतन्य की जिसे दृष्टि और अनुभव है, वह सम्यग्दृष्टि जीव... आहाहा! **समस्त कर्म-नोकर्म के समूह को छोड़ता है,...** प्रत्याख्यान है न? समस्त। भगवान के प्रति भक्ति और प्रत्याख्यान, व्रत, नियम और समस्त विकल्प को छोड़ता है। व्यवहार के विकल्पों को-सबको छोड़ता है। आहाहा! **कर्म-नोकर्म के समूह को छोड़ता है, उस सम्यग्ज्ञान की मूर्ति को...** जो सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त रागादि सर्व विकल्पों को छोड़ता है... आहाहा! उस **सम्यग्ज्ञान की मूर्ति को सदा प्रत्याख्यान है...** उसे हमेशा प्रति समय प्रत्याख्यान है। आहाहा!

एक तो सम्यग्दर्शन है, तदुपरान्त उसमें वर्तता है। ऐसा कहा न? **नोकर्म के समूह को छोड़ता है,...** सम्यग्दृष्टि है और **कर्म-नोकर्म के समूह को छोड़ता है,...** कर्म में भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों आये। भावकर्म जो दया, दान, विकल्प है, उन्हें भी सम्यग्दृष्टि

छोड़ता है। आहाहा! **उस सम्यग्ज्ञान की मूर्ति को सदा प्रत्याख्यान है...** आहाहा! मुनिराज की बात करते हैं। दिगम्बर सन्त, मुनि उन्हें कहते हैं। सम्यग्दृष्टिसहित विकल्प आदि सर्व कर्म-नोकर्म को छोड़ता है, वह सम्यग्ज्ञान की मूर्ति है। आहाहा! राग और पुण्य-पाप का मूर्तिपना छोड़ दिया है। आहाहा! अकेला ज्ञान और आनन्द की मूर्ति है। ज्ञान और आनन्द के स्वरूप से है। मूर्ति अर्थात् यह।

सदा प्रत्याख्यान है... उसे तो सदा चौबीसों घण्टे प्रत्याख्यान है। एक तो सम्यग्दृष्टि है, पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान का स्वरूप अनुभव में आया है और अनुभवपूर्वक भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म को लक्ष्य में से छोड़ता है और आत्मा के स्वभाव में रमता है, उसे हमेशा प्रत्याख्यान है। चौबीसों घण्टे प्रत्याख्यान है। सदा कहा न? चौबीसों घण्टे। नींद में भी? नींद में भी प्रत्याख्यान है? प्रत्याख्यान है। अन्दर में स्वरूप में रमणता, एकाग्रता, वह प्रत्याख्यान है। आहाहा! निद्रा-निद्रा पररूप से जानता है। निद्रा को पररूप से जानता है। आहाहा!

सम्यग्दर्शनसहित रागादि भावकर्म, नोकर्म, द्रव्यकर्म को छोड़ता है। वह सम्यग्ज्ञान की मूर्ति, वह सम्यग्ज्ञानस्वरूप भगवान, उसे हमेशा प्रत्याख्यान है। उसे चौबीसों घण्टे प्रत्याख्यान है। आहाहा! अब आहार करने जाए, आहार लेने जाए, नींद ले, तो भी कहते हैं जितना विकल्प हुआ, उसे जानता है परन्तु स्वरूप में स्थिर होता है। आहाहा! बहुत कठिन बात। सूक्ष्म बातें! सवेरे एक पूछा था हिन्दीवाले को। वह कहे समझ में आता था? हिन्दी भाषा में कहते थे न? कुछ-कुछ थोड़ा समझ में आता था। यह बात कहीं सुनने को मिलती नहीं। यह करो, यह करो, व्रत करो, तप करो, भक्ति करो, पूजा करो, प्रतिक्रमण करो, बाह्य त्याग करो, यात्रा करो। बस, यह बात चलती हो। पूरे दिन और रात यही चलता है। आहाहा! अब उसे ऐसी सूक्ष्म बात... हिन्दी में चलती थी तो भी उसे बराबर समझ में नहीं आता था। आहाहा! सवेरे आया था न? बहुत सूक्ष्म बात।

अब आत्मा अर्थात् क्या? अब और आत्मा कैसा? कि चैतन्यस्वरूप। कैसा? - कि उसमें राग के विकल्प, दया, दान, व्रत का विकल्प भी नहीं, ऐसा वह आत्मा और अनन्त गुण जिसमें भरे हैं, ऐसा वह आत्मा। उस आत्मा को आत्मा द्वारा स्थिर होना; वह उस राग द्वारा नहीं, पुण्य द्वारा नहीं, व्यवहार-निमित्त द्वारा नहीं। आहाहा! आत्मा द्वारा

आत्मा में स्थिर होना, तो आत्मा वीतरागस्वरूप है, वीतरागस्वरूपी आत्मा को वीतरागस्वरूपी आत्मा से वीतरागभाव से अन्दर स्थिर होना। आहाहा! उसे हमेशा प्रत्याख्यान है। कहो, चिमनभाई! ऐसी बात कहाँ सुनने को मिले? ऐई! यशपालजी! ऐसी बातें कठिन है। यह भव के अभाव की बातें, बापू! चौरासी के अवतार कर-करके, भाई! चौरासी लाख योनि के अवतार, भूल गया। भूल गया, इसलिए नहीं थे - कैसे कहा जाए।

अनन्त काल गया... आहाहा! अरे रे! एक-एक भव में जिसने हिरण को जैसे सिंह आकर फाड़कर खाये, जीवित खाये। आहाहा! ऐसे अनन्त भव किये हैं। आहाहा! नरक के दुःख का वर्णन तो परमात्मा कहते हैं। क्या दुःख का वर्णन करें। वह यह प्रभु! उस नरक में उसके दुःख का... आहाहा! महापाप करके नरक में गया, उसके दुःख का वर्णन करोड़ों भव में, करोड़ों जीभ से, क्षण के दुःख की व्याख्या-एक क्षण के दुःख की व्याख्या (नहीं हो सकती)। वह वेदन करता है, यह अस्ति है परन्तु वह क्या दुःख है और कितना कैसा है? वह करोड़ों भव में, करोड़ों जीभों से कहना कठिन है। अरे प्रभु! ऐसे अनन्त भव किये, अनन्त अवतार किये। सत्य बात आवे, तब निषेध किया। ऐसा नहीं होता, यह एकान्त है, अमुक है, अमुक है। ऐसा करके सत्य को टाल दिया। व्यवहार को लगा रहा। दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा आदि व्यवहार को लगा रहा, वह तो संसार है, राग है। आहाहा!

यहाँ तो आत्मा को चैतन्यस्वरूप आत्मा को आत्मा द्वारा—ऐसा कहा न? आहाहा! यहाँ कहा - समस्त कर्म आदि छोड़कर सम्यग्ज्ञान की मूर्ति आत्मा को **सदा प्रत्याख्यान है...** आहाहा! **और उसे पापसमूह का नाश करनेवाले...** आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव, स्वरूप से पतित करनेवाले—ऐसे जो पाप के भाव, उसे **ऐसे सत्-चारित्र अतिशयरूप से हैं।** उसे सत्-चारित्र अतिशयरूप से है। आहाहा! पापसमूह का नाश करनेवाले यह। पुण्य और पाप के समूह का नाश करनेवाले **सत्-चारित्र अतिशयरूप से हैं।** आहाहा! मुनिदशा, परमेश्वरदशा। मुनिदशा अर्थात् परमेश्वर। पंच परमेष्ठी, आहाहा! णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं ऐसे साधु और गणधर... आहाहा! भविष्य में मुनि होंगे उन्हें भी गणधर, वर्तमान नमस्कार करते हैं। आहाहा!

णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती, तीनों काल में वर्तते हुए। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु। तीनों काल में वर्तते हुए। आहाहा! ऐसी दशा में वर्तते हुए, उन्हें मेरा

नमस्कार। गणधर शास्त्र रचें तो उन्हें पंच नमस्कार पहले करके रचते हैं। यह कितनी महत्त्व की बात होगी! आहाहा! पाँच परमेष्ठी अर्थात् कौन? बापू! आहाहा! गजब बात है। और अभी तो साधारण ऐरे-गैरों को खतौनी कर डालना। साधुपना वस्त्र छोड़ा और जरा नग्न हुआ और पाँच महाव्रत के नाम लिये, वहाँ हो गया साधु। बापू! यह साधुपना नहीं है। वह परमेश्वरपद है, जिसे गणधर का नमस्कार पहुँचता है। वह कहते हैं, देखो न! आहाहा!

पापसमूह का नाश करनेवाले ऐसे सत्-चारित्र अतिशयरूप से हैं। आहाहा! सत्-चारित्र। बाहर का सदाचार, वह नहीं। सत्-चारित्र, सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा का चारित्र। सत् ज्ञायकस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप—ऐसा सत्, उसका चारित्र। आहाहा! **सत्-चारित्र अतिशयरूप से हैं।** रागादि का नाश करने के लिये ऐसे सत्-चारित्र है। **भव-भव के क्लेश का नाश करने के लिये...** आहाहा! भव-भव के भय का, **भव-भव के क्लेश का...** आहाहा! यहाँ ऐसा नहीं लिया कि नरक और तिर्यंच के ही भव। यह तो भव-भव के क्लेश। स्वर्ग में भी क्लेश है, राग का दुःख है। आहाहा! यह रागी है। रागवाला दुःख समकिती को भी (जितना) राग है, उतना उसे दुःख है। आहाहा!

भव-भव के क्लेश का नाश करने के लिए... चार गति के भव, ये चारों ही गति के भव तो क्लेश के कारण हैं। आहाहा! उस **क्लेश का नाश करने के लिए उसे मैं...** किसे? जो सत्-चारित्र, पाप का नाश करनेवाला अतिशयरूप से वर्तता है, **उसे मैं नित्य वन्दन करता हूँ।** मुनिराज कहते हैं, **उसे मैं नित्य वन्दन करता हूँ।** स्वयं मुनि हैं। आहाहा! तीन कषाय का अभाव है, मुनि हैं। एक बात की थी न! ज्ञान की बात करते हुए, भावी तीर्थंकर की बात की। केवली की बात नहीं की। भावी तीर्थंकर का ज्ञान ऐसा होता है, ऐसी बातचीत की। कहा था न? चेतनजी! भावी तीर्थंकर। कौन सा पृष्ठ? २१२ कलश। **यदि शुद्धदृष्टिवन्त (-सम्यग्दृष्टि) जीव ऐसा समझता है कि परम मुनि को तप में, नियम में, संयम में और सत्चारित्र में सदा आत्मा ऊर्ध्व रहता है (अर्थात् प्रत्येक कार्य में निरन्तर शुद्धात्मद्रव्य ही मुख्य रहता है) तो (ऐसा सिद्ध हुआ कि) राग के नाश के कारण अभिराम ऐसे उस भवभयहर भावि तीर्थाधिनाथ...** देखा? केवली नहीं लिये। वे भावी केवली लेना चाहिए। यहाँ शब्द यह लिया है। आहाहा! **भावि तीर्थाधिनाथ को यह साक्षात् सहज-समता निश्चित है।** आहाहा! केवली को नहीं लिया। तीर्थाधिनाथ को

लिया। उनकी ध्वनि स्वयं की पुकार है। आहाहा! वे स्वयं मानो भावी तीर्थंकर होनेवाले हों, उसकी पुकार है। पंच परमेष्ठी में मुनि हैं। अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हैं। आहाहा! वे कहते हैं कि **भावि तीर्थाधिनाथ को यह साक्षात् सहज-समता...** वीतरागता। केवली को वीतरागता होती है, ऐसा नहीं लिया। तीर्थाधिनाथ को वीतरागता होती है, ऐसा लिया। इतना बदला है। आहाहा!

यह पढ़कर मस्तिष्क में ऐसा आया था कि ये तीर्थंकर होनेवाले लगते हैं। पढ़ते हुए आया था, कि यह केवली न लेकर तीर्थंकर लिये। केवली निश्चित समता वीतरागवाले हैं। भावी तीर्थनाथ को, तीर्थंकरों को लिया। ...ऐसा सब है। अलौकिक है। पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं, आचार्य नहीं। भले मुनि हों, आचार्य हों, साधु हों, सब पंच परमेष्ठी हैं। आहाहा! तीर्थाधिनाथ को परम वीतरागता वर्तती है। निश्चित समता वर्तती है। आहाहा! वीतरागता वर्तती है। आहाहा!

उस **भव-भव के क्लेश का नाश करने के लिए उसे मैं...** इस कारण से उसे मैं... इसलिए अर्थात् इस कारण से **उसे मैं नित्य वन्दन करता हूँ।** उसे मेरा वन्दन नित्य है। आहाहा! ९६ गाथा आयी न?

गाथा-९६

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावसुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सो हं इदि चिंतए णाणी।।९६।।

केवलज्ञानस्वभावः केवलदर्शनस्वभावः सुखमयः।
केवलशक्तिस्वभावः सोऽहमिति चिन्तयेत् ज्ञानी।।९६।।

अनन्तचतुष्टयात्मकनिजात्मध्यानोपदेशोपन्यासोऽयम्। समस्तबाह्यप्रपञ्चवासनाविनिर्मुक्तस्य निरवशेषेणान्तर्मुखस्य परमतत्त्वज्ञानिनो जीवस्य शिक्षा प्रोक्ता। कथं कारकं?

साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण, शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधार-भूतशुद्धपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तपरमात्मा यः सोऽहमिति भावना कर्तव्या ज्ञानिनेति; निश्चयेन सहजज्ञानस्वरूपोऽहं, सहजदर्शनस्वरूपोऽहं, सहजचारित्रस्वरूपोऽहं, सहजचिच्छक्तिस्वरूपोऽहं इति भावना कर्तव्या चेति।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ ह्न

(अनुष्टुप्)
केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।।

कैवल्य दर्शन-ज्ञान-सुख कैवल्य शक्ति स्वभाव जो।
मैं हूँ वही, यह चिन्तवन होता निरन्तर ज्ञानि को॥९६॥

अन्वयार्थ : [केवलज्ञानस्वभावः] केवलज्ञानस्वभावी, [केवलदर्शन-स्वभावः] केवलदर्शनस्वभावी, [सुखमयः] सुखमय और [केवलशक्तिस्वभावः] केवलशक्तिस्वभावी [सः अहम्] वह मैं हूँ—[इति] ऐसा [ज्ञानी] ज्ञानी [चिंतयेत्] चिन्तवन करते हैं।

टीका : यह, अनन्त चतुष्टयात्मक निज आत्मा के ध्यान के उपदेश का कथन है।

समस्त बाह्य प्रपंच की वासना से विमुक्त, निरवशेषरूप से अन्तर्मुख परमतत्त्व-ज्ञानी जीव को शिक्षा दी गयी है। किस प्रकार? इस प्रकारः—सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहार से, शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण के आधारभूत

शुद्ध पुद्गलपरमाणु की भाँति, जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख तथा केवलशक्तियुक्त परमात्मा, सो मैं हूँ, ऐसी ज्ञानी को भावना करनी चाहिए; और निश्चय से, मैं सहजज्ञानस्वरूप हूँ, मैं सहजदर्शनस्वरूप हूँ, मैं सहजचारित्रस्वरूप हूँ तथा मैं सहजचित्शक्तिस्वरूप हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिए।

इसी प्रकार एकत्वसप्तति में (-श्री पद्मनन्दि-आचार्यवरकृत, पद्मनन्दिपंचविंशति के एकत्वसप्तति नामक अधिकार में २०वें श्लोक द्वारा) कहा है कि: —

(वीरछन्द)

परम तेज वह केवलदर्शन केवलज्ञानरु सौख्य स्वभाव।
उसे जानते हुए न जाना-देखा और सुना नहीं क्या ?॥

[श्लोकार्थः] वह परम तेज केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसौख्यस्वभावी है। उसे जानते हुए क्या नहीं जाना ? उसे देखते हुए क्या नहीं देखा ? उसका श्रवण करते हुए क्या नहीं सुना ?

गाथा - ९६ पर प्रवचन

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावसुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सो हं इदि चिंतए णाणी।।९६।।

'**चिंतए**' शब्द आया। '**चिंतए**' अर्थात् विकल्प ही है, ऐसा कुछ नहीं है। अन्दर एकाग्र हुआ इस भाव से। आहाहा!

कैवल्य दर्शन-ज्ञान-सुख कैवल्य शक्ति स्वभाव जो।
मैं हूँ वही, यह चिन्तवन होता निरन्तर ज्ञानि को॥९६॥

आहाहा! **यह, अनन्त चतुष्टयात्मक निज आत्मा के ध्यान के उपदेश का कथन है।** आत्मा निज चतुष्टयस्वरूप भरपूर है। अभी। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य से भरपूर यह भगवान है। आहाहा! केवली को अनन्त चतुष्टय जो प्रगट होता है। अनन्त-अनन्त आनन्द आदि प्रगट होता है, वह कहाँ से प्रगट होता है ? वह कहीं बाहर से आता है ? अन्दर में अनन्त चतुष्टय शक्ति पड़ी है, उसमें से बाहर आता है। आहाहा! तो अनन्त आत्माएँ अनन्त चतुष्टयमय विराजमान हैं। शक्ति से और स्वभाव से

तो सब भगवान आत्माएँ अनन्त चतुष्टयमय विराजमान हैं। उसकी व्याख्या / चिन्तवन मुनि ऐसी करते हैं कि धर्मात्मा ऐसा चिन्तन करते हैं। आहाहा!

समस्त बाह्य प्रपंच की वासना से विमुक्त, निरवशेषरूप से अन्तर्मुख परमतत्त्व-ज्ञानी जीव को शिक्षा दी गयी है। ऐसे जीव को शिक्षा दी गयी है। अर्थात् उसे भी ज्ञान कराते हैं। **समस्त बाह्य प्रपंच की वासना से विमुक्त,...** है। व्यवहार से, विकल्प से विमुक्त है। **निरवशेषरूप से...** कुछ बाकी रखे बिना **अन्तर्मुख परमतत्त्व-ज्ञानी...** अन्तर्मुख परमात्मा, आत्मा जहाँ विराजता है, अन्दर परमात्मा स्वयं ही आत्मा है। आहाहा! परमेश्वर है, वीतराग है, केवली है। केवलदर्शन है, आनन्द है, केवल वीर्य है, पूर्ण अनन्त चतुष्टयरूप जो विराजमान भगवान आत्मा अन्दर है।

ऐसे तत्त्वज्ञानी **जीव को शिक्षा दी गयी है। किस प्रकार? इस प्रकारः—सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहार से, शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गलपरमाणु की भाँति,...** दृष्टान्त देते हैं। जो परमाणु है, **सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहार से, शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गलपरमाणु की भाँति,...** यह तो शुद्ध परमाणु की भाँति है। **जो केवलज्ञान,...** आहाहा! केवलज्ञान शुद्धसद्भूतव्यवहार से है। निश्चय से तो केवलज्ञान त्रिकाल में भरा है। प्रगट पर्याय है, वह तो सद्भूतव्यवहार है। आहाहा!

अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहार से, शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गलपरमाणु की भाँति,... पुद्गल परमाणु, वह भी शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से ऐसा कहने में आया। उसकी भाँति यह भगवान जो केवलज्ञान है, वह शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से पर्याय में केवलज्ञान है। आहाहा! अन्तर में है, वह त्रिकाली निश्चय से है। **जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख तथा केवलशक्तियुक्त परमात्मा, सो मैं हूँ, ऐसी ज्ञानी को भावना करनी चाहिए;...** आहाहा! मैं तो त्रिकाली ज्ञान-केवलज्ञान हूँ। त्रिकाली केवलदर्शन हूँ, त्रिकाली केवल सुख हूँ, केवल शक्ति वीर्य, परमात्मा, वह मैं हूँ—ऐसा ज्ञानी को भावना करना चाहिए। प्रगट करने के लिये यह भावना करना चाहिए। आहाहा! शक्तिरूप से तो है ही। प्रगट करने के लिये धर्मात्मा को यह भावना करना चाहिए।

विशेष कहेंगे.... (***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

नियमसार, गाथा ९६ की टीका। फिर से लेनी है न?

यह, अनन्त चतुष्टयात्मक निज आत्मा... पहली व्याख्या यह की कि यह निज आत्मा अन्दर कैसा है? अनन्त चतुष्टयस्वरूप। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, **अनन्त चतुष्टयात्मक निज आत्मा...** अन्दर अपना आत्मा। प्रत्येक का आत्मा। उसके ध्यान का उपदेश है। यह ध्यान है, वह पर्याय है। पहले कहा, वह आत्मा कहा। त्रिकाली आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन चतुष्टयस्वरूप, उसका ध्यान और उसकी एकाग्रता, उसका आश्रय, यह उसका उपदेश है। प्रत्याख्यान की बात है न? पच्चखाण की बात।

समस्त बाह्य प्रपंच की वासना से विमुक्त,... किसे कहते हैं या यह शिक्षा दी जाती है। **समस्त बाह्य प्रपंच की वासना से विमुक्त,...** है। विकल्प आदि बाहर की वासना की वृत्तियाँ, शुभ की वृत्तियों से भी विमुक्त है। आहाहा! देह की क्रिया और वाणी की क्रिया की तो बात अलग, वह तो जड़ है। अन्दर में विकल्प की वृत्ति उठे, राग दया, दान, व्रत, भक्ति आदि, उस वासना से विमुक्त है। **निरवशेषरूप से अन्तर्मुख...** और अन्तर्मुख रहने में कुछ बाकी नहीं रखा। अन्तर्मुख जिसका झुकाव है। आहाहा! आत्मा अन्तर अनन्त चतुष्टय की ओर पूरा-पूरा अन्तर्मुख, अवशेष—कुछ बाकी रखे बिना निरवशेष। अन्तर्मुख चैतन्य चतुष्टय आत्मा, अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य, उसमें जिसकी सन्मुखता अर्थात् झुकाव है। कुछ बाकी रखे बिना, पर्याय आश्रय भी नहीं अर्थात् पूर्ण-पूर्ण आश्रय से उसे जिसका ध्यान है।

अन्तर्मुख परमतत्त्व-ज्ञानी जीव... आहाहा! परमतत्त्वज्ञानी, जिसे परम आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, राग के विकल्प से भिन्न पड़कर (हुआ), उसे यह प्रत्याख्यान कहते हैं। ऐसे जीव को शिक्षा दी गयी है। ऐसे जीव को शिक्षा दी गयी है। आहाहा! **किस प्रकार? इस प्रकारः—सादि-अनन्त....** आत्मा में जो केवलज्ञान-केवलदर्शन होता है, वह सादि-अनन्त है। अनादि से पर्याय नहीं है। अनादि से अन्दर चतुष्टय की शक्ति है। अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द-वीर्य। परन्तु पर्याय है, उसकी सादि है। सादि अर्थात् आदि है और उसका अन्त नहीं है।

सादि-अनन्त अमूर्त... प्रभु तो अमूर्त है। आहाहा! **अतीन्द्रियस्वभाववाले...** अतीन्द्रिय स्वभाववाला आत्मतत्त्व, उसे **शुद्धसद्भूतव्यवहार से,...** शुद्ध सद्भूतव्यवहार से। निश्चय से अभी नहीं। बाद में निश्चय से कहेंगे। जो कहना है चतुष्टय का यह ध्यान, वह बाद में कहेंगे, परन्तु पहले ध्यान की पर्याय ऐसी होती है। केवलज्ञान-केवलदर्शन-अनन्त आनन्द, वह सद्भूतव्यवहारनय है; निश्चयनय नहीं। आहाहा! क्योंकि नहीं थी, वह पर्याय प्रगट हुई है; और पर्याय है, वह व्यवहार है; और इसमें है, इसलिए सद्भूत है, परन्तु पर्याय है, इसलिए व्यवहार है और शुद्ध है, पवित्र है, इसलिए शुद्ध है।

केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य, यह शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से पर्याय में प्रगट हुए हैं। किसकी भाँति? दृष्टान्त है। **शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण के आधारभूत...** एक परमाणु लेना, एक परमाणु पृथक्। उसका **शुद्ध स्पर्श-शुद्ध रस-शुद्ध गन्ध-शुद्ध वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गलपरमाणु...** यह सद्भूतव्यवहारनय हुआ। गुणी जो परमाणु, उसके **शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण के...** ये गुण, गुणी और गुण—ऐसा भेद है, वह सद्भूतव्यवहार हुआ। समझ में आया? एक परमाणु शुद्ध है, उसके स्पर्श, रस, गन्ध अन्दर शुद्ध हैं परन्तु वे गुणी के गुण हैं, इसका नाम शुद्धसद्भूतव्यवहार कहने में आता है। निश्चय तो द्रव्य है। आहाहा! यह तो दृष्टान्त देते हैं।

शुद्धसद्भूतव्यवहार से, शुद्ध स्पर्श... यह तो वहाँ केवलज्ञान कहा था। दृष्टान्त में आता है। **शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गलपरमाणु की भाँति,...** शुद्ध परमाणु एक परमाणु की भाँति... आहाहा! **जो केवलज्ञान,...** आत्मा में होता है। आहाहा! शुद्ध परमाणु जो एक है परमाणु। उसके-शुद्ध परमाणु के शुद्ध स्पर्श, रस, गन्ध जो गुण हैं, वे सद्भूतव्यवहारनय से है। शुद्ध हैं और उसमें हैं परन्तु पर्याय भेद है, उसे शुद्धसद्भूतव्यवहारनय कहा जाता है। समझ में आया?

शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गलपरमाणु की भाँति,... यह दृष्टान्त दिया। इसकी भाँति। शुद्ध एक रजकण है, उसका शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण है, उसका आधार—ऐसा जो भेद पड़ा, वह शुद्धसद्भूतव्यवहार है। उसकी **भाँति, जो केवलज्ञान,...** आहाहा! आत्मा में जो उत्पन्न हुआ केवलज्ञान, वह सद्भूतव्यवहारनय है। आहाहा! उत्पन्न होता है न? पर्याय है, वह व्यवहार है और उसका उसमें है, वह सद्भूत

है और शुद्ध है। अब शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से। है ?

अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहार से, शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गलपरमाणु की भाँति, जो केवलज्ञान, केवलदर्शन,... बीच में तो दृष्टान्त दिया। आहाहा! दृष्टान्त भी सूक्ष्म है। एक परमाणु है, वह शुद्ध है, दूसरे परमाणु का उसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए एक परमाणु जो शुद्ध है, उसके गुण शुद्ध हैं। स्पर्श-वर्ण-गन्ध-रस शुद्ध। एक गुणी, ऐसा परमाणु, उसके शुद्ध जो स्पर्श, रस, गन्ध आदि, उन्हें यहाँ शुद्धसद्भूतव्यवहारनय... क्योंकि शुद्ध है, सद्भूत उसमें है परन्तु भेद है; इसलिए व्यवहार है। आहाहा! इतना सब याद रखना।

इस प्रकार:— अकेला आत्मा, वह शुद्ध है। उसके आश्रय से **केवलज्ञान, केवलदर्शन,...** है ? **केवलसुख तथा केवल...** वीर्य। शक्ति अर्थात् वीर्य। ऐसा **परमात्मा, सो मैं हूँ,...** ऐसी दशा पर्याय में हो, वह मैं हूँ। यह सद्भूतव्यवहारनय का विषय, वह मैं हूँ। पर्याय में, हों! आहाहा! ऐसा है। ऐसा याद कब रहे ? आत्मा को भिन्न बताते हैं। परमतत्त्वज्ञानी को ध्यान का उपदेश करते हैं कि प्रभु! जैसे परमाणु शुद्ध है, उसके गुण भी शुद्ध हैं परन्तु इतना भेद डालना, वह शुद्धसद्भूतव्यवहार है। उसी प्रकार भगवान आत्मा द्रव्य है, वह शुद्ध है परन्तु उसमें से केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्रगट हो, वह पर्याय है। परन्तु वह शुद्ध है और सद्भूत - उसमें है। परन्तु पर्याय है, इसलिए व्यवहार है। शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य पर्याय में है। समझ में आया ? आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है।

यह **परमात्मा सो मैं हूँ, ऐसी ज्ञानी को भावना करनी चाहिए;...** ऐसे शुद्धसद्भूत-व्यवहारनय की पर्याय प्रगट करने के लिये ऐसी भावना करना चाहिए। आहाहा! जिसे-आत्मा को केवलज्ञान, केवलदर्शन और परम आनन्द प्रगट करना है, उसे मैं आत्मा निश्चय से वस्तु, परन्तु पर्याय में केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवल आनन्द, वह मेरी पर्याय में सद्भूतरूप से शुद्ध परन्तु पर्याय है; इसलिए व्यवहार है। शुद्धसद्भूतव्यवहारनय की भावना करना। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! **ऐसी ज्ञानी को भावना करनी चाहिए;... परमात्मा सो मैं हूँ, ऐसी ज्ञानी को भावना करनी चाहिए;...** पर्याय में ऐसा हूँ। ऐसा हूँ - ऐसी भावना करनी चाहिए। आहाहा! समझ में आया ?

परमाणु तो परमाणुरूप से है। शुद्ध है। दूसरे परमाणु के साथ उसे सम्बन्ध नहीं है। उसके जो शुद्ध गुण, वह गुणी ऐसा द्रव्य, उसके गुण का भेद डालना, वह शुद्धसद्भूत-व्यवहारनय है। इसी प्रकार यहाँ आत्मा-भगवान आत्मा अनन्त गुण का शुद्ध चैतन्यतत्त्व है, उसमें केवलज्ञान, केवलदर्शन की पर्याय, वह शुद्ध है। अपने में है परन्तु पर्याय है; इसलिए शुद्धसद्भूतव्यवहारनय उसे कहा जाता है। पहले यह बात ली है। ऐसे केवलज्ञानादि शुद्धसद्भूतव्यवहारनय की भावना करनी चाहिए। आहाहा! ऐसा उपदेश! ऐसी सूक्ष्म बातें, लो! इसमें क्या करना? यह तो कहते हैं न, परमतत्त्वज्ञानी को ऐसा करना चाहिए। उसका तो यह उपदेश है। आहाहा!

और... यह सद्भूतव्यवहारनय का विषय हुआ। केवलज्ञान प्रगट करना है, उसकी बात हुई। प्रगट करना है, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य, यह पर्याय प्रगट करनी है, उसकी पहले बात की। इसलिए उसे शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है। आहाहा! शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से वह केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य जो सिद्ध को प्रगट हुए, केवली को प्रगट हुए, वे मुझे प्रगट हों, ऐसी भावना करनी चाहिए। आहाहा!

मुमुक्षु : हूँ या होनेयोग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हूँ नहीं। हूँ तो केवलज्ञानी त्रिकाली है, यह तो होने के योग्य की भावना करनी चाहिए। त्रिकाली शुद्ध नहीं वह अब आता है। समझ में आया? ऐसी भावना करनी चाहिए। आहाहा! यह तो शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है न? पर्याय है न? पर्याय प्रगट करने की भावना करनी चाहिए। आहाहा!

एक तो शुद्धसद्भूतव्यवहारनय और उसका-परमाणु का दृष्टान्त। परमाणु में शुद्ध स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण यह शुद्धसद्भूतव्यवहार है। आहाहा! उसी प्रकार यह भगवान आत्मा अन्दर में जो अनन्त ज्ञान है, वह तो बाद में कहते हैं। परन्तु यह तो प्रगट करने की प्रथम भावना करनी चाहिए। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य को प्रगट करने की भावना करनी चाहिए। आहाहा! व्यवहारनय की भावना करना और राग करना, दया पालना, यह नहीं - ऐसा कहते हैं। आहाहा! वैसे चार ज्ञानरूप रहूँ, यह भी नहीं। तीन ज्ञान, तीन दर्शन—चक्षु-अचक्षु, अवधि चार ज्ञान, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय

यह भी नहीं। वे तो अपूर्ण हैं। यह तो पूर्ण पर्याय है। पूर्ण पर्याय केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवल वीर्य, यह सद्भूतव्यवहार के पर्याय की भावना करनी चाहिए। आहाहा! व्यवहार की भावना छोड़ना चाहिए। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा उपदेश है। इसमें क्या करना? हाथ लगे-पड़े नहीं तथा और कहते हैं परमतत्त्वज्ञानी को ऐसा उपदेश देते हैं कि परमतत्त्वज्ञानी को ऐसा करना चाहिए। वह करनेयोग्य तो यह है। यह अपूर्ण रहना, वह नहीं। आहाहा! राग करना, पुण्य करना, दया, दान, व्रत करना, व्यवहाररत्नत्रय की भावना करना, वह तो कहीं रह गया परन्तु अपूर्ण ज्ञान और अपूर्ण दर्शनरूप रहना, वह नहीं। पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन और पूर्ण आनन्द, पूर्ण वीर्यरूप रहना - होना, प्रगट करूँ—ऐसी भावना करनी चाहिए। यह शुद्धव्यवहारनय से कहा है। यह व्यवहार कहा। वे दया, दान, व्रत और भक्ति नहीं। यहाँ व्यवहार असद्भूतव्यवहार निकाल दिया है। आहाहा! उसे तो निकाल दिया है परन्तु चार ज्ञानरूप रहना, वह भी निकाल दिया है।

यहाँ तो अनन्त केवलज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, ऐसा जो पर्याय भाग; वस्तु शुद्ध है, आत्मा द्रव्य शुद्ध है, उसकी यह पर्याय शुद्ध है। उसे यहाँ शुद्ध शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है, इसलिए उसकी भावना करना। आहाहा! समझ में आया इसमें? सूक्ष्म बात है, भाई! अभी चलता नहीं, इसलिए लोगों को लगता है कि और यह क्या होगा? मार्ग यह है, बापू! वीतराग जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ की ध्वनि यह है। उनका उपदेश यह है। उसे दूसरे प्रकार से खतौनी कर डालना (कि) व्यवहार से होगा, व्यवहार करते-करते होगा - यह सब विपरीत दृष्टि है। यह उपदेश उल्टा है। आहाहा! है या नहीं सामने? आहाहा!

ऐसी ज्ञानी को भावना करनी चाहिए;... प्रगट करने की। आहाहा! प्रगट करने की (यह) भाषा ली नहीं है। मैं ऐसा ही हूँ। पर्याय से ऐसा हूँ। यही मेरा स्वरूप इतना ही है। आहाहा! पर्याय में केवलज्ञान, केवलदर्शन इतना ही मैं हूँ। पर्याय में इतना मैं हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु : भावी नैगमनय से ऐसी भावना करनी?

पूज्य गुरुदेवश्री : भावी नैगमनय नहीं। शुद्धसद्भूतव्यवहार है। नैगम नहीं। शुद्धसद्भूत अपनी पर्याय अपने में है। अपने में होती है, इसलिए शुद्धसद्भूत है।

यहाँ तो देखो न, ऐसा कहा या नहीं ? ऐसा केवल सुख आदि **परमात्मा सो मैं हूँ,...** वह मैं हूँ। पर्याय, हों! द्रव्य नहीं। आहाहा! अपूर्ण ज्ञान, अपूर्ण दर्शन, अपूर्ण चारित्र और (अपूर्ण) वीर्य, यह बात नहीं है। पर्याय में ऐसा नहीं है। पर्याय में पूर्ण केवलज्ञान, वह मैं हूँ। आहाहा! धवल में एक पाठ है कि सम्यक् मति-श्रुतज्ञान होता है। मति और श्रुतज्ञान सम्यक् होता है, तब आत्मा का अन्दर स्वरूपश्रद्धान, वह मतिज्ञान, केवलज्ञान को बुलाता है। मतिज्ञान अपूर्ण ज्ञान रहूँ - ऐसा नहीं। ऐसा धवल में पाठ है। मतिज्ञान, केवलज्ञान को बुलाता है-ऐसा पाठ है। केवलज्ञान आओ... आओ... आओ... अब अल्प काल में केवलज्ञान होओ। ऐसी बातें हैं।

वीतराग जिनपरमेश्वर की बातें, बापू! दुनिया में कहीं नहीं है। आहाहा! उनके - वीतराग के घर के अतिरिक्त कहीं यह बात नहीं है। आहाहा! जिसने केवलज्ञान में तीन काल तीन लोक देखे-जाने हैं। भगवान विराजते हैं, महाविदेह में सीमन्धर भगवान विराजते हैं, उनकी यह वाणी है। उस वाणी को मुनि जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। अब निश्चय। यह व्यवहार था, पर्याय प्रगट हुई, वैसा मैं हूँ। आहाहा! ऐसा मैं हूँ। प्रगट होनेवाला ही है, इसलिए ऐसा मैं हूँ, ऐसा जोर किया है। मुझे केवलज्ञान होनेवाला है, केवलदर्शन होनेवाला ही है। मति-श्रुतज्ञान, सम्यग्दर्शन हुआ, यह तत्त्वज्ञान हुआ, उसे केवलज्ञान होनेवाला ही है; इसलिए मैं केवलज्ञान हूँ। आहाहा! है इसमें, देखो! इसमें कोई आड़ा-टेढ़ा निकले, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा!

केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख तथा केवलशक्तियुक्त... सहित। ऐसी शक्तियुक्त **परमात्मा सो मैं हूँ,...** आहाहा! बाद में निश्चय की बात कहेंगे। पहले पर्याय की बात करते हैं क्योंकि पर्याय प्रगट करनी है। द्रव्य तो पड़ा ही है। **ऐसी ज्ञानी को भावना करनी चाहिए;...** आहाहा! इसमें बोल याद रहना कठिन है, इतने बोल आते हैं। उसमें एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, वैयावृत्त्य आदि... जाओ। मिच्छामि दुक्कडम् हो गयी सामायिक। तत्सूत्रीकरणेणम्। कहीं धूल में थी ? आहाहा! यह तो एक-एक लाईन बहुत गम्भीर, बहुत गहरी। गहरी विचारणा अपेक्षित है। दीर्घ विचार से कहा गया है। आहाहा!

तत्त्वज्ञानियों को केवलज्ञान और केवलदर्शन हूँ—ऐसी भावना करना चाहिए।

आहाहा! गजब बात है। पंचम काल के साधु, पंचम काल के जीव ऐसा मानते और ऐसा जानते हैं। ऐसा मानते हैं, जानते हैं और वे भावना ऐसी करते हैं... आहाहा! साधु को यह भावना होती है... आहाहा! व्यवहार करूँ, यह तो नहीं। दूसरों का कर दूँ, दूसरों को उपदेश देकर समझा दूँ, यह बात तो नहीं। कहीं रह गयी। आहाहा! परन्तु प्रगट करने में भी अधूरी व्यवहाररत्नत्रय तो नहीं, परन्तु अपूर्ण भी नहीं। आहाहा! वाणी तो देखो! वाणी, त्रिलोकनाथ परमात्मा की यह वाणी है। आठ वर्ष का बालक तत्त्वज्ञानी अर्थात् आत्मज्ञानी होता है। तत्त्व अर्थात् आत्मा का ज्ञान करे, वह इस प्रकार से व्यवहार की गन्ध उड़ाकर अपनी पर्याय में निर्मल केवलज्ञानादि, वह परमात्मा वह मैं हूँ। आहाहा!

आठ वर्ष का बालक मुनि होता है, दीक्षित होता है, कमण्डल और पिच्छी दो। आहाहा! जंगल में चले जाते हैं। बाघ और भालू, बिच्छु और रीछ, सिंह और बाघ... आहाहा! वहाँ यह भावना होती है। आहाहा! पर का तो डर नहीं, व्यवहाररत्नत्रय करूँ, यह बात तो नहीं। आहाहा! धन्य अवतार, धन्य काल। आहाहा! ऐसा उपदेश भी मिलना कठिन है। आहाहा! ऐसी **भावना करनी चाहिए;...** तब भावना करने का अर्थ, यदि यह होवे तो कहाँ से करना? है तो नहीं। परन्तु भावना यह करना। पर्याय में भावना यह करना। आहाहा!

अब निश्चय से। अब द्रव्य आया। आहाहा! यह सद्भूतव्यवहार से कहा। शुद्धसद्भूतव्यवहार से यह बात की। अब निश्चय से करते हैं। निश्चय होवे तो यह सद्भूतव्यवहारनय प्रगट होता है। आहाहा! अरे रे! क्या हो? जगत लुट गया है। भगवान के मार्ग के अतिरिक्त, अन्यपने के मार्ग को मानकर जैन का मार्ग माना है। आहाहा! दया पालना, व्रत पालना, भक्ति करना, पूजा करना, यात्रा करना, इन सबसे धर्म होता है, वह सब अन्य धर्म है। वह जैनधर्म नहीं है। भावपाहुड की ८३ गाथा में यह लेख है। '**पूयादिसु वयसहियं**' यह जैनधर्म नहीं है। आहाहा! यह व्रत और वैयावृत्य, स्वाध्याय और पूजा और भक्ति वह जैनधर्म नहीं है। अर..र..! इसमें बताया नहीं था? भावपाहुड़, हों! पाहुड़ है न?

कुन्दकुन्दाचार्य का वचन है। कुन्दकुन्दाचार्य ने बनाया हुआ अष्टपाहुड़ है। '**पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिसासणे भणियं।**' जैन शासन में त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने-जैन परमेश्वर ने जैनशासन में **जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इस प्रकार कहा है कि पूजा आदि में और व्रतसहित होना है, वह तो पुण्य ही है तथा मोह के क्षोभ से रहित जो**

आत्मा का परिणाम, वह धर्म है। लौकिक जन तथा अन्यमती कई कहते हैं... आहाहा! जो कोई पुण्य और व्रत में धर्म मनावे, उस लौकिकजन को अन्यमती कहा है। आहाहा! कठिन काम है। चिमनभाई! है? **कहते हैं कि पूजा आदिक शुभक्रियाओं में और व्रतक्रियासहित है, वह जिनधर्म है, परन्तु ऐसा नहीं है। जिनमत में जिनभगवान ने इस प्रकार कहा है कि—पूजादिक में और व्रतसहित होना है, वह तो पुण्य है,...** वह तो पुण्य है। पूजा, भक्ति, व्रत, यात्रा, तपस्या, अपवास, वह तो सब पुण्य है; धर्म-जैनधर्म नहीं। अर..र..! ऐसी बात सुनना...

मुमुक्षु : भाग्यशाली हो, वह यह बात सुनता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा मार्ग है। त्रिलोकनाथ परमात्मा ने कहा हुआ कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं।

इसमें पूजा और आदि शब्द से भक्ति... भगवान की पूजा, वह जैनधर्म नहीं है; वह शुभभाव है। भगवान की भक्ति, नामस्मरण, पंच परमेष्ठी का स्मरण, वह जैनधर्म नहीं है। वह राग है। अशुभ से बचने को राग आवे, परन्तु वह जैनधर्म नहीं है। **भक्ति, वन्दना...** वन्दना पंच परमेष्ठी को वन्दन करना, उठ-बैठ करके १०८ बार वन्दन करे और हजार बार करे। वह करते हैं न, क्या कहलाता है तुम्हारे? अपवास। क्या कहलाता है? उपधान। उपधान में भगवान की बहुत (उठ-बैठ) करते हैं। यहाँ भगवान कहते हैं कि बापू! यह सब व्रत और तप में **वन्दना, वैयावृत्त आदिक समझना। यह तो देव-गुरु-शास्त्र...** परद्रव्य के आश्रय से है, इसलिए वह धर्म नहीं है, वह जैनधर्म नहीं है। यशपालजी! आहाहा! शान्तिभाई! फिर यह सोनगढ़ के नाम से कोई कहे न, लोग नहीं कहें... ऐई! व्यवहार के उत्थापक हैं, निश्चय के स्थापक हैं। अरे! प्रभु! सुन न! व्यवहार होता है परन्तु वह शुभराग है, धर्म नहीं। जैनधर्म तो वीतरागभाव, वह धर्म है। आहाहा!

यहाँ पूजा, भक्ति, वैयावृत्य **यह तो देव-गुरु-शास्त्र के लिये होता है...** यह तो परद्रव्य के लिये होता है, इसलिए शुभभाव है; धर्म नहीं। **और उपवास आदिक व्रत है, वह शुभक्रिया है...** उपवास आदि, उपवास। एक उपवास, दो उपवास, तीन उपवास, दस उपवास। **और उपवास आदिक व्रत है, वह शुभक्रिया है, इनमें आत्मा का रागसहित शुभपरिणाम है, उससे पुण्यकर्म होता है, इसलिए इनको पुण्य कहते हैं, इनका फल**

स्वर्गादिक भोगों की प्राप्ति है। जैनधर्म नहीं है। आहाहा! भावपाहुड है। ८३ गाथा है। वह यहाँ कहते हैं।

और निश्चय से,... आहाहा! व्यवहार से केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवल आनन्द की भावना भावे। आहाहा! अरे! पंचम काल में प्रभु! आप एक ओर कहते हो कि केवलज्ञान नहीं होता। पंचम काल में केवलज्ञान नहीं होता और फिर कहो पंचम काल में केवलज्ञान हूँ, ऐसी भावना करनी? आहाहा! प्रभु! तू सुन, बापू! यह तो तीन लोक के नाथ, जिनेश्वरदेव की वाणी है, बापू! आहाहा! यह कोई कपोल कल्पित बात नहीं है। तीन लोक के नाथ केवली ऐसा कहते हैं कि पंचम काल में केवलज्ञान नहीं है, तथापि वे भगवान ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञान है, केवलज्ञान है, मैं परमात्मा हूँ—ऐसी भावना करनी चाहिए। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! है?

निश्चय से,... आहाहा! **मैं सहजज्ञानस्वरूप हूँ,...** यह निश्चय, त्रिकाल। वह व्यवहार था। केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रगट होता है न? प्रगट होता है, इसलिए पर्याय थी और प्रगट न हो, त्रिकाली वस्तु त्रिकाल आत्मा में त्रिकाल अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख भरा है, वह निश्चय है, वह ध्रुव है, वह पलटता नहीं, वह पर्याय में आता नहीं। आहाहा! वह हिलता-चलता नहीं। आहाहा! भाग्यवान को तो कान में पड़े, ऐसी बात है, बापू! आहाहा! गड़बड़-गड़बड़ ऐसी उठा दी है। लोग बाहर में प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसा करना... ऐसा करना... ऐसा करना... निमित्त से ऐसा होता है... निमित्त से ऐसा होता है।

यहाँ कहते हैं कि जिस समय में जो पर्याय जीव की जो होनेवाली है, वह स्वयं से होनेवाली है, वह होगी। उस समय निमित्त भले हो, निमित्त से नहीं होगी। उस समय में उस जीव की वह पर्याय होने का क्रमबद्ध में काल है। आहाहा! जन्म-उत्पन्न होने का निज क्षण है। इसलिए प्रत्येक द्रव्य की भले भगवान की वाणी सुने परन्तु उस समय वह ज्ञान उत्पन्न होने का स्वयं का स्वकाल है, तब वाणी तो निमित्तमात्र है। आहाहा! वाणी से भी ज्ञान नहीं होता। कठिन पड़ता है। ऐई! यशपालजी! क्या करना? यह सब व्यवहार...

निश्चय से, मैं सहजज्ञानस्वरूप हूँ,... उसमें-व्यवहार में यह कहा था कि शुद्धसद्भूतव्यवहार से अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाववाला, वापस हों! वह पर्याय भी अमूर्त और

अतीन्द्रियस्वभाव है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, वह भी अमूर्त, सादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाला शुद्धसद्भूतव्यवहार है। आहाहा! **निश्चय से, मैं सहजज्ञानस्वरूप हूँ,...** स्वभाविक ज्ञानस्वभाव स्व... स्व-भाव। स्व अर्थात् मेरा भाव ही शुद्धज्ञान है। प्रगटना या नाश होना, ऐसा मुझमें है ही नहीं। आहाहा! निश्चय से तो मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञान प्रगट होना या ज्ञान का व्यय होना या कम होना या बढ़ना, वह मेरी चीज में है ही नहीं। आहाहा! देखो! यह सम्यग्दर्शन का विषय। सम्यग्दर्शन का विषय / ध्येय यह है। आहाहा!

उसमें ऐसा कहा था कि **परमात्मा सो मैं हूँ, ऐसी ज्ञानी को भावना करनी चाहिए;...** यह **निश्चय से, मैं सहजज्ञानस्वरूप हूँ,...** आहाहा! ऐसी भावना करनी चाहिए। दोनों जगह ऐसा आया है। आहाहा! **मैं सहजज्ञानस्वरूप हूँ,...** ज्ञानस्वभाव। आत्मा का स्व अर्थात् अपना भाव ही भाव ज्ञान है। वह तो आत्मा जैसे नित्य है, वैसे यह स्वभावज्ञान नित्य है। आहाहा! भगवान आत्मा नित्य है, अविनाशी है, वैसे ही यह ज्ञान भी नित्य अविनाशी है, वह मैं हूँ। ऐसा निश्चय से सम्यग्दृष्टि ऐसी भावना करता है। आहाहा! ऐसी सब बातों का फेरफार। अब कहाँ उन व्रत और तप को... पर्यूषण में करते हैं, वहाँ धर्म... धर्म... धर्म... धर्म... हो गया मानो। फिर रथ निकालते हैं, उसमें व्रत लेते हैं, ब्रह्मचर्य लेते हैं। मानो सात व्यक्तियों ने बालब्रह्मचर्यरूप से, उसमें रथयात्रा निकालते हैं, मानो धर्म हो गया। इस शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करे तो वह कदाचित् शुभभाव होता है; वह धर्म-वर्म नहीं है। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसी बात है। देवीलालजी! ऐसी बात है, प्रभु! मार्ग तो ऐसा है। अरे! जगत को जँचे, न जँचे, उसे घड़ में आवे, न आवे, कभी अन्दर निवृत्तस्वरूप क्या है अन्दर? निवृत्त का पिण्ड पूरा पड़ा है। जिसमें पर्याय की प्रवृत्ति भी नहीं। निर्मल केवलज्ञान की पर्याय प्रगट हुई है, वह भी जिसमें नहीं है। आहाहा! वह तो निश्चय ध्रुव सहजज्ञानस्वरूप है। केवलज्ञान तो प्रगट पर्याय है।

मैं सहजज्ञानस्वरूप हूँ,... मैं सहजज्ञानस्व-रूप। मेरा स्वरूप ही सहजज्ञान है। मैं एक सहजज्ञानस्वरूप ही हूँ। सहजज्ञानस्वभाव हूँ। स्वभाव अर्थात् मेरा सहज ज्ञान ही स्वभाव है। जैसे मैं त्रिकाल हूँ, वैसे मेरा ज्ञानस्वभाव, स्व.. भाव, भाववान आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है। आहाहा! यहाँ से कहाँ जाना? लो, यहाँ तो वह व्यवहार करते-करते निश्चय होगा। व्यवहार करो... व्यवहार करो... व्रत करो, तप करो, यह करो। अब उसे यहाँ ले

जाना। आहाहा! प्रभु का मार्ग तो ऐसा है। भगवान का तो विरह पड़ा है। भरतक्षेत्र में परमात्मा तो रहे नहीं। महाविदेह में रह गये हैं। किसी को केवलज्ञान होवे, ऐसी शक्ति नहीं रही। आहाहा! उसमें ऐसी बात करना और उल्टी बातों का निषेध करना जगत को कठिन पड़ता है। आहाहा!

प्रभु तो महाविदेह में विराजते हैं, वे ऐसा कहते हैं। महाविदेह में प्रभु विराजते हैं। उनकी वाणी में यह आया है। उस वाणी में आचार्यों ने गूँथणी की है। आहाहा! सब माल तीर्थंकर के घर का है। यह बात तो सब... आहाहा! क्या कहलाता है ?

मुमुक्षु : आड़तिया होकर...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो आड़तिया होकर माल बेचते हैं। बीच में-आड़तिया... प्रभु ऐसा कहते हैं, भाई! भगवान ऐसा कहते हैं। आहाहा! एक बार तो स्थिर हो जाए ऐसा है। आहाहा!

उसमें मैं हूँ, ऐसा था। यह भी मैं हूँ - ऐसा ही है। आहाहा! वह मैं हूँ, यह परमात्मा की पर्याय की अपेक्षा से (बात) थी। यह द्रव्य-वस्तु अपेक्षा से बात है। आहाहा! मैं परमात्मा **सहजज्ञानस्वरूप हूँ,...** स्वभाविक ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञान प्रगट होना और ज्ञान आवृत्त होना या ढँकना या कम होना, वह कुछ मुझमें है ही नहीं। एक सहजज्ञान का पिण्ड प्रभु मैं आत्मा हूँ। निश्चय से त्रिकाल सहजज्ञान (हूँ)। केवलज्ञान की पर्याय भी स्वरूप में नहीं है। आहाहा! यह तो ज्ञानगुण स्वभाव त्रिकाल है, ऐसी केवलज्ञान की अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... पर्यायों का पिण्ड ज्ञानगुण है। यह त्रिकाल सहजज्ञानस्वरूप है। आहाहा!

मैं सहजदर्शनस्वरूप हूँ,... स्वभाविक दर्शनस्वरूप हूँ। देखना-देखना-दृष्टा। पहले में ज्ञाता। स्वभाविक ज्ञातास्वरूप हूँ। ज्ञातास्वरूप करूँ और करूँ तो ज्ञाता, ऐसा नहीं। स्वभाविक ज्ञातास्वरूप हूँ। स्वभाविक अर्थात् अपने से ही उसका दृष्टास्वरूप हूँ। आहाहा! ओहो! **मैं सहजचारित्रस्वरूप हूँ...** आहाहा! मैं सहजस्वभावचारित्र त्रिकाली चारित्रस्वरूप हूँ। शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... अकषायस्वभाव... आहाहा! ऐसी कठिन बात है। वह व्यवहार की बातें सुने। दस-दस हजार लोग इकट्ठे हों और लोग प्रसन्न हो जायें। आहाहा! भारी धर्म किया, भारी धर्म हुआ। आहाहा!

भाई! प्रभु का मार्ग अलौकिक है। दुनिया निन्दा करे तो निन्दा करो। नियमसार में आता है न? नियमसार में। कि निन्दा करे तो निन्दा करो, इष्ट मार्ग यह है, बापू! इसकी निन्दा करो तो करो, तुम्हें न रुचे तो इसका विरोध करो। दूसरा कुछ हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! स्वभाविक दर्शनस्वरूप हूँ। **मैं सहजचारित्रस्वरूप हूँ...** चारित्र प्रगट होता है, वह नहीं। चारित्र अर्थात् अकषायभाव, वीतरागभाव। मैं वीतरागभावस्वरूप ही हूँ। चारित्र अर्थात् वीतरागभाव प्रगट हो, वह पर्याय है। यह तो वीतरागभावस्वरूप ही हूँ। आहाहा! सम्यक्दृष्टि अपने आत्मा को ऐसा मानता है। किसी का किया और करना और यह मदद करूँ, लूँ-दूँ, यह समकित दृष्टि नहीं मानता। आहाहा!

व्यवहाररत्नत्रय को भी जहाँ हेय मानता है, आहाहा! व्यवहार-व्यवहार, सद्भूतव्यवहारनय को भी व्यवहार मानता है, केवलज्ञान को भी व्यवहार मानता है। आहाहा! यह त्रिकाली चारित्रस्वरूप हूँ। अकषायस्वरूप विकाररहित शान्त.. शान्त.. शान्ति का समुद्र प्रभु! शान्ति का सागर आत्मा चारित्रस्वरूप ही त्रिकाल हूँ। आहाहा! **तथा मैं सहजचित्शक्तिस्वरूप हूँ,...** सहजचित्ज्ञान का वीर्य। ज्ञान का वीर्य जो बल, वह सहजस्वरूप है। मेरा बल कोई पर्याय में आवे तो बलवन्त, ऐसा कुछ नहीं है। मैं स्वभाव से बलवन्त ही हूँ। आहाहा!

सहजचित्... ज्ञानशक्ति। ज्ञान का बल है, आनन्द का बल है, श्रद्धा का बल है, वह त्रिकाली है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश लड़कों को छोटों को भी यह! ऐसा मार्ग तो यह है न, भाई! क्षण में देह पड़ जाती है, देखो न.. आहाहा! वह देखो न, बेचारा क्षण में मर गया। हिम्मतभाई का, मनसुख का लड़का यहाँ था न... यहाँ से ऐसा... फिर विवाह हुआ था और छोड़ दिया था। कल अकस्मात् हुआ और मर गया। यह हिम्मतभाई का मनसुख, उसका छोटा तीसरे नम्बर का लड़का। यहाँ बहुत दिन रहता था। लट्ठ शरीर लट्ठ। चाहे जैसे हुआ अकस्मात् हुआ, उड़ गया। देह की स्थिति कैसी? बापू! आहाहा! अरे! राग और पुण्य-पाप के परिणाम भी जहाँ आत्मा के नहीं... आहाहा! अरे! जहाँ केवलज्ञान की पर्याय भी आत्मा की नित्य नहीं। आहाहा! वह भी सद्भूतव्यवहारनय से है। पर्याय है। यह तो अनन्त-अनन्त गुण का धनी, अनन्त शक्ति, चित्शक्तिसम्पन्न, ज्ञानशक्ति, ज्ञानबल, दर्शनबल, आनन्दबल, शान्तिबल, ऐसा अनन्त बल से भरपूर भगवान त्रिकाल हूँ। मेरे बल में कभी

हीनता नहीं आयी। आहाहा! ऐसी वस्तु है। कहो, झवेरचन्दभाई! तुम्हारे आंकडिया-फांकडिया में कहीं ऐसा कहाँ था? आहाहा!

तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर का फरमान है। आहाहा! ऐसा क्षणभंगुर स्वरूप। राग क्षणभंगुर, अरे! केवलज्ञान नाशवान! क्योंकि वह पर्याय है। पर्याय नाशवान है और मैं त्रिकाली अविनाशी हूँ। आहाहा! ऐसी भावना समकिती को करनी चाहिए।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१०१, श्लोक-१२८, गाथा-९७, रविवार, मागशर कृष्ण ६, दिनांक ०९-१२-१९७९

नियमसार, गाथा ९६ का अन्दर एकत्वसप्तति का कलश है। पद्मनन्दिपंचविंशति शास्त्र है, उसमें यह श्लोक है। वह यह श्लोक है।

केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।।

आहाहा! **वह परम तेज...** भगवान आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव पड़ा है। आहाहा! जिसका स्वभाव सर्वज्ञ है, ज्ञान है, वह ज्ञान सर्वज्ञ पूर्ण ही होता है। ऐसा पूर्ण स्व-स्व अपना ज्ञान, उसका तेज... आहाहा! जिसने स्वज्ञान का तेज जान लिया। उसने क्या नहीं जाना? आहाहा! सूक्ष्म बात है भगवान! लोक से अलग प्रकार है। जिसने **वह परम तेज केवलज्ञान, केवलदर्शन...** त्रिकाली अन्तर की बात है। त्रिकाली केवलज्ञान, त्रिकाली केवलदर्शन यह अन्तर जो त्रिकाल स्वभाव है। आत्मा जैसे त्रिकाली वस्तु है, वैसे उसका स्व-भाव, अपना जो भाव है, वह त्रिकाली है। ऐसा जो त्रिकाली ज्ञान और दर्शन **और केवलसौख्य...** प्रभु तो आनन्द है। आहाहा! वह सच्चिदानन्द है। उसका स्वभाव सच्चिदानन्द है। सत् चिद् ज्ञान आनन्द। है, सत्ता ज्ञान और आनन्द के स्वभाव से भरपूर सत्ता आत्मा है। जँचना कठिन पड़े प्रभु को। दूसरी बातें अनन्त काल से बैठी है, परन्तु अन्तर आत्मतत्त्व वह क्या है, उसकी बात इसने कभी बैठायी नहीं और उसे बैठाने का विचार भी नहीं किया। आहाहा! वह केवलसुख अकेला आनन्द। केवल शब्द पड़ा है न?

परम तेज केवलज्ञान,... परम तेज केवलज्ञान, परम तेज अकेला ज्ञानस्वरूप प्रभु, ऐसा। **केवलदर्शन...** केवलदर्शन दृष्टा/दर्शन स्वभाव। आत्मा का दर्शन-देखना स्वभाव। केवलदर्शन त्रिकाल पूर्ण स्वभाव और जिसका अनन्त सुख। केवलसुख / अकेला आनन्द। आत्मा वस्तु भी भारी जगत को कठिन पड़ती है। परिचय नहीं होता। अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। सच्चिदानन्द प्रभु है। बोलते तो बहुत हैं ऐसा सच्चिदानन्द-सच्चिदानन्द। परन्तु वह सच्चिदानन्द वे दूसरे भगवान हो गये, वे। मैं नहीं। परन्तु वे हो गये, वे हुए कहाँ से ? उनमें वह शक्ति और सामर्थ्य था, तब उसमें से हुए ? या कहीं बाहर से हुए हैं ? आहाहा! छोटी पीपर में चौंसठ पहरी चरपराहट भरी है, कद में छोटी है, रंग में काली है, तथापि उस छोटी पीर में चौंसठ पहरी अर्थात् सोलह आना अर्थात् रुपया-रुपया अर्थात् पूरा सर्व चरपराहट रस उस पीपर में पड़ा है। पूरा चरपरा रस पड़ा है। भले कद छोटा हो परन्तु अन्दर चरपरा रस और हरा रंग पड़ा है। बाहर में काली दिखती है परन्तु अन्दर में हरा रंग पूर्ण भरा है। वह घोंटने से आता है, वह कहाँ से ? वह अन्दर में है, वह आता है। घोंटने से आता होवे तो कोयले को घोंटने से भी आना चाहिए। उसमें कहाँ है ? घोंटने से आता हो तो कोयला, कंकड़ को घोंटने से भी आना चाहिए। परन्तु उसे घोंटने से अन्दर में है, छोटी पीपर में चौंसठ पहरी चरपराहट और हरा रंग पूरा, सोलह आना, रुपया-रुपया भरा है। चौंसठ पहर अर्थात् चौंसठ पैसा अर्थात् रुपया और सोलह आना। आहाहा!

इसी प्रकार भगवान आत्मा चौंसठ पहरी चरपराहट की तरह चौंसठ पहरी चरपराहट (अर्थात्) पूरा अन्तर आनन्द भरा है। आहाहा! अरे रे! कब विचार किया होगा ? घर का विचार छोड़कर बाहर की... सब लगायी। केवलसुख! है ? वह तो केवल आनन्द है, दुःख की गन्ध नहीं। जिसमें दुःख की गन्ध ही नहीं, ऐसा भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, देह से भिन्न, वाणी से भिन्न, कर्म से भिन्न और पुण्य-पाप की क्रिया, राग की क्रिया से भी भिन्न और स्वयं से परिपूर्ण है। पर से भिन्न और अपने से पूर्ण। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा केवलसुख, केवलज्ञान, केवलदर्शन और है ? तीनों शब्द।

केवलसौख्यस्वभावी है। उसे जानते हुए क्या नहीं जाना ? आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा अन्दर, केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसुख-आनन्द—ऐसा परिपूर्ण सोलह आना, रुपया-रुपया भरा है। उसे **जानते हुए क्या नहीं जाना ?** एक को जानने से

सब जाना। सवेरे एक प्रश्न उठा था न ? भाई ! ऐसा कि केवलज्ञान और केवलदर्शन मैं हूँ, यह तो ऐसा कि नैगमनय से है। ऐसा नहीं है। केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रवचनसार की अन्तिम गाथा में लिया है कि जो मोक्षमार्ग आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु का दर्शन-ज्ञान और चारित्र प्रगट हुआ, वह प्रगट हुआ, उसे हम मोक्षतत्त्व कहते हैं। आहाहा ! यह तो नैगमनय का प्रश्न उठा था न, भाई ! यह पूर्ण है, प्रभु ! आत्मा ! अरे ! कैसे जँचे ? परन्तु वह दिखता नहीं, परन्तु दिखता नहीं—ऐसा निर्णय किसने किया ? आत्मा दिखता नहीं, प्रभु ! वह दिखता नहीं, उसमें किस सत्ता में उसका निर्णय किया ? देखनेवाले में निर्णय किया कि दिखता नहीं। आहाहा ! अरे रे ! कभी घर के विचार नहीं किये और पर की सब लगायी है।

जिसकी सत्ता में ज्ञात होता है, उस जाननेवाले को कौन है जाननेवाला ? वह ज्ञात होता है जिसमें, वह यह ज्ञात नहीं होता। जाननेवाला जानता है, वह जाननेवाला जानता है। जिसमें ज्ञात होता है, वह कौन है ? यह उसकी सत्ता अकेले केवलज्ञान-दर्शन और आनन्द तथा सुखरूप आनन्द है। सूक्ष्म बात है, प्रभु ! आहाहा ! अरे ! ऐसा जो प्रभु ! उसे जिसने अन्तर में जाना, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण सुख, अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन, अकेला सुख। केवल लिया है न, इसलिए। अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन, अकेला सुख; दूसरी चीज़ ही जिसमें नहीं। ऐसी जो चीज़ भगवान आत्मा, उसे जिसने जाना, उसने क्या नहीं जाना ? प्रभु ! **'एगं जाणइ सब जाणइ'** एक को जाना, उसने सब जाना। क्यों ? - कि उसकी जो ज्ञानशक्ति है, वह पूर्ण है, आनन्द पूर्ण है—ऐसा जाना, तो पर्याय में भी पूर्ण आनन्द और ज्ञान प्रगट होगा ही तो वह अपनी पर्याय भविष्य में प्रगट होगी, तो गत काल को और भविष्य को सबको तीन काल को आत्मा जहाँ जाने। अभी पर्याय में, हों ! यहाँ तो शक्ति की बात है। आहाहा !

जिसकी शक्ति अर्थात् सामर्थ्य। जिसका स्वभाव। स्व अर्थात् अपना अपने से भाव केवल अकेला ज्ञान, दर्शन और सुख भरा है। उसे जानने पर, उसकी पर्याय में जाना, अब उसे क्या बाकी रहा ? आहाहा ! क्योंकि पर्याय जानने पर पूर्ण पर्याय प्रगट होगी ही। और वह पूर्ण प्रगट हो ही और यह पर्याय, सबका पिण्ड आत्मा है। उसे जिसने जाना। आत्मा भी पूरा जाना कब कहलाये ? प्रवचनसार की ४८-४९ गाथा में आता है न ? जिसने सर्व जाना, उसने एक जाना, क्यों ? - कि आत्मा सर्व जाने, आत्मा एक चीज़ है। उसे त्रिकाल

जाने, त्रिकाल। आत्मा एक चीज़ है, उसमें अनन्त ज्ञान आदि भले सुख भी भरा हुआ है परन्तु उसकी पर्याय में देखो तो अनादि-अनन्त पर्याय-अवस्थाएँ हैं। वह भविष्य की भी पर्याय केवलज्ञान और केवलदर्शन उसमें है ही। होगी ही। अन्तर में है, तो पर्यायदशा में होगी ही और होगी, वह सादि-अनन्त रहेगी, तो वह सादि-अनन्त वह अनादि-सान्त यह पर्याय। ऐसे एक आत्मा को जाना, उसने क्या बाकी रखा? आहाहा! क्या कहा यह? समझ में आया?

अन्तर भगवान जिसने पूर्ण जाना, उसे तो ठीक, परन्तु जिसने एक आत्मा को त्रिकाली जाना। पर्याय अवस्था से दशा से त्रिकाल तो उसकी भविष्य की पर्याय, वह तो केवलज्ञान, केवलदर्शन होनेवाली ही है। आहाहा! और वह पर्याय अवस्था सादि-अनन्त होनेवाली है तो उस ज्ञान में तीन (काल), लोकालोक जानने में आते हैं, तो वह ज्ञान की पर्याय और अनादि-सान्त पर्याय अवस्था, अनादि से विकारी है, इसका मोक्ष होने पर अन्त आ जाता है और मोक्ष की दशा की शुरुआत हो जाती है। वह शुरुआत होती है, वह सादि-अनन्त। शुरुआत का अन्त आ जाता है, वह अनादि-सान्त, यह दो पूरा जाना, उसने क्या नहीं जाना? आहाहा! क्योंकि भविष्य की केवलज्ञान की पर्याय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हो जाएँगे। तब तो अनादि-अनन्त आत्मा को जाना, तब कहलाता है। समझ में आया? सूक्ष्म है, भगवान! दुनिया से अलग प्रकार है, बापू! दुनिया क्या है और कहाँ है? कहाँ अटकती है? इतनी अनादि से बाहर में अटकी है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जिसने एकरूप वस्तु अन्दर है, एकरूप ज्ञान, एकरूप दर्शन, एकरूप सुख - ऐसा जिसने जाना, उसकी पर्याय में भविष्य में केवलज्ञान तो होनेवाला ही है। आहाहा! और वह केवलज्ञान सादि-अनन्त होगा। होगा अर्थात् पूरा ऐसा का ऐसा अनन्त काल रहेगा और भूतकाल की अनादि-सान्त विकारी पर्याय तथा सादि-अनन्त वह पूरा-पूरा जाना, तो उस पर्याय में छह द्रव्य भी ज्ञात हो गये, अनन्त सिद्ध भी पर्याय में ज्ञात हो गये, तो उस अनादि-अनन्त पर्याय को, एक पर्याय को अर्थात् एक द्रव्य की पर्याय को जाना, उसमें सब ज्ञात हो गया। शान्तिभाई! सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! ऐसा आत्मा। कौन जाने इसे दो बीड़ी की तलब लगी, दो बीड़ी पीवे, सिगरेट पीवे, तब भाईसाहब को दस्त उतरे पखाने में। ठीक से दो बीड़ी पीवे, उसे क्या कहते हैं तुम्हारे?

सिगरेट। सिगरेट, सिगरेट। आहाहा! ऐसे अपलक्षण को कहना कि तू भाई! तू केवलज्ञान... किस माप में बैठावे? उसे माप लाना... आहाहा! माप कहाँ से लाना?

रविवार का दिन था, उसका पिता पचास आलपाक लाया। उस आलपाक का कोट नहीं होता? कोट-कोट होता है न आलपाक का? ऊँची चीज़, पचास हाथ लाया। लड़का निवृत्त। ऐसे नापा तब सौ हाथ हुआ। बापू! तुम्हारे पचास हाथ खोटे। यह तो सौ हाथ है। बापू कहता है ऐ लड़के! तेरा माप काम नहीं आता, भाई! हमारे माप में तेरा माप काम नहीं आता। तेरा छोटा हाथ वहाँ काम नहीं आता। इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञ परमात्मा और सन्त कहते हैं, तेरे जगत के माप करने में तेरी बुद्धि एकान्त में वह काम नहीं आती। आहाहा! प्रभु! तेरा माप करने में बड़ा मापक चाहिए। आहाहा! अब ऐसी बातें! आहाहा!

एक सर्वस्व है, प्रभु! आहाहा! केवल लिया है न? केवल आनन्द, केवलज्ञान और केवलदर्शन एक चीज़ पूर्ण प्रभु आत्मा को जाना, उसने क्या नहीं जाना? आहाहा! उसे देखते हुए **क्या नहीं देखा?** भगवान पूर्ण दर्शनस्वरूप है, ऐसा देखा। उसकी पर्याय में भी सर्व को देखे, वह पर्याय प्रगट होनेवाली है। **क्या नहीं देखा?** आहाहा! उसने लोकालोक और अनन्त सिद्धों को देखा। आहाहा! यहाँ देखी पर्याय, हों! और देखी है पर्याय शक्ति की ताकत। उस शक्ति की ताकत को जानने पर पर्याय की ताकत ज्ञात हो गयी, उसमें उसे जानना क्या बाकी रह गया? आहाहा! थोड़ा सूक्ष्म है, बापू! खबर है। दुनिया को इस ओर झुकना कठिन है। क्या हो परन्तु मार्ग ही कोई अलग प्रकार है। पूरा झुकाव, जगत का झुकाव झोंक-झोंक झुकाव अलग प्रकार का है और झुकाव अलग प्रकार की अन्दर की चीज़ है। बाहर का झुकाव जगत का है। यह अन्तर के झुकाव की बात है।

भगवान पूर्णानन्द का नाथ विराजता है। आहाहा! किस माप से मापना? परन्तु जिसने यह मापा, तो उसे कहते हैं, क्या जानना बाकी रह गया अब? क्या देखना बाकी रह गया? आहाहा! और **उसका श्रवण करते हुए क्या नहीं सुना?** आहाहा! **उसका श्रवण करते हुए...** आहाहा! भगवान केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवल आनन्द, पूर्ण प्रभु! वस्तु होती है, वह पूर्ण होती है। वस्तु होती है, वह अपूर्ण नहीं होती। वस्तु होती है, वह विकृत नहीं होती। विकृत नहीं होती, वह अपूर्ण नहीं होती; अपूर्ण नहीं होती तो अविकृत पूर्ण होती है। निर्विकारी पूर्ण होती है, वह निर्विकारी पूर्ण जिसने देखा, और जिसने यह बात सुनी...

आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान! प्रभु! तेरे घर की बात है। आहाहा! बाहर की सिरपच्ची कर-करके अनन्त काल से मर गया है। शास्त्र के बहाने भी बाहर में दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा कर-करके मर गया है, वह कहीं वस्तु में नहीं है। वह तो विकल्प-राग है। आहाहा!

जिसने ऐसे रागरहित पूर्णस्वरूप देखा। अरे! जाना। अरे! जाना क्या? सुना। यहाँ तक आया न? आहाहा! प्रभु! तेरी प्रभुता तूने सुनी। सुनी, तब अन्दर से कहे, आहाहा! शरीर, वाणी, मन, जड़, मिट्टी, धूल तो कहीं रह गये। पुण्य-पाप तो कहीं रह गये, वह तो विकार, परन्तु अल्पज्ञता भी कहीं रह गयी। क्योंकि वह कहीं वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! केवल है न? आहाहा! ऐसा भगवान जिसने सुना... आहाहा! ऐसा परमात्मा स्वयं है, पूर्ण सुख से भरपूर, पूर्ण ज्ञान-दर्शन से भरपूर, ऐसा जिसने सुना... आहाहा! है?

उसका श्रवण करते हुए क्या नहीं सुना? आहाहा! यह श्रवण करना, यह कहते हैं। बाकी यह करना... यह करना... यह किया... आहाहा! यह तो सुन-सुनकर कान फूटे। नहीं कहते? 'हरि कथा सुनकर फूटे कान तो भी न आया (हरि का) भान।' आहाहा! कहते हैं कि जिसने यह परिपूर्ण प्रभु है, ऐसा जिसने सुना, उसे अब क्या सुनना बाकी रह गया? आहाहा! प्रभु! अन्दर तेरा स्वभाव। स्व-भाव। अपना नजदीक का भाव, निज त्रिकाली ध्रुव वह अनन्त है। केवल एक ही रूप है, पूर्ण है—ऐसा जिसने सुना, उसने क्या नहीं सुना? आहाहा! उसने सब सुना। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु!

मुमुक्षु : बेड़ा पार हो जाए ऐसी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात है, भगवान! आहाहा! वस्तु तो ऐसी है। आहाहा! अन्त में तो यहाँ तक रखा। है न? पाठ में है न? '**श्रुते श्रुतम्**' है न? '**तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।**' पाठ में, श्लोक में है। आहाहा! प्रभु! तेरी बात, पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण दर्शन। आहाहा! यह तुझे कान में पड़ी और सुना, अब तुझे क्या सुनना है? अब सुनना बाकी क्या रह गया है? जो था, वह कहा। था, वह आया। आहाहा! अरे! द्रव्यश्रुत में यह आया। आहाहा!

शास्त्र में शास्त्रकार ने यह कहा। यह कहा और जिसने सुना। '**तत्प्रति प्रीति चितेन**' प्रीति-रुचि प्रेम से जिसने यह सुना। आहाहा! '**भावि निर्वाण भाजनम्**' वह मोक्ष के योग्य है। आहाहा! इसमें निःसन्देह है। सन्देह करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! जिसे यह बात अन्दर

में जँची, जिसने यह सुना... आहाहा! पूर्ण ज्ञान, ज्ञान अर्थात्? इस शास्त्र का जानना, वह नहीं, हों! जैसे शक्कर का मिठास स्वभाव है, जैसे नमक का खारा स्वभाव है, वह पूरा है और उसमें पर की अपेक्षा नहीं है; इसी प्रकार भगवान का स्वभाव ज्ञान, दर्शन, आनन्द का पूर्ण है। उसे पूर्ण में पर की कोई अपेक्षा नहीं है। निरपेक्ष तत्त्व ऐसा है। जिसने ऐसी बात सुनी... आहाहा! उसने क्या नहीं सुना, कहते हैं। है? अन्दर है या नहीं? आहाहा!

इसने पाँच करोड़ के पाँच मन्दिर बनाये। तो इसने क्या नहीं किया? यह नहीं आया? अरे! ऐ..! आहाहा! यह नहीं आया। ऐसा तो अनन्त बार किया है। आहाहा! परन्तु तू अपूर्ण ज्ञानवाला भी नहीं। आहाहा! भगवान शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु पूर्ण ज्ञानदर्शन और आनन्द से सुना, उसने क्या नहीं सुना? उसने बारह अंग का सार सुना। आहाहा! उसने बारह अंग में परिपूर्णता कैसी है, वह उसने सुन लिया। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है, प्रभु! भाव जरा सूक्ष्म है। आहाहा! अभी यह परिचय नहीं है। अभी बाहर का परिचय बढ़ गया है। बाहर की माथापच्ची, सिरपच्ची। भगवान अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु पूर्ण सुख से, आनन्द से, ज्ञान से भरपूर है, उसकी बात पड़ी रही। वर छोड़कर बारात जोड़ दी है। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा को छोड़कर, पूर्णानन्द के नाथ को सुनना छोड़कर दूसरा सुना है। 'सुन सुन करके फूटे कान तो भी नहीं आया है भान'। आहाहा!

गाथा बहुत ऊँची है, यह तो अमृत भरा है। अमृत का सागर आत्मा। सागर तो बड़ा असंख्य योजन और करोड़ों योजन में हो, उसे सागर कहते हैं। भगवान! तू क्षेत्र को बड़ा मत मान। उसके स्वभाव की हदरहित स्वभाव है। मर्यादारहित स्वभाव है। उसे मान। क्षेत्र बड़ा है, ऐसा मत मान। क्षेत्र भले शरीरप्रमाण भगवान अन्दर भिन्न अलग चीज़ है परन्तु है उसका स्वभाव बेहद अपरिमित है। आहाहा! परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन और सुख से भरपूर भगवान है। दिखाई क्यों नहीं देता? है तो दिखता क्यों नहीं? परन्तु देखा कब है? अन्तर में देखने का प्रयत्न कब किया है? जहाँ है, वहाँ देखने का प्रयत्न किया है कभी? जहाँ इसकी सत्ता परिपूर्ण पड़ी है। सत्ता-अस्तित्व भगवान आत्मा त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु!

सच्चिदानन्द नित्यानन्द अनादि-अनन्त वस्तु आत्मा है। आत्मा नया नहीं होता। है, उसका नाश नहीं होता। है, उसकी आदि नहीं होती। वह है, ऐसा परिपूर्ण सन्मुख का उसने ध्यान कहाँ दिया है? आहाहा! कथाएँ और वार्ताएँ सुन-सुनकर तथा क्रियाकाण्ड की बातें

सुन-सुनकर समय गँवाया है। सब समय गया। मरने का समय फिर थोड़ा रहा, ५०-५०-६० गये, पश्चात् इसे देह छूटने के कितने वर्ष रहे ? देह तो छूट जाएगी। जिस समय में छूटने का वह समय छूट जाने का निश्चित है। जितने दिन-महीने जाते हैं, वे सब मृत्यु के समीप जाते हैं, देह छूटने के समीप जाते हैं। उसमें यह तत्त्व नहीं किया, और बड़ी-बड़ी बादशाही की, करोड़ों रुपयों की आमदनी की और करोड़ों के... आहाहा! बड़े कारखाने लगाये, बड़ी सगे-सम्बन्धियों की जमात इकट्ठी की, पुत्र-पुत्रियाँ और बड़ी जमात इकट्ठी की है। आहाहा!

कहते हैं कि यह सुना, उसे क्या बाकी रहा ? आहाहा! गजब बात की है न! सुनने में, तू पूर्णानन्द का नाथ है, यह तुझमें विकार तो नहीं परन्तु अल्पज्ञता नहीं। यह बात सुनी उसने क्या नहीं सुना ? ऐसा कहते हैं। कहो, यशपालजी! आहाहा! सम्प्रदायवालों को कठिन पड़े ऐसा है। 'वाड़ा बाँधकर बैठे रे अपना पन्थ करने को।' अपना पक्ष करने के लिये वाड़ा बाँधकर बैठे हैं, भगवान एक ओर रह गया। आहाहा! यह यहाँ पूरा हुआ।

श्लोक-१२८

तथाहि ह्न

और (इस ९६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):—

(मालिनी)

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः,
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानन्दरूपः।
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोऽयं,
निखिलमुनिजनानां चित्तपङ्केजहन्सः ।।१२८।।

(वीरछन्द)

मुनिजन उर पंकज का हंस सुशाश्वत केवलज्ञान स्वरूप।
सकल विमल दर्शन सुखमय जो जयवन्तो परमात्म स्वरूप॥१२८॥

[श्लोकार्थः] समस्त मुनिजनों के हृदयकमल का हंस ऐसा जो यह शाश्वत, केवलज्ञान की मूर्तिरूप, सकलविमल दृष्टिमय (-सर्वथा निर्मल दर्शनमय) शाश्वत आनन्दरूप, सहज परम चैतन्यशक्तिमय परमात्मा, वह जयवन्त है॥१२८॥

श्लोक -१२८ पर प्रवचन

और (इस ९६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):—

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः,
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानन्दरूपः।
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोऽयं,
निखिलमुनिजनानां चित्तपङ्केजहन्सः॥१२८॥

यह तो चित्पंकज का हंस है। आहाहा! जैसे हंस पानी और दूध भिन्न करता है। आहाहा! पाँच सेर दूध और सेर पानी डाला, परन्तु उसकी - हंस की चोंच में खटास होती है, वह ऐसा डाले, वह इकट्ठा पानी पृथक् और दूध का पृथक् दूध का पिण्ड पृथक् पड़ जाता है, पानी पृथक् पड़ जाता है, ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसा भगवान हंस का स्वभाव है। ज्ञानी की पर्याय जहाँ आत्मा सन्मुख झुकायी, वहाँ राग का पानी भिन्न पड़ जाता है और आत्मा भिन्न पड़ जाता है। आहाहा! ऐसा प्रभु! तेरा स्वरूप है। आहाहा! कैसे जँचे? आहाहा! यह चूरमा के दो लड्डू खाता हो और उसमें वापस अरबी हो। अरबी आती है न? क्या कहलाता है वह? भुजिया। और घी में तले हुए। लड्डू और साथ में अरबी। मानो ओहोहो! मानो क्या हुआ! ऐसा प्रभु! तेरी मृत्यु हुई सुन। वहाँ उस पर में तृप्ति मानकर आत्मा का खून पिया है। आहाहा!

आत्मा की तृप्ति में अन्दर पर में तृप्ति नहीं मानता। आहाहा! ऐसी बातें! जिसने

आत्मा के आनन्द की तृप्ति जतलाई-जानी और आनन्द की तृप्ति हुई, उसे चक्रवर्ती का राज और इन्द्र के इन्द्रासन का सुख भी... आहाहा! सड़ी हुई बिल्ली और सड़े हुए कुत्ते जैसा लगता है। आहाहा! आत्मा के आनन्द के समक्ष, आनन्द के अनुभव के समक्ष, इन्द्र के इन्द्रासन भी सड़े हुए कुत्ते और सड़े हुए बिल्ली जैसे लगते हैं। आहाहा! उसे इनसे कहीं साधारण चीज़ मिली हो जहाँ, वहाँ तो मानो ओहो! कैसे हैं तुम्हारे रिश्तेदार? सुखी हैं। पैसे-टके से सुखी हैं। आहाहा! भाई कहते थे। मलूकचन्दभाई, नहीं? वे कहते थे। बड़ा लड़का है न वहाँ स्वीट्जरलैंड, चार करोड़ रुपये हैं। मलूकचन्दभाई का भाई स्वीटजरलैंड। अहमदाबाद रहते हैं न? मलूकचन्द!

एक बार कहता था। न्याल सुखी है सब, ऐसा कहता था। वहाँ गये होंगे न? गये होंगे। बड़ा बंगला, बगीचा, लड़का नहीं, पति-पत्नी दो हैं। लड़की थी तो विवाह कर दिया। चार-पाँच करोड़ रुपये। न्याल सुखी हैं, कहे। ऐसा कहते होंगे। ऐई! तुम्हारे भाई! न्याल, उनका बड़ा लड़का, छोटा यहाँ मुम्बई, पूनमचन्द। उसके पास चार करोड़ रुपये हैं। अभी लड़के का विवाह किया। बीस लाख की तो एक मोटर लाये थे। बीस लाख की एक मोटर। हमको छोड़ने आये थे। हमें भावनगर आना था न! पन्द्रह दिन पहले की बात है। तब मोटर में बैठाया था। मैंने कहा—इस मोटर की कीमत कितनी?

मुमुक्षु : आप बैठे, उसमें मोटर पवित्र हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं। वे लोग ऐसा मानते हैं कि महाराज बैठे, इसलिए पवित्र हुई। मैंने पूछा। हिम्मतभाई थे या नहीं? तुम साथ में नहीं थे? ये भी बैठे थे। साथ में थे। कहा, इसकी कीमत कितनी? बीस लाख की। एक मोटर बीस लाख की। वे तो कहें कि एक पचास लाख की मोटर वहाँ दूसरे को है। कोई सेठिया होगा। पचास लाख की एक मोटर। इसमें लोग मर गये।

मुमुक्षु : जिसके पास बहुत पैसा हो, उसे पचास लाख की क्या कीमत?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह धूल है। अब एक साथ ऐसा टुकड़ा भी आनेवाला नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसलिए अभी बिकता हुआ लेकर भोग लेना।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसीलिए तो इस दृष्टि को छोड़ दो, ऐसा कहते हैं। आहाहा! इस

जड़ को रहना होगा, वैसे रहेगा। तुम्हारी सावधानीरूप से नहीं रहेगा। आहाहा! कितने ही केस देखते हैं। आहाहा! यह लाभुभाई का केस लो। कैसा शरीर! अभी ऐसा हो गया है। चल नहीं सकते, बोल नहीं सकते। आहाहा! ऐसे तो कितने ही सुनते हैं। शरीर की क्रिया... कब क्या होगी? यह देह तो परमाणु-मिट्टी है। कब क्या होगी?

यहाँ कहते हैं, आहाहा! **समस्त मुनिजनों के हृदयकमल का हंस...** आहाहा! यह भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, अनन्त ज्ञान और शान्ति से भरपूर ऐसा आत्मा, वह **समस्त मुनिजनों...** भाषा कैसी ली है? कोई मुनि उसमें से हीन हो, कोई मुनि ऐसे हों, ऐसा नहीं। आहाहा! **समस्त मुनिजनों के हृदयकमल का हंस ऐसा जो यह शाश्वत, केवलज्ञान की मूर्तिरूप,...** अन्तर में आनन्दरूप, केवलज्ञान की मूर्तिरूप हृदय में अन्दर देखने से आनन्द, केवलज्ञान की मूर्तिरूप, आहाहा! भाषा कैसी प्रयोग की?

समस्त मुनिजनों के हृदयकमल का हंस... मुनि इन्हें कहते हैं। स्त्री, पुत्र छोड़कर वस्त्र बदले (छोड़ दिये), इसलिए साधु हो गये, साधु ऐसे नहीं हैं, बापू! आहाहा! उन्हें मुनि नहीं कहा जाता। मुनि उन्हें कहा जाता है कि जिनके हृदय में यह आत्मा हंस राग और चैतन्य के अमृत को भिन्न करके अमृत को पीता है। उसका नाम समस्त मुनि हंस कहा जाता है। आहाहा! जैसे हंस दूध और पानी इकट्ठे हों, वह पानी निकालकर दूध की लच्छी दूध पीता है। उस दूध की लच्छी लेता है, पानी निकाल डालता है। हंस का ऐसा स्वभाव है। ऐसे आत्मा में ऐसा स्वभाव है।

समस्त मुनिजनों के हृदयकमल का... स्वभाव। आत्मा वह तो **हृदयकमल का हंस...** है। अन्दर राग और आत्मा को भगवान दो को भिन्न करता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। इस बाहर की प्रवृत्ति के उत्साह में रुक जाए, मूल बात रह जाए। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आता है, अशुभभाव से बचने को शुभभाव होता है। ज्ञानी को भी आता है परन्तु वह जानता है कि बन्ध का कारण है, धर्म नहीं। आहाहा! तथापि कमजोरी के कारण वह भाव आता है, परन्तु वह हंस है - धर्मात्मा तो हंस है। राग को पानी जैसे आत्मा को दूध जैसे दो भिन्न करते हैं। आहाहा! दूध का कोकडू वले, उसमें आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है और राग का पानी जैसे वले निकाल डालता है, उसे यहाँ मुनि कहते हैं। आहाहा! ऐसी मुनि की व्याख्या है। है इसमें? है या नहीं?

समस्त मुनिजनों के हृदयकमल का हंस... आहाहा! मुनि स्वयं अपने लिये कहते

थे। नाम नहीं देते, समुच्चय दिया है। आहाहा! समस्त मुनि ऐसे होते हैं। आहाहा! कि **हृदयकमल का हंस ऐसा जो यह शाश्वत,...** नित्य प्रभु केवलज्ञानी। वह तो नित्य आत्मा है, ध्रुव है, कभी उसका नाश हो, ऐसा नहीं है। उसकी कभी उत्पत्ति हो, ऐसा नहीं है। है, उसकी उत्पत्ति क्या? है, उसका नाश क्या? है, उसके पूर्ण स्वभाव से खाली क्या? आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा **शाश्वत, केवलज्ञान की मूर्तिरूप,...** अकेला ज्ञान का स्वरूप ही। मूर्ति अर्थात् स्वरूप। अकेला केवलज्ञान का स्वरूप। वह आत्मा अर्थात् अकेला ज्ञान का स्वरूप। जानने के स्वभाव का जिसका स्वरूप, उसकी वह मूर्ति, उसका स्वरूप। आहाहा!

सकलविमल दृष्टिमय (-सर्वथा निर्मल दर्शनमय)... पहले ज्ञान की बात की, अब दर्शन की। सकल दर्शनमय **सकलविमल दृष्टिमय (-सर्वथा निर्मल दर्शनमय)...** जिसका त्रिकाली निर्मल दर्शन है। आहाहा! **शाश्वत...** वह शाश्वत है। वस्तु है, वह शाश्वत है, नित्यानन्द प्रभु है। पर्याय में, विचार में बदले। विचार, उसकी अवस्था बदले, वस्तुरूप से शाश्वत है। आहाहा! **शाश्वत आनन्दरूप,...** शाश्वत आनन्दरूप ऐसा यह आत्मा है। आहाहा! यह अब आनन्द बाहर में खोजने जाता है। पैसे में, स्त्री में, पुत्र में, इज्जत में,... आहाहा! जैसे सूकर विष्ठा खाता है। वह सूकर नहीं होता? अभी यहाँ आया था। पहले यहाँ नहीं था। वह विष्ठा खोजे, विष्ठा ही खाये। आहाहा! इसी प्रकार पुण्य और पाप विष्ठा समान है, जहर समान है। एक बार विष्ठा कहा था, वह उन्हें ठीक नहीं लगा। परन्तु विष्ठा तो अभी (सूकर द्वारा) खायी भी जाती है। परन्तु यह तो जहर है। पुण्य और पाप दोनों भाव जहर है। आहाहा! इस जहर से भिन्न **शाश्वत आनन्दरूप,...** शाश्वत अन्दर आनन्द—नित्य आनन्द—सहजानन्दस्वरूप। वे स्वामी नारायण कहते हैं, वह नहीं, हों! सहज आनन्द मूर्ति, यह तो आत्मा है। आहाहा!

सहज आनन्दस्वरूप **सहज परम चैतन्यशक्तिमय...** स्वभाविक परम चैतन्यशक्ति अर्थात् वीर्य-बल, उसमय। **परमात्मा वह जयवन्त है।** आहाहा! त्रिकाल जयवन्त वर्तता है। आहाहा! **समस्त मुनिजनों के हृदयकमल का हंस ऐसा जो यह शाश्वत, केवलज्ञान की मूर्तिरूप, सकलविमल दृष्टिमय (-सर्वथा निर्मल दर्शनमय) शाश्वत आनन्दरूप, सहज परम चैतन्यशक्तिमय...** चैतन्यशक्ति। चैतन्य का बल, उसके चैतन्य का बल है, चैतन्य का वीर्य है, उसमें चैतन्य का सामर्थ्य है। आहाहा! उस चैतन्य के वीर्य से पूर्ण भरपूर है। आहाहा! ऐसा आत्मा **परमात्मा वह जयवन्त है।** जयवन्त है, ऐसा कहते हैं।

पर्याय में हमने देखा, वह यह जयवन्त वर्तता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पर्याय अर्थात् अवस्था, वर्तमान चलती विचारधारा। उसमें यह देखा तो जयवन्त वर्तता है। यह वस्तु जयवन्त है। आहाहा! ऐसा उपदेश! अध्यात्म का उपदेश सूक्ष्म है। कान में पड़ने पर कठिन पड़ता है। वह बात तो ऐसी करे कि दया पालो, व्रत करो, एक-दूसरे को मदद करो, दु:खी को मदद करो, भूखे को आहार दो, प्यासे को पानी दो, रोगी को औषध दो, दवाखाने में... यह समझ में तो आये। क्या समझना? वह किया कब जा सकता है? वह तो सब पर की-जड़ की क्रिया है। आहाहा!

यहाँ तो अन्दर राग होता है, वह राग ही इसका स्वरूप नहीं है तो और बाहर का यह करूँ... यह करना... यह करना... अन्तर, बहुत कठिन है। आहाहा! शास्त्र में भी ऐसा आता है। सम्यक्त्वी है, वह मन्दिर बनावे, पूजा आदि हो, वह तो संघ का सन्त कहलाता है, उसे संघ का नायक कहा जाता है। पद्मनन्दि पंचविंशति में है। संघ का नायक कहलाता है।

मुमुक्षु : एक चावल जितनी मूर्ति बनाता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; इतनी छोटी मूर्ति बनावे तो भी समकिती है, आत्मज्ञानी है, उसे भान है कि यह क्रिया है, वह राग है, वह राग भी मेरी कमजोरी के कारण आये बिना नहीं रहता, परन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो उसे जानने-देखने का आनन्द, वह मेरा स्वरूप है, ऐसा जाननेवाला हो, उसे ऐसा राग आता है, उसे पुण्यबन्ध का कारण होता है। आहाहा! बहुत कठिन काम। बाहर का उत्साह उड़ जाए।

परमात्मा वह जयवन्त है। ऐसा जो परमात्मा अन्दर है, वह जयवन्त वर्तता है। त्रिकाली जयवन्त वर्तता है। उसे कोई विकृति, विकार या अपूर्णता है ही नहीं। ऐसा पूर्ण प्रभु अन्दर जयवन्त वर्तता है। परमात्मा (जयवन्त वर्तता है)। देखो! परमात्मा कहा। वह जयवन्त वर्तता है। आहाहा! मुनि के हृदय का हंस जयवन्त वर्तता है। आहाहा! यहाँ तो आत्मा की बात निश्चय से करे तो, ऐई! यह तो आत्मा की-आत्मा की लगायी है। कहीं दूसरी बात तो मिलती नहीं, बापू! क्या हो? करना तो यह है। इसके बिना सब व्यर्थ है। आहाहा! दूसरे लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करे, बाहर में इज्जत निकाले, इससे कहीं आत्मा का हो ऐसा नहीं है। आत्मा में उसमें कुछ भव घटे, ऐसा नहीं है। इसमें तो आत्मा के भव घटें, ऐसी बात है। यह ९६वीं गाथा हुई।

गाथा-९७

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सो हं इदि चिंतए णाणी।।९७।।

निजभावं नापि मुञ्चति परभावं नैव गृह्णाति कमपि।
जानाति पश्यति सर्वं सोऽहमिति चिन्तयेद् ज्ञानी।।९७।।

अत्र परमभावनाभिमुखस्य ज्ञानिनः शिक्षणमुक्तम्। यस्तु कारणपरमात्मा सकलदुरितवीर-वैरिसेनाविजयवैजयन्तीलुण्टाकं त्रिकालनिरावरणनिरञ्जननिजपरमभावं क्वचिदपि नापि मुञ्चति, पञ्चविधसन्सारप्रवृद्धिकारणं विभावपुद्गलद्रव्यसंयोगसञ्जातं रागादिपरभावं नैव गृह्णाति, निश्चयेन निजनिरावरणपरमबोधेन निरञ्जनसहजज्ञानसहजदृष्टिसहजशीलादिस्वभावधर्माणामाधाराधेय-विकल्पनिर्मुक्तमपि सदामुक्तं सहजमुक्तिभामिनीसम्भोगसम्भवपरतानिलयं कारण-परमात्मानं जानाति, तथाविधसहजावलोकेन पश्यति च, स च कारणसमयसारोऽहमिति भावना सदा कर्तव्या सम्यग्ज्ञानिभिरिति।

तथा चोक्तं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः ह्न

(अनुष्टुप्)

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसम्वेद्यमस्म्यहम्।।

निजभाव को छोड़े नहीं, किंचित् ग्रहे परभाव नहिं।
देखे व जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिन्तन यही॥९७॥

अन्वयार्थ : [निजभावं] जो निजभाव को [न अपि मुंचति] नहीं छोड़ता, [कम् अपि परभावं] किंचित् भी परभाव को [न एव गृह्णाति] ग्रहण नहीं करता, [सर्वं] सर्व को [जानाति पश्यति] जानता-देखता है, [सः अहम्] वह मैं हूँ— [इति] ऐसा [ज्ञानी] ज्ञानी [चिंतयेत्] चिन्तवन करता है।

टीका : यहाँ, परम भावना के सम्मुख ऐसे ज्ञानी को शिक्षा दी है।

जो कारणपरमात्मा (१) समस्त पापरूपी बहादुर शत्रुसेना की विजय-ध्वजा को लूटनेवाले, त्रिकाल-निरावरण, निरंजन, निज परमभाव को कभी नहीं छोड़ता; (२) पंचविध (-पाँच परावर्तनरूप) संसार की वृद्धि के कारणभूत, [१]विभाव-पुद्गलद्रव्य के संयोग से जनित रागादिपरभाव को ग्रहण नहीं करता; और (३) निरंजन सहजज्ञान-सहजदृष्टि-सहजचारित्रादि स्वभाव धर्मों के आधार-आधेय सम्बन्धी विकल्पों रहित, सदा मुक्त तथा सहज मुक्तिरूपी स्त्री के सम्भोग से उत्पन्न होनेवाले सौख्य के स्थानभूत—ऐसे [२]कारणपरमात्मा को निश्चय से निज निरावरण परमज्ञान द्वारा जानता है और उस प्रकार के सहज अवलोकन द्वारा (-सहज निज निरावरण परमदर्शन द्वारा) देखता है; वह कारणसमयसार मैं हूँ—ऐसी सम्यग्ज्ञानियों को सदा भावना करना चाहिए।

इसी प्रकार श्री पूज्यपादस्वामी ने (समाधितन्त्र में २०वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

जो अग्राह्य को ग्रहण करे नहिं, छोड़े नहीं ग्रहीत कभी।
सब को सब प्रकार से जाने स्वसंवेद्य वह हूँ मैं ही॥

[श्लोकार्थ :] जो अग्राह्य को (-ग्रहण न करनेयोग्य को) ग्रहण नहीं करता तथा ग्रहीत को (-ग्राह्य को, शाश्वत् स्वभाव को) छोड़ता नहीं है, सर्व को सर्व प्रकार से जानता है, वह स्वसंवेद्य (तत्त्व) मैं हूँ।

गाथा - ९७ पर प्रवचन

गाथा ९७।

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सो हं इदि चिंतए णाणी।।९७।।

१- रागादिपरभाव की उत्पत्ति में पुद्गलकर्म निमित्त बनता है।

२- कारणपरमात्मा 'स्वयं आधार है और स्वभावधर्म आधेय हैं' ऐसे विकल्पों रहित है, सदा मुक्त है और मुक्तिसुख का आवास है।

नीचे हरिगीत-

निजभाव को छोड़े नहीं, किंचित् ग्रहे परभाव नहिं।
देखे व जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिन्तन यही॥९७॥

आहाहा! एक-एक श्लोक कैसे हैं! देखो न!

मुमुक्षु : स्वयं की भावना का है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु है न? स्वयं, स्वयं के लिये बनाया हुआ है। **परम भावना के सम्मुख...** परम भावना। परमस्वरूप भगवान पूर्णानन्द की एकाग्रता - भावना, उसके **सम्मुख ऐसे ज्ञानी को शिक्षा दी है।** आहाहा! पूर्ण आनन्दस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप शाश्वत ऐसे ज्ञानी को... आहाहा! उसकी भावना के सन्मुख। उसकी एकाग्रता के सन्मुख। उसे यहाँ शिक्षा दी है। एकाग्रता के सन्मुख है, उसे शिक्षा दी है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१०२, गाथा-९७, सोमवार, मागशर कृष्ण ७, दिनांक १०-१२-१९७९

नियमसार, ९७ गाथा। टीका फिर से।

यहाँ, परम भावना के सम्मुख ऐसे ज्ञानी को शिक्षा दी है। परमभाव, ऐसा पारिणामिकस्वभाव। सहज नित्य ध्रुवस्वभाव। ज्ञायकस्वभाव। वह परमपारिणामिक त्रिकाल स्वभाव, जो पलटता भी नहीं और पलटते में आता भी नहीं—ऐसा जो त्रिकाली परमभाव। भगवान का अर्थ भाव का धारक भाववान है। टीका में आधार लेंगे। भाववान आत्मा, उसका भाव, वह परमभाव है। उसके सन्मुख, उसके सन्मुख हुआ है। वह परमात्मस्वरूप है जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप के सन्मुख हुआ है, उस ज्ञानी को शिक्षा देते हैं। उस ज्ञानी को समझाते हैं अर्थात् कि उसे कैसे होता है, वह बताते हैं। तत्त्वज्ञानी को कैसे होता है और क्या होता है—यह बताते हैं।

जो कारणपरमात्मा... लो, आया। कारणपरमात्मा त्रिकाली आत्मा, त्रिकाली

ध्रुवस्वभाव, जो परमपारिणामिकभाव, उस त्रिकाली को यहाँ कारणपरमात्मा कहा जाता है। एक समय की जो पर्याय और कारणपरमात्मा दो होकर प्रमाण का विषय द्रव्य है; तो यहाँ निश्चय का-सम्यग्दर्शन का विषय बतलाना है; इसलिए कारणपरमात्मा, त्रिकाली वस्तु जो शुद्ध ध्रुव कारणपरमात्मा है। वह **(१) समस्त पापरूपी बहादुर....** पापरूपी बहादुर **शत्रुसेना की विजय-ध्वजा को लूटनेवाले,...** आहाहा! अपना जो भाव है, वह कहते हैं कि **पापरूपी बहादुर शत्रुसेना की विजय-ध्वजा को लूटनेवाले, त्रिकाल-निरावरण, निरंजन, निज परमभाव को कभी नहीं छोड़ता;...** आहाहा! ऐसा जो भगवान शुद्धस्वरूप, एक समय की पर्यायरहित, वह अपना त्रिकाली स्वभावभाव, कारणपरमात्मा, उसका जो स्वभावभाव, वह **त्रिकाल-निरावरण, निरंजन, निज परमभाव को...** अपना परमभाव, शाश्वत रहनेवाला ध्रुवस्वभाव, नित्यस्वभाव, उसे **कभी नहीं छोड़ता;...** वस्तु नित्य है। कब छूटे ? आत्मा त्रिकाली नित्य वस्तु है। यह विचार और मोक्ष का मार्ग और मोक्ष, यह सब पर्याय में होता है। संसार, संसार का अभाव—मोक्ष—यह सब पर्याय में-अवस्था में होता है। वस्तु है, उसमें यह है नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है।

कारणपरमात्मा ने कभी भी अपने स्वभावभाव को छोड़ा नहीं है। **नहीं छोड़ता;...** छोड़ा नहीं - ऐसा भी नहीं कहा। **नहीं छोड़ता;...** आहाहा! देहदेवल में राग के विकल्प से भी भिन्न, एक समय की वर्तमान राग को जाननेवाली पर्याय, उस पर्याय से भी भिन्न, ऐसा जो त्रिकाली स्वभावभाव वस्तु, उसे कभी भी छोड़ा नहीं। छोड़ता नहीं। ध्रुवस्वरूप है, वह छूटे कहाँ से ? आहाहा! वह सम्यग्दर्शन का विषय है। त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन है पर्याय; परन्तु पर्याय, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। समझ में आया ? आहाहा!

सम्यग्दर्शन, क्षायिक समकितदर्शन, वह भी कहीं सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। अरे! केवलज्ञान और केवलदर्शन, वह भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। आहाहा! वह तो प्रगट हुई पूर्ण पर्याय है। यह तो त्रिकाली ध्रुवस्वभाव, जिसने कभी छोड़ा नहीं... आहाहा! **नहीं छोड़ता;...** और **(२) पंचविध (-पाँच परावर्तनरूप) संसार की वृद्धि के कारणभूत,...** द्रव्यपरावर्तन, क्षेत्रपरावर्तन, काल, भव और भाव (परावर्तन)। इस पाँच **संसार की वृद्धि के कारणभूत, विभावपुद्गलद्रव्य के संयोग से जनित...** पुद्गलकर्म

है, उनके संयोगजनित। उत्पन्न अपने में होते हैं, परन्तु निमित्त कर्म हैं। निमित्त है, इसलिए निमित्त से होता है-ऐसा नहीं है। नीचे (फुटनोट) है।

रागादिपरभाव की उत्पत्ति में पुद्गलकर्म निमित्त बनता है। यह स्वयं विकार करता है, तब उसे निमित्त बनते हैं। आहाहा! ऐसा जो विभाविकभाव, ऐसे द्रव्यकर्म के संयोग से, जड़कर्म के संयोग से... आहाहा! **जनित रागादि परभाव को ग्रहण नहीं करता;...** आहाहा! जिसने अपना त्रिकाली ज्ञायकभाव, परमस्वभावभाव छोड़ा नहीं, और पुद्गलजनित रागादिभाव कभी ग्रहण नहीं किये। द्रव्य से पुद्गल के निमित्त और विकारभाव नैमित्तिक। उस विकारभाव को कभी आत्मा ने ग्रहण नहीं किया। आहाहा! तब यह संसार किसका? यह संसार पर्याय का। द्रव्य को संसार नहीं। द्रव्य में मोक्ष भी नहीं और संसार भी नहीं। द्रव्य तो एकरूप त्रिकाली परमभाव... आहाहा! ऐसी व्याख्या।

यह शरीर, वाणी, मन, तो नहीं। वे तो जगत की चीज़ें हैं। कर्म, वह जगत की चीज़ है, परंतु कर्म के संयोग से उत्पन्न हुई पर्याय; वह कर्म तो निमित्त है। उपादान तो अपनी पर्याय में उत्पन्न हुआ विकार अपना है। ऐसी पर्याय को-विकार के भाव को ग्रहण नहीं करता। ऐसे रागादि परभाव को द्रव्य ने कभी ग्रहण ही नहीं किया। द्रव्य-वस्तु जो भगवान आत्मा त्रिकाली निरावरण है। सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय अविनश्वर ऐसा जो भाव त्रिकाल। उसे-अपने भाव को छोड़ा नहीं, छोड़ता नहीं। रागादि पुण्य-पाप, दया, दान, विकल्प है, वह कर्म संयोगजनित विकार है। उसे ग्रहण नहीं किया। आहाहा!

संसार की वृद्धि के कारणभूत,... पुद्गल के निमित्त से होता रागादि परभाव... आहाहा! उसे आत्मा ग्रहण नहीं करता। चिदानन्द भगवान परमस्वभाव पारिणामिकभाव, ज्ञायकभाव, अप्रमत्त-प्रमत्त पर्यायरहित भाव, त्रिकाली भाव ने राग को, विकार को, संसार को, उदयभाव को कभी देखा नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। दुनिया से अलग प्रकार है। परमभाव को छोड़ता नहीं। **नहीं छोड़ता;...** ऐसा कहा है। परमभाव को छोड़ता नहीं और कर्मसंयोगजनित विकारभाव को ग्रहण नहीं करता। आहाहा! द्रव्य के स्वभावभाव को, द्रव्य जो वस्तु, उसका जो स्वभाव। स्व-भाव, उसे द्रव्य ने छोड़ा नहीं और कर्म जो परवस्तु संयोग, उससे उत्पन्न हुआ विकार, उसे द्रव्यस्वभाव आत्मा ने ग्रहण नहीं किया। आहाहा! समझ में आया? क्या कहा?

मुमुक्षु : पहली लाईन है न, समस्त पापरूपी बहादुर शत्रु सेना की विजय ध्वजा को लूटनेवाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं परमभाव ऐसा है कि उसे लूटनेवाला अर्थात् उसमें (परमभाव में) है ही नहीं। उत्पन्न ही नहीं होता, वहाँ लूटनेवाला कहना, यह तो अपेक्षा से कहा है। त्रिकाल कारणपरमात्मा उस **शत्रुसेना की विजय-ध्वजा को लूटनेवाले,...** आहाहा! ऐसे भाव को कभी ग्रहण नहीं करता। वह लूटनेवाला तो पर्याय से बात की है। लूटा नहीं। पर्याय में लुटारा हुआ, संसार, विकार, नरकगति, मनुष्यगति, सिद्धगति, मोक्षमार्ग, समकित—यह सब पर्यायों में है; द्रव्यस्वभाव में यह है नहीं। उसे लूटनेवाला कहा है; अर्थात् कि उसमें है नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग! भारी सूक्ष्म था न? हिन्दी में चलता था, परन्तु हिन्दी लोग साधारण थे, समझते नहीं थे। उठकर चले जाते थे। यह बात कहाँ? व्रत करना हो, अपवास करना हो, मन्दिर बनाना हो, फिर पूजा करनी हो, रथयात्रा निकालनी हो, पैसा खर्च करना हो तो ऐसा समझ में तो आवे।

मुमुक्षु : क्या समझ में आवे....

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में तो आवे कि यह भटकने का मिथ्यात्वभाव है, राग है। है तो मिथ्यात्वभाव। राग को अपना मानना, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! चाहे तो परमात्मा की भक्ति का राग हो या पंच परमेष्ठी को याद करने का, स्मरण का राग हो, अरे! णमो सिद्धाणं... सिद्ध को नमस्कार करने का विकल्प और राग हो। आहाहा! वह जीव के द्रव्यस्वभाव में है नहीं। वह सब पर्यायों की क्रीड़ाएँ हैं। सवेरे कहा था न कि ६२वीं गाथा (पंचास्तिकाय) में विकार षट्कारकरूप से परिणमता है, वह पर्याय में परिणमता है और मोक्ष जो होता है, वह पर्याय में होता है। सवेरे षट्कारक आया था न? कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान इत्यादि। वह सब पर्याय है। द्रव्य तो त्रिकाली एकरूप है। उसे नहीं ग्रहना, नहीं छोड़ना। आहाहा! ऐसा उपदेश है, भाई! और यहाँ पूरे दिन चले-यह छोड़ो, यह रखो, यह छोड़ो और यह रखो। यहाँ कहते हैं कि राग को भी ग्रहण नहीं किया और राग को भी छोड़ना नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई! अनजाने को पूरी नयी बात लगती है। यह तो बहुत वर्ष हो गये। बहुत सुननेवाले। भले उन्हें जँचे, न जँचे, परन्तु सुनते तो हैं न! प्रेम से बहुत सुनते हैं। मार्ग ऐसा कुछ है। कुछ दूसरा मार्ग कहते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, भाई का प्रश्न ऐसा कि जब उसमें नहीं तो फिर लूटनेवाला कहाँ से आया ? ऐसा कहते हैं। आत्मा में विकार नहीं, फिर **बहादुर शत्रुसेना की विजय-ध्वजा को लूटनेवाले,...** कहाँ से आया ? लूटनेवाले का अर्थ कि उसमें है नहीं। आहाहा ! बहादुर सेना जो विकार की है, वह वस्तु में है नहीं। भगवान बहादुर है। वह बहादुर सिंह है। आहाहा ! बहादुर सिंह, उसने नहीं संसार को ग्रहण किया, उसने नहीं अपने त्रिकाली स्वभाव को छोड़ा। आहाहा ! एकरूप त्रिकाल है, उसे पकड़ना, उसे ध्येय में लेना, उसे ध्यान की पर्याय में ध्येय में बनाना। उस द्रव्य में संसार नहीं है और मोक्ष भी नहीं है। आहाहा ! जो पर्याय उसे पकड़ती है, वह पर्याय भी उसमें नहीं है। अरे ! यह क्या है ? कब यह जैनधर्म क्या है ? अरे रे ! आहाहा ! अनन्त काल से दु:खी होकर चौरासी के अवतार में भटकता है। दु:खी है, रंक है, भिखारी है, दरिद्र है दरिद्र। आहाहा ! अनादि का दरिद्र है। अपने ऋद्धि का नकार करके और जो उसमें नहीं है, वह ऋद्धि मेरी है—ऐसा मानते हैं, वे सब दरिद्र—भिखारी हैं। आहाहा !

अपने महाप्रभु की ऋद्धि अन्दर भरी है। उसके सन्मुख तो झंखना करता नहीं। अरे ! झंखना करता नहीं। आहाहा ! उसमें नजर करता नहीं और जिसमें तीन काल में नहीं, ऐसे विकारभाव और उसके फलरूप से गति। इसके द्रव्यस्वभाव में नहीं, उनकी लीनता में अनादि से रम रहा है। आहाहा ! कहो, देवीलालजी ! क्या करना, इससे सरल दूसरा मार्ग होगा या नहीं ? या ऐसा ही मार्ग होगा ? बहुत जगह तो सरल मार्ग चलता है। सम्मेदशिखर की यात्रा करो। सम्मेदशिखर की यात्रा करो तो ४९ भव में मोक्ष जाओगे। ये कौन से साधु कहलाते हैं वे ?

मुमुक्षु : महावीरकीर्ति।

पूज्य गुरुदेवश्री : महावीरकीर्ति। महावीरकीर्ति यहाँ आये थे। फिर उनके पास पुस्तक थी। जैसे श्वेताम्बर में शत्रुंजय माहात्म्य है न ? शत्रुंजय माहात्म्य। इसी प्रकार उनके पास सम्मेदशिखर माहात्म्य पुस्तक थी। फिर आहार करके घूमता था, वहाँ बैठा। तब यह बात निकली कि सम्मेदशिखर की यात्रा करने से... हमारे पास एक पुस्तक है, उसमें ऐसा लिखा है कि ४९ भव में मोक्ष जाता है। (हमने) कहा, यह वीतराग की वाणी नहीं है। पर के दर्शन से भव का अभाव कहे, वह वाणी वीतराग की नहीं है। वह अन्यमती की, जैन

के अतिरिक्त अन्यमती की वाणी है। आहाहा! फिर तो कहे, आहाहा! आत्मा की बात... परन्तु पहले कहा सम्मेदशिखर के दर्शन करने से ४९ भव में मोक्ष जाएगा। वह सम्मेदशिखर नहीं, यह सम्मेदशिखर। आहाहा!

यहाँ ९९ बार ऋषभदेव भगवान आये थे। शत्रुंजय की ९९ यात्रा करे। उठ-बैठ चढ़कर ९९ करे तो उसका धर्म और मोक्ष हो जाता है। कहते हैं कि ९९ बार क्या, अनन्त बार ऊपर चढ़ और उतर न, वह पुण्य बन्धन है, संसार है; जन्म-मरण के अन्त का अंश भी बिल्कुल उसमें नहीं है। अब ऐसी बातें! वहाँ शत्रुंजय माहात्म्य आया कि उसके दर्शन करके और नीचे चाहे जितने जीव हों परन्तु सुरक्षा से रखे तो महालाभ होता है, ऐसा माहात्म्य है। सम्मेदशिखर का ऐसा माहात्म्य है। हमने पढ़ा नहीं था परन्तु उन्होंने कहा। ४९ भव में मोक्ष जाता है। कहा, ४९ भव में मोक्ष जाता है, पर के दर्शन से मोक्ष जाए— यह बात वीतराग की नहीं है।

सर्वज्ञ परमात्मा तो स्वद्रव्य आत्मा के दर्शन, ज्ञान और उसका आश्रय, इससे भवभ्रमण मिटेगा, (ऐसा कहते हैं)। परद्रव्य तीन लोक के नाथ का आश्रय करे तो भी शुभभाव है, ऐसी बात है, बापू! कहो, चन्दुभाई! अब चन्दुभाई को... मन्दिर बनाना है। यह भाव होता है परन्तु यह शुभभाव है परन्तु वह शुभभाव है, वह धर्म नहीं है। वह तो पाप से बचने के लिये, अशुभ से बचने के लिये शुभभाव होता है, आता है। ज्ञानी को भी आता है परन्तु वह बन्धन है, ऐसा मानते हैं। मेरी कमजोरी है और मैं अन्दर में अभी जा नहीं सकता; इसलिए मेरी कमजोरी के कारण वह शुभभाव है। ऐसी बात सुनना कठिन पड़ती है। कहो, शान्तिभाई! कठिन पड़े उसे श्रद्धा में कब लाये और आचरण कब करे? अरे! प्रभु! जिन्दगी चली जा रही है, मौत की नजदीकता है। पचास-साठ वर्ष गये, उतने अब किसी को जानेवाले नहीं हैं। मृत्यु के समीप है। आहाहा!

भगवान का यह उपदेश, तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की यह वाणी है। वह परमभाव त्रिकाली भाव, ज्ञायकभाव, परमपारिणामिकभाव, ध्रुवभाव, नित्यभाव, सच्चिदानन्दभाव, अक्षयभाव, अकलभाव, अगम्यभाव—ऐसा जो ध्रुवस्वभाव... आहाहा! वह सम्यग्दर्शन का विषय है, वह भाव कभी इसने छोड़ा नहीं है और पुद्गलजनित / निमित्त है। संयोगजनित कहा है न? पाठ में। **संयोग से जनित...** कहा है न? **विभावपुद्गल**

-द्रव्य के संयोग से जनित... कर्म है, वह विभावपुद्गल है। कर्म है, वह स्वभाविक पुद्गल नहीं। कर्म के परमाणु बहुत, वह विभावपुद्गल है। विभाविक। वह विभाविक पुद्गल संयोगी चीज़ है। उस संयोग के निमित्त से स्वयं अपने से विकार करता है। वह संयोग विकार नहीं कराता तथा संयोग नहीं है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

और (३) निरंजन सहजज्ञान-सहजदृष्टि-सहजचारित्रादि स्वभाव धर्मों के आधार-आधेय सम्बन्धी विकल्पों रहित,... आहाहा! प्रभु राग से तो रहित है। उसका स्वभाव त्रिकाल, परन्तु आत्मा आधार है और गुण उसमें आधेय हैं। उसमें रहते हैं - ऐसे गुण-गुणी का भेद, ऐसे विकल्प भी वस्तु में नहीं हैं। आहाहा! ऐसी बातें! अब ऐसा उपदेश है। क्या कहा यह? **निरंजन सहजज्ञान...** त्रिकाली। **सहजदृष्टि...** यहाँ दृष्टि ली है। **सहजचारित्रादि...** स्वभाविक आनन्द, शान्ति, वीतराग आदि। **स्वभाव धर्मों...** स्वभाव धर्मों। स्व-भाव। स्व का-अपना भाव, वह धर्म। ऐसे **स्वभाव धर्मों के आधार...** उन धर्मों के आधार द्रव्य और धर्म, वे आधेय। ऐसा **आधार-आधेय सम्बन्धी विकल्पों रहित,...** ऐसे विकल्प से रहित प्रभु अन्दर है। आहाहा! अन्दर है या नहीं?

बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि घर का किया है, कल्पना से अर्थ करते हैं। शास्त्रों के अर्थ कल्पना से किये हैं। अर्थात् यह... अरे! प्रभु! प्रभु! क्या हो? भगवान का विरह पड़ा, परमात्मा की वाणी रही परन्तु वाणी के अर्थ करनेवाले उल्टी दिशा में चले गये। जो भगवान को कहना है, उसे अपनी दृष्टि से कहना है। भगवान को कहना है, उस दृष्टि से नहीं परन्तु अपनी दृष्टि से खतौनी कर कहना है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। यह स्वधर्म जो है, धर्मी ऐसा जो आत्मा, उसका स्वभाव। धर्मी अर्थात् स्वभाववान। उसका स्वभाव, स्वभाविक ज्ञान-दर्शन त्रिकाल स्वभाव, ऐसे जो **आधार-आधेय सम्बन्धी विकल्पों...** यह आत्मा, आधार और गुण, आधेय हैं। आहाहा! कहो।

अब तो यहाँ कहते हैं कि पानी बर्तन के आधार से रहता है। इनकार करते हैं। कलश पानी का कलश है न? उस कलश के आधार से पानी उसमें रहता है, यह बात एकदम मिथ्या है। चन्दुभाई! ऐसी बातें हैं। क्योंकि पानी के परमाणु जो हैं, अन्दर एकेन्द्रिय जीव है, वह अलग। परन्तु परमाणु जो हैं, वे स्वतन्त्र परमाणु हैं। उन परमाणुओं को दूसरे का आधार नहीं है। उनका आधार-आधेय स्वयं में ही है। षट्कारक परमाणु के षट्कारक,

वह अधिकरण नाम का गुण है; इसलिए परमाणु, परमाणु के अधिकरण के आधार से रहे हैं। पानी के परमाणु कलश के आधार से नहीं। यह कोई बात!

मुमुक्षु : कलश सिर के आधार से....

पूज्य गुरुदेवश्री : कलश भी सिर के आधार से नहीं है। यह टोपी भी सिर के आधार से रही नहीं है। अर..र..र! पागल कहे। तो पागल है न? पागल लोग अभी तक हो गये, ये ऐसा सुनकर पागल कहते हैं। आहाहा! यह चश्मा है, वह नाक के आधार से नहीं रहा है।

मुमुक्षु : कान के आधार से रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कान के आधार से नहीं रहा है। आहाहा! यह अभी चश्मा आया है। वह किसका कहलाता है? प्लास्टिक का। प्लास्टिक का आता है न? भाई लाये हैं। मुम्बई से विमल लाया है। प्लास्टिक का हल्का। वह काँच का होता है, यह तोड़दार होता है। आहाहा! क्योंकि एक-एक परमाणु में षट्कारक गुण भरे हैं, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। उसके आधार से वह परमाणु रहते हैं। परमाणु के आधार से। बर्तन के आधार से घी या घी के आधार से बर्तन? बर्तन के आधार से घी होवे तो घी नीचे गिर जाता है और बर्तन तो रह जाता है। यदि उसके आधार से हो तो बर्तन भी साथ में गिर जाना चाहिए। घी के परमाणु को घी का आधार है। जहाँ हो, वहाँ अपने आधार से रहे हैं। यह तो बहुत स्थूल बात है। अभी यह बात बैठती नहीं। आहाहा!

यहाँ तो आत्मा जो आधार त्रिकाली द्रव्य है, जिसमें ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि गुण हैं, वे आधेय हैं और भगवान आधार है - ऐसे विकल्प भी वस्तु में नहीं हैं। चन्दुभाई! पकड़ में आये ऐसा है। भाषा सादी है, भाव भले भगवान के घर के गहरे हों। आहाहा! अरेरे! एक-एक द्रव्य, भगवान ने केवलज्ञान में परमात्मा ने अनन्त द्रव्य देखे हैं। वे अनन्त द्रव्य जड़ और चेतन सब स्वतन्त्र देखे हैं। एक-एक द्रव्य का आधार और आधेय उसमें है, दूसरे में नहीं। आहाहा! वे रहे हैं, वे स्वयं से, स्वयं में, स्वयं के आधार से (रहे हैं)। जब उनमें भी आधार-आधेय नहीं तो भगवान आत्मा वस्तु है, वह स्वभाववान और दर्शन-ज्ञान-आनन्द जो त्रिकाली स्वभाव है, वह आधेय—ऐसा आधार और आधेय का विकल्प भी वस्तु में नहीं है। आधार और आधेय के भेद का विकल्प राग है। वह राग है। आत्मा

आधार और गुण आधेय, वह राग है। वह राग वस्तु में नहीं है। अरे! अब ऐसी बात! जिन्दगी में कभी सुनी न हो। आहाहा! यह जैनधर्म ऐसा होगा? जैनधर्म तो एकेन्द्रिय की दया पालना, छह काय की दया पालना।

मुमुक्षु : आप रोजाना कठिन-कठिन बात शास्त्र में से निकालते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भी इसमें है न? आहाहा! है या नहीं इसमें? घर की बहियाँ मिलान करते हो न? तो यह तो मिलान करो। वीतराग और शास्त्र की बहियाँ किस प्रकार है? कभी सुना नहीं, खबर नहीं और हम धर्मी हैं तथा धर्म करते हैं। समय चला जाता है, प्रभु! कोई शरण नहीं होगा। लोग धर्मी मानेंगे, इससे धर्म नहीं होगा। आहाहा! बहुत अच्छी गाथा आयी है। सवेरे (समयसार) की २९७ गाथा थी, यह मात्र ९७ है। आहाहा!

दिगम्बर सन्तों ने तो अजब-गजब काम किया है। आहाहा! ऐसी बात भरतक्षेत्र में कहीं सुनने को मिले, ऐसी नहीं है। ऐसी दिगम्बर मुनियों ने अन्तर की दशा तीन कषाय के अभाव में रहे हुए अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में रहते हुए... विकल्प आया और शास्त्र रच गये। शास्त्र के कर्ता भी हम नहीं। विकल्प आया, यह उसका कार्य हमारा नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। लिखने का कार्य, वह हमारा काम नहीं। हमने पुस्तक बनायी नहीं। बाहर प्रसिद्धि का हमारा भाव नहीं है। आहाहा! गजब बात है। ऐसी बात है। यह उस (बनिया की) बात होगी? यह तो किसके घर की है?

भाई! आधार आत्मवस्तु वस्तुतत्त्व सत्ता है न? अस्तित्व है न? मौजूदगीवाली चीज़ है न? अस्तित्ववाली चीज़ के अस्तित्ववाले भाव, मौजूदगीवाली चीज़ के मौजूदगीवाले भाव, ऐसे भाव भाववान और भाव का विकल्प करना, वह भी राग है। अकेला भेद डालना, वह भी राग है। आहाहा! कहो, ऐसा कब सुना था? झवेरचन्दभाई! आहाहा! धन्धा के कारण पहले निवृत्त नहीं थे। अब यह धन्धा दूसरे प्रकार का है। आहाहा! दुनिया से अलग प्रकार है, बापू! भगवान सबका भला करो, सब भगवान होओ। शास्त्र में तो ऐसा आता है। धर्मी जीव भावना करता है। द्रव्य का भान हुआ है, वह धर्मी जीव भावना करता है कि जैसी दशा मुझे हुई है, वैसी सबको होओ और सब परमात्मा होओ, मोक्ष होवे, दुःखी कोई न हो, भाई! संसार के परिभ्रमण में चार गति के दुःख, उस दुःख की अनन्तता में प्रभु! तुम न रहो। आहाहा! प्रभु! तुम्हारा कल्याण करो। तुम्हारा कल्याण करो। कौन? प्रभु करे

नहीं, हों! तू कर। आहाहा! ऐसी बात है। कहाँ तक ले गये हैं! आहाहा!

बहुत जगह ऐसा आता है। **आधार-आधेय सम्बन्धी विकल्पों...** विकल्प अर्थात् राग। आधार-आधेय सम्बन्धी रागरहित **सदा मुक्त...** सदा मुक्तस्वरूप ही प्रभु अन्दर है। पर्याय में माना है कि राग मैं हूँ—ऐसी मान्यता की है। स्वरूप ऐसा नहीं है। स्वरूप तो मुक्त ही है। आहाहा! देह के रजकणों से, कर्म के रजकणों से और राग के विकारी भावों से अत्यन्त भिन्न मुक्तस्वरूप प्रभु है। उसका होनापना-अस्तिपना तो मुक्तस्वरूप है। यह तो पर्याय के सम्बन्ध में उसे रागादि दिखते हैं। वस्तु के स्वरूप में रागादि कुछ है ही नहीं। आहाहा! है और फिर नहीं। पर्याय में है, वह तो-पर्याय तो अवस्था है। वर्तमान पर्याय... अब अभी पर्याय सुनी न हो। पर्याय अर्थात् द्रव्य की वर्तमान दशा। उस वर्तमान दशा में संसार... हो, वस्तु में नहीं। आहाहा! सुनते-सुनते कठिन पड़े, ऐसा लगता है।

सवेरे तो वे बेचारे सुनते-सुनते उठकर चले गये। हिन्दी पढ़ते थे परन्तु उन्हें क्या? यात्रा में और भक्ति में धर्म मानते थे। यात्रा करना, भक्ति करना, सवेरे भगवान के दर्शन करना, छह आवश्यक हो और सूत्र थोड़ा पढ़ लेना तो धर्म हो जाए। अरे! भगवान! धर्म की कला तो अलग प्रकार है, भाई! यहाँ कहते हैं, वह **सदा मुक्त...** है। प्रभु जो द्रव्यस्वभाव, वस्तुस्वभाव है। द्रव्य अर्थात् जो तत्त्व है, सत्तत्त्व आत्मा है, सद्चिदानन्द वह चिद् और आनन्द, यह तो स्वभाव है परन्तु सत् है, वह तत्त्व है। वह तत्त्व तो मुक्त ही है। आहाहा! वह सत् और चिदानन्द ज्ञानानन्द ऐसे भेद भी प्रभु! विकल्प और राग है। आहाहा!

तथा सहज मुक्तिरूपी... चैतन्यप्रभु भगवान आत्मा अन्दर विराजमान है। वह कैसा है? **सहज मुक्तिरूपी स्त्री के सम्भोग से उत्पन्न होनेवाले सौख्य के स्थानभूत—ऐसे कारणपरमात्मा को...** आहाहा! कारणपरमात्मा अर्थात् द्रव्य। नीचे (फुटनोट) है। **'स्वयं आधार है और स्वभावधर्म आधेय हैं' ऐसे विकल्पों रहित है, सदा मुक्त है और मुक्तिसुख का आवास है।** मुक्ति के सुख का आवास - निवासस्थान है। उसमें आनन्द भरा है। भगवान में अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। यह आत्मा भगवानस्वरूप ही है। आत्मा परमेश्वरस्वरूप ही है। आहाहा! कैसे जँचे?

यहाँ तो उड़द की दाल ठीक से न हुई हो, वहाँ ढीचणियुं (पुराने समय में भोजन करते समय पैर के नीचे रखा जानेवाला लकड़ी का टुकड़ा) उड़े। उसमें और सत्ता प्रिय

रिश्तेदार आया हो। सत्ता प्रिय! जरा कड़क, छह महीने बाद विवाह करना हो और उसमें लड्डू और उड़द की दाल एकरस न हुई हो। जरा मेलवाली न हो। यह क्या किया? स्त्री सुने कहे बोलना नहीं, कहे। आहाहा! ऐसी स्थिति! अरे रे! प्रभु! तू कौन, कितना और तू कहाँ जाकर रुका है। आहाहा! तेरी महिमा उसे कहाँ बेच डाली? एक विकल्प में - राग में बेच डाली। आहाहा! सम्प्रदाय में तो बात सुनना कठिन पड़ती है। यह निश्चय की बात है... निश्चय की बात है... एकान्त है... एकान्त है... अरे! प्रभु! सुन न, एकान्त ही है। सम्यक् एकान्त त्रिकाली द्रव्यस्वभाव सम्यक् एकान्त शुद्ध मुक्त ही है। और कथंचित् मुक्त तथा कथंचित् बन्ध, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो सब बहिनें, लड़कियाँ ये सब आत्मा हैं। देह-देवल में अन्दर प्रभु-भगवान विराजमान है। वह मुक्तस्वरूप ही है। आहाहा! द्रव्य को आवरण होगा? द्रव्य को आवरण होवे तो द्रव्य, अद्रव्य हो जाए। द्रव्य को विकार होगा? द्रव्य को विकार हो तो द्रव्य विकारमय (हो जाए), चैतन्य अनन्त गुण का पिण्ड पवित्र है, वह विकारमय हो जाए। आहाहा! द्रव्य अर्थात् पैसा नहीं, हों! द्रव्य अर्थात् अन्दर वस्तु। त्रिकाली वस्तु है... आहाहा! उसे आवरण भी नहीं, उसे विकार नहीं, उसमें अल्पता भी नहीं। आहाहा! ऐसा... आहाहा!

मुक्ति के स्वरूपभूत, कामभूत 'स्वयं ज्योति सुखधाम' श्रीमद् में आता है। स्वयं ज्योति है, वह स्वयं से चैतन्यज्योति है। उसका कोई कर्ता-फर्ता है नहीं। ईश्वरकर्ता, आत्मा को बनाया। वस्तु बनावे? आहाहा! यह आत्मा स्वरूप से स्वयं ज्योति है और सुख का धाम है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्थान-खेत है। जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द पकता है। आहाहा! यह विषयसुख, यह सुख, वह तो दुःख का-जहर का प्याला है। पैसे में राग हो, प्रेम हो, स्त्री में, पुत्र में, परिवार में (प्रेम हो), वह तो जहर का प्याला पीता है। आत्मा के आनन्द को मार डालता है। आहाहा! ऐसी कठिन बात है। अरे! बाबा होकर तो बैठे परन्तु बाबा ही है, सुन न! यह तो कहा मुक्ति ही है, मुक्त ही है। यह दूसरा माना है। आहाहा!

एक व्यक्ति ऐसा कहता था। अमृतलाल (कहता था) कि बाबा होवे तो यह बैठे ऐसा है। परन्तु बाबा ही है। क्या कहा यह? सदा मुक्त है। बाबा तो कहीं रह गया। यह तो सदा मुक्त ही है। आहाहा! यशपालजी! ऐसी बातें हैं, भगवान! सुनना कठिन पड़े, ऐसी

है। सुनने को मिले, ऐसा नहीं। इस दुनिया को जानते हैं न? पूरी दुनिया देखी है। नब्बे वर्ष हुए। ९१ वाँ चलता है। गर्भ का ९१वाँ चलता है। जन्म के नब्बे वर्ष। आहाहा! बहुत सब देखा है, बहुत सुना है। आहाहा! बहुतों को देखा और बहुतों का परिचय किया है। मूल बात पूरी पड़ी रही। आहाहा! अब लोग विचारते हो गये हैं कि यह क्या कहते हैं?

मुक्तस्वरूप है न, प्रभु! मुक्त है तो पर्याय में मुक्त होगा। आहाहा! पुण्य-पाप (अधिकार) में आता है न? भाई! ऐसा कि बन्धभाव है, वह तो बन्धभाव ही होगा। यह तो मुक्तस्वरूप है तो इससे मुक्त होगा। आहाहा! पुण्य-पाप के भाव तो बन्धस्वरूप है, तो बन्धस्वरूप में से तो बन्ध होगा। संसार के भटकने के भाव होंगे और आत्मा मुक्तस्वरूप है तो उसके आश्रय से मुक्तपना प्रगट होगा। मुक्तस्वभावी आत्मा है। आहाहा! ऐसा एक-एक बोल कठिन पड़ता है। अनजाने लोग, भाषा अनजानी, भाव अनजाने। ऐसा कहाँ से निकाला होगा? यह शास्त्र कहीं सोनगढ़ के हैं? यह तो अनादि के शास्त्र चले आते हैं। आहाहा! तीर्थंकर केवली का अभिप्राय तो अनादि का चला आता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने शास्त्र रचे हैं, इनमें वह अभिप्राय रखा है। आहाहा!

सदा मुक्त तथा सहज मुक्तिरूपी स्त्री के सम्भोग से उत्पन्न होनेवाले सौख्य के स्थानभूत.... उस अतीन्द्रिय आनन्द का स्थान है। वह जगह... वह जगह... वह जगह... जैसे चावल के उत्पन्न होने की जगह अलग होती है और क्या कहा जाता है? (वह भूल गये।) कलथी। कलथी उत्पन्न होने की जमीन अलग होती है। चावल उत्पन्न होने की जमीन अलग और ऐसे चावल यह आत्मा, स्पष्ट दशा उत्पन्न होने की मुक्तदशा में, उसका स्थान मुक्त है। मुक्तपना उत्पन्न होने का स्थान मुक्त है। आहाहा! अब एक घण्टे में कितना याद रखना? सब अनजाना लगता है। पूरे दिन धूल-धमाका करता हो। दाने का व्यापारी दाना, बोरियाँ। यह गुणी आत्मा नहीं। गुणी आत्मा नहीं। गुणी, गुणी अर्थात् चावल की बोरी, चावल की बोरी और गेहूँ की बोरी। पूरे दिन बोरी... बोरी.. बोरी.. यह गुण एक ओर पड़ा रहा। आहाहा! गुणी कहते हैं न? यह चावल भरे हों न, दाल भरी हो, उसे गुणी (बोरी का गुजराती शब्द) कहते हैं। वहाँ हमारे पालेज में दुकान है। बड़ा व्यापार है। मैं पाँच वर्ष वहाँ रहा हूँ। घर की ही दुकान है। वह ६३ से ६८ वर्ष, पाँच वर्ष दुकान चलायी। अभी तो बड़ी दुकान है। चालीस लाख रुपये हैं। चार लाख की आमदनी है। पालेज में बड़ी

दुकान है। चन्दुभाई जानते हैं। बड़ोदरा के साथ पालेज है। मनसुख... धूल और धाणी। दुकान अकेला पाप का पोटला है। यह दुकान अलग प्रकार की है।

कहते हैं कि एक आनन्द का स्थान है। अतीन्द्रिय आनन्द का धाम है। अतीन्द्रिय आनन्द पकते देखना हो तो इस आत्मा को देखो। राग में देखने से तुझे दुःख पकेगा। आहाहा! अरे! परद्रव्य को देखने से, भगवान तीन लोक के नाथ को देखने से भी राग होगा। आहाहा! कहा है न, अष्टपाहुड़ में? '**परदव्वादो दुग्गई**' ऐसा कहा है। '**परदव्वादो दुग्गई**' इस स्वद्रव्य के अतिरिक्त परद्रव्य, तीन लोक के नाथ हों या स्त्री, परिवार हो; पर के प्रति लक्ष्य जाने से राग होगा, वह परभाव है, दुर्गति है; वह चैतन्य की गति नहीं है। आहाहा! ऐसा सुना नहीं होगा। कठिन पड़ता है। राग होता है। अशुभ से बचने के काल में राग होता है, परन्तु वह शुभ स्वयं है, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! जिसे अभी लोग धर्म मानते हैं और धर्म का कारण है, ऐसा मानते हैं और ऐसा मनवाते हैं। क्या हो? तीन लोक के नाथ की वाणी तो दूसरी है। यह तो मुक्ति के सुख का स्थान है।

ऐसे कारणपरमात्मा को निश्चय से निज निरावरण... आहाहा! भगवान कारणपरमात्मा। सन्तों को वाणी कहते जरा शर्म आती है। आहाहा! क्या वाणी कहना? उसे रचना। आहाहा! जिसमें वाणी नहीं, विकल्प नहीं, उसे वाणी द्वारा कहना... आहाहा! यह कारणपरमात्मा जो द्रव्य-वस्तु है। आत्मा त्रिकाल वस्तु है। **निश्चय से निज निरावरण...** निश्चय से निज-स्वयं **निरावरण परमज्ञान द्वारा...** निरावरण परमज्ञान द्वारा **जानता है...** आहाहा! जानने की शक्ति त्रिकाल निरावरण जानने की शक्ति है।

भगवान आत्मा में केवलज्ञान भरा है, तो त्रिकाल निरावरण जानने की यह शक्ति है। आहाहा! **और उस प्रकार के सहज अवलोकन द्वारा...** दर्शन (-**सहज निज निरावरण परमदर्शन द्वारा) देखता है;...** यह नियमसार में पहले आ गया है। पहले अधिकार में (आ गया है)। अन्दर दर्शन और ज्ञान है, वह देखने और जानने का स्वभाव ही है। वह देखता और जानता है। क्रिया भले न हो परन्तु वह देखता और जानता है, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! किसी का करना और किसी से कुछ लेना, ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा!

निज निरावरण परमज्ञान द्वारा जानता है और उस प्रकार के सहज अवलोकन

द्वारा (-सहज निज निरावरण परमदर्शन द्वारा) देखता है; वह कारणसमयसार मैं हूँ... लो, यहाँ तो यह कहते हैं। छद्मस्थ मुनि, पंचम काल के। **वह कारणसमयसार मैं हूँ...** द्रव्यस्वभाव, वह मैं हूँ। कारणसमयसार, वह मैं हूँ। आहाहा! पर्याय और राग मैं हूँ—ऐसा नहीं। पर्याय जो अवस्था है, वह ऐसा जानती है कि मैं कारणसमयसार हूँ। आहाहा! **ऐसी सम्यग्ज्ञानियों को...** धर्मी जीव को, सम्यग्ज्ञानी जीव को, सच्चे ज्ञानी जीव को **सदा भावना करना चाहिए।** आहाहा! तो खाना कब? पीना कब? धन्धा कब करना?

मुमुक्षु : यह खुराक नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह कौन कर सकता है? होनेवाला हो, वह हुआ करता है। आहाहा! उसमें विकल्प आता है, उसका कर्ता भी आत्मा कहाँ है? आहाहा!

वह कारणसमयसार मैं हूँ—ऐसी सम्यग्ज्ञानियों को सदा... सदा भावना करना चाहिए। गजब है। किसी समय भी व्यवहार मेरा, व्यवहार से लाभ होता है, यह भावना ज्ञानी की नहीं है। विशेष कहेंगे.... (***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१०३, श्लोक-१२९-१३०, मंगलवार, मागशर कृष्ण ८, दिनांक ११-१२-१९७९

आज कुन्दकुन्दाचार्य की आरोहण पदवी का दिन है। अपने मागशर कृष्ण ८ है। सिद्धान्त और आगम के हिसाब से आज पोष कृष्ण ८ है। कृष्ण १ वीं बैठती है न? शुक्ल के पश्चात् यह पोष कृष्ण ८ है। इसमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्य को आज आरोहण आचार्यपद दिया था। आचार्य पदारोहण का यह दिवस है। जिन्हें, 'मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो'—तीसरे पद में जो आये हैं। जिनका भरत पर अनन्त उपकार वर्तता है। इन्होंने जो समयसार आदि शास्त्र रचे हैं, वे साक्षात् भगवान को सुनकर और आकर ये रचे हैं। उनकी यह तिथि का आचार्य की पदवी का दिवस है। आहाहा! उन्होंने आचार्यपदवी में पाँच पद का आराधन किया, चैतन्य का आराधन किया। परमपारिणामिकस्वभाव ज्ञायकभाव, यह अपने आ गया है। समस्त मुनियों के हृदयकमल में हंस वर्तता है। आ गया है न? आहाहा!

ये कुन्दकुन्दाचार्य आचार्य हैं। ऐसे ऊपर से दे, इसलिए आचार्यपद आ जाए - ऐसा नहीं है। सहज अन्तर की दशा है। आहाहा! जिन्हें तीन कषाय का अभाव हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र वैभव प्रगट हुआ। यह (समयसार) ५वीं गाथा में कहा है - प्रचुरस्वसंवेदन। बहुत ही आनन्द का वेदन आया है। जो स्वरूप से सौख्यरूप। सौख्यरूप, सुखस्वरूप, सुखस्वभाव, स्वभाव, सुखस्वभावस्वरूप आत्मा है, उसका पर्याय में प्रचुर वेदन वर्तता है। आहाहा! उसे यहाँ आचार्य पदवी कहा जाता है। अलौकिक बात है, भाई! पाँच आचार और परम उपयोग। प्रवचनसार में कहा है न? आचार्य, उपाध्याय और साधु। परम पंच आचार के उपयोग में होते हैं। विकल्प में नहीं। अन्दर निर्विकल्प परम आचार, परम ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, ऐसे परमशुद्धोपयोग... आहाहा! उसमें विचरनेवाले, उन्हें संघ ने आचार्य पद दिया... ऐसी यह बड़ी तिथि है। तिथि पूर्व की अपेक्षा से कहें तो वर्तमान में ही- आज ही यहाँ भगवान को आचार्यपना दिया हो। आचार्य पद आज ही दिया हो, ऐसा नैगमनय से भूतकाल को वर्तमान काल में कहा जाता है। आहाहा!

इसमें—नियमसार में कहा है न? कि सिद्ध को भी गत काल के अनन्त बहिरात्मा आदि जो हुए, वे भी अभी पूर्व की अपेक्षा से उन्हें (बहिरात्मा आदि) कहा जाता है। नियमसार (में) पहले आ गया। आहाहा! सिद्ध को भी बहिरात्मा, अन्तरात्मा ऐसी सब दशाएँ जो व्यतीत हो गयी, सब वर्तमान में भी नैगमनय से कहा जा सकता है। आहाहा! पहले भाग में है। ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य को तो परमात्मपद होनेवाला है। आहाहा! कहा न? हम तो केवलज्ञानमय हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुखस्वरूप हैं और हम तो परम केवलज्ञानादि हैं। आहाहा! शक्ति से तो हैं... शक्ति से तो हैं, परन्तु व्यक्ति से हम परमात्मदशा, मोक्ष के मार्ग में हैं, हम अभी मोक्ष में ही हैं—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

प्रवचनसार में उनकी स्वयं की गाथा है। मोक्षमार्ग को मोक्षतत्त्व ही कहा (गाथा २७२)। हम मोक्ष में ही हैं। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, उसे तो वास्तव में तो उसमें आरूढ़ होना, वह आचार्यपद है। बाहर में तो व्यवहार... अन्तर में आनन्दस्वरूप में आरूढ़ होना। आहाहा! वह अब यहाँ कहते हैं।

श्लोक-१२९

और (इस ९७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं):—

(वसंततिलका)

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाढ्यमात्मा,
जानाति पश्यति च पञ्चम-भाव-मेकम्।
तत्याज नैव सहजं पर-भाव-मन्यं,
गृह्णाति नैव खलु पौद्गलिकं विकारम्।।१२९।।

(वीरछन्द)

निज आत्मिक गुण से समृद्ध निजातम पञ्चमभाव स्वरूप।
उसे एक को ही यह आत्मा निज में जानन देखनरूप॥
पञ्चम एक स्वभाव सहज को उसने छोड़ा कभी नहीं।
अन्यभाव पुद्गल विकार जो उन्हें ग्रहण ही करे नहीं॥१२९॥

[श्लोकार्थ :] आत्मा आत्मा में निज आत्मिक गुणों से समृद्ध आत्मा को—एक पंचमभाव को—जानता है और देखता है; उस सहज एक पंचमभाव को उसने छोड़ा नहीं ही है तथा अन्य ऐसे परभाव को—कि जो वास्तव में पौद्गलिक विकार है उसे—वह ग्रहण नहीं ही करता॥१२९॥

श्लोक -१२९ पर प्रवचन

देखो, **और (इस ९७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं)** है ? १२९वाँ श्लोक है। १२९, ऊपर का पढ़ा गया है।

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाढ्यमात्मा,
जानाति पश्यति च पञ्चम-भाव-मेकम्।

तत्याज नैव सहजं पर-भाव-मन्यं,
गृह्णाति नैव खलु पौद्गलिकं विकारम्।।१२९।।

आहाहा! मार्ग कोई अलौकिक है। साधुपद से आचार्यपद, मुनिपद कोई अलौकिक है। वास्तव में तो पाँच पद स्वरूप आत्मा है, अन्दर स्वभाव ही उसका है, तब बाहर में आता है, प्रगट होता है। जो आचार्यपद प्रगट हुआ, वह तो अन्दर स्वभाव में है, वह बाहर में प्रगट होता है। वह यहाँ कहते हैं कि **आत्मा...** अपूर्व बात है, बापू! आहाहा! यह आत्मा अन्दर इस देह से भिन्न है, यह (देह) तो मिट्टी है, जड़ है। शरीर, मिट्टी, अजीव धूल है। अन्दर कर्म मिट्टी-धूल है। वे तो आत्मा के प्रदेश-पर्याय में भी नहीं है परन्तु पुण्य और पाप के, दया, दान, काम, क्रोध के परिणाम वे भी वस्तु में नहीं हैं, वे आत्मा के नहीं हैं, आत्मा की चीज़ नहीं है। आहाहा! उसे यहाँ आत्मा परमेश्वर कहते हें।

यह **आत्मा आत्मा में...** आहाहा! यह **आत्मा आत्मा में...** परम शुद्धस्वभाव जो त्रिकाली आत्मा, वह **आत्मा आत्मा में निज आत्मिक गुणों से समृद्ध...** अपने आत्मा के गुण जो ज्ञान-दर्शन-आनन्द, ऐसे जो अनन्त गुणों से भरपूर भगवान आत्मा अन्दर है... आहाहा! जिसके माहात्म्य की वाणी में भी माहात्म्य पूरा नहीं आया। ऐसा वह प्रभु अन्दर देह में विराजमान है। उसे यहाँ आत्मा कहते हैं। यहाँ कहा न? **आत्मिक गुणों से समृद्ध...** है। आहाहा!

लोग यह बाहर के धूलवाले हों, उन्हें ऐसा कहते हैं न? कि यह पच्चीस लाख का आसामी, पचास लाख का आसामी, करोड़ का आसामी। चिमनभाई! यह चिमनभाई का सेठ पचास करोड़ का आसामी है। पचास करोड़ का आसामी। धूल का। वह नहीं, बापू! वह तो मिट्टी, धूल, जगत की चीज़ है। वह कुछ तुझमें नहीं है, तू उसमें नहीं है, तेरी वह नहीं है परन्तु तुझमें पुण्य और पाप हो, उसमें भी तू नहीं है, वे तुझमें नहीं है, वे तेरे नहीं हैं, तू उनमें नहीं है, वे तुझमें नहीं हैं। आहाहा! अरे! ऐसी बात।

इस जगत में रहना, संसार का धन्धा-पानी। कठिन काम। रमणीकभाई पूछते थे। यह पाँच वर्ष दुकान का धन्धा किया, तब रस था या नहीं? ऐसा पूछते थे। पहले से मैं तो भगत कहलाता था। दुकान चलती थी, घर की-पिताजी की दुकान थी परन्तु मैं भगत ही कहलाता था। दुकान चले, चलावे, तथापि पहले वस्तु धर्म यह। शास्त्र श्रवण, वांचन

पहला। फिर दुकान। अठारह वर्ष की उम्र से। यह तो नब्बे वर्ष हुए। शरीर को तो नब्बे वर्ष हुए। यह तो ७२ वर्ष पहले की बात है। आहाहा! उसमें कहीं रुचि नहीं थी, रस नहीं था, रस। अवसर आया तो भाई को कहा, बापू! में नहीं रह सकूँगा। यह संसार और दुकान मैं नहीं चला सकूँगा। मैं दुकान छोड़ देता हूँ। अरे! यह कहाँ दुकान, कहाँ राग, कहाँ प्रभु! आहाहा! वह बाहर की चीज़ तो जड़ कहीं रही, वह तो आत्मा कर नहीं सकता परन्तु आत्मा में जो कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति के काम, क्रोध के भाव होते हैं, वह भी इसका कर्तव्य नहीं है, वह इसका कार्य नहीं है। व्याप्य-व्यापक अपने आ गया है। वह व्याप्य नहीं है। आत्मा का व्याप्य-अवस्था नहीं है। विकारी आत्मा का कार्य नहीं है। आहाहा!

भगवान चैतन्यस्वरूप अपने गुणों से समृद्ध है, ऐसा कहा। पर के कारण नहीं, राग के कारण नहीं। आहाहा! राग, वह विकार है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी राग है, विकार है। उससे समृद्ध आत्मा नहीं है। आहाहा! है इसमें? **आत्मा आत्मा में निज आत्मिक गुणों से समृद्ध...** है। निज आत्मा के गुणों से समृद्ध है। आहाहा! कब बैठे और कब विचार करे? यह दुनिया ऐसी की ऐसी चली जाती है। आहाहा! **निज आत्मिक...** पहले दो शब्द लिये। **आत्मा आत्मा में निज आत्मिक गुणों से समृद्ध...** है। आत्मा, आत्मा में अपने गुणों से समृद्धिवाला है। अपने गुणों की समृद्धि उसमें भरी है। आहाहा!

यहाँ तो एक मूला अच्छा मिले। सब्जी लेने जाए, वहाँ चार आने की सब्जी मिले, एक मूला मुफ्त देना। मूली-मूली। लड़की... देखा होवे तो कहे, लाओ भाई... दूं। एक मूली मिले वहाँ प्रसन्न हो जाता है। आहाहा! प्रभु! तू कहाँ गया? प्रभु! तू कितना है? कहाँ है? वीतराग परमेश्वर पुकारते हैं। प्रभु! तू कितना है? कहाँ है? तू आत्मा तो आत्मिक गुणों से समृद्ध है। आहाहा! ऐसा सुना नहीं होगा। आत्मा, आत्मा करे। आत्मा है। देह में आत्मा है। हो गया जाओ। आत्मा हिले और चले, वह आत्मा। अरे! प्रभु! हिलना-चलना तो कहीं रह गया परन्तु उसमें अल्पता भी नहीं। पुण्य-पाप के विकार भी नहीं। आत्मा के गुण से समृद्ध है - ऐसा कहते हैं। आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य भगवान का (आचार्यपद) तिथि आरोहण का दिवस है। वे कहते हैं कि **आत्मा आत्मा में निज आत्मिक गुणों से...** अर्थात् निज स्वरूप के गुणों से **समृद्ध आत्मा को...** आहाहा! ऐसा जो समृद्ध भगवान आत्मा अन्दर विराजता है। आहाहा! कभी

सुनने को नहीं मिले, खबर नहीं मिले। **एक पंचमभाव को—जानता है...** वह शुद्धात्मा को अर्थात् एक **पंचमभाव को—जानता है...** आहाहा! धर्मी जीव, सम्यग्दृष्टि जीव, वीतराग ने कहाँ वैसा यह आत्मा, आत्मा में आत्मा के गुणों से समृद्ध ऐसे एक को जानता है। आहाहा! ऐसा कहीं सुनने को नहीं मिलता। झवेरचन्दभाई! यह तुम्हारा मामा का सब संसार का कहा था। आहाहा!

यह भगवान आत्मा स्वयं **आत्मा आत्मा में...** आहाहा! **निज आत्मिक गुणों से समृद्ध...** से भरपूर भगवान एकरूप है। आहाहा! क्या शब्द! पार नहीं आता। आत्मा, अन्दर भगवान आत्मा अन्दर वस्तु, वह तो भगवत्स्वरूप है, परमेश्वरस्वरूप है। परमेश्वर हुए, अरिहन्त और सिद्ध (हुए), वे कहाँ से हुए? बाहर से हुए हैं? वह अन्दर में है, वैसा स्वरूप बाहर आया है। आहाहा! अरे, इसने कभी जाना नहीं, इसने माना नहीं, इसलिए इसने माण्यो नहीं, जाना नहीं, माना नहीं, इसलिए माण्यो नहीं अर्थात् अनुभव नहीं किया। आहाहा! यह वर को छोड़कर सब बारात कर दी। भटकने की पट्टी से चार गति में भटकता है। आहाहा! क्या शब्द प्रयोग किये हैं?

आत्मिक गुणों से समृद्ध आत्मा को... तीन और चार बार आत्मा शब्द आया है। है न? निज गुण की समृद्धि। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त वीतरागता से भरपूर यह भगवान है। ऐसी अपनी समृद्धि से भरपूर आत्मा को **एक पंचमभाव को—जानता है...** आहाहा! यह पंचमभाव जो त्रिकाली स्वभावभाव, जिसे कोई अपेक्षा नहीं। अन्दर त्रिकाली एकरूप परमात्मा है। स्वयं ही परमात्मस्वरूप है। आहाहा! एक को ही जो जानता है। **देखता है...** आहाहा! जो आत्मा ऐसा अन्दर जानता है, देखता है। आहाहा! वह सब बाहर का देखना छोड़कर अन्दर स्वयं भगवान है, उसे देखता है। बाहर का जानना छोड़कर अन्दर जानने में अपने को जानता है। आहाहा!

उस सहज एक पंचम भाव को उसने छोड़ा नहीं ही है... आहाहा! ऐसा जो प्रभु, अपनी सत्ता का अस्तित्व, पंचमभावस्वरूप, पारिणामिकभावस्वरूप, ज्ञायकस्वरूप, अनादि-अनन्त स्वरूप, कभी उसने छोड़ा नहीं है। पंचम भाव को उसने... पंचम भाव समझ में आता है? पाँच भाव है न? उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक और पारिणामिक। चार पर्याय है और ऐसे गुण स्वभाव है। पंचम भाव वह स्वभाव है तथा उदय, उपशम,

क्षयोपशम, क्षायिक, यह चार उसकी पर्याय है। गुण और पर्याय उसकी, परन्तु खबर नहीं होती और हम जैन वाड़ा में पड़े हैं, जैन हैं। आहाहा! अरे जिन्दगी चली जाती है। मूल वीतरागमार्ग कहते हैं, उसे समझने की दरकार नहीं करता। आहाहा!

कहते हैं, **एक पंचम भाव को उसने छोड़ा नहीं...** एक शब्द प्रयोग किया है। **सहज एक पंचम भाव को उसने छोड़ा नहीं ही है...** भगवान ऐसा का ऐसा विराजता है। आहाहा! अपने गुण की समृद्धि से, अपने गुण की ऋद्धि से, अपने अनन्त गुण की सामग्री से, शुद्धि से, ऋद्धि से एक को उसने कभी छोड़ा नहीं है। आहाहा! ऐसा कैसा उपदेश? वह कहे कि दया पालना, व्रत करना, सामायिक करना, प्रौषध करना, प्रतिक्रमण करना, ऐसा तो समझ में आये। ऐसा तो अनन्त बार किया है। यह सब शुभराग की क्रिया है, इसमें कहीं आत्मा-फात्मा नहीं है। वहाँ आत्मा नहीं आता और आत्मा को वहाँ जरा भी लाभ नहीं होता। आहाहा!

ऐसा जो पंचम भावरूप आत्मा, अर्थात् पर्याय में उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक पर्याय है। वह नहीं। यह तो त्रिकाली ध्रुव ऐसे **पंचम भाव को उसने छोड़ा नहीं ही है...** आहाहा! जब देखो तो विराजमान भगवान पूर्णानन्द ही है परन्तु तेरे देखने के आलस से पड़ा रहा है। 'नयन ने आलसे रे न निरखया नयने हरि' हरि अर्थात् आत्मा। राग और द्वेष और अज्ञान को व्यवहार से घात करे, उसे यहाँ हरि और आत्मा, वह हरि। दूसरा हरि-वरि कोई कर्ता-फर्ता नहीं है। कोई ईश्वर है और ईश्वरकर्ता हरि है, वह नहीं। हरि तो यहाँ भगवान आत्मा हृदय में विराजता है। श्रीमद् ने ऐसा कहा है। अधिष्ठाता एक है, वह मैं हृदय में देखता हूँ। वह अधिष्ठाता यहाँ है। बाहर में कहीं है नहीं। आहाहा!

तथा अन्य ऐसे परभाव को... पंचम स्वभावभाव कभी छोड़ा नहीं। ध्रुवभाव, नित्यभाव, अविचल नित्य प्रभु! - ऐसे भाव को कभी छोड़ा नहीं। उसे छोड़े अर्थात् नित्य को छोड़े तो क्या होगा? नित्यपना नहीं रहेगा तो वस्तु नहीं रहेगी। वह तो कभी छोड़ा ही नहीं। आहाहा! **तथा अन्य ऐसे परभाव को**... आत्मा के अतिरिक्त दूसरे भाव को, **कि जो वास्तव में पौद्गलिक विकार है...** वह तो पुद्गल का विकार है। पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम-क्रोध, वह तो पुद्गल का विकार है, प्रभु! तेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! तुझमें तो चैतन्य चमत्कार आनन्द का नाथ पड़ा है, प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द की समृद्धि से

भरपूर प्रभु तू है। अतीन्द्रिय वीतरागस्वभाव से भरपूर भगवान आत्मा है। (यदि ऐसा) न होवे तो वीतरागता आयेगी कहाँ से? यह प्राप्त की प्राप्ति है। है, उसमें से आता है। आहाहा! ऐसा उपदेश!

ऐसे परभाव को—कि जो वास्तव में पौद्गलिक विकार है... आहाहा! वह तो वास्तव में तो इन्होंने क्षायिकभाव भी गिना नहीं है। उसे पौद्गलिक विकार गिना है। चार भाव को विकार गिना है। आता है न? नियमसार में अन्दर आता है। विकार क्या? कि जिसे कर्म की अपेक्षा आयी न? वस्तु तो त्रिकाल एकरूप प्रभु है। अनन्त-अनन्त गुण की समृद्धि से भरपूर भगवान है, उसे किसी कर्म के अभाव और कर्म के सद्भाव की कोई अपेक्षा ही नहीं है। क्षायिकभाव और क्षयोपशमभाव में कर्म के अभाव की अपेक्षा है। उदय में कर्म की अपेक्षा है। उसमें अभाव की अपेक्षा है। एक यह अपेक्षारहित चीज़ है और वास्तव में उस पंचम भाव के अतिरिक्त... आहाहा!

अन्य ऐसे परभाव को—कि जो वास्तव में पौद्गलिक विकार है... आहाहा! अनन्त गुण की समृद्धि से भरपूर भगवान, इसके अतिरिक्त सब विकार है। आहाहा! है? **उसे—वह ग्रहण नहीं ही करता।** वह द्रव्यस्वभाव, ज्ञायकभाव, वह कभी विकार को पकड़ता नहीं। निज को छोड़ता नहीं और पर को ग्रहण नहीं करता। अरे रे! ऐसी बातें। आहाहा! ऐसा जैनधर्म। वीतराग जैन परमेश्वर, त्रिलोकनाथ को सर्वज्ञरूप से ज्ञात हुआ, वह यह बात भगवान जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा!

अनन्त आत्माएँ अपने अनन्त गुण की समृद्धि से भरपूर भगवान ने देखे हैं। आहाहा! परभाव कभी स्पर्श नहीं किया और जो भाव है, उसे कभी नहीं छोड़ा, कभी अल्पज्ञरूप से भी नहीं हुआ। विकाररूप से तो हुआ नहीं परन्तु वह स्वभावभाव-स्वभावभाव त्रिकाली स्वभावभाव, त्रिकाली गुण समृद्धिभाव, भगवान, वह अल्पभाव से हुआ नहीं। आहाहा! अल्पभाव को और विकार को कभी ग्रहण नहीं किया। आहाहा! वह सम्यग्दर्शन का विषय है। उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, बापू! यह तो लोगों को किसी को कुछ खबर नहीं होती। देव-गुरु-शास्त्र को मानो, वह समकित। नवतत्त्व को मानो तो समकित हो गया। चल निकले। आहाहा!

तीन लोक के नाथ जिनेश्वर परमात्मा का यह हुकम है। कुन्दकुन्दाचार्य यह हुकम

लेकर आये हैं। भगवान के पास गये थे। सीमन्धरस्वामी भगवान प्रभु महाविदेह में विराजमान हैं। सीमन्धरस्वामी तीर्थंकर विराजते हैं, वहाँ दो हजार वर्ष पहले आठ दिन रहे थे, वहाँ से आकर यह शास्त्र रचे हैं। आहाहा! भारी गजब बात! **आत्मा आत्मा में...** आत्मा में गुण समृद्धि से भरपूर आत्मा, उसे कभी छोड़ता नहीं और अन्य भाव को कभी ग्रहण नहीं करता। आहाहा! यह भाषा थोड़ी, प्रभु! मार्ग बहुत अलौकिक है। आहाहा! उसे तो अभी सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यक्चारित्र तो दूसरी बातें हैं, बापू! वह चारित्र कहाँ? लोग मानते हैं, वह चारित्र-फारित्र नहीं है। वस्त्र छोड़े और दीक्षा ली, महाव्रत, वह दीक्षित चारित्र-फारित्र नहीं है। आहाहा! अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं, वहाँ चारित्र कहाँ आया? आहाहा!

श्लोक बहुत सरस है। पद्मप्रभमलधारिदेव टीका करनेवाले ने यह श्लोक कहा है। **उसे—वह ग्रहण नहीं ही करता।** आहाहा!

श्लोक-१३०

(शार्दूलविक्रीडित)

मत्स्वान्तं मयि लग्नमेतदनिशं चिन्मात्रचिन्तामणा-
वन्यद्रव्यकृताग्रहोद्भवमिमं मुक्त्वाधुना विग्रहम्।
तच्चित्रं न विशुद्ध-पूर्ण-सहज-ज्ञानात्मने शर्मणे,
देवाना-ममृताशनोद्भव-रुचिं ज्ञात्वा किमन्याशने।।१३०।।

(वीरछन्द)

अन्य द्रव्य के आग्रह से उत्पन्न सभी विग्रह तजकर।
शुद्ध पूर्ण ज्ञानात्मक सुख की प्राप्ति हेतु मेरा अन्तर॥
चिन्तामणि चैतन्यमात्र में लीन निरन्तर अचरज क्या।
अमृतभोजी सुर को अन्य अशन से कहो प्रयोजन क्या?॥१३०॥

[श्लोकार्थः] अन्य द्रव्य का [१]आग्रह करने से उत्पन्न होनेवाले इस [२]विग्रह को अब छोड़कर, विशुद्ध-पूर्ण-सहजज्ञानात्मक सौख्य की प्राप्ति के हेतु, मेरा यह निज अन्तर मुझमें—चैतन्यमात्र-चिन्तामणि में निरन्तर लगा है—उसमें आश्चर्य नहीं है, कारण कि अमृत भोजनजनित स्वाद को जानकर देवों को अन्य भोजन से क्या प्रयोजन है ? (जिस प्रकार अमृत भोजन के स्वाद को जानकर देवों का मन अन्य भोजन में नहीं लगता, उसी प्रकार ज्ञानात्मक सौख्य को जानकर हमारा मन उस सौख्य के निधान चैतन्यमात्र-चिन्तामणि के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं लगता) ॥१३०॥

श्लोक -१३० पर प्रवचन

श्लोक १३०।

मत्स्वान्तं मयि लग्नमेतदनिशं चिन्मात्रचिन्तामणा-
वन्यद्रव्यकृताग्रहोद्भवमिमं मुक्त्वाधुना विग्रहम् ।
तच्चित्रं न विशुद्ध-पूर्ण-सहज-ज्ञानात्मने शर्मणे,
देवाना-ममृताशनोद्भव-रुचिं ज्ञात्वा किमन्याशने।।१३०।।

किमन्याशने... आहाहा! देवों को अमृत का भोजन है। देव हैं न देव ? चार गति है न ? यह मनुष्य, तिर्यंच, नीचे नरक हैं और ऐसे देव हैं। उन देव को हजारों वर्ष में अमृत के भोजन की डकार आती है। जिन्हें अमृत के भोजन का स्वाद है, उन्हें रोटीरूपी रांधना और बनाना उन्हें कहाँ से आया ? आहाहा! यह तो दृष्टान्त दिया है।

अन्य द्रव्य का आग्रह करने से उत्पन्न होनेवाले इस विग्रह को अब... विग्रह है न ? **रागद्वेषादि कलह...** राग-द्वेष है, पुण्य-पाप है, वह कलह है। सूक्ष्म बात, भगवान! यह तो बहुत बातें, भाई! यह हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना तो कलह है परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, वह भी कलह, क्लेश और राग है। आहाहा! एक

१. आग्रह=पकड़; ग्रहण; लगे रहना वह।
२. विग्रह=(१) रागद्वेषादि कलह; (२) शरीर।

शुभराग है और एक अशुभराग है। दोनों राग है। आहाहा! यह राग-द्वेष **आग्रह करने से उत्पन्न होनेवाले इस विग्रह को... रागद्वेषादि कलह; शरीर।** यह राग-द्वेष, वह शरीर है। आहाहा!

एक ओर भगवान चैतन्य का अनन्त गुण की समृद्धि से भरपूर शरीर तथा एक ओर पुण्य-पाप के क्लेश से भरपूर शरीर। आहाहा! एक ओर अमृत का सागर भगवान अन्दर। पूर्ण अमृत भरपूर। सिद्ध भगवान हुए, वह अमृतपना कहाँ से आया? अन्दर से। अमृत अर्थात् स्वयं मरे नहीं और दूसरे को मारे नहीं। दूसरे से मरे नहीं, दूसरे को मारे नहीं, स्वयं मरे नहीं। ऐसा जो अमृत। आहाहा! ऐसा जो यह भगवान अन्दर ध्रुव नित्य अमृतस्वरूप भगवान, वह अमृत है। अ-मृत। वह कभी मरता नहीं। अमृत है, वह कभी किसी को मारता नहीं। अमृत ऐसा है, वह कभी किसी से मरता नहीं। आहाहा! ऐसा जो अमृत का सागर प्रभु! तिथि का आचार्य के पदारोहण का दिवस है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, प्रभु! प्रभु कहकर ही यहाँ तो बुलाते हैं। भगवान आत्मा। आहाहा!

अन्दर देह-देवल में... यह (शरीर) तो मिट्टी और हड्डियाँ - चमड़ी है, बापू! अन्दर पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वह भी विकार-विकाररूपी शरीर है। यह तेरा शरीर, विकार शरीर से भिन्न है। शरीर अर्थात् ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप वह शरीर तेरा भिन्न है। आहाहा! 'ज्ञानविग्रहं' ऐसा पाठ है। ज्ञानरूपी शरीर। यह (विकार) क्लेशरूपी शरीर... आहाहा! शुभ और अशुभराग, वह क्लेशरूपी शरीर है। कठिन बात है, प्रभु! नयों को पहले सुनना कठिन पड़ता है। अनादि से वस्तुस्वरूप तो यह है। वह अमृत का सागर अन्दर डोलता है। उस अमृत के सागर से भरपूर भगवान! अ-मृत किसे कहें? कभी मरे नहीं, किसी को मारे नहीं, किसी से मरे नहीं। आहाहा! कोई उस ध्रुव को स्पर्श नहीं कर सकता। आहाहा!

ऐसा जो अमृतस्वरूप भगवान। आहाहा! उस **द्रव्य का आग्रह करने से...** परद्रव्य का आग्रह करने से—शरीर मेरा, वाणी मेरी, पुण्य मेरा, दया, दान, व्रत मेरे, ऐसे विकल्प राग है, वे मेरे। ऐसा **आग्रह करने से उत्पन्न होनेवाले इस विग्रह को...** होनेवाले क्लेश को, होनेवाले इस विग्रह के शरीर को **अब छोड़कर,...** अब छोड़कर। यह क्या कहा? बापू! अब तो छोड़, नाथ! प्रभु! तुझे पकड़ने में अनन्त काल गया। अनन्त काल व्यतीत हुआ, नाथ! तेरे ऊपर ऐसे भवभ्रमण के डण्डे सिर पर पड़े हैं। अब तो छोड़... अब तो छोड़...

आहाहा! इससे अब दूसरा क्या कहें? अब तो छोड़। अर्थात्? अभी तक किया, प्रभु! तूने उल्टा बहुत किया और चौरासी के भवभ्रमण-अवतार में अनेक योनियों में अनंत अवतार कर चुका है, बापू! आहाहा! अब तो छोड़। आहाहा!

अब तो प्रभु के ऊपर नजर डाल। जो अमृत सागर है, वहाँ नजर डाल। आहाहा! तब संसार छूटेगा। इसके बिना संसार छूटे, ऐसा नहीं है। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा और करोड़ों के दान करे, बड़े मन्दिर बनावे मानो कितने ही। भाई गये न? चन्दुभाई, बड़ोदरा में मन्दिर बनाते हैं न? एक लाख पैंतीस हजार डाले हैं। उन्होंने स्वयं दिये हैं। एक लाख पैंतीस हजार। चन्दुभाई नहीं थे? उसमें सायला के भभूतमल ने आठ लाख रुपये दिये, बैंगलोर में मन्दिर बनाया न? दिगम्बर जिनमन्दिर (बनाया उसमें) आठ लाख का, चार लाख दूसरे जुगराजजी ने (दिये)। मुम्बई में महावीर मार्केट है, स्थानकवासी है, करोड़पति है, उन्होंने चार लाख दिये। बारह लाख का मन्दिर बनाया। परन्तु उनसे कहा, भाई! तेरे बारह लाख, बीस लाख, पचास लाख... आहाहा! यह राग की मन्दता हो तो शुभभाव पुण्य है।

पुण्य है, क्लेश है, राग है, वह कषाय का शरीर है; चैतन्य का शरीर नहीं। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! दो करोड़ रुपये हैं तो उसमें से आठ लाख रुपये दिये, उसमें क्या हुआ? उन स्थानकवासी जुगराजजी को एक करोड़ हैं, उन्होंने चार लाख दिये। बैंगलोर में मन्दिर बनाया न? बारह लाख का दिगम्बर जैन मन्दिर बनाया, परन्तु उसमें से कोई प्रसन्न हो जाए कि हमने धर्म किया, यह नहीं, बापू! धर्म कोई अलग चीज़ है, प्रभु! वह विकल्प और राग है। राग को तो यहाँ क्लेश कहते हैं, क्लेश... शरीर कहते हैं। आत्मा के ज्ञानशरीर से भिन्न शरीर कहते हैं। आहाहा!

ऐसा कहाँ है? तुम्हारे कलकत्ता में ऐसा सुनने को मिलता है? शान्तिभाई! आहाहा! क्या हो? प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं, नाथ! और यह हीनता करने का पार रखा नहीं। आहाहा! एक बीड़ी पीकर तलब चढ़ जाए वहाँ... आहाहा! एक रोटी कैसी कहलाये पुरणपोली... पुरणपोली की रोटी और अरबी के भुजिया खाता हो, वहाँ मानो... आहाहा! प्रभु! यह तुझे क्या हुआ? तेरी महिमा का पार नहीं और तू हीनता में इतना अधिक चला गया? आहाहा! प्रभु! तेरी महिमा करते हुए पार नहीं आता, इतना बड़ा तू और तू यह कहाँ

गया ? तू यह क्या करता है ? प्रभु ! भगवन्त ! यहाँ तो भगवन्त होने की बातें हैं, बापू ! आहाहा ! बातें देखो न की है !

यह **अन्य द्रव्य का आग्रह...** आत्मा के अतिरिक्त **अन्य द्रव्य का आग्रह...** आहाहा ! यह तीन लोक के नाथ तीर्थंकर कहते हैं कि मैं परद्रव्य हूँ। यह तेरे सिवाय मैं अन्य द्रव्य हूँ, मेरा **आग्रह करने से उत्पन्न होनेवाले इस विग्रह को अब छोड़कर,...** आहाहा ! ऐसा आया है या नहीं इसमें ? आहाह !

मुमुक्षु : विग्रह छोड़ना सरल है या कठिन है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सरल है। इसमें है नहीं और छोड़ने का प्रश्न... उसके अस्तित्व का स्वीकार किया कि इसमें नहीं है। अनभ्यास है, इसलिए कठिन है। दो बातें रखीं। आहाहा ! एक तो यह बात सुनने को नहीं मिलती। स्थानक में जाए तो सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो। यह करे; और मन्दिरमार्गी में जाए तो पूजा करो, भक्ति करो, गिरनार और सम्मेदशिखर... दिगम्बर में जाए तो वस्त्र छोड़ो, दो-चार-पाँच प्रतिमा ले लो। भगवान ! क्या होगा ? प्रभु ! यह कोई विरुद्ध की बात नहीं है, प्रभु ! यह तो मार्ग यह है। आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि विग्रह है। आहाहा ! स्वद्रव्य के प्रेम की दृष्टि के अतिरिक्त, स्वद्रव्य वस्तु के अतिरिक्त परद्रव्य का जितना राग का आग्रह है, वह सब विग्रह का क्लेश है। अब तो छोड़। आहाहा ! करते-करते तेरा अनन्त काल गया। प्रभु ! तो भी तुझे अभी कहीं तृप्ति नहीं हुई। आहाहा ! विषय में, भोग में, इज्जत में, कीर्ति में... आहाहा ! दस लाख मिले तो बीस लाख, और बीस लाख मिले तो पचास लाख... आहाहा ! अभी कहा न ? एक बीस लाख की मोटर। एक मोटर बीस लाख की। मैंने कहा—यह क्या ? बापू ! यह क्या करेगी ? मैंने कहा—यह महंगी क्यों ? उसका जो वह था न, अपने आता है, यहाँ आता है। नाम क्या ? उसका मोटर का ड्राईवर राजू-राजू, राजू बताता था। मैंने कहा इतनी अधिक महंगी ? तो वह बताता था। मुम्बई से यहाँ आना था, तब उसमें बैठे थे, तो वह मोटर रखी। बीस लाख की। कहा—इतना अधिक ? कहा ऐसा किया, देखो ! ऐसा करे, तब यहाँ प्रकाश हो जाए। ऐसा करे, तब काँच ऊँचा हो जाए। ऐसा करे तो ऐसा हो जाए। अरे रे ! क्या हो ? यह तो नजरों से देखा है। उसमें बैठे थे न, मुम्बई से स्टेशन आना था न, प्लेन में ? अरेरे ! क्या चीज़ ? भाई ! आहाहा !

मुमुक्षु : परद्रव्य कहाँ बाधक है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने कहा परद्रव्य बाधक है ? परद्रव्य का आग्रह कहा है। आग्रह कहा है। द्रव्य का आग्रह करने से, ऐसा कहा है। परद्रव्य नहीं कहा। समझ में आया ? परद्रव्य तो इसे स्पर्श भी नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श ही नहीं करता। बहुत कठिन पड़े, बापू! परद्रव्य का आग्रह / पकड़। यह मेरे हैं, यह स्त्री मेरी है, पुत्र मेरा, पैसा मेरा, मकान मेरा, इज्जत मेरी, धन्धा-व्यापार चलता हो और पाँच-पच्चीस लाख की आमदनी होती हो तो वह धन्धा मेरा, हमारे अच्छे नौकर, होशियार लड़के जगे हैं तो सर्वत्र दुकान सम्हालते हैं। दस दुकानें हैं। चिमनभाई!

चिमनभाई के सेठ के पास पचास करोड़ हैं। मुम्बई में व्याख्यान में आया था। आवे तो सही। उसमें सुने। यह कहाँ कभी सुनने को मिलता नहीं। पचास करोड़ रुपये। अपने यहाँ भी साहूजी के पास चालीस करोड़ थे। गुजर गये न बेचारे ? इसके अतिरिक्त गोआ में अपने शान्तिलाल। शान्तिलाल खुशाल गोवा में, दो अरब चालीस करोड़ है। स्वयं मर गया। अभी लड़के हैं। धूल में क्या ? मर गया। उसने मार डाला - अपने माहात्म्य को छोड़कर परद्रव्य का आग्रह / पकड़-पकड़। परद्रव्य की महिमा, परद्रव्य की विस्मयता परद्रव्य की स्वद्रव्य से अधिकता, स्वद्रव्य के अतिरिक्त परद्रव्य की भभक। आहाहा! ऐसा जो किया, वह तो कहते हैं विग्रह-क्लेश शरीर है। अब तो छोड़।

विशुद्ध-पूर्ण-सहजज्ञानात्मक सौख्य की प्राप्ति के हेतु,... मुनिराज स्वयं कहते हैं। **विशुद्ध-पूर्ण-सहजज्ञानात्मक सौख्य की प्राप्ति के हेतु,...** मेरा नाथ स्वभाविक ज्ञानस्वरूप शुद्ध आनन्द है। उसकी **प्राप्ति के हेतु, मेरा यह...** आहाहा! **मेरा यह निज अन्तर मुझमें—चैतन्यमात्र-चिन्तामणि में निरन्तर लगा है...** है ? देखो! यह मुनिपना। आहाहा! मेरा आत्मा अन्दर आनन्दमूर्ति प्रभु में। कहा न ? **विशुद्ध-पूर्ण-सहजज्ञानात्मक सौख्य...** आत्मा की **प्राप्ति के हेतु, मेरा यह निज अन्तर...** मेरा अन्तर निज मन। **मुझमें—चैतन्यमात्र-चिन्तामणि में निरन्तर लगा है—उसमें आश्चर्य नहीं है,...** उसमें आश्चर्य नहीं है, क्योंकि वह तो है, उसमें लगा, उसमें क्या आश्चर्य ?—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

ऐसा भगवान अन्दर विराजता है, उसमें मन लगा है, उसमें आश्चर्य क्या ? वह तो वस्तु का स्वरूप है। ऐसा कहा, देखो! आहाहा! बाहर के अटकने के रास्ते का पार नहीं

होता। छुटकारे का एक रास्ता अन्तरस्वरूप में अन्तर्दृष्टि करना। अरे रे! ऐसी बातें आवें। क्या हो? बात तो यह है। आहाहा! **चैतन्यमात्र-चिन्तामणि में...** आहाहा! चैतन्य चिन्तामणि में निरन्तर मेरा मन लगा है। आहाहा! यह लिखते समय भी मेरा मन तो वहीं लगा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! लिखते समय का विकल्प है, लिखने की क्रिया वह तो भाषा की, परमाणु की क्रिया है; मेरी क्रिया नहीं। विकल्प उठा, वह राग-क्लेश है; वह मैं नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन लगे न? यशपालजी! दूसरे को-नये लोगों को लगे। ऐसा लगे कि यह क्या? ऐसी बात कहाँ से निकाली? सब बात सुनी है, उसमें से एक भी बात नहीं आती। व्रत पालो, छह परबी दया पालो, छह परबी ब्रह्मचर्य पालो, ऐसी बात तो इसमें कहीं नहीं आती। अब ऐसा तो अनन्त बार किया है न, सुन न अब।

वह यह भगवान अन्दर चैतन्य की समृद्धि से भरपूर भगवान के सन्मुख तूने कभी देखा नहीं और पर का-सामने का आग्रह तूने कभी छोड़ा नहीं। आहाहा! यह अमृत बरसता है। आहाहा! यह अमृत की वाणी भगवान की है। वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर का यह कथन है, प्रभु! तुझे जँचे, न जँचे, कठिन लगे... यह तो बहुत ऊँची बात है, ऐसा लगे। अरे! प्रभु! पहली ही बात यह है। धर्म की पहले में पहली बात यह है। आहाहा!

मेरा मन मुझमें... आहाहा! मेरा पूर्ण सहज ज्ञान-आनन्द-सुखस्वरूप, उसके लिये। मेरे पूर्ण ज्ञान और आनन्द सुख के लिये, **मेरा यह निज अन्तर मुझमें—चैतन्यमात्र-चिन्तामणि...** चैतन्यमात्र चिन्तामणि भगवान... आहाहा! फाट-फाट अन्दर से। **चैतन्यमात्र-चिन्तामणि...** प्रभु अन्दर विराजता है। आहाहा! प्रभु! तुझे उसकी कीमत नहीं। आहाहा! वह **निरन्तर लगा है—उसमें आश्चर्य नहीं है,...** उसमें क्या कहते हैं आश्चर्य है? है उसमें रहना, उसमें क्या आश्चर्य है? ऐसा कहते हैं। नहीं है, उसमें जाना, वही आश्चर्य है कि अर..र..र.! वह कहाँ गया? यह क्या करता है? आहाहा!

कारण कि अमृत भोजनजनित स्वाद को जानकर देवों को अन्य भोजन से क्या प्रयोजन है? देवों की तैंतीस सागर की जिनकी आयु है, उन्हें तैंतीस हजार वर्ष में कण्ठ से अमृत की डकार आती है। उन्हें वहाँ दाल-भात बनाना पड़े, चाय बनानी पड़े, पूरणपोली की रोटी बनानी पड़े, ऐसा वहाँ नहीं है। उसे आहार की डकार हजार वर्ष में आती है। तैंतीस सागरवाले को तैंतीस हजार में आती है। दो सागरवाले को दो हजार में

आती है। कण्ठ में से अमृत आता है। जैसे यह अमृत आता है न? मुँह में अमृत की मिठास आती है न? उसी प्रकार अमृत अन्दर झरता है। आहाहा! जिसे अमृत का स्वाद आया... यहाँ उसे कहते हैं कि जहर का स्वाद किस प्रकार आवे? आहाहा! है?

जिसे, **अमृत भोजनजनित स्वाद को जानकर...** अमृत के भोजन के स्वाद को देवों ने जाना... आहाहा! वह देव अब खिचड़ी और दही किस प्रकार खायें? दही का घोलन करे और खिचड़ी में नमक डाले। कहते हैं न, जिसे अमृत का स्वाद आया... आहाहा! अब वह बाहर के भोजन को क्या करे? बराबर है? **(जिस प्रकार अमृत भोजन के स्वाद को जानकर देवों का मन अन्य भोजन में नहीं लगता, उसी प्रकार ज्ञानात्मक सौख्य को जानकर...)** ज्ञानस्वरूप आनन्द आत्मा। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है और अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप से भरपूर भगवान है। अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर खान - निधान है। अरे रे! कब इसे जँचे? ऐसा **(जानकर देवों का मन अन्य भोजन में नहीं लगता, उसी प्रकार ज्ञानात्मक सौख्य को जानकर...)** वह सौख्य का निधान-खान आत्मा है। वह **(चैतन्यमात्र-चिन्तामणि के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं लगता)**। आहाहा!

चिन्तामणि चैतन्य में ज्ञान और आनन्द की रुचि के समक्ष, उसके स्वाद के समक्ष देव को अमृत के स्वाद के समक्ष दूसरे भोजन और दूधपाक तथा पूड़ी का स्वाद उन्हें नहीं आता। इनकी इच्छा भी नहीं करते। आहाहा! इसी प्रकार जिसे आत्मा के अमृत का स्वाद आया, वह दूसरे स्वाद को नहीं चाहता। इसका नाम अमृत का अनुभव और इसका नाम समकित कहा जाता है। (***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१३१

(शार्दूलविक्रीडित)

निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं,
नान्य-द्रव्य-विभावनोद्भव-मिदं शर्मामृतं निर्मलम्।
पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृत-मप्येतद्विहायाधुना,
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिन्तामणिम्।।१३१।।

(वीरछन्द)

निरुपद्रव निर्द्वन्द निरूपम नित्य निजातम से उत्पन्न।
पर विभावना से नहिं हो जो निर्मल सुख अमृत कर पान॥
पुण्यभाव करनेवाले इस पुण्यभाव का त्याग करें।
चिंतामणि चिन्मात्र अतुल जिन अद्वितीय को प्राप्त करें॥१३१॥

[श्लोकार्थः] द्वन्द्व रहित, उपद्रव रहित, उपमा रहित, नित्य, निज आत्मा से उत्पन्न होनेवाले, अन्य द्रव्य की विभावना से (-अन्य द्रव्यों सम्बन्धी विकल्प करने से) उत्पन्न न होनेवाले—ऐसे इस निर्मल सुखामृत को पीकर (-उस सुखामृत के स्वाद के निकट सुकृत भी दुःखरूप लगने से), जो जीव [१]सुकृतात्मक है, वह अब इस सुकृत को भी छोड़कर अद्वितीय अतुल चैतन्यमात्र-चिन्तामणि को स्फुटरूप से (-प्रगटरूप से) प्राप्त करता है॥१३१॥

प्रवचन-१०४, श्लोक-१३१-१३२, गाथा-९८, बुधवार, मागशर कृष्ण ९, दिनांक १२-१२-१९७९

---

१३१ वाँ कलश है। १३१ कलश। प्रत्याख्यान अधिकार है। प्रत्याख्यान-पच्चखाण किसे कहना?

निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं,
नान्य-द्रव्य-विभावनोद्भव-मिदं शर्मामृतं निर्मलम्।

---

१. सुकृतात्मक=सुकृतवाला; शुभकृत्यवाला; पुण्यकर्मवाला; शुभभाववाला।

पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृत-मप्येतद्विहायाधुना,
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिन्तामणिम् ।।१३१।।

थोड़ी सूक्ष्म बात है। धर्मी को क्या करना? - कि धर्मी को प्रथम आत्मा जो आनन्दस्वरूप है, उसका पहले अनुभव करना, सम्यग्दर्शन करना। यह बात है। प्रथम में प्रथम आत्मा आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञानस्वरूप है, उसका प्रथम में प्रथम अनुभव करके सम्यग्दर्शन / प्रतीति करना। पश्चात् अन्दर में स्थिर होना। प्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान है न? स्वरूप में स्थिर होना। अतीन्द्रिय आनन्द में उग्र स्वाद लेना। अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र स्वाद लेना, वह पच्चखाण - प्रत्याख्यान है। यह बात अलग दूसरी है। जगत से दूसरी बात है। यह प्रत्याख्यान है।

अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा। आत्मा त्रिकाली ध्रुव अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप ही है। उसका प्रथम अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना और पश्चात् स्वरूप में आनन्द में लीन रहना, इसका नाम प्रत्याख्यान कहा जाता है। यह कहते हैं कि **द्वन्द्व रहित,...** जिसमें द्वन्द्व नहीं। दो नहीं। एकरूप चैतन्यरूप। जिसमें गुण और पर्याय— ऐसा भेद भी नहीं। ऐसी अभेददृष्टि प्रथम करना चाहिए। जिसे सम्यग्दर्शन करना है उसे... आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग सूक्ष्म है। लोगों ने बाहर में कुछ मनाया है।

यह तो वीतराग सर्वज्ञदेव, जिनेश्वरदेव परमात्मा के मुख से निकली हुई वाणी है। वे कहते हैं, कि **द्वन्द्व रहित,...** आत्मा आनन्दस्वरूप है और पर्यायसहित है, ऐसे द्वन्द्व - दोपना भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बहुत सूक्ष्म बात है। **'निरुपद्रवं' उपद्रव रहित,...** है। उसमें कोई पुण्य-पाप का जो विकल्प है, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम-क्रोध के परिणाम, वे उपद्रव हैं। आहाहा! राग है, क्लेश है। उस उपद्रवरहित प्रभु आत्मा अन्दर है। ऐसी बात है। आहाहा!

निर्द्वन्द्व—**द्वन्द्व रहित, उपद्रव रहित,...** उपमा रहित। उसे किसकी उपमा दें? वह वस्तुस्वभाव अन्दर चैतन्यमूर्ति सच्चिदानन्द प्रभु, चैतन्य चमत्कार से भरपूर भगवान। उसे किसकी उपमा देना? ऐसा आत्मा अन्दर है। कल ऐसी बात आयी। अमृत पीओ। ऐसा आत्मा है, उसका अमृत पीओ। वह अमृतस्वरूप है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द अमृत। अतीन्द्रिय आनन्द अमृत, वह उसका स्वरूप है। त्रिकाली सच्चिदानन्द ध्रुव है। कठिन

पड़ता है, भाई! क्या हो? लोग व्यवहार में बहुत रचे-पचे रहते हैं। उन्हें यह निश्चय ऐसा कठिन लगता है। प्रभु! मार्ग तो यह है।

उपमा रहित **नित्य,...** वस्तु नित्य ध्रुव है। पर्याय को लक्ष्य में न लेकर नित्यानन्द ध्रुव, ध्रुव नित्यानन्द प्रभु को लक्ष्य में लेना। लक्ष्य में लेती है पर्याय, परन्तु पर्याय ध्रुव को लक्ष्य में लेती है। आहाहा! **नित्य, निज आत्मा से उत्पन्न होनेवाले,...** निज आत्मा से उत्पन्न होनेवाले आनन्द। आत्मा अमृत आनन्द अतीन्द्रियस्वरूप से भरा है। उस अमृत का अनुभव करना, अमृत के आनन्द का वेदन करना, उससे उत्पन्न हुआ आनन्द **अन्य द्रव्य की विभावना से (-अन्य द्रव्यों सम्बन्धी विकल्प करने से) उत्पन्न न होनेवाले...** आहाहा! उसमें अन्तर्दृष्टि होने से अन्तरवस्तु चैतन्य चमत्कारी भगवान विराजमान है। उसकी दृष्टि करने से, आश्रय करने से अन्य द्रव्य का आश्रय छूट जाता है।

अन्य द्रव्य की विभावना से (-अन्य द्रव्यों सम्बन्धी विकल्प करने से) उत्पन्न न होनेवाले... आहाहा! यह प्रत्याख्यान। सूक्ष्म बात है, भाई! दिगम्बर मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, पद्मप्रभमलधारिदेव यह कहते हैं। सब दिगम्बर मुनि एक ही (बात) करते हैं। दिगम्बर मुनि सब एक ही बात करते हैं। ऐसी बात अन्यत्र कहीं है नहीं। आहाहा! बात सुनना कठिन पड़ती है। कहते हैं कि **अन्य द्रव्य की विभावना से (-अन्य द्रव्यों सम्बन्धी विकल्प करने से)...** देव-शास्त्र-गुरु, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार, इस विकल्प से रहित उत्पन्न होता विकार... आहाहा!

ऐसे इस निर्मल सुखामृत को पीकर... आहाहा! यह प्रत्याख्यान है न? सच्चा प्रत्याख्यान इसे कहते हैं, इसे सच्चा प्रतिक्रमण करते हैं, सच्ची वन्दना भी इसे कहते हैं। आत्मा निर्द्वन्द्व, निरुपद्रव, उपमारहित नित्य ऐसे आनन्द के सुखामृत का... है? **ऐसे इस निर्मल सुखामृत को पीकर...** आहाहा! अनादि से पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, काम और क्रोध, यह सब राग है। राग को पीकर यह दुःखी है। यह राग है, वह दुःख है। आहाहा!

तो कहते हैं कि यदि तुझे प्रत्याख्यान करना हो तो अमृत को पी। इस सुख-दुःख की कल्पना में शुभाशुभराग से रहित होकर। है? **निर्मल सुखामृत को पीकर...** आहाहा! भगवान आत्मा वस्तु है, सत्ता है, अस्तित्व है। उसमें तो अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान

और अतीन्द्रिय वीतरागता भरी है। उसमें कोई पुण्य-पाप और दया, दान का विकल्प नहीं है। यह तत्त्व भिन्न है, वह तत्त्व भिन्न है। आहाहा! तो जिसे सच्चा प्रत्याख्यान करना हो। पच्चखाण कहते हैं? हिन्दी में पच्चखाण कहते हैं? क्या? प्रत्याख्यान। सच्चा प्रत्याख्यान करना हो, उसे पहले आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसकी दृष्टि करके आत्मा का स्वाद लेना और आंशिक स्वाद लेना, वह सम्यग्दर्शन है। आहाहा! और वह स्वाद **सुखामृत को...** देखो! **निर्मल सुखामृत को पीकर...** आहाहा! निर्मल अमृत का कुम्भ-घड़ा भरा है। आत्मा अमृत का कुम्भ भरा है। उस स्वरूप की दृष्टि करके द्वन्द्वपना, उपद्रवपना, नित्य उपमारहित चीज़ है, उस सुखामृत को पीकर। सुखामृत को पी, निर्विकल्प आनन्द को पीवे, वह प्रत्याख्यान है। आहाहा! कभी सुना नहीं होगा। ऐसा प्रत्याख्यान! वह... सेवन करना प्रत्याख्यान। हाथ जोड़कर ले लेवे, बापू! ऐसा तो अनन्त बार किया। वह सब राग की क्रिया है। वह प्रत्याख्यान नहीं है। आहाहा!

अन्दर है या नहीं? क्या लिखा है? **ऐसा...** ऐसा कैसा? कि निरुपद्रव चैतन्य भगवान और अन्य द्रव्य के विकल्प से रहित। **ऐसे इस निर्मल सुखामृत को...** आहाहा! ऐसे निर्मल आनन्दरूपी सुख, अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत का अनुभव करके, पीकर, निर्विकल्प को पी।... जो अनादि से राग, दया, दान और पुण्य-पाप किये हैं, वह तो विकार है। आहाहा! यशपालजी! कठिन काम है। यहाँ शुभभाव को जहर कहा है, दुःख-दुःख कहा है। आत्मा का सुख... कलश है न? १३१वाँ कलश है। उसमें अन्दर लिखा है। है? क्या लिखा?

प्रभु! तुझे काम करना होवे तो, प्रभु! तुझे यह करना है। आहाहा! **ऐसे...** कैसे? निरुपद्रवस्वरूप भगवान चैतन्य आनन्दकन्द है। अन्य द्रव्य के विकल्प से रहित, ऐसे आत्मा को... आहाहा! अभी तो आत्मा कैसा?—इसकी खबर नहीं होती। **ऐसे इस निर्मल सुखामृत को पीकर...** निर्मल आनन्द भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, सर्वज्ञ जिनेश्वर ने जो आत्मा कहा वह। वीतराग के अतिरिक्त कोई आत्मा कहता है, वे सब जाने बिना कहते हैं। किसी को खबर नहीं है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी को खबर नहीं है। सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव महाविदेह में विराजमान हैं। वर्तमान में मौजूद हैं। सम्मेदशिखर... सीमन्धरभगवान महाविदेह में विराजमान हैं, उनकी यह वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे, आठ दिन

वहाँ रहे थे। वहाँ से आकर यह बनाया है और इसका भाव सब मुनियों ने ले लिया है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य मुनि तो ऐसा कहते हैं कि यह पुस्तक तो मेरे लिये बनायी है। लोग समझे, न समझे, मैंने तो मेरे लिये बनायी है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भगवान।

ऐसे... ऐसे अर्थात् कैसे? कि निरुपद्रव, द्वन्द्वरहित, उपमारहित—ऐसे निर्मलानन्द प्रभु (आत्मा)। अन्य द्रव्य के विकल्प से रहित, अन्य पदार्थ के लक्ष्य से रहित, अपने आत्मा में **इस निर्मल सुखामृत...** निर्मल आनन्द के अमृत को पीकर... आहाहा! यशपालजी! ऐसी बात है। इसमें है? यह सोनगढ़ का नहीं न! यह दिगम्बर सन्तों का है। यह महादिगम्बर सन्त कुन्दकुन्दाचार्य, पद्मप्रभमलधारिदेव, अमृतचन्द्राचार्य, पूज्यपादस्वामी, महादिगम्बर सन्त, परमेष्ठी, भगवन्त, वे जो कहते हैं, यह कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म पड़े, प्रभु! प्रभुरूप से तो बुलाते हैं। हे प्रभु! तेरे अन्दर में ऐसी चीज़ पड़ी है, वह अमृत से भरपूर है। अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण सरोवर-सागर है। उस ओर लक्ष्य करके उसका सुखामृत पी। वह आनन्द का अमृत भरा है, उसे पी। पी, थोड़ा पी। आहाहा! ऐसी बातें हैं। ऐसा तो सुना नहीं होगा। सुखामृत को पीवे। छोटाभाई! यह क्या कहा? अनन्त सुखामृत को पी—ऐसा कहते हैं।

प्रभु! तू यह आत्मा है न, प्रभु! प्रभु! तुझमें तो अतीन्द्रिय आनन्द भरा है न, नाथ! आहाहा! यह तेरे अतिरिक्त के अन्य द्रव्य की ओर का लक्ष्य छोड़ दे। उनकी ओर के दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभ और अशुभ जितने विकल्प आवें, वे सब दुःखरूप हैं। अभी कहेंगे। आहाहा! **इस निर्मल सुखामृत को पीकर (-उस सुखामृत के स्वाद के निकट,... सुखामृत के स्वाद के निकट, सुकृत भी दुःखरूप लगने से),...** है? यह दया, दान, पंच महाव्रत के परिणाम राग हैं, दुःख हैं। अरे! कौन माने? बाहर की क्रिया करे और छोड़े तो हो गया धर्म। बापू! धर्म कोई दूसरी चीज़ है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ का धर्म कोई दूसरे प्रकार का है। आहाहा! क्या कहा?

वह प्रभु! सुखरूप, अतीन्द्रिय आनन्दरूप, उसे पीकर। **(-उस सुखामृत के स्वाद के निकट...)** अमृत के आनन्द के स्वाद के समक्ष **(सुकृत...)** दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा यह सुकृत **(भी दुःखरूप लगने से),...** वह राग है, वह विकल्प है, वह विकार है, विभाव है; वह आत्मा के अतीन्द्रिय सुखामृत के निकट, वह राग भी दुःखरूप लगने से...

आहाहा! यहाँ तो अभी संसार में स्त्री, पुत्र, धन्धा, पैसा मानो पाँच-पच्चीस (लाख) पैदा होवे तो सुखी हैं, हम सुखी हैं। धूल में सुखी नहीं। सुख कहाँ था? आहाहा! आत्मा सुख से-अतीन्द्रिय आनन्द से भरा है। सच्चिदानन्द। सत् है, चिद्-ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण भरा है। उस सुखामृत के स्वाद के निकट यह सुकृत—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव भी दुःखरूप हैं। अन्दर है? ऐसा कठोर मार्ग है, भाई! आहाहा!

वीतराग सर्वज्ञदेव का कहा हुआ धर्म। वीतराग का धर्म तो वीतरागभाव से होगा या रागभाव से होगा? जैन परमेश्वर तो वीतराग हैं। तब उनकी वाणी में वीतरागता आती है या राग आता है? राग आता है तो राग जानने के लिये है। है, ऐसा जानने के लिये। परन्तु दुःखरूप है, ऐसा जानने के लिये आता है। आहाहा! ऐसी बात है। यह सब दया, दान, व्रत, भक्ति मानते हैं न? यह धर्म मानते थे न। यह क्या, सब मानते थे न। हम भी उसमें थे न। आहाहा! दुकान पर भी यह मानते थे। प्रतिक्रमण करें। यह तो पिचहत्तर वर्ष पहले की बात है। पिचहत्तर वर्ष पहले की बात है। अभी नब्बे वर्ष हुए। नब्बे-नब्बे, सौ में दस कम। उस समय प्रतिक्रमण करके मानते थे कि धर्म हो गया, लो! प्रतिक्रमण करके, फिर उसमें बोलते, 'देखो रे देखो रे जैनों कैसे व्रतधारी।' ऐसा बोलते थे। मैं बोलता था, दुकान में सब सुनते थे। कैसे व्रतधारी! कैसे व्रतधारी, देखो! फिर कुछ था। आहाहा! यह कहे 'कैसे व्रतधारी? आगे वरे शिवनारी' इस व्रत से। ऐसा मानते थे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द के सम्यग्दर्शन के निकट और आत्मा में सम्यग्ज्ञान और स्वाद के समक्ष, यह सुकृत दया, दान, व्रत के भी दुःखरूप लगते हैं। दुःखरूप है। कठोर लगता है। वाद-विवाद करने जाये तो पार आवे, ऐसा नहीं है। वाद करो... वाद करो... किसका वाद करे? भाई! अमृत का सागर है, नाथ! जितने विकल्प-वृत्तियाँ उठें। परद्रव्य की ओर की जितनी वृत्तियाँ उठें, वे सब दुःखरूप हैं। दुःखरूप हैं। आहाहा! यह पंच महाव्रत के परिणाम आस्रव दुःखरूप हैं। भगवान की भक्ति का राग दुःखरूप है। आता है; अशुभ से बचने के लिये आता है परन्तु है दुःखरूप। आहाहा! है बन्ध का कारण। आता है। पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक सम्यग्दर्शन की दृष्टि आत्मा के ऊपर, अपने ऊपर; अनुभव होने पर भी वीतरागता न हो तो राग आता है परन्तु ज्ञानी उसे बन्ध का कारण जानते हैं, वह दुःखरूप है। वह धर्म नहीं है। आहाहा! सुनना कठिन पड़े। क्या कहा?

(-उस सुखामृत के स्वाद के निकट...) अतीन्द्रिय सुख के स्वाद के निकट **(सुकृत...)** सुकृत - शुभभाव। सुकृत अर्थात् शुभभाव। दया का, दान का, भक्ति का, व्रत का, यात्रा का, पूजा का, भगवान के नामस्मरण का भाव, वह सब दुःखरूप है। अरे रे! कहाँ सुने? पूरी बात अन्यत्र चढ़ गयी है। दूसरे पाट में चढ़ गयी है। संसार के पाट में। राग से धर्म मनवाया। राग करो... राग करो। करते-करते सब होगा। व्यवहार करो और दुःख करो। दुःख करते-करते सुख मिलेगा। दुःख है न? आहाहा! सब झूठ बात है। ओहोहो!

सुखामृत को पीकर, **जो जीव सुकृतात्मक है,...** है? नीचे (फुटनोट) **सुकृतवाला; शुभकृत्यवाला;...** शुभ-शुभ। यह भक्ति, दान, दया, व्रत, अपवास इत्यादि शुभभाव। **शुभकृत्यवाला; पुण्यकर्मवाला; शुभभाववाला।** जो भाव शुभभाववाले हैं। **वह अब इस सुकृत को भी छोड़कर...** आहाहा! इसमें कुछ बोला जाए, ऐसा नहीं है। इसका इनकार किया जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा! **इस सुकृत को भी छोड़कर...** है? अन्दर संस्कृत में-पाठ में है। '**सुकृत-मप्येतद्विहायाधुना**' तीसरे पद में है। आहाहा! होवे तो उसे छोड़कर अन्दर शुद्धस्वरूप में आ। भगवान शुद्धस्वरूप है, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, वहाँ आ जा; उसके आनन्द को पी। उस आनन्द के स्वाद के समक्ष तुझे सुकृत भी दुःखरूप लगेंगे। तेरा शुभभाव, आनन्द के अनुभव के समक्ष, समकित के अनुभव के निकट वह शुभभाव भी दुःखरूप लगेगा। आहाहा! अब ऐसा। शुभभाव का शून्य लगाना सब। आहाहा! आवे, होवे, परन्तु उसे दुःखरूप लगता है, हेय है।

आत्मा का अनुभव, स्वाद, यह एक ही उपादेय और आदरणीय है। आहाहा! ऐसी बात सुनते हुए पुराने आग्रहीवालों को कठोर पड़ता है। यह सम्प्रदाय में माना हो और वह सब मनवाते हैं, यह करो... यह करो.. यह करो.. यह करो.. यह करो.. यह करो.. भगवान ऐसा कहते हैं कि यह करो.. करो.. करो.. वहाँ मरना है। राग करो, उसमें आत्मा मरता है। आहाहा! राग करना अर्थात् दुःख को करना, उसमें सुख का मरण होता है। आहाहा! शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. भगवान शान्ति का सागर, प्रभु तो शान्ति का सागर है, उसके अनुभव के समक्ष राग है, वह अशान्ति और दुःखरूप लगता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। कहो, शान्तिभाई!

शुभभाव दुःखरूप। सुनने पर कठिन पड़ता है। आहाहा! मार्ग यह है, भाई! प्रभु का

वीतरागमार्ग, जिनेश्वर परमेश्वर का मार्ग तो यह है। इसमें कुछ भी कम, अधिक, विपरीत करेगा तो मिथ्यात्व होगा। आहाहा! ओहोहो! **(सुकृत भी दुःखरूप लगने से), जो जीव सुकृतात्मक...** सुकृतस्वरूप, शुभभाव, **वह अब इस सुकृत को भी छोड़कर...** यदि तुझे प्रत्याख्यान करना हो, पच्चखाण करना हो तो शुभभाव को भी छोड़कर अन्दर स्थिर हो, वह प्रत्याख्यान है। शुभभाव तो अप्रत्याख्यान है। आहाहा! रति उठे, मुझे यह करो... यह करो..., वह भाव सब अप्रत्याख्यान है। आहाहा! ऐसी बात! गले उतरना (कठिन पड़ती है) यह अधिकार कौन सा चलता है? ऊपर है निश्चयप्रत्याख्यान। निश्चयप्रत्याख्यान उसे कहते हैं कि अपने नित्यानन्द का स्वाद लेकर शुभभाव जो विकार और दुःख है, उसे छोड़ और स्वरूप में लीनता कर, यह प्रत्याख्यान है। अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष स्वाद ले, वह प्रत्याख्यान है। आहाहा! ऐसी व्याख्या कभी सुनी नहीं होगी। बाहर से यह यात्रा करते हैं-गिरनार की यात्रा, सम्मेदशिखर की यात्रा, हो गया धर्म।

यहाँ कहते हैं कि वह सब परद्रव्य की ओर का लक्ष्य है, उतना सब विकार है, शुभराग है। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, धन्धे की ओर का लक्ष्य है, वह पापभाव है। देव-गुरु-धर्म के प्रति का लक्ष्य है, वह शुभभाव है परन्तु दोनों भाव, बन्ध का कारण है। आहाहा! **इस सुकृत को भी छोड़कर...** 'भी' क्यों कहा? कि अशुभ तो छोड़। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना, वह तो पाप है। वह तो छोड़ परन्तु यह सुकृत, शुभभाव, दया, दान वह भी छोड़ तो प्रत्याख्यान होगा। अब ऐसी बात! और **अद्वितीय अतुल चैतन्यमात्र... अद्वितीय अतुल चैतन्यमात्र, चिन्तामणि को स्फुटरूप से (-प्रगटरूप से) प्राप्त करता है।** आहाहा! क्या कहते हैं।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप का अनुभव करने से वह प्रगट अनुभव होता है। प्रगट है न? **(-प्रगटरूप से) प्राप्त करता है।** प्रगटरूप से आत्मा को पर्याय में प्राप्त करता है। आहाहा! राग और पुण्य और पाप के भाव जो अनादि से प्रगटरूप से करता है, वे सब तो अप्रत्याख्यान हैं। आत्मा के अन्दर में से... ओहो! **अतुल चैतन्यमात्र-चिन्तामणि को...** चैतन्यमात्र चिन्तामणि। चैतन्यमात्र क्यों कहा? कि उसमें कोई राग के विकल्प का सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसे चैतन्यमात्र भगवान चिन्तामणि को प्रगटरूप से प्राप्त करता है, उसे प्रत्याख्यान होता है। आहाहा! यह तो दो द्रव्य नहीं खाना, पाँच द्रव्य खाना,

अमुक खाना, इसलिए हो गया प्रत्याख्यान। त्याग किया, पाँच रस नहीं खाते, दो रस खाते हैं। यह तो परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! अन्तर में यह शुभभाव है, और अन्तर में यहाँ शुद्ध अमृत का सागर है। दो को भिन्न करके, फिर आत्मा के अमृत को पीकर शुभभाव को छोड़ दे। आहाहा!

पश्चात् **अद्वितीय...** उसके सामने दूसरा कोई (नहीं) अकेला **अतुल चैतन्यमात्र-चिन्तामणि को स्फुटरूप से (-प्रगटरूप से) प्राप्त करता है।** आहाहा! ऐसी बात है। सूक्ष्म... सूक्ष्म... सूक्ष्म... अरूपी भगवान है। उसे तो रंग नहीं, गन्ध नहीं, रस, स्पर्श नहीं। पुण्य-पाप के विकल्प, वह तो भिन्न तत्त्व है। ज्ञायक तत्त्व भिन्न है। नवतत्त्व में भिन्न तत्त्व है। नवतत्त्व है या नहीं? तो दया, दान, व्रत, परिणाम वह तो पुण्यतत्त्व है। हिंसा, झूठ वह पापतत्त्व है। ये दो मिलकर आस्रवतत्त्व है। भगवान आत्मा तो आस्रवतत्त्व से ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। आहाहा! नवतत्त्व की श्रद्धा करे तो भी उसे पुण्य-पाप से भिन्न आत्मा की श्रद्धा करे तो हो। आहाहा! सूक्ष्म पड़ता है। लोगों को बोझा पड़ता है। पूरी जिन्दगी उसमें निकाली। यह किया... यह किया... यह व्रत किये, यह भक्ति की, पूजा की, गजरथ चलाया, गजरथ चलाया और दस लाख खर्च किये, वह धर्म-वर्म नहीं है। गजरथ में पाँच-दस लाख खर्च किये, वह धर्म नहीं है; शुभभाव है। वह शुभभाव-सुकृत, वह स्वभाव की अपेक्षा से दुःखरूप है। आहाहा! सुनते जाए, कान सुन-सुन कर उसमें फूटे हों। यह करो.. यह करो.. गजरथ चलाओ, अमुक करो, यह करो, मुनि को आहार दो तो कल्याण होगा। यहाँ कहते हैं, परद्रव्य में जितना विकल्प जाता है, वह सब राग और दुःख है। आहार देने का जो भाव है, वह शुभभाव है। शुभभाव, वह दुःखरूप है। कौन माने? माने, न माने; सत् तो यह है।

तीन लोक के नाथ इन्द्रों और गणधरों के समक्ष यह बात करते हैं। वह बात यह है। महाविदेह में भगवान विराजते हैं, वहाँ गणधर और इन्द्र जाते हैं। अरे! नाग, बाघ, सिंह सभा में जाते हैं। प्रभु यह बात करते हैं। वह कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ से लेकर आये और दुनिया के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। मार्ग प्रभु का यह है। तुम्हें समझ में आये, न समझ में आये परन्तु बात / मार्ग यह है। आहाहा! कहो, इसमें कषाय की मन्दता कहाँ आयी? देवीलालजी! कषाय की मन्दता को दुःख कहा। आहाहा! सुकृत। लौकिक सदाचार तो और अलग।

नैतिक जीवन। परन्तु यह तो लोकोत्तर जैन में कहा हुआ व्रत, तप आदि चरणानुयोग में, व्रत, तप और भक्ति चरणानुयोग के अनुयोग में कहा हुआ। उसमें भगवान ने बतलाया है व्यवहार आता है, पूर्ण वीतराग न हो, उसे आता है परन्तु वह राग और दुःख है। आहाहा! वह है, वह दुःखरूप है, ऐसा बतलाया है। चरणानुयोग में आता है। आहाहा! कथानुयोग में आता है। कथा में अनेक प्रकार से आता है। भावना की हो तो सिंह और बाघ ने। रामचन्द्रजी को आहार-पानी देते थे। वह गिद्ध पक्षी ऊपर बैठा था। रामचन्द्रजी को पड़गाहते थे, देते थे। गिद्ध पक्षी को जातिस्मरण हो गया और वह नीचे उतर गया। पूरा शरीर बदल गया। सोने की आँख। नीचे आकर बैठ गया। सीताजी को ऐसा लगा - अरे रे! यह क्या? यह जानवर! कहते हैं सुना हुआ, यह पूर्व का राजा विरोधी था, तब यह हुआ है। आहाहा! यह जातिस्मरण हुआ। उस गिद्ध पक्षी को जातिस्मरण हुआ। जिसकी चोंच और दो पंख स्वर्ण की हो गयी, आहाहा! और भगवान रामचन्द्रजी के पास बैठा था।

आत्मा है, वह चाहे जो हो। शरीर कहाँ आत्मा है? स्त्री का शरीर, तिर्यंच का शरीर, पुरुष का शरीर, वह तो जड़-मिट्टी-धूल है, वह कहीं आत्मा नहीं है और उसकी क्रिया, वह भी आत्मा की नहीं है। आहाहा! यह हाथ चलता है, वह आत्मा से नहीं। भाषा बोली जाती है, वह आत्मा से नहीं। वह तो जड़ की क्रिया है। आहाहा! ऐसी बातें!

मुमुक्षु : जड़ की क्रिया आप करते किसलिए हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता है? जड़ की क्रिया के काल में जड़ की क्रिया होनेवाली हो, वह होती है। भाषावर्गणा में से जिस समय भाषा होनी हो, उस समय होती है। आत्मा उसे नहीं कर सकता। उसमें राग आवे, वह राग विकल्प है।

मुमुक्षु : आप बहुत जोर से फरमाते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ऐसी है। मानो, न मानो। जगत है दुनिया... आहाहा! उसे यह बात जँचना बहुत कठिन पड़ती है, क्योंकि पूरा पोषण दूसरा मिला हो, उसमें एकदम गुलांट खायी, कहते हैं... आहाहा! यह शुभभाव की क्रिया दुःखरूप है। आहाहा! ऐसा गले उतारना है। यह आत्मा के शुद्ध आनन्द के स्वाद के समक्ष शुभक्रिया दुःखरूप है। आहाहा! **(-प्रगटरूप से) प्राप्त करता है।** लो, १३१वाँ कलश हुआ।

श्लोक-१३२

(आर्या)

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेतदेव स्यात्।
निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्चनासमुद्भूतम् ।।१३२।।

(वीरछन्द)

गुरु-चरणों के अर्चन से उत्पन्न हुई निज महिमा का।
ज्ञाता हो विद्वान कहेगा कौन कि 'यह पर है मेरा'॥१३२॥

[श्लोकार्थः] गुरुचरणों के [१]सर्मचन से उत्पन्न हुई निज महिमा को जाननेवाला कौन विद्वान 'यह परद्रव्य मेरा है' ऐसा कहेगा ?॥१३२॥

श्लोक -१३२ पर प्रवचन

१३२वाँ कलश।

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेतदेव स्यात्।
निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्चनासमुद्भूतम् ।।१३२।।

यह अमृतचन्द्राचार्य का आता है न ? टीका में अमृतचन्द्राचार्य का रखा है। नीचे उसका अर्थ। **गुरुचरणों के सर्मचन से उत्पन्न हुई...** भाषा क्या है ? गुरु के **सम्यक् अर्चन; सम्यक् पूजन; सम्यक् भक्ति** से **उत्पन्न हुई...** भाषा देखो ! **गुरुचरणों के सर्मचन से उत्पन्न हुई...** एक बात। अर्थात् गुरु ने उसे वीतरागभाव से कहा—कि वीतरागभाव, वह धर्म है और शुभराग, वह धर्म नहीं है। आहाहा ! चाहे वे गुरु की सच्ची भक्ति उसने की।

गुरुचरणों के सर्मचन से... भाषा ऐसी है कि गुरु ने यह कहा। 'आत्मावलोकन' में आता है। आत्मावलोकन में आता है कि मुनि दुनिया को वीतराग.. वीतराग.. वीतराग..

---

१. समर्चन=सम्यक् अर्चन; सम्यक् पूजन; सम्यक् भक्ति।

वीतराग का उपदेश देते हैं। वीतराग का उपदेश देते हैं। वीतरागभाव का उपदेश देते हैं। वीतरागभाव का उपदेश देते हैं, राग का नहीं। आत्मावलोकन में है। बारम्बार वीतरागता... वीतरागता... रागरहितपना। समकित रागरहितपना, सम्यग्ज्ञान रागरहितपना, चारित्र रागरहितपना, तप भी रागरहितपना—ऐसे वीतरागभाव की बारम्बार बात करते हैं। आहाहा! राग से ऐसा होता है और राग से ऐसा होता है, ऐसी बात... यह गुरु से सुना, ऐसा कहा है।

इसलिए **गुरुचरणों के सर्मचन से उत्पन्न हुई निज महिमा को...** देखो! गुरु ने इसे यह बताया। आहाहा! पूजा करने पर गुरु ने बताया यह। क्या? **निज महिमा को जाननेवाला कौन विद्वान...** आहाहा! अपनी महिमा, अपना निजवैभव, आत्मा के स्वभाव की महिमा जिसे है, वह **महिमा को जाननेवाला कौन विद्वान 'यह परद्रव्य मेरा है' ऐसा कहेगा?** आहाहा! क्योंकि गुरु ने उसे ऐसा कहा कि जितने विकल्प और परद्रव्य हैं, वे तेरे नहीं हैं, वे पर हैं; अत: जिसने गुरु के चरण सेवन किये, यह गुरु से सुना, वह विद्वान कौन ऐसा है कि परद्रव्य मेरा है और उससे मुझे लाभ होगा - शुभराग से मुझे लाभ होगा, ऐसा कौन कहेगा?—ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा कि गुरु ने उसे यह कहा था। आहाहा!

निज महिमा... आयी न? **सर्मचन से उत्पन्न हुई निज महिमा...** का अर्थ यह। गुरु की सेवा से। गुरु ने उसे उपदेश किया, इसे वीतरागभाव उत्पन्न हुआ। आहाहा! है? **निज महिमा...** गुरु ने बतायी। प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं। अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय स्वच्छता, अतीन्द्रिय प्रभुता, अतीन्द्रिय कर्ता-कर्म-करण आदि अनन्त शक्तियों का सागर, वह तेरे अनन्त गुण कहने को अनन्त काल हो तो भी कहे नहीं जा सकते, इतनी सब शक्तियाँ तुझमें भरी हैं। आत्मा एक और शक्तियाँ अनन्त हैं। ऐसी निज महिमा को उन्होंने बताया। गुरु की सेवा से अर्थात् गुरु ने यह बताया, इसलिए उनसे उत्पन्न हुआ—ऐसा कहने में आया है। आहाहा!

यह तो पहले कहा कि परद्रव्य से उत्पन्न नहीं होता। यहाँ यह कहा **गुरुचरणों के सर्मचन से उत्पन्न हुई...** ठीक। है? समर्चन है न? सम्यक् अर्चन है न? बराबर पूजा, बराबर पूजन, बराबर भक्ति। तो जैसे कहा, वैसा सुना, वैसा माना तो उसने बराबर भक्ति की। अभी तो व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... निश्चयरहित व्यवहार। सम्यग्दर्शन नहीं। सम्यग्दर्शन तो यह है। राग में धर्म माने, वह तो मिथ्यात्व है। शुभराग की क्रिया में धर्म माने,

वह तो मिथ्यादृष्टि है। वह जैन है ही नहीं। वह जैन ही नहीं है। जैन तो वीतराग को वीतरागता मानता है। यह तो राग को वीतरागधर्म माने तो यह जैन भी नहीं है। आहाहा!

जगत के साथ रहना और जगत से अलग। आहाहा! मार्ग तो ऐसा है, बापू! आहाहा! यह भले आज समझे, कल समझे, बाद में समझे परन्तु समझना तो यह है। बाकी इसके बिना सब व्यर्थ है। लाखों खर्च करे, करोड़ों खर्च करे। करोड़ों के मन्दिर बनावे, बड़ी रथयात्रा निकाले। आहाहा! रथयात्रा निकाले, बड़े गजरथ दस-दस लाख खर्च करके गजरथ निकाले, वह क्रिया सब जड़ की है, वह तो पर की है। उसमें इसका भाव होवे तो वह शुभ है। वह शुभ भी दुःखरूप है। ऐसी बात है। अरे रे! कहाँ सुने? कौन सुने यह? वीतरागमार्ग ऐसा है।

मुमुक्षुः जिसे संसार (का किनारा) निकट हो, वह सुने।

पूज्य गुरुदेवश्री : जिसे संसार नजदीक है, अल्प काल में मुक्ति होनी है, उसे यह बात बैठती है। आहाहा!

णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं—यह वाणी तो जड़ है परन्तु अन्दर विकल्प उठे (कि) णमो अरिहन्ताणं, वह राग है और राग, वह दुःख है। आता है, परन्तु है दुःख। राग है, वह क्लेश है। राग, वह सुख होगा? चाहे तो शुभराग हो। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! **निज महिमा को जाननेवाला कौन विद्वान...** विद्वान उसे कहते हैं कि जो परद्रव्य को 'मेरा' नहीं मानता। राग को, शरीर को मेरा नहीं मानता। यह शरीर की क्रिया मुझसे होती है, यह बिल्कुल झूठ बात है। यह पैर चलते हैं, वह आत्मा से चलते हैं, यह बिल्कुल खोटी बात है। आहाहा! पैर-पैर जड़ है। पैर तो परमाणु मिट्टी है। उसकी पर्याय पर की क्रिया होती है, वह जड़ से होती है। आत्मा से जड़ की क्रिया होती है, यह मान्यता अजीव को जीव माना, तथा राग को धर्म माना इस पुण्य को धर्म माना। दोनों एक (समान) मिथ्यादृष्टि हैं। जैन नहीं। उन्हें जैन की खबर नहीं। आहाहा! ऐसी जिन्दगी जाती है, ऐसा कहते हैं। १३२ हुआ।

गाथा-९८

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा।
सो हं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं।।९८।।

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धैर्विवर्जित आत्मा।
सोऽहमिति चिन्तयन् तत्रैव च करोति स्थिरभावम्।।९८।।

अत्र बन्धनिर्मुक्तमात्मानं भावयेदिति भव्यस्य शिक्षणमुक्तम्। शुभाशुभमनोवाक्काय-कर्मभिः प्रकृतिप्रदेशबन्धौ स्यातां; चतुर्भिः कषायैः स्थित्यनुभागबन्धौ स्तः; एभिश्चतुर्भि-बन्धैर्निर्मुक्तः सदानिरुपाधिस्वरूपो ह्यात्मा सोऽहमिति सम्यग्ज्ञानिना निरन्तरं भावना कर्तव्येति।

जो प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश बंधविन आत्मा।
मैं हूँ वही, यों भावता ज्ञानी करे स्थिरता वहाँ॥९८॥

अन्वयार्थ : [प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैः विवर्जितः] प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धरहित [आत्मा] जो आत्मा [सः अहम्] सो मैं हूँ— [इति] ऐसा [चिंतयन्] चिन्तवन करता हुआ, (ज्ञानी) [तत्र एव च] उसी में [स्थिरभावं करोति] स्थिरभाव करता है।

टीका : यहाँ (-इस गाथा में), बन्धरहित आत्मा भाना चाहिए—ऐसी भव्य को शिक्षा दी है।

शुभाशुभ मन-वचन-काय सम्बन्धी कर्मों से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है; चार कषायों से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है; इन चार बन्धोंरहित सदा निरुपाधिस्वरूप जो आत्मा सो मैं हूँ—ऐसी सम्यक्ज्ञानी को निरन्तर भावना करनी चाहिए।

गाथा-९८ पर प्रवचन

९८ गाथा। ९८ आयी न?

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा।
सो हं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं।।९८।।

नीच हरिगीत-

जो प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश बंधविन आत्मा।
मैं हूँ वही, यों भावता ज्ञानी करे स्थिरता वहाँ॥९८॥

आहाहा। **टीका : यहाँ (-इस गाथा में), बन्धरहित आत्मा भाना चाहिए...** आत्मा बन्धरहित मानना चाहिए। आत्मा अन्दर वस्तु है। द्रव्य-वस्तु सत्ता है। त्रिकाल निरावरण अबन्ध है। बन्धरहित मानना चाहिए। आहाहा! समयसार की १४वीं गाथा में कहा है - '**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं**' समयसार की १४वीं और १५वीं गाथा। '**जो पस्सदि अप्पाणं**' जो कोई आत्मा को अबद्ध देखता है, वह जैनशासन को देखता है। आत्मा को बन्ध देखता है, वह राग और अज्ञान को देखता है। आहाहा! १४वीं और १५वीं गाथा। दर्शन-ज्ञान। '**जो पस्सदि**' ऐसा है न? '**जो पस्सदि**' कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। जो कोई जीव अपने आत्मा को अबन्ध देखे... आहाहा! बन्ध नहीं। है न यहाँ? आया न? बन्धरहित आत्मा अबन्ध है। बन्ध, बन्ध में है; आत्मा, आत्मा में है। आत्मा में बन्ध है नहीं। ओहोहो!

(-इस गाथा में), बन्धरहित आत्मा भाना चाहिए... बन्धरहित आत्मा की भावना करनी चाहिए। बन्धसहित की भावना छोड़नी चाहिए। आहाहा! और वहाँ तो स्पष्ट कहा है। जो कोई आत्मा को '**पस्सदि**' देखता है—अबन्धस्पृष्ट, वह जैनशासन को देखता है। जैनशासन में यह कहना है। समयसार की १५वीं गाथा है। जो कोई अपने आत्मा को '**पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं। अपदेससंतमज्झं**' यह क्षेत्र का कथन है। यह वीतराग की वाणी है और यह भाव है। वीतराग की वाणी में भी ऐसा कहा है कि जो आत्मा को-अबद्ध को देखता है, वह जैनशासन है। आहाहा! बात-बात में अन्तर, भाव-भाव में अन्तर लगता है।

यहाँ तो कहते हैं, बन्धरहित.. आहाहा! यह कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा है। है न?

गाथा तो उनकी है न? टीका फिर पद्मप्रभमलधारिदेव की है। '**पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेस -बंधेहिं वज्जिदो अप्पा।**' बन्ध से रहित आत्मा। आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव-धर्म की पहली शुरुआतवाला, आत्मा को अबद्ध देखता है। उसने जैनशासन देखा है। आत्मा को बन्धसहित देखे, रागसहित देखे, उसने जैनशासन नहीं देखा। आहाहा! कठिन काम है। **(-इस गाथा में), बन्धरहित आत्मा भाना चाहिए....** भावना यह करनी चाहिए। मैं तो बन्धरहित हूँ, आहाहा! त्रिकाल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्धपारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ। बन्ध-फन्द मुझमें है नहीं। आहाहा! बन्ध है, वह जाननेयोग्य है, ज्ञान करनेयोग्य है; आदरणीय नहीं। अबन्धस्वरूप, वह आदरणीय है। आहाहा! एक-एक बात में अन्तर। इसे कहाँ पहुँचना?

बन्धरहित आत्मा भाना चाहिए.... देखा? इस गाथा में आत्मा को बन्धरहित भावना करनी चाहिए। ऐसा नहीं कहा कि प्रकृति और प्रदेश से बन्ध है। स्थिति से, कषाय से स्थिति है, ऐसे इसे आत्मा को मानना चाहिए—ऐसा नहीं कहा। वह पर्याय में है। वस्तु में बन्ध नहीं है; इसलिए वस्तु की भावना करनी हो, उसे बन्धरहित भावना करना चाहिए। है? आहाहा! आत्मा को भाना। भाना अर्थात् भावना करनी, भावना करनी। आहाहा! आत्मा को भान बनाना। भान बनाना अर्थात् अन्दर उसमें माल है, उसकी भावना करना। पुण्य की, दया की, दान, व्रत, भक्ति की भावना नहीं। ऐसा कठिन।

ऐसी भव्य को शिक्षा दी है। यह जो भव्य प्राणी है, योग्य है, उसे यह शिक्षा दी है। न समझे, अभव्य जीव हो, उसकी बात कहाँ है?

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

नियमसार, ९८ गाथा, इसकी टीका। टीका की एक-दो लाईन तो आ गयी है। **शुभाशुभ मन-वचन-काय सम्बन्धी...** मन-वचन और काया के सम्बन्ध से जितने शुभाशुभ योग हो। कम्पन-योग हो, उसे यहाँ कर्म कहा जाता है। कर्म अर्थात् कार्य। उससे **प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है;...** आत्मा में मन-वचन और काया, वह तो जड़-पर है और उनके सम्बन्ध में जो योग का कम्पन होता है, वह प्रकृति और प्रदेशबन्ध का कारण है। आगे कहेंगे कि इसलिए वह हेय है और **चार कषायों से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है;...** चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ। राग के दो प्रकार : माया और लोभ। द्वेष के दो प्रकार : क्रोध और मान। लोभ है, वह राग है। चाहे तो प्रशस्तराग हो या अप्रशस्त। देव-गुरु-शास्त्र सम्बन्धी का राग हो या स्त्री, कुटुम्ब सम्बन्धी का राग हो, वह अशुभ है और यह (देवादि का) शुभ है। ये दोनों कर्म की स्थिति और अनुभाग का कारण है। आहाहा! है ?

चार कषायों से... शुभ हो या अशुभ हो, उससे कर्म में **स्थितिबन्ध...** पड़ता है **और अनुभागबन्ध होता है; इन चार बन्धोंरहित...** आत्मा चार बन्धों से रहित है। जो उसका द्रव्यस्वरूप, जो तत्त्व सत्ता है, उसका त्रिकाली तत्त्व अस्तित्व जो है, वह तो अबन्ध है। द्रव्यस्वभाव जो त्रिकाली सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द आदि अनन्त गुणसम्पन्न जो द्रव्य की सत्ता का अस्तित्व है, वह द्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध और निरावरण है। वह बन्धरहित है। वस्तु है, वह बन्धरहित है और सम्यग्दर्शन का विषय भी बन्धरहित है। आहाहा!

'**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं**' जो कोई इस आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखता है, बन्धन से कोई प्रकृति और स्थिति अनुभाग, या... से प्रकृति और प्रदेश कोई भी बन्ध उस स्वरूप में नहीं है। ऐसा इसका त्रिकाली ज्ञायक अबन्धस्वरूप जो देखता है, उसने जैनशासन को देखा। आहाहा! साथ में राग और कषाय... राग कहो या कषाय कहो, राग का भाग माया और लोभ। द्वेष का क्रोध और मान। इस कषाय से स्थिति और रस पड़ता है। वह कषाय चाहे तो शुभ हो या अशुभ हो, परन्तु इस बन्ध से तो रहित आत्मा है। द्रव्यबन्ध से तो रहित है। द्रव्यबन्ध अर्थात् आठ कर्म की प्रकृति जड़, अचेतन से तो प्रभु

अन्दर अबद्ध है। उस अजीव के सम्बन्ध में आया भी नहीं। उसकी पर्याय में जो स्थिति -अनुभाग पड़ता है, वह कषाय होती है। शुभ या अशुभराग, वह भी भावबन्ध है। उस भावबन्ध से भी अबन्धस्वरूप भिन्न है। ऐसी बातें हैं।

इस अबद्धस्वरूप को जो देखता है अर्थात् श्रद्धा करता है अर्थात् उसे जानकर मानता है, उसने जैनशासन में जो कहना था, वह माना है। यह जैनशासन वह है। '**पस्सदि जिणसासणं सव्वं**' आहाहा! **इन चार बन्धोंरहित सदा...** सदा शब्द से (आशय) तीनों काल। किसी समय निगोद में भी बन्धवाला द्रव्य था, ऐसा नहीं है। यह सम्यग्दर्शन का विषय जो द्रव्य है, वह तो त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप है। आहाहा! उसे तो बन्ध की स्थिति और रस उसमें कुछ है ही नहीं। उसे दया, दान और तीर्थंकर गोत्र का जो भाव है, वह बन्ध। वह भाव, भावबन्ध है; वह भी अबन्धस्वरूप में नहीं है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है, भाई!

इन चार बन्धोंरहित सदा... सदा क्यों रखा है? त्रिकाल। मुक्त होवे, तब निरुपाधिस्वरूप है-ऐसा नहीं है। यह मुक्त होवे तब तो पर्याय में निरुपाधिस्वरूप है। यह तो द्रव्यस्वरूप जो है, वह त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप है। निरुपाधिस्वरूप है, तो पर्याय में-अवस्था में निरुपाधिस्वरूप प्रगट होता है। यह प्राप्त की प्राप्ति है। है, वह मिलता है। है, वह प्रगट होता है। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा। यह भगवान आत्मा, हों! भगवान हो गये, वे नहीं। अबद्धस्वरूप है। सदा ही-तीनों काल अबद्धस्वरूप है। निगोद में हो या तीर्थंकरप्रकृति के उदय में हो, परन्तु उदय तो उन्हें तेरहवें गुणस्थान में आता है। बन्ध में हो, तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध में हो, परन्तु वह वस्तु तो त्रिकाल अबद्ध है। आहाहा!

षोड्शकारणभावना से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, उस भावबन्ध से रहित वस्तु है। बँधती है, वह तीर्थंकरप्रकृति जड़ है, परन्तु वह जिस भाव से निमित्त बँधती है, वह भाव भी अचेतन है। उससे सदा भिन्न है। आहाहा! अब लोगों को यहाँ तक जाना। सूक्ष्म बात है, भाई! परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की आज्ञा का स्वरूप है, वह कोई अलौकिक है। ऐसा सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं नहीं है। कहीं नहीं है। बहुत निषेध करने जाएँ तो क्या हो? बाकी अस्तिरूप तो इस एक में ही यह है। आहाहा!

सदा निरुपाधिस्वरूप जो आत्मा... अब सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा विचार करता है कि इस बन्ध से सदारहित **निरुपाधिस्वरूप जो आत्मा, सो मैं हूँ...** आहाहा! है? उपाधि है न?

है, वह व्यवहार में जाती है। वस्तु में नहीं है। वस्तु त्रिकाल निरावरण है। अखण्ड एक अविनश्वर... आहाहा! प्रत्यक्षप्रतिभासमय वस्तु पड़ी है। परमपारिणामिक शुद्ध तत्त्वभाव निज द्रव्य, वह सदा निरुपाधिस्वरूप है। आहाहा! यह बात जँचे किस प्रकार? दर्शनशुद्धि की बात पहले है। चारित्र तो बाद में। चारित्र तो चरना। परन्तु किसमें चरना? जो चीज़ ही देखी नहीं, जो चीज़ जानने में आयी नहीं, उस चीज़ में रमना किस प्रकार? रमना, वह चारित्र है परन्तु चीज़ क्या है, वह दृष्टि में आयी नहीं, तो वस्तु ऐसी है कि सदा निरुपराधिस्वरूप है। आहाहा!

वह **आत्मा, सो मैं हूँ...** आहाहा! यह आत्मा, वह मैं हूँ। **ऐसी सम्यक्ज्ञानी को...** सम्यग्ज्ञानी को चौथे गुणस्थान से। और कितने ही सम्यग्ज्ञान चौथे गुणस्थान में नहीं और सातवें (गुणस्थान) में कहते हैं। दृष्टि बदल गयी, वहाँ सम्यग्ज्ञान हुआ। वहाँ **सम्यक्ज्ञानी को निरन्तर भावना करनी चाहिए।** आहाहा! बीच में भक्ति का, पूजा का राग आता है परन्तु उसकी भावना नहीं करना। उसे जानकर हेय जानना और भावना इसकी (स्वभाव की) करना। सम्यग्ज्ञानी को, सच्चे ज्ञानी को निरन्तर—अन्तर पड़े बिना सदा निरुपाधिस्वरूप भगवान आत्मा की भावना - एकाग्रता करनी चाहिए। आहाहा! ऐसा मार्ग है। इसे कहाँ जाना।

त्रिकाली निरुपाधिस्वरूप भगवान, जिसे स्थिति-रस का भाव ही नहीं। जिसमें विकल्प भाव तीर्थंकरगोत्र बँधे ऐसा भाव, वह भाव भावबन्ध है, उससे भी रहित वह निरुपाधिस्वरूप है। आहाहा! ऐसा सदा निरुपाधिस्वरूप भगवान आत्मा, उसे धर्मी जीव को, सम्यग्ज्ञानी जीव को यह **निरन्तर भावना करनी चाहिए।** कि यह निरुपाधिस्वरूप है, वह मैं हूँ। उपाधि, रागादि आते हैं, वह मैं नहीं। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का राग आता है, उसे कथनमात्र-कहनेमात्र कहने में आता है। यह वस्तु मैं नहीं हूँ। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, पंच महाव्रत का राग, वह मैं नहीं हूँ। **ऐसी सम्यक्ज्ञानी को निरन्तर भावना करनी चाहिए।** आहाहा!

सवेरे वह आया था। षट्कारक में भेद और नित्य-अनित्य धर्म के भेद और ज्ञान -दर्शन आदि गुण में भेद। यह अर्थकार-टीकाकार राजमल कहते हैं, वह तो कथनमात्र -वचनमात्र है। वस्तु में कोई वह भेद है नहीं। व्यवहारनय को सातवीं गाथा में कथनमात्र

कहा था न ? इसी प्रकार यहाँ कथनमात्र कहा है। आहाहा ! वह तो कथनमात्र भेद है। वस्तु तो अखण्ड आनन्द प्रभु, षट्कारक के भेद विकार से तो भिन्न; धर्म जो कहलाता है अस्तित्वपना, उससे तो भिन्न परन्तु निर्मल पर्याय के षट्कारक, निर्मल वीतरागी धर्म की दशा, वह निर्मल कर्ता-कर्म आदि जो पर्याय है, उससे भी प्रभु तो भिन्न है। आहाहा ! क्योंकि द्रव्यस्वभाव सम्यग्दर्शन का जो विषय है, उसमें सम्यग्दर्शन पर्याय विषय में नहीं है। सम्यग्दर्शन की पर्याय भी सम्यग्दर्शन के विषय में नहीं है। आहाहा ! ऐसा कठिन पड़ता है। क्या हो ? अनादि से जो दूसरे मार्ग में चढ़ जाये। अनादि से दूसरे मार्ग में चढ़ गया। मार्ग पड़ा रहा। वीतराग पन्थ जो है, वह पड़ा रहा। वीतरागभाव से अन्दर में जाया जाता है, वह पन्थ पड़ा रहा। राग, पुण्य, दया, दान, व्रत, भक्ति ऐसे भाव से यह होगा, ऐसा मानकर वहाँ रुक गया। आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं **सदा निरुपाधिस्वरूप जो आत्मा...** वही आत्मा, ऐसा। वह आत्मा ही यह है। बाकी उपाधि, आदि, राग-द्वेष और पुण्यतत्त्व, भावतत्त्व भिन्न तत्त्व है। आहाहा ! वह **आत्मा सो मैं हूँ...** आहाहा ! **ऐसी...** धर्मी। धर्म की शुरुआत करनेवाले को **सम्यक्ज्ञानी को...** धर्मी जीव कहो या सम्यग्ज्ञानी कहो। ऐसा नहीं की सम्यग्ज्ञान अर्थात् कोई चीज़ ऊँचा सम्यग्ज्ञानी अर्थात् सातवें, आठवें गुणस्थान में ऊँचा। धर्म चौथे से होता है और सम्यग्ज्ञान सातवें में हो, ऐसा नहीं है। धर्म और सम्यग्ज्ञान सब एक ही समय में वहाँ चौथे गुणस्थान में है। आहाहा ! **ऐसी सम्यक्ज्ञानी को निरन्तर भावना करनी चाहिए।** भावना का अर्थ विकल्प नहीं है। भावना का अर्थ किया न, वह श्रावक का आता है न ?

प्रवचनसार में जयसेनाचार्य की टीका में श्रावक-समकिती सामायिक करे, तब उसे शुद्धोपयोग आ जाता है। वह शुद्धोपयोग आवे, तब उसे अल्प शुद्धोपयोग की भावना, ऐसा शब्द पड़ा है। भावना शब्द से विकल्प और चिन्ता नहीं। शुद्धोपयोग की एकाग्रता आ जाती है, तो सामायिक में गृहस्थ को दो कषाय का अभाव तो निरन्तर वर्तता है। आहाहा ! सम्यग्दर्शन और जिसे सच्चा श्रावक कहते हैं, उसे दो कषाय (चौकड़ी) का तो निरन्तर अभाव वर्तता है और इसलिए तो उसमें उसे... आहाहा ! निरन्तर एकाग्रता तो इतनी वर्तती ही है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अंश वहाँ निर्मल शुद्ध निरुपाधि पदार्थ में वर्तता है। ऐसा नहीं कि यह सब सातवें गुणस्थान में होता है और अमुक होता है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं।

श्लोक-१३३

[अब इस ९८ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

प्रेक्षावद्भि: सहज-परमानन्द-चिद्रूप-मेकं,
सङ्ग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूलम् ।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे मद्वच:सारमस्मिन्,
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे ।।१३३।।

(वीरछन्द)

बुद्धिमान द्वारा है निरुपम परमानन्द सहज चिद्रूप।
मात्र एक संग्राह्य यही जो महामुक्ति साम्राज्य सुमूल॥
इसलिए हे मित्र! सुनो तुम मेरे इन वचनों का सार।
इस चैतन्य चमत्कार प्रति शीघ्र उग्र निज वृत्ति धार॥१३३॥

[श्लोकार्थ:] जो मुक्तिसाम्राज्य का मूल है, ऐसे इस निरुपम, सहजपरमानन्दवाले चिद्रूप को (-चैतन्य के स्वरूप को) एक को बुद्धिमान पुरुषों को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है; इसलिए, मित्र! तू भी मेरे उपदेश के सार को सुनकर, तुरन्त ही उग्ररूप से इस चैतन्यचमत्कारमात्र के प्रति अपनी वृत्ति कर॥१३३॥

श्लोक -१३३ पर प्रवचन

[अब इस ९८ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

प्रेक्षावद्भि: सहज-परमानन्द-चिद्रूप-मेकं,
सङ्ग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूलम् ।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे मद्वच:सारमस्मिन्,
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे ।।१३३।।

आहाहा! यह '**सखे**' के लिये देखा, भाई! इसमें '**सखे**' शब्द आया है न? इसके लिये भावपाहुड़ में कुन्दकुन्दाचार्य ने भाषा में हे महाजस! हे महामुनिवर! ऐसी भाषा में है। आहाहा! बापू! पूर्व में द्रव्यलिंग धारण करके, दिगम्बर साधु हुआ, द्रव्यलिंग अट्ठाईस मूलगुण पालन किये, परन्तु फिर मरकर चार गति में भटका, बापू! वह द्रव्यलिंग धारण किया, पश्चात् जन्म-मरण किये बिना एक जगह खाली नहीं रखी। इतनी बार तो साधुपने के द्रव्यलिंग धारण किये हैं। आहाहा! अष्टपाहुड़, भावपाहुड़ में है। हे महाजस! ऐसा शब्द पड़ा है। हे मुनिवर! हे महाजस! आहाहा! हे मित्र! वह यहाँ आता है। उसमें भी मित्र आता है। कुन्दकुन्दाचार्य के तो यह सब पथानुगामी। आहाहा!

[श्लोकार्थः] जो मुक्तिसाम्राज्य का मूल है... यहाँ है और वह आया न? '**तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे मद्वचःसारमस्मिन्, श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे।**' आहाहा! **जो मुक्तिसाम्राज्य का मूल है..** मोक्षरूपी मार्ग साम्राज्य... आहाहा! **ऐसे इस निरुपम, सहजपरमानन्दवाले चिद्रूप...** निरुपम—उपमारहित भगवान। जिसे उपमा नहीं, ऐसा परमात्मतत्त्व अन्दर पड़ा है। जो परमात्मा हुए, वे सब परमात्मशक्ति थी, उसमें से हुए हैं। अन्दर में प्राप्त की प्राप्ति है। थी, उसमें से आयी। आहाहा! परमात्मपद कहीं बाहर से नहीं आता। स्वयं पाँचों पदस्वरूप है। भगवान आत्मा देह से भिन्न, राग से भिन्न, पाँच पदस्वरूप प्रभु है। आहाहा! है, उसमें से आकर बाहर आता है। आहाहा! ऐसी बातें।

यहाँ यह कहते हैं **मुक्तिसाम्राज्य का मूल...** मुक्तिरूपी बड़ा राज। आहाहा! साम्राज्य कहा यह नहीं? एक बार वाँकानेर गये थे न? वांकानेर के दरबार, उनकी रानी होशियार है न? उस दिन आ नहीं सके। बहुत वर्ष हुए। बाहर जंगल में गये थे। उन्हें खबर पड़ी कि महाराज हमारे बँगले के पास जंगल में-दिशा को आते हैं। हमारे दर्शन करना है, मैं आ सकूँ ऐसा नहीं है। बड़ा... कुछ था। उनके व्यक्ति के साथ कहलवाया। महाराज यहाँ आते हैं तो हमारे बँगले में दर्शन देने आवें, ऐसी हमारी भावना है। हम गये, फिर रानी ने बगल में ठेठ वहाँ तक किया, क्या कहलाता है? रंगोली। रंगोली की थी। दरबार बाहर आकर खड़े थे। अन्दर आकर बैठे, दस मिनिट बात की। कहा - यह राज नहीं। राज तो आत्मा का साम्राज्य यह तो अन्तर के गुण के धनी का साम्राज्य है, कहा। यह साम्राज्य आया न?

कहा यह राज नहीं, दरबार! रानी होशियार थी। बहुत करोड़ रुपये इकट्ठे किये। व्यापार-धन्धा वह करती थी। यह साम्राज्य नहीं, यह राज नहीं। करोड़ों की आमदनी हो या अरबों की आमदनी हो, वह भी राज नहीं। साम्राज्य तो यहाँ है। अनन्त गुण का धनी प्रभु अन्दर, वह साम्राज्य अन्दर बड़ा बादशाह विराजता है। उसे पहिचानो और उसे मानो, वह साम्राज्य है। वे बेचारे हाँ करे, बेचारे। क्या करे? हमारे पास कहाँ कुछ लेना-देना? दरबार हो या गरीब व्यक्ति हो। बेचारा सुनता था। दस मिनिट बैठे। सवेरे की बात थी। व्याख्यान से पहले। एक हजार रुपये रखे। दस मिनिट बात सुनी। एक हजार ज्ञान खाते में दिये। अपने डाला है। नहीं? इनने एक जगह डाला है।

कहा, यह साम्राज्य नहीं। बड़ा वाँकानेर का राजा है और उसके हम राजा हैं, जामनगर, हों! वाँकानेर नहीं। जामनगर। जामनगर के दिग्विजय और रानी। वह यह साम्राज्य नहीं, भाई! यह तो नाशवान वस्तु है। यह साथ नहीं आयेगी और यहाँ भी तेरी नहीं है। साम्राज्य तो यहाँ अन्दर है, अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, वह साम्राज्य है। सुनते थे, प्रेम से सुनते थे। उन्हें खबर है कि मुझे कहाँ कुछ दरकार है? बादशाह हो या गरीब हो। यहाँ कहाँ चन्दा-बन्दा कराना है तो मक्खन लगाये। यहाँ मक्खन-बक्खन तो है नहीं। बेचारे ने दस मिनिट सुना। हुकम किया कि ज्ञान खाते में हजार रुपये दो, ज्ञानखाते में। यह साम्राज्य। उसका बादशाह हो आत्मा... आहाहा!

जो मुक्तिसाम्राज्य का मूल है, ऐसे इस निरुपम,... आहाहा! जिसे कोई उपमा नहीं। उसकी उपमा उसे है। आहाहा! **सहजपरमानन्दवाले चिद्रूप को...** स्वभाविक परमानन्दरूपी चिद्रूप अर्थात् आत्मा। यह **सहजपरमानन्दवाले चिद्रूप को (-चैतन्य के स्वरूप को) एक को बुद्धिमान पुरुषों...** आहाहा! हे चतुर! दुनिया के चतुर तो दुनिया में भटकनेवाले हैं। दुनिया के चतुर सब करोड़पति, अरबोंपति हो जाये। बातें करने बैठे ऐसे मानो... ओहोहो! देव के पुत्र उतरे मानो। सब सुने तो आहाहा! यह तो अरबपति व्यक्ति है। यह बोले तो मानो... यह दुनिया का चतुर! यह संसार के चतुर संसार में गहरे भटकने जानेवाले हैं। यहाँ कहीं हमारे पास दूसरा कुछ नहीं मिलता। मक्खन नहीं मिलता। यह वस्तु है। जँचे, उसे जँचाओ।

यहाँ तो आचार्य स्वयं मुनिराज ऐसा कहते हैं। आहाहा! **एक को बुद्धिमान पुरुषों**

को... देखा ? है न ? आहाहा ! '**प्रेक्षावद्भिः**' यहाँ से निकाला न ! **एक को बुद्धिमान पुरुषों को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है;...** आहाहा ! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु ! सब भगवान है। देहरहित, रागरहित सब आत्मा प्रभु है, उस भगवान प्रभु को भज। आहाहा ! दूसरा सब व्यवहार-फ्यवहार एक ओर रख दे, कहते हैं। आहाहा ! वही **बुद्धिमान पुरुषों को सम्यक् प्रकार से...** सम्यक् प्रकार से क्यों कहा ? कि जान लिया, जानने में आया, वह नहीं। अन्दर में एकाग्र कर, वह चतुर पुरुष ने जाना कहलाता है। शास्त्र का जानपना करके बात ख्याल में आयी, ऐसी बात तो ग्यारह अंग पढ़ गया है। आहाहा ! ग्यारह अंग में यह बात आयी थी। वह तो अनन्त बार बन गया है, बापू ! प्रभु ! तू अन्दर में गया नहीं। जहाँ तू है, वहाँ गया नहीं। जहाँ तू नहीं, वहाँ तूने क्रीड़ा की है। अनादि की पर्याय में, पुण्य-पाप और दया, दान विकल्पभाव में क्रीड़ा की है। आहाहा !

उसमें आता है न ? वहाँ आया था। वह 'राणपुर' नहीं ? राणा ! खेल छोड़ शत्रु आया किनारे। राणपुर है न ? उस ओर मन्दिर के किनारे गाँव है। राणा ! खेल छोड़, वह खेल करता था। बाजी खेलता था। उसमें उसके ऊपर राजा ने सेना लेकर चढ़ाई की। उसमें एक बारोठ आया। राणा ! राजपूत ! यह खेल रख, वह सेना किनारे आयी। गाँव का नाम 'किनारो' गाँव का नाम किनारो। राणपुर के साथ में है। नदी के किनारे। यह खेल छोड़ चतुर ! इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, हे चतुर ! आहाहा ! यह तेरे राग के खेल छोड़, प्रभु ! आहाहा ! वापस मित्र कहते हैं, हों ! आहाहा !

कुन्दकुन्दाचार्य तो भावपाहुड़ में द्रव्यलिंगियों को भी हे महाजस ! हे महामुनि ! तू यह द्रव्यलिंगी में पड़ा है, वह भी भाव में नहीं आयेगा तो भटक मरेगा। आहाहा ! बोले महाजस। महाजस बाहर आया। इतना दिगम्बर नग्नपना, अट्ठाईस मूलगुण लिये, अट्ठाईस मूलगुण निर्दोष, हों ! उनके लिये बनाया हुआ आहार-पानी प्राण जाए तो भी नहीं लेते, इसका नाम द्रव्यलिंग कहा जाता है। उनके लिये बनाया हुआ आहार-पानी चावल या एक बूँद भी नहीं लेते। आहाहा ! यह कहते हैं हे महाजस ! वह इतने द्रव्यलिंग धारण किये, प्रभु ! तूने द्रव्यलिंग, पश्चात् जन्म-मरण किये बिना यह जमीन खाली नहीं रखी। आहाहा !

द्रव्यलिंगपना, जैन का दिगम्बर साधु, नग्न, अट्ठाईस मूलगुण, यह तो अनन्त बार लिये हैं, बापू ! यह कोई वस्तु नहीं है। आहाहा ! अन्दर आत्मा आनन्दमूर्ति निरुपाधिस्वरूप

का अनुभव सम्यग्दर्शन और ज्ञान-अनुभव, वह मार्ग है। आहाहा! ऐसे तो बहुत दोहे किये हैं। वह देखता था। यह मित्र है न? वहाँ कितने शब्द प्रयोग किये हैं? यह थोड़े पृष्ठ बाकी रह गये। वहाँ उसे हे मित्र! ऐसा भी कहा है। साधु को कुन्दकुन्दाचार्य ने हे मित्र! यह द्रव्यलिंग से तुझे कुछ नहीं होगा। आहाहा! इस राग के क्लेश में दुःखी होगा। अन्दर जिनभावना भा। ऐसा भावपाहुड़ में पाठ है। जिनभावना का अर्थ वीतरागी भावना भा। राग की भावना, द्रव्यलिंग की भावना तो राग की है। पंच महाव्रत और पाँच समिति और गुप्ति, अट्ठाईस मूलगुण व्यवहार, यह तो सब राग की भावना है। यह नहीं। जिनभावना भा। ऐसा भावपाहुड़ में है। अष्टपाहुड़ में है। आहाहा!

प्रभु! वीतरागस्वरूप है। उस वीतरागस्वरूप की वीतराग भावना भा। उससे वीतरागता प्रगट होगी। ये तीनों वीतरागता। कौन तीनों? एक तो वस्तु स्वयं निरुपाधि वीतरागस्वरूप; उसकी भावना वीतरागभाव से भायी जाती है। राग से नहीं। उसके फल में वीतराग, वह केवलज्ञान प्रगट होता है, वह वीतराग प्रगट होता है। आहाहा! ऐसा है। नये लोगों को कठिन लगता है। कभी सुना नहीं हो, उसे ऐसा कि यह क्या होगा? यह नया निकाला होगा? यह कहाँ नयी पुस्तक है? यह तो हजारों वर्ष पहले की है। दो हजार वर्ष पहले की कुन्दकुन्दाचार्य की बनायी हुई है। सोनगढ़ की नहीं। कोई ऐसा कहे कि सोनगढ़वाले ऐसा लिखते हैं। यह किसका है? यह तो कुन्दकुन्दाचार्य का है। पश्चात् पद्मप्रभमलधारिदेव ने टीका की है। वे मुनिराज हैं, सच्चे भावलिंगी हैं। अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करनेवाले हैं, अभी वैमानिक में हैं। यह पद्मप्रभमलधारिदेव, कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्यदेव सब वैमानिक में हैं। पुरुष देवरूप से हैं। वहाँ से निकलकर मोक्ष जानेवाले हैं। आहाहा!

दिगम्बर सन्तों की बलिहारी है, बापू! उनकी दशा, उनकी बात, उनकी कथनशैली दुनिया में शोधने से मिलती नहीं। दूसरों को दुःख लगे, यह बात नहीं प्रभु, हों! ऐसा कहे तब हमारा खोटा? ऐसा रहने दे, प्रभु! यह सच्चा है, यह समझ ले। आहाहा! और वह भी प्रभु! तू भगवान होनेवाला है न? तुझे भगवान होने की बात करते हैं न, प्रभु! आहाहा! तू भगवानस्वरूप है न, प्रभु! तेरा स्वरूप ही वीतराग भगवान परमेश्वरस्वरूप है। समयसार की ३८ गाथा में नहीं आता? अपने परमेश्वर को भूल गया। समयसार की ३८वीं गाथा।

अपने परमेश्वर को भूल गया और पर परमेश्वर की लगायी, भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... लाख बार, करोड़ बार भगवान... भगवान... कर न, वह तो सब राग है। आहाहा! वह जैनधर्म नहीं है। गजब बात है। छोटाभाई! ऐसा कहना था सभा में। आहाहा! भाई कहाँ के हैं? बड़े भाई बैठे हैं वे?

मुमुक्षु : कोलकर रतिभाई के भाई हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा, हाँ! रतिभाई के भाई? प्रेम है। प्रेम से सुनते हैं। सुनते हैं प्रेम से। मार्ग ऐसा है, बापू! मार्ग ऐसी चीज़ है। प्रेम से सुनते हैं। मार्ग ऐसा है, भगवान! आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा!

क्या कहा? यह मुक्ति साम्राज्य का मूल प्रभु आत्मा **ऐसे इस निरुपम, सहजपरमानन्दवाले चिद्रूप को (-चैतन्य के स्वरूप को) एक को बुद्धिमान पुरुषों को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है;...** आहाहा! अनुभव करना योग्य है। **सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है;...** आहाहा! अकेली बातों में नहीं रखना, ऐसा कहते हैं। अकेले जानपने के भाव की धारणा में न रखना। ऐई! ऐसा मार्ग है, प्रभु! आहाहा! मार्ग ऐसा धन्य भाग्य को बापू! यह बात कान पड़ती है, वह धन्य भाग्य है। ऐसी यह बात है, बापू! आहाहा! कहते हैं, सम्यक् प्रकार से अनुभव करना। जैसा है, उस प्रकार से उसे अनुभव करना। यह तो अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ है, राग से रहित है, वीतरागमूर्ति है, चैतन्य का दल है, आनन्द का सागर है, शक्ति का समूह है, यह अनन्त गुण का गोदाम है। आहाहा! ऐसे एक को ही। आया? एक को, कहा न?

एक को बुद्धिमान पुरुषों को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है; इसलिए, हे मित्र!... आहाहा! यह मुनिराज मित्ररूप से बुलाते हैं। आत्मारूप से है, भगवान आत्मा है न? अन्दर आत्मा है न? आत्मा मित्र है। बाहर की उपाधि भले हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। अन्दर आत्मा जो है, वह मित्र है, साधर्मी है। द्रव्यरूप से जीव को सभी जीव साधर्मी हैं। आहाहा! भगवानस्वरूप तुम हो न, प्रभु! और मैं भी भगवान होने के लिये और तुम भी भगवान होओ। आहाहा! शास्त्र में ऐसी भावना है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

हे मित्र!... आहाहा! ले ठीक। इस आत्मा को मित्ररूप से सब-आत्मा को कहते हैं। अन्दर आत्मा भगवान है न। ऊपर का व्यामोह... ऊपर की इस शरीर की रूपवान त्वचा

और चमड़ी को देखकर व्यामोह हो जाता है, उसे छोड़ दे, प्रभु! आहाहा! बाहर के राग के प्रेम में, शुभभाव के प्रेम में जुड़ गया है, प्रभु! छोड़ दे। आहाहा! **हे मित्र!...** आहाहा! गजब बात की है। कुन्दकुन्दाचार्य भी कहते हैं, हे महाजस! हे मुनिवर! आहाहा! तूने अनन्त बार द्रव्यलिंग धारण किये, तेरी माता ने रो-रो कर आँसुओं के समुद्र भरे, इतनी बार तूने द्रव्यलिंग धारण किया। अनन्त बार दिगम्बर जैन मुनि हुआ, परन्तु आत्मज्ञान बिना, अंकरहित शून्य हुआ। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अस्तिरूप से तो वस्तु ऐसी है।

हे मित्र! तू भी मेरे उपदेश के सार को सुनकर,... आहाहा! क्या मीठी-मधुर भाषा है! **हे मित्र!** साधु मित्र बोलते हैं। आहाहा! हे मित्र! हे प्रभु! आहाहा! **तू भी मेरे उपदेश के सार को सुनकर,...** आहाहा! **तुरन्त ही उग्ररूप से...** तुरन्त ही उग्ररूप से। आहाहा! वायदा नहीं करना, प्रभु! अभी नहीं, बाद में करूँगा... बाद में करूँगा... बाद में करूँगा... लड़के को व्यवस्थित करूँ, लड़की को व्यवस्थित करूँ। बड़ा व्यापार-धन्धा होवे तो समेटने में देरी लगे, यह रहने दे, बापू! आहाहा! उग्ररूप से—एकदम—शीघ्र। है?

तुरन्त ही उग्ररूप से इस चैतन्यचमत्कारमात्र के प्रति अपनी वृत्ति कर। आहाहा! बाह्य के संयोग और राग से लेकर सभी चीजें, उनका लक्ष्य छोड़ दे और इस (स्वभाव) पर वृत्ति कर। तेरी वृत्ति सर्वत्र बाहर में है, प्रभु! व्यवहार में, राग में, निमित्त के संयोगों में तू वहाँ झुक गया है। आहाहा! जो तुझमें नहीं है, तुझे लाभदायक नहीं है, उसमें तू झुक गया है। अब ऐसा झुकाव कर, प्रभु! आहाहा! ऐसी बात है। मुनिराज मित्ररूप से कहते हैं। यह कुन्दकुन्दाचार्य के पथानुगामी सब... सब.. टीका अमृतचन्द्राचार्य को अनुसरण कर की है, कितनी ही कुन्दकुन्दाचार्य को अनुसरकर ली है। आहाहा! मुनि कुन्दकुन्दाचार्य के अनुयायी थे। आहाहा!

उग्र पुरुषार्थ द्वारा **इस चैतन्यचमत्कारमात्र...** यह चैतन्यचमत्कारमात्र वस्तु है। उसमें पुण्य और पाप, दया और दान व्रत, और भक्ति, ऐसे विकल्प-राग-विकार उसमें है नहीं। वह तो वीतराग की मूर्ति है, प्रभु! वीतरागमूर्ति न हो तो वीतरागमूर्तिपना आयेगा कहाँ से? आहाहा! और तेरी सत्ता है, तू अस्तिवाला तत्त्व है। अस्तिवाले तत्त्व में स्वभाव है या नहीं? और स्वभाव है तो उसकी हद है या नहीं? तेरा बेहद स्वभाव है, प्रभु! ऐसे बेहद

स्वभाव की ओर वृत्ति कर। आहाहा! यह परिमित और हदवाली चीज़ रागादि का तूने झुकाव किया, उसमें तुझे क्या फलित हुआ? संसार फलित हुआ। आहाहा!

भगवान आत्मा निरुपम है। है? **उपदेश के सार को सुनकर, तुरन्त ही...** तुरन्त ही। वायदा नहीं। जिसकी रुचि होती है, उसकी रुचि अनुयायी वीर्य। रुचि अनुयायी वीर्य। जहाँ रुचि होती है, उसके स्थान में पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। आहाहा! ऐसा है। उपदेश किस प्रकार का? वह तो ऐसा समझाये कि रामचन्द्रजी ऐसे थे। दान देते हुए एक गिद्ध पक्षी खड़ा था, गिद्ध पक्षी देख रहा था, वहाँ जातिस्मरण हो गया और गिद्ध पक्षी वहाँ सीताजी के निकट आया। सीताजी वहाँ भागीं.... हो गया। और एकदम जातिस्मरण हुआ। अब ऐसी बात। अब कैसे हुआ, बापू! उसे—गिद्ध पक्षी को सम्यक्त्व ग्रहण कराया था। आहाहा! रामचन्द्रजी ने साथ में रखा था। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, हे मित्र! इस चैतन्यचमत्कारमात्र के प्रति। चैतन्यचमत्कारमात्र क्यों कहा? यह चमत्कार है। राग में आये बिना राग का ज्ञान अपने में अपने द्वारा करे, ऐसा चैतन्यचमत्कार है। यह सवेरे आ गया। देखते को देखता है, देखते द्वारा देखता है। आहाहा! पर द्वारा नहीं। आहाहा! यह चेतनास्वभाव और दर्शनस्वभाव में आ गया। चेतन आ गया, दर्शन में आ गया। देखते के हुए के द्वारा देखता है, देखते को देखता है, पर को नहीं। आहाहा! ऐसी कठिन बात है। बहुत समय सुने, परिचय करे तो धीरे-धीरे बैठे—ऐसी बात है। यह केवलदोम बात है। फेरफार बात है न? इसलिए **चैतन्यचमत्कारमात्र...** यह चमत्कार है चैतन्य तो, आहाहा! वह स्वयं स्वयं से देखता है और जानता है। अपने को जानता है, पर को नहीं। आहाहा! ऐसी वह चैतन्यचमत्कार वस्तु है। अपने में रहकर पर को स्पर्श किये बिना परसम्बन्धी का ज्ञान अपने द्वारा अपने से, अपने में करता है। आहाहा! ऐसी वह चमत्कारी चीज़ है। चैतन्य ऐसा चमत्कारी प्रभु है। आहाहा!

उसके **प्रति अपनी वृत्ति कर।** है न? '**श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं**' मति का अर्थ किया है? तेरी मति वहाँ ले। आहाहा! जो मति ऐसी है, उस मति को ऐसे मोड़। आहाहा! जहाँ भगवान पूरा निरुपद्रव पड़ा है। उसकी बातें करने पर भी पूरा न पड़े, ऐसी जो चीज़ है, उस पर वृत्ति कर न, प्रभु! आहाहा! वहाँ तुझे सब मिलेगा। ज्ञान मिलेगा, आनन्द

मिलेगा, शान्ति मिलेगी, निरोगता, स्वच्छता वहाँ मिलेगी। रागरहित निरोगता वहाँ मिलेगी। आहाहा! ऐसे के प्रति तेरी वृत्ति कर। मति को वहाँ झुका। आहाहा!

मुमुक्षु : गुलाँट मारना कठिन काम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह कठिन काम है। बात सत्य है। दूसरा सब ठीक परन्तु पर्याय को झुकाना, वह कहीं कम बात है! वही अनन्त पुरुषार्थ है, वही वस्तु करनी है। दूसरा सब अनन्त बार किया है। आहाहा! जो मति परसन्मुख झुकी हुई है, उसे वहाँ रख। बाद की मति को अन्दर में झुका। आहाहा! वह जहाँ चैतन्यचमत्कार प्रभु विराजता है, भगवत्स्वरूप विराजता है, वहाँ मति को झुका न! ऐसे साधारण राग को, राग के फल यह बाहर की धूल, पैसा-मकान, उसमें अटककर पड़ा, बापू! प्रभु! तू क्या करता है? और यहाँ से कहाँ जायेगा? ऐसी स्थिति में रहकर जायेगा कहाँ? तू तो अनन्त काल रहेगा। अनन्त काल रहेगा, जायेगा कहाँ? आहाहा! रहना तो अनन्त काल है, अनादि है। तो प्रभु! आगे कहाँ जायेगा-रहेगा? स्वसन्मुख झुकाव नहीं करेगा तो फिर कहाँ जायेगा? प्रभु! आहाहा! ऐसी बात है। **प्रति अपनी वृत्ति कर।** आहाहा!

मुमुक्षु : जब तक अन्दर झुके नहीं, तब तक बारम्बार अभ्यास करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभ्यास, अन्दर झुकने का प्रयत्न करना। अन्तर दूसरा सब एक ओर रखना। दूसरा कम आवे, न आवे, कहना न आवे, उसका कुछ नहीं है। यह सवेरे नहीं आया था? मैं मेरे लिये सीखता हूँ, मेरे लिये देखता हूँ, पर के लिये कुछ नहीं है। आहाहा! ऐसा विषय है।

९८वीं गाथा हुई।

गाथा-९९

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे।।९९।।

ममत्वं परिवर्जयामि निर्ममत्व-मुपस्थितः।
आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषं च विसृजामि।।९९।।

अत्र सकलविभावसन्न्यासविधिः प्रोक्तः। कमनीयकामिनीकाञ्चनप्रभृतिसमस्तपरद्रव्य-गुणपर्यायेषु ममकारं सन्त्यजामि। परमोपेक्षालक्षणलक्षिते निर्ममकारात्मनि आत्मनि स्थित्वा ह्यात्मानमवलम्ब्य च सन्सृतिपुरन्ध्रिकासम्भोगसम्भवसुखदुःखाद्यनेकविभावपरिणतिं परिहरामि।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल,
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रति-चरित-मेषां हि शरणं,
स्वयं विन्दन्त्येते परम-ममृतं तत्र निरताः।।

तथाहि ह्न

मैं त्याग ममता, निर्ममत्व स्वरूप में स्थिति कर रहा।
अवलम्ब मेरा आतमा अवशेष वारण कर रहा॥९९॥

अन्वयार्थ : [ममत्वं] मैं ममत्व को [परिवर्जयामि] छोड़ता हूँ और [निर्ममत्वम्] निर्ममत्व में [उपस्थितः] स्थित रहता हूँ; [आत्मा] आत्मा [मे] मेरा [आलम्बनं च] आलम्बन है [अवशेषं च] और शेष [विसृजामि] मैं छोड़ता हूँ।

टीका : यहाँ सकल विभाव के संन्यास की (-त्याग की) विधि कही है।

सुन्दर कामिनी, [१]कांचन आदि समस्त परद्रव्य-गुण-पर्यायों के प्रति ममकार को मैं छोड़ता हूँ। परमोपेक्षालक्षण से लक्षित [२]निर्ममकारात्मक आत्मा में स्थित रहकर तथा आत्मा का अवलम्बन लेकर, [३]संसृतिरूपी स्त्री के सम्भोग से उत्पन्न सुख-दुःखादि अनेक विभावरूप परिणति को मैं परिहरता हूँ।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद्अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १०४ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

हैं निषिद्ध जब शुभ या अशुभ आचरणरूप सभी दुष्कर्म।
किन्तु नहीं हैं अशरण मुनिवर क्योंकि वर्तते हैं निष्कर्म॥
ज्ञान ज्ञान में करे आचरण उन्हें एक यह ज्ञान शरण।
स्वयं लीन हो उसमें करते परमामृत का आस्वादन॥

[श्लोकार्थः] शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म—ऐसे समस्त कर्मों का निषेध किया जाने पर और इस प्रकार निष्कर्म अवस्था वर्तने पर, मुनि कहीं अशरण नहीं हैं; (कारण कि) जब निष्कर्म अवस्था (निवृत्ति-अवस्था) वर्तती है, तब ज्ञान में आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ—परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है; वे उस ज्ञान में लीन होते हुए परम अमृत का स्वयं अनुभवन करते हैं—आस्वादन करते हैं।

गाथा - ९९ पर प्रवचन

(गाथा) ९९

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे।।९९।।

यह गाथा...

१. कांचन=सुवर्ण; धन।
२. निर्ममकारात्मक=निर्ममत्वमय; निर्ममत्वस्वरूप। (निर्ममत्व का लक्षण परम उपेक्षा है।)
३. संसृति=संसार।

मैं त्याग ममता, निर्ममत्व स्वरूप में स्थिति कर रहा।
अवलम्ब मेरा आतमा अवशेष वारण कर रहा॥९९॥

टीका : यहाँ सकल विभाव के संन्यास की (-त्याग की) विधि कही है। इस गाथा में, ९९ गाथा। **सकल विभाव...** कोई भी विकार का विकल्प। चाहे तो तीर्थंकरगोत्र बाँधने का विकल्प। आहाहा! **सकल विभाव के संन्यास की (-त्याग की) विधि कही है।** क्योंकि जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधे, उस भाव का नाश करेगा तो वीतराग होगा। और वीतराग होगा, तब वह प्रकृति जो बँधी है तीर्थंकर की, तब उदय में आयेगी। केवल (ज्ञान) होगा, तब उदय में आयेगी। अब उस प्रकृति को भाव से तूने किया क्या? आहाहा! क्या कहा यह? कि जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव राग है। राग से प्रकृति बँधी; अब जब राग का नाश करेगा, तब तुझे केवल (ज्ञान) होगा और तब तेरी वह प्रकृति बँधी हुई है, तब उदय में आयेगी। आहाहा! तुझे इस शुभभाव ने क्या किया और प्रकृति बँधी उसने क्या किया? आहाहा! यह बात समझ में आती है?

जिस भाव से बन्ध पड़ा, उस भाव से कोई अबन्ध पर्याय प्रगट नहीं होती। उस भाव का नाश करेगा, तब अबन्ध पर्याय प्रगट होगी और पश्चात् जिस प्रकृति का बन्ध पड़ा है, तब उदय आयेगा। अब केवलज्ञान हुआ, तब जिस भाव से बन्धन हुआ, उस भाव का नाश किया, तब उस प्रकृति का उदय आया। उसने क्या किया? तेरहवें गुणस्थान में तीर्थंकरगोत्र प्रकृति का उदय आता है। बँधती है चौथे, पाँचवें, छठवें, सातवें (गुणस्थान में)। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! **यहाँ सकल विभाव के संन्यास की (-त्याग की) विधि कही है।** विशेष अन्दर कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१०६, श्लोक-१३४, गाथा-९९-१००, शुक्रवार, मागशर कृष्ण १०,
दिनांक १४-१२-१९७९

नियमसार, गाथा ९९ टीका। **सकल विभाव के संन्यास की (-त्याग की) विधि कही है।** भगवान आत्मा अस्तिरूप से पदार्थ है। सत्तारूप से अस्ति धारक ध्रुव वस्तु है, उसमें विभाव नाममात्र नहीं है। आहाहा! उसमें तो एक-अनेक लिया। कहाँ गया? उत्पाद-व्यय-ध्रुव और द्रव्य-गुण-पर्याय। कलश में। उसमें धर्म में यह लिया सत् और असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक अदयम लिया। आत्मा में ऐसे गुण भी नहीं हैं। आहाहा! उत्पाद-व्यय-ध्रुव, ऐसे भेद नहीं हैं और द्रव्य-गुण-पर्याय, ऐसे तीन भेद नहीं हैं।

मुमुक्षु : परम सत्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ऐसी वस्तु! जिसमें के छह बोल तो कहे। यह दूसरे छह बोल। वस्तु में द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे तीन भेद नहीं। यह धर्म में गिना है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव और द्रव्य-गुण-पर्याय, ऐसे भेद नहीं हैं। वह तो वस्तु-वस्तु है। अभेद वस्तु है, वह दृष्टि का विषय है। बाकी सब चाहे जितने प्रकार हों, वचनमात्र अर्थात् जाननेमात्र हैं। है, ऐसा जानना, बस! आदरने की बात तो यह एक ही है। आहाहा! अभेद चीज़, द्रव्य-गुण-पर्याय के भेदरहित; उत्पाद-व्यय-ध्रुव के भेदरहित; कारक के भेदरहित... आहाहा! धर्म और गुण के भेदरहित; विकल्प, नय और ध्यानावली के भेदरहित... आहाहा! ऐसी चीज़ में सकल विभाव का त्याग है। कोई विभाव उसमें है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : सब निकाल डाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब निकाल डाला। सब है कहाँ? नरेन्द्र-फरेन्द्र है कहाँ? अन्दर वहाँ लड़का नहीं और लड़की भी नहीं। कोई नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पैसा, वह तो सब आत्मा की पर्याय से बाहर चीज़ रह गयी परन्तु पर्याय में जो राग और द्वेष है, वह भी कहाँ अन्दर में है? और पर्याय में भी जो द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद उपजते हैं, वे अन्दर भेद, अभेद में कहाँ हैं? उत्पाद-व्यय-ध्रुव भेद उपजे, वह भी अन्दर में कहाँ है? और कारक, धर्म और गुण, यह भी अन्दर में कहाँ है? आहाहा! इन सर्व विभाव और भेद से भिन्न चीज़ है। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

सकल विभाव के संन्यास की (-त्याग की) विधि कही है। सुन्दर कामिनी,... सुन्दर स्त्री। उसके द्रव्य-गुण-पर्याय। एक नहीं लिया, तीन लिये हैं। उसका द्रव्य, उसके गुण और उसकी वर्तमान पर्याय तथा **कांचन...** अर्थात् सोना। **आदि...** वह परद्रव्य, परगुण और उनकी पर्याय। इन तीन के **प्रति ममकार को मैं छोड़ता हूँ।** आहाहा! सम्यग्दृष्टि होने के लिये तीन को तजता हूँ तो यह सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! ऐसी बात है। लोग फिर पुकार करते हैं। एकान्त में बेचारे कहते हैं... कि एकान्त है, ऐसा है, वैसा है। जैसा है, बापू! प्रभु! तू भी भगवान है। तेरी बातें कही जा सके ऐसी नहीं है, ऐसी अभेद चीज़ तू है। आहाहा! उसकी बातें प्रभु होती है।

उस अभेद चीज़ में सर्व विभाव का त्याग, उसमें तो द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का भी त्याग, उत्पाद-व्यय-ध्रुव वस्तु है, उन तीन भेद का भी त्याग। आहाहा! विकल्प, नयसमूह का विकल्प और ध्यानावली अर्थात् शुद्धता की धारा बहे। आत्मा में द्रव्य के आश्रय से शुद्धता की धारा बहे। वह भी द्रव्य में कहाँ है? सबसे रहित प्रभु तू है। आहाहा! समझ में आया? देखो! वह छोटा बालक तुम्हारे पास बैठा है। उसे सुनने का कितना प्रेम है! बहुत बार आता है। बहुत सुनने आता है। इस प्रकार सुने तो सही, समझे तो सही, बापू! यह क्या है? प्रभु! तू आत्मा है न! उस आत्मा की बात यहाँ चलती है, नाथ! आहाहा!

कहते हैं, **सुन्दर कामिनी,...** बहुत रूपवान ऐसी स्त्री हो, उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तो उसमें हैं, प्रभु! आहाहा! उसके ममकार का त्याग है। वह मेरी नहीं। आहाहा! उस स्त्री का द्रव्य मेरा नहीं। स्त्री के अन्दर द्रव्य का ज्ञानगुण जो है, वह मेरा नहीं, उसकी वर्तमान पर्याय विकृत या अविकृत हो, वह मेरी नहीं, मुझमें नहीं, उसमें मैं नहीं। आहाहा! मैं उस ममकार को तजता हूँ। आहाहा! यह वाणी में बात नहीं, बापू! उसे मैं तजता हूँ। मेरा भगवान अभेद पूर्णानन्द से भरपूर, उसका आश्रय लेकर मैं इसे छोड़ता हूँ, क्योंकि उसे पर की कोई अपेक्षा नहीं है। आहाहा!

अभी यहाँ तो कहे, व्यवहाररत्नत्रय साधन। जयसेनाचार्य की टीका में यह बहुत आता है। अमृतचन्द्राचार्य की टीका में कठिन आता है, गम्भीर आता है; इसलिए जयसेनाचार्य की टीका में बहुत व्यवहार साधन आता है। वह तो उसका ज्ञान कराया है। वे आचार्य हैं, उनका विरोध नहीं है। वे आचार्य हैं, ज्ञानी हैं, भाई! परन्तु उनका सच्चा है और अमृतचन्द्राचार्य

का खोटा है, ऐसा नहीं है। वे आचार्य हैं। उनके कथन की शैली है। साधक जहाँ राग से भिन्न पड़कर, प्रज्ञा के साधन द्वारा भिन्न पड़कर साध्य को साधता है, तब साधकपना प्रगट हुआ, तब राग के निमित्त और आरोपपने से साधकपने का आरोप दिया – ऐसा है, प्रभु! उल्टी-सीधी बात करे तो विवाद से पार पड़े, ऐसा नहीं है। वाद और विवाद से कुछ पता लगे, ऐसा नहीं है। ऐसी चीज़ है। आहाहा! और तू भी भगवान है, प्रभु! चाहे जिस प्रकार उल्टी बात कर। वह तो सब पर्याय में है। वस्तु में तो तू भगवान है, परमेश्वर है। आहाहा! तेरी ओर दु:ख की दृष्टि से तुझे न देख। तू अन्दर भगवान आत्मा है। आहाहा!

जैसे पर्याय अपनी पर्यायबुद्धि गयी है, वह पर को पर्यायबुद्धिरहित द्रव्य से देखता है। पर्याय का तो ज्ञान करता है। द्रव्य का आदर करता है। द्रव्य साधर्मी है। आहाहा! भगवान आत्मा ऐसा अन्दर है, वह साधर्मी है। आहाहा! पर्याय को जाने... आहाहा! यहाँ कहते हैं कि इस सब **ममकार को मैं छोड़ता हूँ। परमोपेक्षालक्षण से लक्षित...** अब क्या कहते हैं ? देखो! **परमोपेक्षालक्षण से लक्षित निर्ममकारात्मक आत्मा...** निर्ममकारात्मक आत्मा। **निर्ममत्वमय;..** स्वरूप आत्मा। नीचे। **निर्ममत्वमय; निर्ममत्वस्वरूप।** परन्तु इस निर्ममत्वस्वरूप की व्याख्या क्या ? आहाहा! एक ओर ममकार तजता हूँ और निर्ममकार... उस निर्ममकार का अर्थ पर की उपेक्षा करनी है। है ?

परमोपेक्षालक्षण से लक्षित... परम उपेक्षालक्षण से लक्षित। छोड़ता हूँ, यह भी अपेक्षा से है। तो उस **परमोपेक्षालक्षण से लक्षित...** है। आहाहा! अब इसके साथ चर्चा करो। यह चर्चा, बापू! भगवान! तेरी दृष्टि अन्दर न झुके, तब तक चर्चा क्या करना ? भाई! यह वस्तुस्थिति ऐसी है, वहाँ... आहाहा! क्या कहा ? **निर्ममकारात्मक आत्मा...** परन्तु निर्ममकारात्मकस्वरूप आत्मा कैसा ? निर्ममत्व आत्मस्वरूप कैसा ? आहाहा! उन परद्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय कहे न ? उन्हें छोड़ना। यह कैसा है ? वह तो **परमोपेक्षालक्षण से लक्षित...** है। जिसे भेद का भी लक्ष्य नहीं। परमोपेक्षालक्षण। नय के विकल्प, रागादि के विकल्प से परम अपेक्षारहित वह तो है। आहाहा! अब ऐसी बात! अन्दर समझकर अनन्त मोक्ष पधारे हैं। इसमें न समझ में आये, ऐसा नहीं है, प्रभु! ऐसा नहीं करना। न समझ में आये, न जँचे (ऐसा नहीं)। यह श्रद्धा में तो ले। जँच सके और परमात्मा हो सकता हूँ। आहाहा! मैं यही हूँ। दूसरी चीज़ मैं नहीं हूँ। आहाहा! है ?

परमोपेक्षालक्षण से लक्षित... क्या ? **निर्ममकारात्मक आत्मा...** ममतारहित, पर की ममतारहित ऐसा जो भगवान, उसका लक्षण क्या ? कि परमोपेक्षा लक्षण। परम उपेक्षा... आहाहा ! तजने की बात भी इस अपेक्षा से कहते हैं। आहाहा ! परमोपेक्षा से तो अभेद अखण्डानन्द नाथ का अवलम्बन जहाँ लिया, वह परमोपेक्षालक्षण से लक्ष्यवाला प्रभु है। पर की कोई अपेक्षा रखे, ऐसा वह आत्मा नहीं है। व्यवहार होवे तो निश्चय होता है और व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसे इस लक्षणवाला प्रभु नहीं है। आहाहा ! ऐसा है, प्रभु !

परमोपेक्षा... अकेली उपेक्षा नहीं। **परमोपेक्षालक्षण से लक्षित...** ऐसे लक्षण से लक्ष्य में ज्ञात होनेयोग्य। **परमोपेक्षालक्षण से...** जाननेयोग्य। आहाहा ! इस प्रकार वह ज्ञात हो, ऐसा है। **परमोपेक्षालक्षण से...** किसी भेद की, किसी नय के विकल्प की, किसी षट्कारक के भेद की, नय के विकल्प की; पर की तो बात क्या करना ? आहाहा ! परनिमित्त की तो बात क्या करना ? निमित्त होता है, निमित्त है, परन्तु उसकी अपेक्षा से आत्मा का अनुभव होता है, यह बात बिल्कुल झूठ है। निमित्त है, अनन्त निमित्त हैं। वस्तु है, वह वस्तु क्या है ? जिस समय परमोपेक्षालक्षण से लक्षित आत्मा को जाना, उस समय निमित्त से जाना है, ऐसा नहीं है। आहाहा !

ऐसे **आत्मा में स्थित रहकर...** निर्ममत्व। इस ओर ममता तजकर तथा इस ओर निर्ममत्व परमोपेक्षालक्षण से लक्षित निर्ममत्वभाव, परमोपेक्षालक्षणवाला निर्ममत्वभाव, उसमें स्थित रहकर। उस आत्मा में स्थित रहकर। आहाहा ! भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो बहुत गहरे भरे हैं। **तथा आत्मा का अवलम्बन लेकर,...** स्थित रहकर अर्थात् आत्मा को अवलम्बन कर, ऐसा। अवलम्बन आत्मा एक अभेद का। आहाहा ! एक समय में पूर्ण अभेद चीज़ जो पड़ी है, त्रिकाल निरावरण अखण्ड एक—ऐसा जो परम आलम्बन, उसे —आत्मा को अवलम्बकर, उस आत्मा का अवलम्बन लेकर, पर की अपेक्षा छोड़कर... आहाहा ! रागादि विकल्प, नय आदि विकल्प, कारकों के विकल्पों को छोड़कर परमोपेक्षालक्षण लक्षित प्रभु है, उसे उसमें रहकर, **आत्मा का अवलम्बन लेकर, संसृतिरूपी स्त्री के सम्भोग से...** संसाररूपी स्त्री अर्थात् परिणति, शुभाशुभ रागरूपी परिणति... आहाहा ! शुभ और अशुभराग उसरूप परिणति / स्त्री। उसके संग से **उत्पन्न सुख**-

दुःखादि... आहाहा! यह डाला न? शुभ और अशुभ। शुभ से सुख लगता है और अशुभ से दुःख लगता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

शुभाशुभभाव **संसृतिरूपी स्त्री के सम्भोग से उत्पन्न सुख-दुःखादि अनेक विभावरूप परिणति...** यह सुख-दुःख का अर्थ शुभ-अशुभभाव। शुभभाव, वह दुःख है और अशुभभाव, वह भी दुःख है। आहाहा! सुख-दुःखादि। रति, उत्साह पर में सब भाव विकारी है। परद्रव्य के गुण और पर्याय को मैं तजता हूँ, वहाँ अकेला भेद लिया। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को ग्रहण करता हूँ, ऐसा नहीं लिया। यहाँ तो परमोपेक्षालक्षणवाला लक्षित आत्मा को ग्रहण करता हूँ, उसका अवलम्बन करता हूँ। आहाहा! लोगों को ऐसा कठिन लगता है। अपूर्व, कभी सुना नहीं हो और घर में बैठने का टाईम न मिले और निवृत्ति से अन्दर मिलान करना, इसका समय नहीं मिले। संसार के काम के कारण निवृत्त नहीं है। आहाहा! दुकान में बैठा हो तो पूरे दिन होली सुलगती होती है। यह ग्राहक आया और इसे दिया, इसे लिया, यह आमदनी हुई, यह ऐसा हुआ। पूरी होली सुलगती है। आहाहा! ऐसे सब भावों को तजकर... आहाहा!

निर्ममत्वस्वरूप ऐसा जो परमोपेक्षालक्षण से लक्षित हुआ, ऐसे आत्मा को अवलम्ब कर, उसमें स्थित रहकर वह शुभाशुभरूपी परिणति, शुभाशुभरूपी परिणति के संग से उत्पन्न हुआ सुख-दुःख। शुभ है, वह भी दुःख और अशुभ है, वह भी दुःख। इस **सुख-दुःखादि अनेक विभावरूप परिणति को मैं परिहरता हूँ।** आहाहा! एक-एक लाईन और एक-एक पंक्ति में कितना भरा है! यह तो अध्यात्म का ग्रन्थ है। द्रव्यानुयोग का है, ऐसा करके निकाल डाला। अरे! प्रभु! तीनों ही अनुयोगों में भी यही कहा है। आहाहा! कथानुयोग में भी क्रमबद्ध की ही बात की है। चरणानुयोग में भी क्रमबद्ध व्रत और नियम के परिणाम की ही बात की है और कर्म प्रकृति करणानुयोग में भी अमुक गुणस्थान में यह उदय, और अमुक गुणस्थान में यह सत्ताएँ, यह भी क्रमबद्ध है, उसकी ही बात की है। चारों ही अनुयोगों में इस स्थिति का वर्णन है और चारों ही स्थिति के वर्णन में वहाँ से हटकर स्व में आना, यह वर्णन है क्योंकि चारों ही अनुयोगों का सार वीतरागता है। १७२ गाथा पंचास्तिकाय की १७२ गाथा। चारों अनुयोगों का सार वीतरागता है। ऐसा नहीं कि दूसरे अनुयोग राग को करे और राग से लाभ हो, ऐसा कहे और द्रव्यानुयोग में लाभ नहीं, ऐसा

कहे—ऐसा नहीं है, भाई! तुझे खबर नहीं है। यह करणानुयोग कर्म हो, ज्ञानावरणीय से ज्ञान रुकता है, ऐसी भाषा आवे, तो वहाँ भी व्यवहार की भाषा है। ज्ञान की पर्याय स्वयं से हीन होती है, तब उसे निमित्त कहा जाता है। आहाहा! और वह भी समझने के लिये उसे छोड़कर, हीन को छोड़कर अधिक वस्तु है, उसका अवलम्बन लेने के लिये (ऐसा कहा जाता है)। वह हीन और उसमें निमित्त है, उसका ज्ञान कराया है। आहाहा! उसमें खड़ा रहना, ऐसी बात नहीं की है। आहाहा!

उसका सार वीतरागता कहा है। व्रत करना, उनके अतिचार टालना, यह बात बहुत आती है परन्तु उसका अर्थ अन्दर वीतरागता प्रगट करना, यह सार है। आहाहा! कर्मप्रकृति में यह, चरणानुयोग में यह, कथानुयोग में यह है। ऐसा कहे, यह तो द्रव्यानुयोग की ही बात है, परन्तु द्रव्यानुयोग की दृष्टि से दूसरे अनुयोग में क्या कहना है, इस दृष्टि से बैठता है, तब चारों ही अनुयोग की तह बैठती है, वरना उनकी तह नहीं बैठती। आहाहा! है?

ऐसे सुख-दुःख की कल्पना जो है, शुभ-अशुभभाव। वह शुभभाव, वह सुख की कल्पना। सुख-दुःख। वह **सुख-दुःखादि अनेक विभावरूप परिणति को मैं परिहरता हूँ।** इसका नाम प्रत्याख्यान है। इसका नाम प्रत्याख्यान है। आहाहा! सुनना कठिन लगता है।

मुमुक्षु : आप तो सरल करके समझाते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा तो ऐसी है। आहाहा! इसे ऐसा लगता है कि यह कैसे पकड़ में आये? कैसे पकड़ में आये क्या? यह पकड़ में आये, ऐसा ही यह है। आहाहा! न पकड़ में आये, ऐसा इसमें है ही नहीं। आहाहा! यह कहते हैं। **विभावरूप परिणति को मैं परिहरता हूँ।**

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद्अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १०४ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:— यह समयसार के पुण्य-पाप के अधिकार में १०४ श्लोक है।

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल,
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रति-चरित-मेषां हि शरणं,
स्वयं विन्दन्त्येते परम-ममृतं तत्र निरताः॥

आहाहा! **शुभ आचरणरूप कर्म...** दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि। **शुभ आचरणरूप कर्म...** आहाहा! **अशुभ आचरणरूप कर्म...** परिणाम की बात की है। शुभ-अशुभ परिणाम दोनों। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि भाव शुभ हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग यह अशुभ है। ये शुभ-अशुभ दोनों भाव, यह आचरणरूप कर्म अर्थात् कार्य। **ऐसे समस्त कर्मों का निषेध किया जाने पर...** अरे! प्रभु! तुम सबका निषेध करते हो तो मुनि को शरण क्या? आहाहा! तुम तो शुभभाव को दुःख कहकर निषेध करते हो, अशुभभाव को दुःख कहकर निषेध करते हो। शुभभाव को जहर कहकर छुड़ाना चाहते हो। आहाहा! क्या परन्तु तब अब उन्हें रहना कहाँ? करना क्या? यह इतना पर्याय में भासता है, इसलिए उन्हें यह छोड़ने का कहा परन्तु अब रहना कहाँ। आहाहा!

'**निषिद्धे सर्वस्मिन्**' तुमने तो सर्व कर्म का निषेध किया। पंच महाव्रत के परिणाम भगवान कहते हैं कि मेरी भक्ति, मुझे याद करना, स्मरण करना, वह सब शुभभाव है, उसका आप निषेध करते हो, वह धर्म नहीं है। आहाहा! वह **शुभ आचरणरूप...** आचरणरूप कहा है न? शुभ प्रकृति नहीं ली। शुभ आचरण। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा यह आचरण-परिणाम है न? वह **शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म...** क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि। **ऐसे समस्त कर्मों का निषेध किया जाने पर...** ऐसे समस्त विकार के कार्य जो हैं, उनका **निषेध किया जाने पर और इस प्रकार निष्कर्म अवस्था वर्तने पर,...** इस प्रकार कर्म राग-द्वेषरूपी, कर्म अर्थात् कार्य, ऐसी अवस्था से रहित **निष्कर्म अवस्था वर्तने पर,...** उस कर्म की अवस्था छोड़ने पर निष्कर्म अवस्था प्रवर्तने पर... आहाहा!

एक ओर छोड़ा तथा एक ओर ग्रहण किया। ममत्व को छोड़ा और निर्ममत्व ऐसे आत्मा को ग्रहण किया। ऐसी **अवस्था वर्तने पर, मुनि कहीं अशरण नहीं हैं;...** यह शुभ-अशुभ छुड़ाया, इसलिए अब उन्हें कोई शरण नहीं है, ऐसा नहीं है। शरण तो वह परमात्मा स्वयं है। आहाहा! विरोध बहुत आता है। ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता। इनकार किया है, ऐसा कहते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में इनकार किया है। काललब्धि कोई वस्तु नहीं है। ऐई! यह शब्द डाला है। वह किस अपेक्षा से कहते हैं? काललब्धि और भवितव्यता कोई

वस्तु नहीं है। जिस समय में हो, वह काललब्धि और उसका भाव, वह भवितव्यता। काललब्धि अर्थात् तो काल में ही होता है, वह कोई वस्तु नहीं, ऐसा वे कहते हैं। एक व्यक्ति का बड़ा लेख आया है। बहुत विपरीत है, बहुत विपरीत। क्या हो? पढ़नेवाले वह पढ़ें। कैलाशचन्दजी का विरोध आया है। कैलाशचन्दजी ऐसा कि निन्दा ही किया करते हैं साधु की, अमुक की, अमुक की। उसका विरोध आया है। अरे! ऐसा करके क्या काम? बापू! तेरा करने का यह काम है।

मुनि... जब शुभाशुभभाव को, सुख-दुःख का तुमने निषेध किया, वह आचरण ही नहीं है, वह आत्मा का आचरण नहीं है। होता है, आता है परन्तु वह आत्मा-आचरण नहीं है। आहाहा! तो नहीं है तो उन्हें करना क्या? कि **मुनि कहीं अशरण नहीं हैं; (कारण कि) जब निष्कर्म अवस्था (निवृत्ति-अवस्था) वर्तती है,...** आहाहा! शुभ-अशुभ विकल्प... वह निवृत्ति प्रवर्तती है। शुभ-अशुभ विकल्प है, वह प्रवृत्ति है। उस प्रवृत्ति की अपेक्षा से निष्कर्म निवृत्ति है और आत्मा की अपेक्षा से निष्कर्म भी प्रवृत्ति है। पर्याय परिणमती है न। आहाहा! समझ में आया? यह पुण्य और पाप दोनों भाव प्रवृत्ति है। उस प्रवृत्ति को निवृत्ति से... आहाहा! उसे कोई शरण नहीं, ऐसा नहीं है।

निष्कर्म अवस्था (निवृत्ति-अवस्था) वर्तती है,... निवृत्ति की अपेक्षा, शुभाशुभभाव से निवृत्ति। बाकी है तो आत्मा में परिणति। वीतरागी परिणति है। शुभाशुभ का निषेध हुआ, तब आत्मा के अवलम्बन से वीतरागी परिणति, वह शरण है। है वीतरागी परिणति, वीतरागी पर्याय। आहाहा! समझ में आया? वीतरागी पर्याय ध्येय नहीं है। शरण है, क्योंकि त्रिकाली के आश्रय से होती है और निर्विकारी पर्याय उत्पन्न होती है, इसलिए ऐसा कहा है। **निष्कर्म अवस्था (निवृत्ति-अवस्था) वर्तती है, तब ज्ञान में आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ—परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है;...** देखो! यह पर्याय की बात की, हों! त्रिकाली ज्ञायक वस्तु के आश्रय से शुभाशुभ से निवृत्त हुआ, तब अन्तर प्रवृत्त हुआ। शुभाशुभ की अपेक्षा छोड़कर प्रवृत्त हुआ। अर्थात् उससे निवृत्ति हुई और अपने में शुद्ध की प्रवृत्ति हुई। आहाहा! यह **उन मुनियों को शरण है;...** आहाहा! क्या?

निष्कर्म अवस्था (निवृत्ति-अवस्था) वर्तती है, तब ज्ञान... अर्थात् आत्मा में **आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ—परिणमन करता हुआ ज्ञान...** ज्ञान अर्थात्

आत्मा। आत्मा रमता हुआ, अपने में रमण करता हुआ... आचरण करता हुआ... आहाहा! यह तो समयसार के पुण्य-पाप के अधिकार का कलश है। यह पर से निवर्तता हुआ। **ज्ञान में आचरण करता हुआ...** यह प्रवृत्ति हुई। **रमण करता हुआ—परिणमन करता हुआ ज्ञान ही...** आत्मा को **मुनियों को शरण है;...** यह ज्ञान ही—परिणति, वह आत्मा को शरण है। आहाहा! शुभाशुभ छूटे, इसलिए अब उसे कुछ रहा नहीं, ऐसा नहीं है। उसके स्थान में शुद्धता आयी है। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप अभेद है, उसका अवलम्बन लेने से पर्याय में निष्कर्म अवस्थारूपी शुभाशुभ की अपेक्षा से निवृत्ति है और द्रव्य की अपेक्षा से शुभपरिणति है। शुभपरिणतिरूप वह प्रवृत्ति है। आहाहा! मुनियों को भी प्रवृत्ति है। आहाहा! है न?

मुनियों को शरण है;... आहाहा! धीमे से, शान्ति से पढ़े, विचार करे तो (समझ में आये ऐसा है)। एकदम वह एक व्यक्ति कहता था कि आप समयसार की बहुत महिमा करते हो। पन्द्रह दिन में पढ़ गया हूँ। उसमें क्या है? भाई! उसकी एक लाईन में क्या है, यह तेरे पढ़ने में आवे, ऐसा नहीं है, बापू! अरे! ऐसा अवसर, समय-समय चला जाता है। आहाहा! टाईम आवे, देखो न, एक के बाद एक विचार चलते जाते हैं। आहाहा! हो गया। इस जगत में अस्ति थी, बाहर में दिखती थी, वह बन्द हो गयी। कहीं अन्यत्र जाकर अवतरित हुआ। आहाहा! क्योंकि वह तो (आत्मा तो) अनादि-अनन्त है। यहाँ से छूटकर वह कहीं किसी जगह जायेगा, वहाँ भी प्रवृत्ति तो है ही क्योंकि यहाँ प्रवृत्ति को अपनी माना है, वहाँ भी प्रवृत्ति में ही स्वयं एकमेक होकर रहेगा। आहाहा!

इस शुभाशुभ प्रवृत्ति से भिन्न भगवान निवृत्तस्वरूप है। उसे तो पहिचाना नहीं। उसे तो आँगन में लाया नहीं। पर्याय में उसे लाया नहीं। पर्याय में राग, पुण्य, दया को लाया है। आहाहा! ऐसी वस्तु है। आहाहा! देवीलालजी! थोड़ा कठिन लगे, बापू! परन्तु यह वस्तु तो ऐसी है। इसकी श्रद्धा तो पक्की करना चाहिए। विकल्प की श्रद्धा में पक्का करना चाहिए। ऊपर से इन्द्र उतरे तो भी बदले नहीं, ऐसा पहले निर्णय पक्का करना चाहिए। पश्चात् विकल्प तोड़कर अन्दर में जाना, वही रास्ता सरल है। आहाहा! परन्तु अभी विकल्प की श्रद्धा का ठिकाना नहीं होता। अरे! प्रभु! तेरी शरण की बात है न, नाथ! तुझे तेरी शरण बताते हैं तो शरण अन्दर है। शुभाशुभ छूट जाए तो शरणरहित हो गया। करने का यह था, वही करने का था और वही करने का चला गया, इसलिए कुछ करने का रहा नहीं,

शुभाशुभ छुड़ाये, वही करने का था। आहाहा! वह करने का था और निषेध किया, अब उसे रहा क्या? बापू! वह शुभाशुभभाव करता था, उस स्थान में शुद्धता को करता है। उन शुभाशुभ से निवृत्ति लेकर और परिणति में शुद्धता, निर्मलता वीतरागता को करता है। उस वीतरागता की शरण है। वह निष्कर्म हुआ अर्थात् कुछ शरणरहित हो गया और शुभभाव था, वह उसे शरण था। बहुत से (कहते हैं) शुभभाव में भगवान का लक्ष्य जाता है, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का प्रेम होता है, इसलिए कुछ उसमें शरण था। अब वह गया, इसलिए अब मुझे क्या रहा? तुझे रहा बड़ा भगवान। आहाहा! ऐसी बात है। पागल-पागल की बातें तो आयी, बापू! कोई पागल कहे, गहला कहे, पागल कहे, नाथ! मार्ग तो यह है, बापू! आहाहा!

यहाँ से जाना है, बापू! देह तो छूटकर आया। ५०-६० वर्ष हुए, इतना कुछ रहना नहीं है। अब जाएगा कहाँ? उसका क्या किया? आहाहा! यह शुभाशुभ प्रवृत्ति जो सुख-दु:खरूप है, उसमें ही रुक गया तो यह तूने क्या किया? जो अनादि संसार में करता आता है, यह वह किया। आहाहा! और तूने क्या किया? उनसे निवृत्ति लेकर स्वरूप में प्रवृत्ति करना, यह करना है, आहाहा! शुभाशुभ प्रवृत्ति छोड़कर **ज्ञान में आचरण करता हुआ...** ज्ञान अर्थात् आत्मा, स्वभाव। ज्ञानस्वरूप है, उसमें आचरण करता हुआ, हों! ज्ञान अर्थात् शास्त्र का जानना, वह नहीं। शास्त्र का जानना और उसमें रमण करना, वह नहीं। आहाहा! आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप है ऐसे **ज्ञान में आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ—परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है;...** आत्मा को वह एक ही शरण है। आहाहा! अरिहन्ता शरणम्, सिद्धा शरणम् - यह सब व्यवहार है। यह तो कहते हैं। आहाहा!

मांगलिक में आया वह व्यवहार है। केवलीपण्णत्तो धम्मो शरणम्, यह वीतरागी पर्याय आयी। परन्तु वह वीतरागी पर्याय प्रगट कैसे होती है? कि अभेददृष्टि से वह प्रगट होती है। आहाहा! वीतराग कथित धर्मपर्याय, पर्याय के लक्ष्य से पर्याय नहीं होती। आहाहा! तो चारों ही मांगलिक उड़ गये। अरिहन्ता, सिद्धा, साहू, केवलीपण्णत्तो धम्मो। उन केवली ने कहा हुआ धर्म वीतराग। वह वीतराग, वह शरण है - ऐसा कहना है। कैसे उत्पन्न होता है? इस शुभाशुभ से निवृत्ति करके अन्दर में अवलम्बन ले तो उत्पन्न होता है।

आहाहा! भगवान का शरण किया करे, णमो अरिहन्ताणं.. णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं।

अभी एक पत्र किसी का आया था। ऐसा कहे मैंने कितनी बार हजार बार, दस हजार बार, लाख बार ओमकार गिना। उसका क्या परिणाम होगा? महाराज! ऐसा पूछा था। बहुत बड़ा सफेद पर्वत दिखता है, उसमें दिगम्बर मुनि दिखते हैं, ऐसा किसी का प्रश्न है। यहाँ कौन लिखता है और कौन उत्तर देता है? किसी को खेद भी होता है। उसको खेद हुआ है। क्या कहलाता है, सोलापुर का पण्डित।

मुमुक्षु : वर्धमान पार्श्वनाथ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्द्धमान... वह है ऐसे अनुकूल लौकिक साधु। उन्हें यहाँ से मैं यहाँ अमुक के लिये सहायता दूँ, ऐसा लिखा था। उसका उत्तर भी नहीं? ऐसा कहे मैं तुमको मिला हूँ। उत्तर कौन दे? यह पत्र, लिखना, उत्तर लिखना। यहाँ यह कहाँ फुरसत है? बापू! उसने खेद बताया है। उत्तर भी लिखना नहीं? सहायक तो न हुए। ऐसा कहता है। अरे! प्रभु! आहाहा!

मुमुक्षु : भूतबलि शास्त्री।

पूज्य गुरुदेवश्री : भूतबलि... पहले क्या कहा था? वर्धमान, वह तो विरोध में। वह नहीं। यह तो मूलबिद्री का। यह सत्य बात। उसका पत्र था।

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! एक बार सुन। इस **ज्ञान में लीन होते हुए परम अमृत का स्वयं अनुभवन करते हैं...** वह प्रवृत्तिरहित नहीं। यह पुण्य और पाप की प्रवृत्तिरहित हुआ, परन्तु अमृत को पीने की प्रवृत्ति से खाली नहीं है। आहाहा! इस शुभाशुभभाव में सुख-दुःख को पीता था। आहाहा! शुभाशुभभाव में सुख-दुःख को अनुभव करता था। वह अब खाली नहीं है। आहाहा! **वह आत्मा में लीन होते हुए परम अमृत को...** परम अमृत। जो अमृतस्वरूप है, वह कभी मरता नहीं, किसी को मारता नहीं, किसी से मरता नहीं। आहाहा! ऐसा अ-मृत। आहाहा! ऐसा अमृतस्वभाव उसका स्वभाव है। वह **अमृत को स्वयं...** पीता है। पीता है अर्थात् **अनुभवन करते हैं...**

मुनिराज शुभ-अशुभराग छोड़कर... आहाहा! अभी ऐसा कहने में आता है कि अभी तो (शुभ) योग ही होता है। श्रुतसागर हैं, शान्तिसागर के पटशिष्य। वे कहते हैं अभी शुभभाव ही होता है। सब साधु हुए, वे शुभभाव में ही थे, ऐसा कहते हैं। शान्तिसागर से

लेकर अभी। अरे! प्रभु! शुभभाव, वह कोई वस्तु है। आहाहा! वह तो अनादि संसार किया है, वह है। कठिन काम, बापू!

वह **परम अमृत का स्वयं अनुभवन करते हैं...** ऐसा है न? शब्द ऐसा है न? आहाहा! '**स्वयं विन्दन्त्येते परम-ममृतं तत्र निरता:**' स्वयं अमृत को पीते हैं। आहाहा! समयसार की पाँचवीं गाथा में आया है न? प्रचुर स्वसंवेदन, वह मेरा वैभव है। मुनि का वैभव यह बहुत शिष्य हुए, बहुत शास्त्र बनाये, अमुक बनाया, यह उनका वैभव नहीं। यह तो पर का (वैभव) है। आहाहा! बहुत समझाये और बहुत साधु हुए, शिष्य हुए। मेरा यह वैभव नहीं। मेरा वैभव तो स्वसंवेदन, प्रचुर स्वसंवेदन है। क्योंकि संवेदन तो आंशिक अनुभूति तो चौथे गुणस्थान से होती है परन्तु यह तो मुनि हैं, इसलिए प्रचुर स्वसंवेदन है। बहुत ही स्व आत्मा का वेदन है। आहाहा! उस मेरे निज वैभव से समयसार को मैं कहूँगा, ऐसा कहा है। आहाहा! ऐसे मुनिराज ऐसे थे। तब यहाँ विरोध था। श्वेताम्बर पन्थ निकल गया था। सौ वर्ष हो गये, विवाद हुआ गिरनार में बड़ा (विवाद हुआ)। आहाहा! वह कहे पहले मेरी ध्वजा चढ़ेगी, वह कहे पहले मेरी ध्वजा चढ़ेगी। वे पुण्यशाली आत्मा, पवित्रता और पुण्य दोनों इकट्ठे थे। अम्बादेवी बोली कि दिगम्बर धर्म पहला है। कुन्दकुन्दाचार्य के समय में चर्चा हुई थी। प्राचीन है। आहाहा!

श्लोक-१३४

और (इस ९९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

(मालिनी)

अथ नियतमनोवाक्कायकृत्स्नेन्द्रियेच्छो,
भव-जलधि-समुत्थं मोहयाद:समूहम्।
कनक-युवति-वाञ्छा-मप्यहं सर्वशक्त्या,
प्रबल-तर-विशुद्ध-ध्यानमय्या त्यजामि।।१३४।।

(वीरछन्द)

मन-वच-तन इन्द्रिय सम्बन्धी इच्छा को संयमित किया।
भवदधि में उत्पन्न मोह जलचर समूह को त्याग दिया॥
कनक कामिनी की वाञ्छा को अति विशुद्ध निज भावों से।
त्याग करूँ इन सब भावों को प्रबल ध्यानमय शक्ति से॥१३४॥

[श्लोकार्थः] मन-वचन-काया सम्बन्धी और समस्त इन्द्रियों सम्बन्धी इच्छा जिसने *नियन्त्रण किया है, ऐसा मैं अब भवसागर में उत्पन्न होनेवाले मोहरूपी जलचर प्राणियों के समूह को तथा कनक और युवती की वाँछा को अतिप्रबल-विशुद्ध-ध्यानमयी सर्व शक्ति से छोड़ता हूँ॥१३४॥

श्लोक -१३४ पर प्रवचन

और (इस ९९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

अथ नियतमनोवाक्कायकृत्स्नेन्द्रियेच्छो,
भव-जलधि-समुत्थं मोहयादःसमूहम्।
कनक-युवति-वाञ्छा-मप्यहं सर्वशक्त्या,
प्रबल-तर-विशुद्ध-ध्यानमय्या त्यजामि॥१३४॥

आहाहा! अब मुनिराज स्वयं कहते हैं। टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव। आहाहा! पंचम काल के साधु, अभी तो उन्हें ९०० वर्ष हुए। वे जैन सम्प्रदाय को सम्बोधन करते हैं। अभी ऐसा नहीं होता। ऐसा कहते हैं, वे स्वयं सम्बोधते हैं? सभा में ऐसा कहते हैं।

मन-वचन-काया सम्बन्धी और समस्त इन्द्रियों सम्बन्धी इच्छा जिसने नियन्त्रण किया है,... आहाहा! जिसने मन-वचन-काया को रोका है और **समस्त इन्द्रियों सम्बन्धी इच्छा का...** इच्छा का नियन्त्रण-संयमन किया है। इच्छा का संयम किया है अर्थात् इच्छाएँ उड़ा दी हैं। आहाहा! यह मुनिपना। **ऐसा मैं...** वापस ऐसा कहा। देखा? **मन-वचन-काया**

* नियन्त्रण करना=संयमन करना; अधिकार में लेना।

सम्बन्धी और समस्त इन्द्रियों सम्बन्धी इच्छा जिसने नियन्त्रण किया है, ऐसा मैं अब भवसागर में उत्पन्न होनेवाले... भवसागर परिभ्रमण में उत्पन्न होनेवाले **मोहरूपी जलचर प्राणियों के समूह को...** मोहरूपी जलचर, संसाररूपी समुद्र में रहनेवाले मोहरूपी जलचर रहनेवाले। आहाहा! मिथ्यात्व और राग-द्वेष यह मोहरूपी जलचर है। आहाहा!

मोहरूपी जलचर प्राणियों के समूह को तथा कनक और युवती की वाँछा को... पाठ में था सही न! **कनक और युवती की वाँछा को अतिप्रबल-विशुद्ध-ध्यानमयी...** आहाहा! **अतिप्रबल-विशुद्ध-ध्यानमयी सर्व शक्ति से छोड़ता हूँ।** आहाहा! **अतिप्रबल-विशुद्ध-ध्यानमयी...** देखा? ध्यानमयी पर्याय ली है न? वह राग की पर्याय छूट गयी न? यह निर्मल **अतिप्रबल-विशुद्ध-ध्यानमयी सर्व शक्ति से...** आत्मा के अनन्त-अनन्त बल की / वीर्य की शक्ति से उसे मैं **छोड़ता हूँ।** और स्वरूप की रचना करता हूँ। आहाहा! वीर्य का गुण यह है कि उसे (इच्छा को) छोड़ना और स्वरूप की रचना, अनन्त गुण की पर्याय में रचना करना, वह वीर्यगुण का स्वभाव है। यह कहते हैं कि मैं राग को छोड़ता हूँ और सर्व शक्ति के प्रबल से और विशुद्ध ध्यान में रहता हूँ। आहाहा! देखो! विशुद्ध शब्द प्रयोग किया है। बहुत जगह विशुद्ध (शब्द) शुभभाव में प्रयोग होता है। विशुद्ध शुभभाव में प्रयोग होता है, शुद्ध में प्रयोग होता है। इसलिए किस जगह क्या व्याख्या है, यह जानना चाहिए। शुभभाव को भी विशुद्ध कहते हैं। यहाँ वि-शुद्ध अर्थात् विशेष शुद्ध। उसमें विशुद्ध अर्थात् अशुभकर्म, अशुभभाव जो है, उससे जरा हटा है, इसलिए विशुद्ध शुभभाव है। है बन्ध का कारण, जहर; उसे विशुद्ध और इसे भी विशुद्ध कहते हैं।

अतिप्रबल-विशुद्ध-ध्यानमयी सर्व शक्ति से... आहाहा! पंचम काल में ध्यान होता नहीं न! पंचम काल में ध्यान नहीं होता, शुभयोग ही होता है, ऐसा (आजकल) कहते हैं। आहाहा! अरे प्रभु! तू इसकी हाँ तो कर कि धर्मध्यान होता है। आहाहा! **ध्यानमयी सर्व शक्ति से...** मेरी शक्ति का जितना जोर है, उससे **छोड़ता हूँ।** पर को मैं छोड़ता हूँ। आहाहा! प्रकाश है, इससे जीव आते हैं। १३४ कलश हुआ न।

गाथा-१००

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।१००।।

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे सम्वरे योगे।।१००।।

अत्र सर्वत्रात्मोपादेय इत्युक्तः। अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजसौख्यात्मा ह्यात्मा। स खलु सहजशुद्धज्ञानचेतनापरिणतस्य मम सम्यग्ज्ञाने च, स च प्राञ्चितपरम-पञ्चमगतिप्राप्तिहेतुभूतपञ्चमभावभावनापरिणतस्य मम सहजसम्यग्दर्शनविषये च, साक्षा-न्निर्वाणप्राप्त्युपायस्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजपरमचारित्रपरिणतेर्मम सहजचारित्रेऽपि स परमात्मा सदा सन्निहितश्च, स चात्मा सदासन्नस्थः शुभाशुभपुण्यपापसुखदुःखानां षण्णां सकलसन्न्यासात्मकनिश्चयप्रत्याख्याने च मम भेदविज्ञानिनः परद्रव्यपराङ्मुखस्य पञ्चेन्द्रिय-प्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य, मम सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेः स्वरूपगुप्तस्य पापाटवीपावकस्य शुभाशुभसम्वरयोश्च, अशुभोपयोगपराङ्मुखस्य शुभोपयोगेऽप्युदासीन-परस्य साक्षाच्छुद्धोपयोगाभिमुखस्य मम परमागममकरन्दनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभस्य शुद्धोपयोगेऽपि च स परमात्मा सनातनस्वभावत्वात्तिष्ठति।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ ह्न

(अनुष्टुप्)

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम्।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः।।
नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मङ्गलम्।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम्।।

आचारश्च तदेवैकं तदेवावश्यकक्रिया।
स्वाध्यायस्तु तदेवैक-मप्रमत्तस्य योगिनः।।

तथाहि ह्न

मम ज्ञान में है आतमा, दर्शन चरित में आतमा।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योग में भी आतमा॥१००॥

अन्वयार्थ : [खलु] वास्तव में [मम ज्ञाने] मेरे ज्ञान में [आत्मा] आत्मा है, [मे दर्शने] मेरे दर्शन में [च] तथा [चरित्रे] चारित्र में [आत्मा] आत्मा है, [प्रत्याख्याने] मेरे प्रत्याख्यान में [आत्मा] आत्मा है, [मे संवरे योगे] मेरे संवर में तथा योग में (-शुद्धोपयोग में) [आत्मा] आत्मा है।

टीका : यहाँ (-इस गाथा में), सर्वत्र आत्मा उपादेय (-ग्रहण करनेयोग्य) है ऐसा कहा है।

आत्मा वास्तव में अनादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाला, शुद्ध, सहज-सौख्यात्मक है। सहज शुद्ध ज्ञानचेतनारूप से परिणमित जो मैं, उसके (अर्थात् मेरे) सम्यग्ज्ञान में सचमुच वह (आत्मा) है; पूजित परम पंचमगति की प्राप्ति के हेतुभूत पंचमभाव की भावनारूप से परिणमित जो मैं, उसके सहज सम्यग्दर्शनविषय में (अर्थात् मेरे सहज सम्यग्दर्शन में) वह (आत्मा) है; साक्षात् निर्वाण प्राप्ति के उपायभूत, निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज-परमचारित्रपरिणतिवाला जो मैं, उसके (अर्थात् मेरे) सहज चारित्र में भी वह परमात्मा सदा सन्निहित (-निकट) है; भेदविज्ञानी, परद्रव्य से पराङ्मुख तथा पंचेन्द्रिय के विस्तार रहित देहमात्रपरिग्रहवाला जो मैं, उसके निश्चय-प्रत्याख्यान में—कि जो (निश्चयप्रत्याख्यान), शुभ, अशुभ, पुण्य, पाप, सुख और दुःख इन छह के सकल संन्यासस्वरूप है (अर्थात् इन छह वस्तुओं के सम्पूर्ण त्यागस्वरूप है) उसमें—वह आत्मा सदा आसन्न (-निकट) विद्यमान है; सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि, स्वरूपगुप्त और पापरूपी अटवी को जलाने के लिए पावक समान जो मैं, उसके शुभाशुभसंवर में (वह परमात्मा है), तथा अशुभोपयोग से पराङ्मुख, शुभोपयोग के प्रति भी उदासीनतावाला और साक्षात् शुद्धोपयोग के सम्मुख जो मैं—परमागमरूपी पुष्परस जिसके मुख से झरता है, ऐसा

पद्मप्रभ—उसके शुद्धोपयोग में भी वह परमात्मा विद्यमान है कारण कि वह (परमात्मा) सनातन स्वभाववाला है।

इस प्रकार एकत्वसप्तति में (-श्री पद्मनन्दि-आचार्यवरकृत पद्मनन्दिपंच -विंशतिका के एकत्वसप्तति नामक अधिकार में ३९, ४० तथा ४१वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

[श्लोकार्थः] वही एक (-वह चैतन्यज्योति ही एक) परम ज्ञान है, वही एक पवित्र दर्शन है, वही एक पवित्र है तथा वही एक निर्मल तप है।

(वीरछन्द)

वही एक ही परम ज्ञान है वह ही है पावन दर्शन।
वही एक चारित्ररूप है वही एक है तप निर्मल॥

[श्लोकार्थः] सत्पुरुषों को वही एक नमस्कारयोग्य है, वही एक मंगल है, वही एक उत्तम है तथा वही एक शरण है।

(वीरछन्द)

सत्पुरुषों को वन्दनीय है वही एक है मंगलरूप।
वही एक उत्तम स्वरूप है वही एक है शरण स्वरूप॥

[श्लोकार्थः] अप्रमत्त योगी को वही एक आचार है, वही एक आवश्यक क्रिया है तथा वही एक स्वाध्याय है।

अप्रमत्त योगी को है वह, एकमात्र आचार स्वरूप।
वह आवश्यक क्रिया एक ही, वही एक स्वाध्याय स्वरूप॥

गाथा - १०० पर प्रवचन

गाथा १००। १००वीं गाथा आयी। आहाहा! यह तो बहुत बारम्बार सब जगह है। समयसार में भी है।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।१००।।

समयसार के बन्ध अधिकार में है।

मम ज्ञान में है आतमा, दर्शन चरित में आतमा।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योग में भी आतमा॥१००॥

आहाहा! **यहाँ (-इस गाथा में), सर्वत्र आत्मा उपादेय (-ग्रहण करनेयोग्य) है...** आहाहा! सर्वत्र आत्मा ही आदरणीय है; इसके अतिरिक्त कोई आदरणीय नहीं है। विकल्पमात्र छोड़ने योग्य है, भाई! आहाहा! इसके लिये कोई सरल-हल्का साधन होगा या नहीं? हल्का साधन ही यह है। पर से भिन्न करना, यह धर्म का साधन है। आहाहा! यह कहते हैं।

मम ज्ञान में है आतमा, दर्शन चरित में आतमा।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योग में भी आतमा॥१००॥

आहाहा! **यहाँ (-इस गाथा में), सर्वत्र आत्मा उपादेय (-ग्रहण करनेयोग्य) है...** आत्मा ही अनुभव करनेयोग्य है, ऐसा विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१०७, गाथा-१००, शनिवार, मागशर कृष्ण ११, दिनांक १५-१२-१९७९

नियमसार, गाथा १००।

सर्वत्र आत्मा उपादेय (-ग्रहण करनेयोग्य) है, ऐसा कहा है। पहला है न? **यहाँ (-इस गाथा में), सर्वत्र आत्मा उपादेय (-ग्रहण करनेयोग्य) है, ऐसा कहा है।** अब पहला ज्ञान में लेते हैं। **आत्मा वास्तव में अनादि-अनन्त,...** वस्तु है। सत् है... सत् है... सत्ता है। उसे आदि-अनन्त क्या होगा? अनादि-अनन्त है। **अमूर्त,...** है। रंग, गन्ध, स्पर्शरहित चीज़ है। **अतीन्द्रियस्वभाववाला,...** आत्मा है। अतीन्द्रिय स्वभाववाला। इन्द्रियों से ग्राह्य हो, ऐसा वह नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन में भी इन्द्रियों से ग्राह्य हो, ऐसा वह नहीं है।

शुद्ध, सहज-सौख्यात्मक है। शुद्ध स्वभाविक सुखस्वरूप है। आनन्दस्वरूप है। स्वभाविक उसका स्वभाव ही आनन्द है। अतीन्द्रिय आनन्द, स्वभाविक अतीन्द्रिय आनन्द

शुद्ध, ऐसा जिसका स्वभाव है। यह आत्मा की व्याख्या है। ऐसा जो **सहज शुद्ध ज्ञानचेतनारूप से परिणमित...** ऐसा जो भगवान आत्मा स्वभाविक शुद्ध ज्ञानचेतना। दया, दान, वह कर्मचेतना है और हर्ष-शोक, वह कर्मफलचेतना है। वह वस्तु आत्मा में नहीं है। यहाँ तो **ज्ञानचेतनारूप से परिणमित...** अनन्त ज्ञानस्वरूप प्रभु है। उसमें दृष्टि देने से **ज्ञानचेतनारूप से परिणमित जो मैं...** ज्ञान की पर्यायरूप से, अवस्थारूप से, सम्यग्ज्ञान की दशारूप से हुआ वह **मैं उसके (अर्थात् मेरे) सम्यग्ज्ञान में सचमुच वह (आत्मा) है...** आत्मा में वह सम्यग्ज्ञान है। उस सम्यग्ज्ञान में आत्मा है। वह सम्यग्ज्ञान कोई शास्त्र से या पर से प्रगट होता है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

ऐसा जो सम्यग्ज्ञान, उसमें आत्मा है, अर्थात् आत्मा के आश्रय से सम्यग्ज्ञान हुआ है। उस सम्यग्ज्ञान के समीप में प्रभु विस्तरता है। सम्यग्ज्ञान उसे कहते हैं कि मोक्ष के मार्ग का अवयव है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन अवयवी, उसका एक अवयव सम्यग्ज्ञान है। वही ज्ञान, सम्यक् उसे कहते हैं कि जिस ज्ञान में आत्मा समीप में वर्तता है। आहाहा! राग और पुण्य-पाप के विकल्प से दूर वर्तता है। वह ज्ञान आत्मा में समीप में वर्तता है। ऐसी बात है। उस मेरे ज्ञान में **परिणमित जो मैं...** पर्याय में परिणमित है, ऐसा सम्यग्ज्ञान, उसमें वास्तव में **वह (आत्मा) है;...** आहाहा! उस आत्मा के अवलम्बन से सम्यग्ज्ञान हुआ है, इसलिए सम्यग्ज्ञान में आत्मा समीप में है। सम्यग्ज्ञान में राग की मन्दता और निमित्तों की समीपता है, इसलिए सम्यग्ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

धर्म का पहला (सोपान) सम्यग्ज्ञान है। यहाँ ज्ञान से लिया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का कारण है। उसमें पहला सम्यग्ज्ञान लिया है। उस ज्ञान से परिणमित... वस्तु तो ज्ञानस्वरूप अनादि-अनन्त अमूर्त है, परन्तु उसके लक्ष्य में वर्तमान में ज्ञानरूप परिणमित, सम्यग्ज्ञानरूप दशा हुई, उस सम्यग्ज्ञान दशा में आत्मा समीप वर्तता है। आत्मा ही उसका आश्रय है। सम्यग्ज्ञान में आत्मा का ही आश्रय है। सम्यग्ज्ञान में दूसरे किसी का आश्रय नहीं है। आहाहा! ऐसा सम्यग्ज्ञान है। बड़ा ऐसा कहे संस्कृत, व्याकरण, ग्यारह अंग के शास्त्रज्ञान का पठन, वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। सम्यग्ज्ञान तो जहाँ आत्मा समीप में वर्तता है, जिसके ध्येय में आत्मा है। सम्यग्ज्ञान में ध्येय में, आश्रय में, अवलम्बन में आत्मा है; इसलिए उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञान के समीप में प्रभु आत्मा है। आहाहा! और

वह समीप में प्रभु है तथा दया, दान, पुण्य-पाप के विकल्पों से सम्यग्ज्ञान दूर-दूर है। आहाहा! ऐसी बातें पूरे दिन सवेरे भी यह और शाम को भी यह। ऐई.. कनुभाई! आहाहा! बापू! मार्ग तो यह है, भाई! अनन्त काल हुआ, प्रभु! चौरासी के अवतार में से नजर नहीं की। वह नजर नहीं की, भाई! भूल गया। आहाहा! माता के गर्भ में से जब जन्मा, जन्मकर छह-बारह महीने निकाले, उस समय का याद है तुझे? आहाहा! इस भव की विद्यमान हुई अवस्था। माता ने किस प्रकार इसे... आहाहा! दूध किस प्रकार पिलाया? दो पैर ऐसे लम्बे करके उसमें बिठाकर नीचे दस्त कराया। दोनों पैर लम्बे करके फिर लड़के को दस्त कराने बिठाते हैं न? याद है?

यहाँ कहते हैं कि इस भव में भी बीती हुई याद नहीं, इसलिए 'नहीं है'—ऐसा कैसे कहा जाए? प्रभु! इस भव में हुई बात बीत गयी, उसे 'नहीं है'—ऐसा कैसे कहा जाए? इसी प्रकार अनन्त भव में बीत गयी, बापू! आहाहा! अनन्त-अनन्त भव के एक-एक क्षण में अनन्त दु:खों के भव भोगे हैं। वह भूल गया, इसलिए 'नहीं है'—ऐसा कैसे कहा जाए? उन्हें याद नहीं करता, इससे 'नहीं है'—कैसे कहा जाए? याद करे तो है और नहीं तो नहीं (-ऐसा नहीं है)। आहाहा! यहाँ तो मैं तो आत्मा अनादि-अनन्त भगवान वास्तव में हूँ। यह मेरा जो सम्यग्ज्ञान है, इसमें वह आत्मा ही वर्तता है। उस आत्मा के अवलम्बन से मुझे सम्यग्ज्ञान हुआ है। आहाहा! कोई देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन से भी नहीं। आहाहा! कठिन काम है। धर्म अपूर्व है न! पूर्व में कभी किया नहीं, इससे वस्तु अपूर्व ही है। इस मेरे ज्ञान में परिणमित को वास्तव में आत्मा ही है। आहाहा! एक बात।

अब सम्यग्दर्शन। दूसरा, सम्यग्दर्शन। इसमें दूसरी भाषा लेंगे **पूजित परम पंचम गति की प्राप्ति...** आहाहा! सिद्धगति, वह पूजित परम गति है। पूजित परम पंचम गति है। यह चार गति—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव—यह तो भटकने की गति है। वह तो पूजित परम पंचम गति... आहाहा! पूजनेयोग्य **परम पंचमगति की प्राप्ति के हेतुभूत...** देखा? सम्यग्दर्शन में यह डाला है। आहाहा! **पंचमगति की प्राप्ति के हेतुभूत पंचमभाव की भावनारूप से परिणमित...** आहाहा! उसमें **सहज शुद्ध ज्ञानचेतनारूप से परिणमित...** ऐसा था। सहज शुद्ध ज्ञान। इसमें तो **पंचमभाव की भावनारूप से परिणमित...** ज्ञायकभाव जो त्रिकाल, पंचम भाव जो उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक चार पर्याय है, उनसे वह

अलग चीज़ है। द्रव्य में ये चार भाव नहीं हैं। क्षायिकभाव भी द्रव्य में नहीं, तो उदय — राग-द्वेष के भाव—तो किसमें अन्दर हों? पंचमभाव ऐसा जो भगवान त्रिकाली।

पंचमभाव की भावनारूप से... परन्तु बात क्या कही? कि **परम पंचमगति की प्राप्ति के हेतुभूत...** पर्याय ली है। पंचम गति की प्राप्ति का कारण पंचम भाव की भावना। पंचम भाव, पंचम भाव परिणमित... परिणमित... त्रिकाली पंचम भावरूप से परिणमित। भावनारूप से अर्थात् विकल्प और कल्पनारूप से रहा हुआ - ऐसा नहीं। पंचम भाव की भावना अर्थात् एकाग्ररूप से परिणमित। भावना का अर्थ यह है। जयसेनाचार्य की टीका में श्रावक का अधिकार है। समकिती श्रावक है, वह जब सामायिक में बैठता है, तब किसी समय उसे शुद्धोपयोग भी आ जाता है। शुद्धोपयोग की भावना आ जाती है, ऐसा पाठ है। अर्थात् उसे भावना का अर्थ ऐसा करे कि वह तो उसका भाव आवे या विकल्प (कि) ऐसा होवे तो ठीक। ऐसा उस भावना का अर्थ करते हैं। (किन्तु) ऐसा नहीं है।

पंचम गुणस्थानवाला सच्चा श्रावक सामायिक में बैठता, तब किसी समय उसे शुद्धोपयोग हो जाता है। पुण्य-पाप के विकल्प छूटकर शुद्धोपयोग हो जाता है। उसे पंचम भाव की भावना कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा! इसका नाम सामायिक। यहाँ तो सामायिक के नाम की भी खबर नहीं होती। **पंचमभाव की भावना...** त्रिकाली भगवान ज्ञायक जो अस्ति तत्त्व है। अस्ति है, वह पूर्ण है। पूर्ण है, वह पूर्ण पवित्र है। पवित्रता की एकाग्रतारूप से परिणमित **जो मैं, उसके सहज सम्यग्दर्शनविषय में...** उसके सहज सम्यग्दर्शन। **(अर्थात् मेरे सहज सम्यग्दर्शन में)...** उस पंचम भाव की भावना, उस पंचम भाव का विषय, ऐसी भावना वह पर्याय सम्यग्दर्शन की, उस **सहज सम्यग्दर्शनविषय में...** ऐसी जो पर्याय सहज सम्यग्दर्शन से परिणमित, उसका विषय। **(अर्थात् मेरे सहज सम्यग्दर्शन में) वह (आत्मा) है;...** सम्यग्दर्शन परिणमित में विषय में, ध्येय में आत्मा है। आहाहा!

सम्यग्दर्शन के ध्येय में... सम्यग्दर्शन भी नहीं। वह पर्याय है। यहाँ ऐसा कहा है कि **पंचमभाव की भावनारूप से परिणमित...** यह पर्याय है। **जो मैं उसके सहज सम्यग्दर्शनविषय में...** उसके त्रिकाली वस्तु के स्वभाविक सम्यग्दर्शन के विषय में **(अर्थात् मेरे सहज सम्यग्दर्शन में) वह (आत्मा) है;...** सम्यग्दर्शन की पर्याय में आत्मा

की ओर झुकता है। आहाहा! देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, वह समकित और नव तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा, वह समकित, वह नहीं। सम्यग्दर्शन के विषय में तो पंचम भाव वर्तता है। वह सम्यग्दर्शन पंचम भाव की परिणति है, पंचम भाव की पर्याय है। पंचम भाव है, वह द्रव्य है। पंचम भाव, वह त्रिकाली द्रव्य-वस्तु है, उसकी भावना-एकाग्रता वह पर्याय है। उस पर्याय का विषय है, वह पंचम भाव है। आहाहा! ऐसा कठिन काम है। जन्म-मरणरहित होने का मार्ग ऐसा है। चौरासी के अवतार किये, उन्हें छोड़ने का पन्थ यह है। बाहर से मानो यह किया... यह किया... यह किया... इसलिए उसमें से आ जायेगा, उसके निषेध के लिये आत्मा-आत्मा। मेरे ज्ञान परिणमन में आत्मा, मेरे सम्यग्दर्शन के विषय में आत्मा... आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र भी मेरे सम्यग्दर्शन के विषय में नहीं है। आहाहा! है या नहीं? कठिन लगे या दूसरा लगे। क्या हो? प्रभु परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ का मार्ग-वस्तुस्थिति तो यह है। उनके कथन और उनके कहे हुए शास्त्र, वह प्रभु के श्रीमुख से निकले हुए, वह श्रीमुख से निकली हुई ध्वनि ऐसा वह कहते हैं कि प्रभु! आहाहा!

पंचमगति की प्राप्ति के हेतुभूत पंचमभाव की भावनारूप से परिणमित... आहाहा! कितने शब्द आये? **पूजित परम पंचमगति...** ये सब 'प-प' आये। उसकी प्राप्ति, उसका हेतु पंचमभाव, उसकी **भावनारूप से परिणमित जो मैं, उसके सहज सम्यग्दर्शनविषय में (अर्थात् मेरे सहज सम्यग्दर्शन में) वह (आत्मा) है;...** आहाहा! नवतत्त्व की श्रद्धा कहते हैं न? उस नव में एक आ गया। एक की यथार्थता हुई, उसमें आठ नहीं है—ऐसा ज्ञान उसमें आ जाता है। आहाहा! एक वस्तु पूर्णानन्द के नाथ को दृष्टि में लेने पर, उसकी पर्यायें उसमें नहीं, ऐसा ज्ञान आने पर उस ज्ञान में नवतत्त्व की श्रद्धा आ गयी। आहाहा! ऐसी बातें हैं। साधारण लोगों को तो यह नया निकाला होगा? ऐसा कैसे कहते हैं? कितने ही कहते हैं ऐई! कान्तिभाई! सोनगढ़वालों ने यह नया निकाला। अपना चलता पन्थ है, वह क्रियाकाण्ड का जो है, वह बराबर है और यह नया निकाला। भगवान! ऐसा रहने दे, प्रभु! नया पन्थ नहीं, प्रभु! यह पन्थ अनादि का परमात्मा जिनेश्वरदेव का यह पन्थ है। यह वाड़ा नहीं, यह पक्ष नहीं, यह अलग पन्थ नहीं; यह वस्तु का स्वभाव है। आहाहा! इसलिए ऐसा कहा न? मेरा भाव पंचम गति की प्राप्ति का भाव, पंचम भाव की भावना। **भावनारूप से परिणमित जो मैं उसके सहज सम्यग्दर्शनविषय में (अर्थात्**

मेरे सहज सम्यग्दर्शन में) वह (आत्मा) है;... इसमें पन्थ कहाँ आया ? इसमें तो वस्तु आयी। आहाहा!

वीतराग जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ ने यह कहा, प्रभु! ठीक लगे, न लगे। दूसरे को एकान्त लगे कि यह व्रत और नियम और यह सब करना नहीं ? तो ठीक यह खोज निकाला। अब ऐसा भी बोलते हैं। यशपालजी! यह व्रत, तप बापू! वह ऐसे कठोर किये थे। युवावस्था में ऐसी कठोर क्रिया थी। बहुत कठोर क्रिया। आहाहा! दो-दो दिन तक पानी की बूँद नहीं मिलती। निर्दोष। ऐसे दिन व्यतीत किये हैं। पानी बिना अकेले छाछ से चलाया है। उस समय उस क्रिया में माना था। ऐसी सख्त क्रिया थी परन्तु वह सब शुभभाव की क्रिया है। वह कोई धर्म-वर्म नहीं है। आहाहा! हम आहार लेने जाएँ, सेठियों की बहुयें काँपें, काँपें... सके नहीं। ३०-३५ वर्ष की उम्र, आहार लेने जायें और निर्दोष ऐसा चाहिए। जरा भी पानी का कलश नीचे पड़ा हो, छुआ हुआ पानी अन्दर मात्र। महिला आहार देने उठे और यदि उसकी साड़ी छू जाए, बस घर बन्द। उसके घर से आहार-पानी नहीं लें। ऐसे कितने वर्ष निकाले हैं। यह तो उस समय। बापू! यह सब क्रिया कष्ट, यह कहीं मूल बात / धर्म नहीं है। आहाहा!

यह तो कहते हैं कि **(अर्थात् मेरे सहज सम्यग्दर्शन में)... पूजित पंचमगति की प्राप्ति के हेतुभूत...** आहाहा! ऐसे **पंचमभाव की भावना...** यह हेतु। आहाहा! उस **भावनारूप से परिणमित जो मैं, उसके सहज सम्यग्दर्शनविषय में...** मेरा प्रभु है। आत्मा मेरे सम्यग्दर्शन में है। सम्यग्दर्शन में कोई देव-गुरु-शास्त्र या भेद नहीं है। आहाहा! दो बोल हुए। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन।

अब चारित्र। चारित्र में आत्मा है। चारित्र उसे कहते हैं, प्रभु! पंच महाव्रत के परिणाम और समिति, गुप्ति, देखकर चलना, वह कहीं चारित्र नहीं है। आहाहा! देखकर चलना, विचारकर बोलना, अशुभ को रोककर शुभ करना, वह कोई चारित्र नहीं है। आहाहा! चारित्र तो चरना। तिर्यंच हो, वह कुछ चरे, वह वस्तु चरता है या वस्तु बिना चरे ? ढेले खाये ? हरियाली ऐसे जम गयी हो, उसे तिर्यंच खाता है - चरता है। इसी प्रकार चारित्र अर्थात् अन्दर जम गया आनन्द का नाथ, प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द का दल है, उसे अनुभव करे, उसका स्वाद ले, उसे खाये, उसका अनुभव करे, उसका नाम चारित्र है। कान्तिभाई!

ऐसी बातें हैं। आहाहा! परन्तु यह सब निश्चय की बात है। किन्तु उसके साधनरूप से व्यवहार चाहिए न? ऐसा कहते हैं। व्यवहार होता है, परन्तु साधनरूप से नहीं, जाननेरूप से है।

जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक ज्ञानी को भी व्यवहार आता है, राग आता है परन्तु वे जानते हैं कि बन्ध का कारण है। राग है, वह बन्ध का कारण है परन्तु कमजोरी के कारण आये बिना रहता नहीं। आता है, इसलिए आदरणीय है - ऐसा नहीं। आता है, इसलिए आदरणीय है और हितकर है, (ऐसा नहीं है)। ज्ञानी को भी आता है, इसलिए हितकर है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग जरा कठिन है।

अब चारित्र। चारित्र में **साक्षात् निर्वाण प्राप्ति..** का कारण। देखा? उस सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन में मुक्ति की साक्षात् प्राप्ति नहीं थी। आहाहा! सम्यग्दर्शन और ज्ञानसहित जो चारित्र है, वह **साक्षात् निर्वाण प्राप्ति के उपायभूत,...** आहाहा! तीनों में फेरफारवाली भाषा है। **साक्षात् निर्वाण (मुक्ति) प्राप्ति के उपायभूत,...** अकेला सम्यग्दर्शन और ज्ञान वह कहीं साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है। अन्दर चारित्र, सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, अन्दर में आनन्द की रमणता में जमावट जम जाए, अतीन्द्रिय आनन्द में जम जाए दल जम जाए... आहाहा! जैसे सर्दी में घी जम जाता है, वैसे आत्मा रागरहित स्थिररूप ज्ञान में जम जाए। आहाहा! वह साक्षात् मुक्ति का कारण चारित्र है। परन्तु चारित्र की व्याख्या बहुत कठिन, बापू! आहाहा!

यह नग्नपना लिया, वस्त्र छोड़े, पंच महाव्रत के नाम धराये, इसलिए चारित्र है, बापू! ऐसा नहीं है। भाई! यह किसी व्यक्ति के दोष की बात नहीं है, प्रभु! यह वस्तु का स्वरूप ऐसा है। आहाहा! विरुद्ध हो, उसे भी टलकर प्रभु! तेरा कल्याण होओ। विरुद्ध भाव में न रहो। विरुद्ध भाव में तो प्रभु! भविष्य में काल बिताना पड़ेगा। कठिन पड़ेगा, प्रभु! आहाहा! धर्मी की भावना यह नहीं होती। धर्मी की भावना तो सब आत्माएँ निर्वाण पद को प्राप्त करें, केवल (ज्ञान) प्राप्त करें.... प्राप्त करें। अरे रे! ऐसे दुःख के समुद्र में पड़े हैं। उस दुःख के समुद्र में रहना, बापू! ठीक नहीं, प्रभु! कहते हैं। आहाहा! मुझे तो ठीक नहीं परन्तु दूसरों के लिये भी मुझे ठीक नहीं - ऐसा कहते हैं। आहाहा! सब भगवान हैं। वे दुःख प्राप्त करें, नरक और निगोद के दुःख, बापू! सुनने में कठिन पड़े ऐसा... आहाहा!

अक्षर के अनन्तवें भाग निगोद को (ज्ञान का) उघाड़ रह गया। कितना हीन हो गया, कितनी दुःख की दशा? वह दशा जितनी हीन हो गयी, उतना दुःख। ओहो! संयोगरूप से नारकी का दुःख कहलाता है। अन्दर की हीनदशारूप का दुःख निगोद का है। आहाहा! द्रव्यरूप से निगोद का जीव भी परमेश्वर है, हों! परन्तु पर्याय में ऐसी हीनदशा हो गयी है कि दूसरे जीव उसे जीव है, ऐसा स्वीकार करने को (तैयार नहीं होते)। आहाहा!

एक वचन ऐसा है। प्रभु! ऐसे कितने निगोद में गये क्योंकि उन्हें इस आत्मा के तत्त्व के अस्तित्व को उड़ा दिया। यह नहीं। सब राग से होता है, इससे होता है, यह होता है। ऐसा (मानकर) विद्यमान चीज़ को उड़ा दिया और जिसमें जन्मा उसे यह आत्मा ही है, यह अन्य को आत्मा है, यह स्वीकार करना भी कठिन पड़ता है, ऐसी स्थिति में गया, प्रभु! आहाहा! आत्मा को तूने आड़ दी थी, प्रभु! आहाहा! वह आड़ अभ्याख्यान के फल में उसकी दशा हीन हो गयी, बापू! हीन भाषा भले तुम्हें लगे, परन्तु उसमें अनन्त दुःख है। पर्याय में अनन्त आनन्द का घात हो गया है। पर्याय में, हों! द्रव्य तो अनन्त आनन्दरूप ही है। उस समय भी (ऐसा ही है) परन्तु पर्याय में अनन्त आनन्द का घात हो गया, उस दुःख की क्या व्याख्या कहें? आहाहा!

इसलिए कहते हैं कि **साक्षात् निर्वाण प्राप्ति के उपायभूत, निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप....** निज स्वरूप में अविचल स्थिति... आहाहा! तीनों की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, वह चारित्र यह। **निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप....** आनन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर प्रभु, लबालब भरा है, उसमें अविचलरूप-चलित न हो इस प्रकार से स्थितिरूप अन्दर **सहज-परमचारित्रपरिणतिवाला...** स्वभाविक चारित्रपरिणतिवाला... आहाहा! यह चारित्र है। अरे! भाई! चारित्र की व्याख्या, बापू! कठिन, बापू! किसी व्यक्ति का इसमें कुछ नहीं है। वस्तु की स्थिति ऐसी है, भाई! इसने दरकार नहीं की। छोटी-छोटी उम्र के बालकों की भी स्थिति पूरी हो जाती है तो चले जाते हैं। हार्टफेल हो जाए तो चले जाते हैं। आहाहा!

अभी ही बात की न रामजीभाई ने। कहीं दो व्यक्ति शाम को दुकान बन्द करते होंगे। उसमें डाकू आये, बहुत मारा। मारकर माल ले गये। आहाहा! यह स्थिति है। किस गाँव

में ? रामजीभाई ! अफ्रीका में। शाम को दुकान बन्द करता होगा, उसमें डाकू आये, मारा और मारकर माल-बाल ले गये। आहाहा ! यह स्थिति खड़ी होती है। अस्पताल में ले गये। अन्दर मार पड़े, हड्डियों में दुख हो। आहाहा ! दास को उसने पूछा था दर्द कैसे है ? क्या रहता है। कहा - यहाँ दुःख होता है। दुःख का पिण्ड पूरा आत्मा पड़ा है। शरीर में आत्मा रहा है, दुःख के पिण्ड में प्रभु आनन्द का नाथ कलंकरूप से रहा है। आहाहा ! भव करना, वह कलंक है, प्रभु ऐसा कहते हैं। प्रभु ! तुझे भव नहीं होता। भव का भाव नहीं होता। प्रभु ! यह कलंक है। तीन लोक का नाथ वीतरागस्वरूप, देखो न... आहाहा !

निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप... आहाहा ! स्वभाविक **परमचारित्र-परिणतिवाला...** मैं स्वयं - ऐसा कहते हैं। मुनि स्वयं। आहाहा ! पद्मप्रभमलधारिदेव। ऐसा **परमचारित्रपरिणतिवाला जो मैं...** आहाहा ! पंचम काल में भी यह है या नहीं ? यह तो ९०० वर्ष पहले की बात है। अभी ऐसा कहते हैं कि साधु को अभी शुभयोग ही होता है। प्रभु ! ऐसा रहने दे। शुभयोग ऐसा कहते हैं कि आगे बढ़ नहीं सकते। शुभयोग, धर्म-बर्म तो दूसरी चीज़ है। ऐसा स्वीकार करके प्रभु ! दोष और अदोष स्वीकार कर, ऐसा बचाव करने से यह कहीं आत्मा में लाभ नहीं होगा। आहाहा ! अरे ! जीव ने भी अनादि से यही किया है। अपना अवसर आवे तो अपने दोष का बचाव करके इस प्रकार बाहर में से छूटा है। अन्दर में से तो दोष में से कब छूटे ? आहाहा ! पंच इकट्ठे हुए हों और दोष किया हो, उसे स्वीकार करना पड़े। आहाहा ! नहीं, नहीं मैं उसमें नहीं था। मेरा नाम नहीं। वह तो दूसरे लड़के करते होंगे, उनका होगा। आहाहा ! ऐसे दोष से अलग हुआ परन्तु अन्दर में दोष से अलग नहीं हुआ।

यहाँ कहते हैं, में तो **सहज-परमचारित्रपरिणतिवाला...** परिणतिवाला **जो मैं...** आहाहा ! भाषा देखो ! पाठ ऐसा है न ? '**आदा खु मज्झ णाणे**' यह समयसार की गाथा है। समयसार की यह गाथा बन्ध अधिकार में है। ऐसा जो **सहज-परमचारित्रपरिणतिवाला जो मैं...** वह **साक्षात् निर्वाण प्राप्ति के उपायभूत, निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप...** आहाहा ! **सहज-परमचारित्रपरिणतिवाला जो मैं, उसके (अर्थात् मेरे) सहज चारित्र में भी वह परमात्मा सदा...** उस स्वभाविक चारित्र में भी परमात्मा सदा **सन्निहित (-निकट)...** वर्तता है। मेरे चारित्र में प्रभु निकट वर्तता है। आहाहा ! मेरे चारित्र में पंच

महाव्रत के परिणाम और विकल्प वह मुझमें नहीं वर्तता। आहाहा! उनसे तो मैं दूर वर्तता हूँ। आहाहा! सुनकर इसे पहले ज्ञान तो करना पड़ेगा न? आहाहा!

यहाँ बेचारी एक महिला है। उसका पूरा शरीर अग्नि से (दाह से) जलता है। ललिता भावसार (है)। पूरा शरीर ऐसा कितने ही वर्ष से रोग है। अन्दर पूरा शरीर जलता है। आहाहा! लालचन्दभाई नहीं यहाँ? ....वे। अपने रखियालवाले नेमचन्दभाई! ऐसा करते थे। यहाँ अन्दर कुछ होता होगा। अन्दर परमाणु है, वे ऐसे दर्द करे यहाँ। आहाहा! यह हीरालाल आते हैं न? हीराभाई सेठ। लड़का बैठता है। नहीं बैठते थे? बहुत पैसेवाला है। ५०-६०-७० लाख हैं परन्तु लड़के का विवाह करने गया और (रेल में) चढ़ने गया, वहाँ गिर गया, इतना हाथ कट गया, टुकड़े हो गये। इतना हाथ समाप्त हो गया। यहाँ बैठते हैं। कभी आते हैं, परन्तु व्यक्ति ऐसा जहाँ टुकड़े हुए, अलग पड़ गया। ज्ञायक, मैं ज्ञायक हूँ-ऐसी पढकार किया था। मेरा कटता है, यह नहीं। झवेरचन्दभाई बैठते हैं, वहाँ साथ बैठते हैं। हीराभाई! आहाहा! पैसेवाला है। ५०-६० लाख। बहुत उदार भी है, लाखों रुपये देते हैं, लाखों रुपये पुस्तकों में (देते हैं)। आहाहा! परन्तु कट गया तो मिलने बहुत आते हैं। बड़ा व्यक्ति है, उसकी इज्जत बड़ी और शान्त व्यक्ति। मिलने आते हैं, उसमें बात समय गया और फिर... शुरु हो गयी। उन्हें ऐसा कि गिरा। इतना सब कट गया। जीते जी हाथ कट गया। आहाहा! ऐसा अनन्त-अनन्त बार हुआ है। एक बार नहीं हुआ कहीं। उसकी बात नहीं। आहाहा! ऐसा अनन्त बार हुआ, बापू! विद्यमान बात को भूल गया।

यह विद्यमान भगवान तीन लोक का नाथ, जिसकी रमणता में साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति, ऐसा जो चारित्र उसमें **परमात्मा सदा...** परमात्मा अर्थात् देखा? यहाँ परमात्मा लिया। परि-आत्मा। यह आत्मा परमात्मा लिया। आहाहा! **सदा सन्निहित (-निकट)...** वर्तता है। मेरे चारित्र में तो आत्मा निकट वर्तता है। पंच महाव्रत के परिणाम और समिति-गुप्ति, यह तो सब बन्ध के कारण हैं। आहाहा! ऐसा करके फिर एकान्त माने, बापू! आगे चल न सके। ऐसा कहे एकान्त है, बापू! दूसरा व्यवहार होता है। ऐसा निश्चय भान होता है, उसे जब तक वीतराग न हो, तब तक भक्ति के परिणाम आते हैं, महाव्रत के आते हैं, समिति-गुप्ति के आते हैं, देव-गुरु-शास्त्र की वन्दन-भक्ति का बहुमान आता है परन्तु जानता है कि हेय है, त्यागनेयोग्य है, दुःखरूप है। मेरी कमजोरी के कारण आये बिना नहीं

रहते, तथापि वे दु:खरूप हैं। मोक्ष का कारण नहीं है। आहाहा! साक्षात् निर्वाण की प्राप्ति का कारण तो यह चारित्र है। यह ऐसा चारित्र। आहाहा! समझ में आया? प्रभु! समझ में आये ऐसी सादी भाषा में आता है। आहाहा!

परमात्मा... इसमें परमात्मा लिया। चारित्र हुआ न? ज्ञान-दर्शन में तो हीनदशा थी और चारित्र में दशा ऊँची हो गयी। अन्तर में रमते-रमते आनन्द की रमणता... आहाहा! परमात्मा.. परमात्मा.. मैं तो हुआ और मेरी चारित्र की पर्याय में परमात्मा निकट वर्तता है। आहाहा! वापस **परमात्मा सदा...** ऐसा नहीं कि किसी समय ऐसा और किसी समय महाव्रत के परिणाम और आहार लेने जाए, तब भगवान दूर हो जाते हैं-ऐसा नहीं। मेरी चारित्रदशा में तो निरन्तर सदा परमात्मा ही वर्तता है। आहाहा! विद्यमान चीज़ अन्दर पड़ी है। सत् है... सत् है... अस्ति है... सत्तावाली चीज़ है और जो चीज़ है, वह स्वभावरहित नहीं होती और जिसका स्वभाव है, वह मर्यादित नहीं होता। अमर्यादित स्वभाव अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द उसमें भरा है, भगवान! आहाहा! ऐसा **परमात्मा सदा सन्निहित (-निकट) है;...** आहाहा! मेरे चारित्र में भी वह परमात्मा **वह परमात्मा सदा सन्निहित (-निकट) है;...** आहाहा! गजब है न!

नियमसार। समयसार की बात करते हैं परन्तु इस नियमसार में यह है। कितनी ही बात तो समयसार से भी बढ़ जाए, इतनी बात इसमें है। क्योंकि आचार्य स्वयं कहते हैं कि मेरे लिये मैंने तो बनाया है। आहाहा! विशेष दूसरा अब।

प्रत्याख्यान। अब प्रत्याख्यान चौथा बोल। '**दंसणे चरित्ते य। आदा पच्चक्खाणे**' है न? चौथा बोल है। प्रत्याख्यान में कौन है? कि यह प्रत्याख्यान किया, लो यह त्याग किया। विकल्प है, वह प्रत्याख्यान है? प्रत्याख्यान का तो यह अधिकार है। यह निश्चय प्रत्याख्यान का अधिकार है।

भेदविज्ञानी,... इससे प्रत्याख्यान की शुरुआत की। राग के विकल्प से भी भिन्न ऐसा मेरा प्रभु, ऐसा जो मैं **भेदविज्ञानी, परद्रव्य से पराङ्मुख...** विकल्प से और परसंयोग से पराङ्मुख। आहाहा! **तथा पंचेन्द्रिय के विस्ताररहित देहमात्रपरिग्रहवाला...** यह मुनि की दशा। भाव से भी ऐसे ही होते हैं और द्रव्य से भी देहमात्र ही होती है। मुनि को वस्त्र-पात्र नहीं हो सकते। आहाहा! जब तक वस्त्र-पात्र है, तब तक मुनिपना नहीं है। आहाहा!

अन्तर से जहाँ चारित्र हुआ, उसे ऐसा विकल्प होता ही नहीं। ऐसा स्वभाव है। आहाहा! **पंचेन्द्रिय के विस्ताररहित देहमात्रपरिग्रहवाला...** है। एक नग्न शरीर है, बाकी दूसरा सब छोड़ दिया है। आहाहा! वस्त्र नहीं, पात्र नहीं। आहाहा! यह लेखन, लिखना, ताड़पत्र वह कोई चीज़ मेरी नहीं है। आहाहा! वह कोई मेरी चीज़ नहीं है।

देहमात्रपरिग्रहवाला... देखा? मुनि को है। जंगल में बसते हैं, ताड़पत्र पर लिखते हैं। वहाँ ताड़पत्र बहुत हैं न? सूरत के पास कौन सा गाँव वह? अंकलेश्वर नहीं। सजोत, सजोत। सजोत है न? भरूच के पास। पुराना दो हजार वर्ष पुरानी प्रतिमा है। हम वहाँ गये हैं। दो बार जा आये हैं। वहाँ दो बार जा आये हैं। जितने नजदीक हो, उतने में तो सर्वत्र जा आये हैं। दो हजार वर्ष पहले की पुरानी प्रतिमा नीचे है। क्या कहलाता है? भोंयरा में। नीचे भोंयरा जैसा है। दो हजार वर्ष पुरानी दिगम्बर मूर्ति - प्रतिमा है। आहाहा!

कहते हैं कि **देहमात्रपरिग्रहवाला जो मैं...** मुनि कहते हैं... आहाहा! **देहमात्रपरिग्रहवाला जो मैं...** देह तो छूटती नहीं। देह की ममता छूटती है परन्तु देह नहीं छूटती। आहाहा! देह तो उसकी स्थिति प्रमाण छूटेगी, इसलिए ऐसा कहते हैं कि देहमात्रपरिग्रह तो है। आहाहा! उस **देहमात्रपरिग्रहवाला...** ऐसा कहकर मुनिपने की दशा का वर्णन भी किया है। मुनि हों, उन्हें वस्त्र और पात्र भी हों, तो वे मुनि नहीं हैं। कुन्दकुन्दाचार्य सूत्रपाहुड़ में ऐसा कहते हैं कि वस्त्र का एक धागा रखकर मुनिपना माने, मनावे तो निगोद में जायेगा। आहाहा! वस्तुस्थिति ऐसी है। ऐसा पाठ है। सूत्रपाहुड़ की सोलहवीं गाथा में (कहा है कि) निगोद में जायेगा ऐसा पाठ है। सूत का धागा रखकर... आहाहा! मोटरें साथ में रखकर, घास रखकर... आहाहा! सूत्रपाहुड़ में है। कुन्दकुन्दाचार्य का है। काललब्धि भी कुन्दकुन्दाचार्य का है। अष्टपाहुड़ में काललब्धि। वह कहे काललब्धि नहीं। यह और ऐसा निकला। जिसे जैसा रुचे वैसा। समाज को कुछ खबर नहीं। जो बात सामने कहे, वह जय नारायण। आहाहा!

कहते हैं कि मैं जो **देहमात्रपरिग्रहवाला...** और भेदविज्ञानी। अन्दर राग से भिन्न पड़ा हुआ, **परद्रव्य से पराङ्मुख...** हूँ। परद्रव्य से तो पराङ्मुख हूँ। स्वद्रव्य से सन्मुख हूँ। आहाहा! **उसके निश्चय-प्रत्याख्यान में...** उसके सच्चे प्रत्याख्यान में। निश्चय-प्रत्याख्यान में... आहाहा! सच्चा प्रत्याख्यान जो है, वह मुझमें कहते हैं उसमें शुभ-अशुभभाव भी नहीं

है। पुण्य-पाप के परमाणु भी नहीं, सुख-दुःख की कल्पना भी नहीं, छह बोल भी नहीं। मेरे प्रत्याख्यान में मुझे शुभ-अशुभभाव नहीं, पुण्य-पाप नहीं और सुख-दुःख नहीं।

इन छह के सकल संन्यासस्वरूप है.... प्रत्याख्यान में छह के त्यागस्वरूप है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव भी प्रत्याख्यान में नहीं आता। ऐसी बात है। छह जोड़ा कहे न? **शुभ, अशुभ, पुण्य, पाप, सुख और दुःख, इन छह के सकल संन्यासस्वरूप...** छह का बिल्कुल त्याग। **(अर्थात् इन छह वस्तुओं के सम्पूर्ण त्यागस्वरूप है) उसमें—वह आत्मा सदा...** ऐसा जो मेरा प्रत्याख्यान... आहाहा! मुनिराज कहते हैं, ऐसा जो मेरा प्रत्याख्यान-पच्चक्खाण, उसमें **(छह वस्तुओं के सम्पूर्ण त्यागस्वरूप है)...** ऐसा। छह में सम्पूर्ण त्यागस्वरूप। जरा भी शुभराग प्रत्याख्यान में है, ऐसा नहीं है। निश्चय-प्रत्याख्यान में, सच्चे प्रत्याख्यान में जरा भी शुभराग है नहीं। शुभराग, वह प्रत्याख्यान है ही नहीं। आहाहा!

उसमें—वह आत्मा सदा आसन्न (-निकट) विद्यमान है;... छह के त्याग में, नित्य प्रत्याख्यान में **उसमें—वह आत्मा सदा आसन्न (-निकट) विद्यमान है;...** उस प्रत्याख्यान में आत्मा ही निकट है। प्रत्याख्यान में कोई शुभराग की मन्दता और बाहर के क्रियाकाण्ड की दशा, वह प्रत्याख्यान में साथ में है, वह प्रत्याख्यान नहीं है। आहाहा! है न? इसमें है न? **सदा आसन्न (-निकट) विद्यमान है;...** आहाहा! और **सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि,...** सहज-स्वभाविक **वैराग्यरूपी महल...** यह महल अर्थात् मकान। उसका शिखर, उसका शिखामणि। वैराग्य का जोर है, कहते हैं। मुनिराज को वैराग्य... वैराग्य... उदास... उदास... उदास... चलते सिद्ध हैं। आहाहा! सन्त, दिगम्बर सन्त मुनिवर चलते सन्त हैं, उन्हें मुनिवर कहते हैं। आहाहा!

यह **सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि, स्वरूपगुप्त...** स्वरूपगुप्त। स्वरूप में गुप्त, **और पापरूपी अटवी को जलाने के लिए...** पापरूप अटवी अर्थात् जंगल, उसे **जलाने के लिए पावक समान...** अग्नि समान **जो मैं...** आहाहा! **उसके शुभाशुभसंवर में...** उस शुभ-अशुभ संवर में **(वह परमात्मा है),...** शुभ और अशुभ का त्याग है, उसमें संवर है, उसमें परमात्मा है। शुभभाव, वह संवर है - ऐसा नहीं है। आहाहा! शुभ और अशुभभाव दो के त्यागरूप, ऐसा जो परमात्मा, आत्मा, उसमें संवर है। है न? **शुभाशुभसंवर**

में (वह परमात्मा है),... शुभाशुभ रोकने में—अटकाने में परमात्मा है। उस संवर में परमात्मा है परन्तु संवर कौन सा ? कि यह संवर। ऐसे लेकर बैठे और पाँच पच्चक्खाण करो, दुकान-बुकान का काम थोड़ा करके फिर सवेरे आवे। पूरे दिन प्रौषध करे। जामनगर में बहुत करते हैं। जामनगर में देखा है न! ऐई! आठम के प्रौषध करते हैं न ? पाखी के। आहाहा!

उस **शुभाशुभसंवर में (वह परमात्मा है),...** आहाहा! वह आत्मा है। **तथा अशुभोपयोग से पराङ्मुख,...** अशुभ पाप के परिणाम से तो पराङ्मुख हूँ, विरुद्ध हूँ। **शुभोपयोग के प्रति भी उदासीनतावाला...** शुभोपयोग जो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, उनसे भी उदासीनतावाला हूँ। क्योंकि वह कोई मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! **और साक्षात् शुद्धोपयोग के सम्मुख...** शुभ-अशुभ परिणामरहित, साक्षात् शुद्धोपयोग। नौ सौ वर्ष पहले पंचम काल के मुनि ऐसा कहते हैं। आहाहा! मुनिवर की ऐसी दशा होती है। वे स्वयं कहते हैं, शुभ-अशुभरहित **शुद्धोपयोग के सम्मुख जो मैं...** मैं तो शुद्धोपयोग के सन्मुख हूँ। मेरा प्रभु शुद्ध है, उसके सन्मुख मेरा उपयोग है। पुण्य-पाप से तो उपेक्षा है। आहाहा!

परमागमरूपी पुष्परस जिसके मुख से झरता है... स्वयं मुनि कहते हैं कि यह जो सब निकलता है, वह परमागम है। मेरे मुख में से जो निकलता है, वह परमागम का रस झरता है। आहाहा! वीतराग की वाणी है, ऐसा कहना है। मेरे घर का कुछ नहीं है। सब परमागम की वाणी है। यह तो पहले भी कह गये हैं। इसकी टीका करनेवाला मैं तो कौन ? गणधर से लेकर मुनि और आचार्य की परम्परा से यह टीका चली आ रही है। आहाहा! वह **परमागमरूपी पुष्परस जिसके मुख से झरता है, ऐसा पद्मप्रभ—उसके शुद्धोपयोग में...** योग में। अन्तिम है न ? संवर और योग। योग अर्थात् यहाँ शुद्धोपयोग लिया है। योग अर्थात् मन, वचन, काया का योग नहीं। योग अर्थात् अन्तर व्यापार शुद्धोपयोग।

उसके शुद्धोपयोग में भी वह परमात्मा विद्यमान है... आहाहा! स्वयं अपनी बात करते हैं। देखा ? **शुद्धोपयोग के सम्मुख जो मैं—परमागमरूपी पुष्परस जिसके मुख से झरता है, ऐसा पद्मप्रभ—उसके शुद्धोपयोग में भी वह परमात्मा विद्यमान है आत्मा रहा हुआ है। कारण कि वह (परमात्मा) सनातन स्वभाववाला है।** वह वस्तु सनातन स्वभाव, अनादि-अनन्त स्वभाववाली है। उसके सन्मुख मेरी दृष्टि है। उसके सन्मुख में मैं स्थिर हूँ। वह मेरा शुद्धोपयोग है। वह शुद्धोपयोग संवर है। शुभोपयोग, वह संवर नहीं है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१०८, गाथा-१००, रविवार, मागशर कृष्ण १२, दिनांक १६-१२-१९७९

नियमसार, गाथा १००, इसमें आधार। **इस प्रकार एकत्वसप्तति में (-श्री पद्मनन्दि-आचार्यवरकृत पद्मनन्दिपंचविंशतिका के एकत्वसप्तति नामक अधिकार में ३९, ४० तथा ४१वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—**आधार दिया है कि मैं ऐसा कहता हूँ परन्तु आचार्य भी ऐसा कह गये हैं।

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम्।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः।।

वही एक (-वह चैतन्यज्योति ही एक) परम ज्ञान है,... आहाहा! चैतन्यज्योति जो स्वरूप आत्मा, वही एक ज्ञानस्वरूप है। उससे कोई दूसरा ज्ञान अलग नहीं है। आहाहा! शास्त्रज्ञान को भी यहाँ ज्ञान नहीं कहा गया है। यह चैतन्य ज्ञानस्वरूप जो है। भाषा क्या है? **वही...** वही। **एक (-वह चैतन्यज्योति ही एक) परम ज्ञान है,...** आहाहा! उसके आश्रय से, उसके अवलम्बन से ज्ञान प्रगट होता है, इसलिए वस्तु स्वयं एक है, वही एक ज्ञान है। आहाहा! मोक्ष के मार्ग में पहला ज्ञान, दर्शन, चारित्र। उसमें ज्ञान उसे कहते हैं कि चैतन्य पदार्थ जो अन्दर चैतन्यरस से भरपूर, वही ज्ञान है। उसका ज्ञान, वह ज्ञान है। वह ज्ञानस्वरूप है और उसका ज्ञान, वह ज्ञान है। बाकी कोई पठन-वठन, बाहर की बातें, वह ज्ञान-ध्यान नहीं है। आहाहा!

वही एक पवित्र दर्शन है,... पवित्र दर्शन, वह भी एक आत्मा ही है। आहाहा! दर्शन अर्थात् समकित। **वही एक पवित्र दर्शन है,...** त्रिकाल चैतन्यज्योति भगवान, वह एक ही परम ज्योति है। एक ही है न पहले? **वही...** कहा, इसीलिए ही वहाँ ले गये। **वही एक...** अर्थात् वह एक ही **पवित्र दर्शन है,...** आहाहा! समकित और दर्शन कोई दूसरी चीज़ नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र को मानना और नवतत्त्व के भेद मानना, वह कोई समकित नहीं है, **वही एक...** अथवा वह एक ही **पवित्र दर्शन है,...** आहाहा!

आत्मा का अन्तर पूर्ण स्वरूप, उसकी प्रतीति, उसका दर्शन वही एक दर्शन है। आहाहा! उसके सन्मुख देखने को समय नहीं मिलता और धर्म करना है और धर्म करते हैं, ऐसा मानता है। आहाहा! यहाँ तो प्रभु जो चैतन्यस्वरूपी भगवान आत्मा परमेश्वरस्वरूप

ही प्रभु है। यह ज्ञान है अथवा इसके अवलम्बन से होनेवाला वह ज्ञान है। वह वस्तु पवित्र दर्शन ही आत्मा है और उसके अवलम्बन से होनेवाला सम्यक्त्व वह दर्शन है। किसी दूसरे के अवलम्बन से दर्शन होता है, वह समकित-बमकित नहीं है। उसमें है या नहीं ? आहाहा!

न्यालभाई को भाई ने पूछा होगा। अपने न्यालभाई के पास चार-पाँच करोड़ रुपये हैं। वे पति-पत्नी दो ही हैं। इन हिम्मतभाई के भाई के पुत्र। उनसे पूछा कुछ करते हो ? कहे, हाँ! एक घण्टे पूजा-भक्ति करते हैं। हो गया लो! एक घण्टे सामने फोटो लेकर पूजा और भक्ति करते हैं। हो गया। आहाहा! अरे रे! क्या करे ? पैसेवाले का सिर घूम जाता है। सिर घूम जाता है। उससे छोटा कैसा ? पूनमचन्द, वह भी एक बार उसके पिता को ऐसा कहता था, इन्होंने कहाँ पैसे देखे हैं, कहता था। क्या भाषा थी ? हाँ, पैसे का स्वाद इन्होंने कहाँ देखा है ? क्योंकि उस समय २५-३०-४० हजार जितने होंगे। अधिक रुपये तो यहाँ थे। कस्तूरभाई। गाँव में पैसे वहाँ अधिक थे। शान्तिभाई के पिता के पास थे। अस्सी हजार कहलाते थे। शुरुआत में पहले। हम तो वहाँ पहले से जाते थे न! उनके पास कहाँ तीस-चालीस हजार थे। दोनों एक मकान में आमने-सामने रहते थे। वह वहाँ हम छाछ लेने आते थे न ? तुम्हारे घर में बुढ़िया थी न ? छोटेभाई की माँ। गाँव में छाछ लेते, इसलिए वहाँ गर्म पानी लेते। गर्म पानी एकदम निर्दोष मिले नहीं, इसलिए छाछ लेते थे। वहाँ हम जाते थे। सामने शान्तिभाई का घर और सामने इनका घर - छोटाभाई का। आहाहा! पैसा कहाँ तक ? आहाहा! गजब बात है। पैसा मारकर बुद्धि फिरा डाली।

आज तो सुना है, न्यालभाई तब कहते थे। वह बीस लाख की मोटर ली थी न तुमने! तब न्यालभाई कहते थे स्विट्जरलैंड में पचास लाख की मोटर है। किसी के यहाँ पचास लाख की मोटर है। और आज तो सुना है कि पाँच करोड़ की एक मोटर है। यह कैसा कहलाता है ? ख्रिस्ती के गुरु। पोप, पोप के पास पाँच करोड़ की एक मोटर है। हीरा-माणिक जड़ी हुई, पाँच करोड़ की। आहाहा!

मुमुक्षु : परपदार्थ कहाँ बाधक है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसकी ममता है न ? ममता मार डालती है। यह मेरा, यह मेरा... मेरा... यहाँ तो सिद्धान्त, वह सिद्धान्त नहीं कहा, कि राग-द्वेष आदि सब परद्रव्य हैं। उसमें आ गया या नहीं ? '**सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि सेव्यतां**' मोक्षार्थी को

आश्रय लेना, वह भगवान आत्मा पूर्णानन्द का आश्रय लेना। आहाहा! इसके अतिरिक्त सब चीज़ें धूल-धाणी। भले पचास करोड़ की हो, धूल करोड़ की हो। आज और सुना है। चन्दुभाई कहते थे।

मुमुक्षु : त्यागी तो ऐसा ही कहते आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! परन्तु प्रभु! क्या हो? ईशु को स्वयं जड़ा तब गाय का माँस माँगा था। विरोधियों ने जड़ा था न? उसमें मर गया न? कीलें लगायीं। उसमें गाय का माँस माँगा था। उस समय यह दशा। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! माँस के खानेवाले तो नरक में जाते हैं। भाई! वे परमेश्वर नहीं कहलाते, वे सज्जन नहीं कहलाते। आहाहा! यहाँ तो यह कहते हैं कि अन्दर पुण्य के भाव हों, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव हो, वह भी घोर संसार का मूल है, ऐसा कह गये हैं। आहाहा! क्योंकि विकल्प है। राग है, वह संसार है। भगवान आत्मा तो संसार से रहित है। वह तो सब परद्रव्य है। विकल्प है जो दया, दान, व्रत, भक्ति, वह तो परद्रव्य है। भगवान आत्मा स्वद्रव्य में तो अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान और अनन्त शान्ति, अनन्त-अनन्त वीतरागता भरी है। वह एक ही आत्मा को दर्शन है। वह पवित्र दर्शन, वह इसका दर्शन, वह पवित्र दर्शन है। आहाहा! दूसरे ग्रन्थ का आधार दिया है। पद्मनन्दिपंचविंशति में है। यहाँ व्याख्यान में वाँचन हो गया है।

वही एक चारित्र है... अथवा वह एक ही चारित्र है। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ अनन्त-अनन्त शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... अर्थात् कि चारित्र अर्थात् अकषायभाव, उससे भरपूर भगवान पूर्ण स्वरूप, शान्ति से लबालब भरा है। उस शान्ति से भरा हुआ, वह चारित्र है और उसका आश्रय करना, वह चारित्र है। आहाहा! निश्चय चारित्रस्वरूप त्रिकाल है। उसका आश्रय लेना और स्थिर होना, वह पर्याय चारित्र है। कोई व्यवहार दया, दान, व्रत, तप, पच्चखाण बाहर के, ये कोई चारित्र नहीं है। आहाहा! इसे जाना कहाँ? धन्धे के कारण फुरसत नहीं मिलती। शान्तिभाई! यह पाप। पूरे दिन पाप, पाप और पाप। इसका किया... इसका किया... इसका किया... अर..र..र! दुकान में बैठे तो ऐसे मानो सेठ। गद्दी में बैठे और ग्राहक आवे और प्रतिदिन की दो सौ-पाँच सौ रुपये की आमदनी हो। ऐसा बड़ा धन्धा हो। धन्धा बड़ा होता है न?

पालेज में हमारे बड़ी दुकान है। अब तो लड़के अलग हो गये हैं। वह अभी तीनों की बड़ी आमदनी है परन्तु इकट्ठे थे, तब एक दिन की आठ सौ रुपये की आमदनी। एक दिन की आठ सौ की आमदनी। अब भाग पड़ा। पहले लाख, सवा लाख की आमदनी होगी। अलग हो गये। वह दुकान थी। आहाहा! मस्तिष्क फट जाए न इसमें? एक दिन की हजार की आमदनी। बड़ा गृहस्थ हो, उसे पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार की आमदनी। यह मलूकचन्द और पूनमचन्द को बड़ी आमदनी है। आहाहा! एक-एक दिन की दस-दस हजार की आमदनी, आमदनी। मस्तिष्क फट जाए न! दोनों भाईयों को घड़ी के धन्धे में विवाद था। घड़ी का बड़ा धन्धा। बड़ा न्यालचन्द, छोटा यह। दोनों के पास है। एक के पास चार-पाँच करोड़, उसके पास चार-पाँच करोड़ घड़ी में विवाद था, वह विवाद मिटा। एक महीने में साठ हजार रुपये देना। पूनमचन्द ने छोटे भाई ने बड़े को लड़का नहीं है। एक लड़की है, उसका विवाह कर दिया। चार करोड़ रुपये हैं। उसे महीने में साठ हजार रुपये देना है। यहाँ मुम्बई में मात्र एक धन्धा। आहाहा! एक दिन का दो हजार देना। वह बारह महीने में महीने के साठ हजार देना। बारह महीने के ७२० हजार। है, अभी है न! यह सब उसके जोबालिया के रहे। आहाहा! मस्तिष्क फट जाए। अरे! प्रभु! तू कौन है? तेरे चैतन्यचमत्कार के एक समय के सम्यग्दर्शन की कीमत के समक्ष चक्रवर्ती के, इन्द्र के राज भी जहाँ तृणतुल्य है। आहाहा! कहीं स्तुति में आया था। देव के सुख से यह सुख जरा बूँद है। वह तो देव के सुख के साथ संसार का सुख। आत्मा के सुख के साथ किसी देव के सुख के साथ मिलान नहीं होता। देव का सुख तो जहर सुख है और आत्मा का सुख तो अमृत सुख है। उस अमृत सुख को संसार के सुख से अनन्तगुना... तब तो अनन्तगुना जहर हुआ। सेठियों को, अरबोंपति को जो सुख है, उससे अनन्तगुना सुख आत्मा में है। जाति एक हो गयी। जाति एक हो गयी, ऐसा नहीं है। सेठियों को जो सुख है, वह तो जहर है और आत्मा का सुख है, वह तो अमृत है। उसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती। अरे! प्रभु! ऐसा तू है, भाई! आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **वही एक चारित्र है...** आहाहा! यह चारित्र की व्याख्या। अभी तो मात्र बाहर से यह छोड़कर बैठे और बैठना। चारित्र... नग्न है, नग्न है, पंच महाव्रत पालता है। पंच महाव्रत भी कहाँ थे? आहाहा! उनके लिये बनाया हुआ आहार ले। निर्दोष

आहार तो अभी मिले, ऐसा नहीं है। उनके लिये बनाया हुआ आहार हो, चौका-वौका वहाँ आहार ले। व्यवहार से यह तो वस्तु का स्वरूप हो। व्यक्ति का तो उसके परिणाम की जबावदारी में तो... सबके परिणाम की जबावदारी वह परिणाम उसे है, बापू! वह दया करनेयोग्य है। आहाहा! वस्तुस्थिति ऐसी कठिन है। आहाहा! कि उसके लिये बनाया आहार ले तो भी कहते हैं, उसे अधःकर्म करके उद्देशिक देने का प्रत्याख्यान नहीं, त्याग नहीं। वह चारित्र नहीं। चारित्र तो यह। एक ही चारित्र है।

वही एक चारित्र है... अर्थात् वह एक ही चारित्र है। स्वरूप आनन्द का नाथ, प्रभु! अन्दर त्रिकाली चारित्र—अकषायस्वरूप ही है, उसकी रमणता, वह एक ही चारित्र है। चारित्र का दूसरा प्रकार नहीं है। ऐसी बात है। आहाहा! **तथा वही एक निर्मल तप है।** अपवास करके बैठे। नकोरडा, बिना पानी के (निर्जल) पर्यूषण में दस उपवास करे, घर में न जाए, वहाँ का वहीं बैठे। कहते हैं कि वह तप नहीं है, वह तो लंघन है। आत्मा आनन्द का नाथ है, उसमें एकाकार होना, वह तप है। वह स्वयं वास्तव में तो तपस्वरूप ही है। आहाहा! अनाकुल आनन्द सागर वह स्वयं है। उसके आश्रय से वह भाव हो, वह तप है। उसके बिना तप-वप वह सब लंघन है। आहाहा! ऐसा होवे तो फिर कोई करेगा नहीं, कहते हैं। परन्तु करे क्या? यहाँ तो शुभभाव छोड़कर अशुभ करना, उसके लिये यहाँ बात नहीं है। शुभ छोड़कर अशुभ करना, यह प्रश्न यहाँ नहीं है। शुभ है, वह राग है, विकार है, जहर है, दुःख है, संसार है; इसलिए वहाँ से हट जा। जहाँ भगवान बैठा है, वहाँ जा। आहाहा! अरे रे! ऐसी बात! यह तप उसे कहते हैं। कहा न?

वही एक निर्मल तप है। बस। निर्मल तप उसे कहते हैं, बाकी लंघन है। आहाहा! एक मुनि दूसरे आचार्य का आधार देते हैं। स्वयं मुनि हैं, वे आचार्य का आधार देते हैं। पद्मनन्दि आचार्य भी यह कहते हैं। मैं अकेला कहता हूँ, ऐसा नहीं। पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं। आहाहा! एक श्लोक हुआ। उसे तप कहते हैं। देखा? निर्मल तप। 'तपन्ते इति तपः' अन्दर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित, निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसहित विशेष-विशेष उग्र पुरुषार्थ से आनन्द की निर्मल धारा विशेष बढ़े, इच्छा का नाश होकर निरिच्छक दशा विशेष बढ़े, उसे तप कहा जाता है। दूसरे को तप नहीं कहते। इसमें है या नहीं? यहाँ सोनगढ़ का है यह? पद्मनन्दि आचार्य का आधार देते हैं। आहाहा! अरे! भाई!

तू कब करेगा ? प्रभु ! ऐसा अवसर मिला। आहाहा ! सुनना मुश्किल पड़े, ऐसा तुझे सुनने को मिला। आहाहा ! नहीं कहा था ? हमारे गुरु थे। बेचारे ऐसे लौकिक सज्जन थे। बहुत सज्जन। भाई ने देखे हैं ? 'राणपर' देखे थे। राणपर और ७१ के वर्ष में वहाँ राजकोट आये थे। भाई ने चातुर्मास करने की प्रार्थना की थी। आहाहा ! ठाकरसीभाई ने। ७१ के वर्ष की बात है। ७० में दीक्षा और फिर ७१ के वर्ष में वहाँ गये थे। रामजीभाई को खबर है। आहाहा ! ऐसे लौकिक सज्जन, गम्भीर, शान्त, कषाय मन्द, ब्रह्मचर्य का (रंग) यह बात कान में नहीं पड़ी कि दया पालना, वह राग है और राग है, वह हिंसा है। यह शब्द कान में नहीं पड़े। अर..र..र.. ! क्या हो ? जगत के जीव अनादि से ऐसे के ऐसे भटक रहे हैं। किसी न किसी पक्ष में पड़कर मिथ्यात्व को पोषण देते हैं।

यहाँ तो तप उसे कहते हैं कि आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु, उस अतीन्द्रिय आनन्द की; जैसे सोने को गेरु लगाने से, जैसे वह शोभता है और झलकता तथा चमकता है; इसी प्रकार भगवान आत्मा इच्छा निरोध करके आनन्द में जाए, उस आनन्द से अन्दर झलके, अतीन्द्रिय आनन्द से झलके, तपे, उसका नाम तप कहा जाता है। आहाहा ! यह एक श्लोक हुआ। दूसरा।

नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मङ्गलम्।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम्।।

यहाँ 'एव' डाला।

सत्पुरुषों को... धर्मी जीव को, सच्चे धर्मी को, सच्चे समकिती को, सच्चे ज्ञानी को, धर्म की सत्य शुरुआत हुई है, उसे **सत्पुरुषों को वही एक नमस्कारयोग्य है,...** भगवान आत्मा एक ही नमस्कार करनेयोग्य है। आहाहा ! ठीक। भगवान स्वयं कहते हैं कि उसे नमस्कार करनेयोग्य है। तुझे नमस्कार करनेयोग्य तू है। हम तो व्यवहार नमस्कार करनेयोग्य... आहाहा ! त्रिलोक के नाथ पुकार करते हैं। उनकी वाणी के ये मुनि तो आड़तिया हैं। कि नमस्कार करनेयोग्य होवे तो तू है। आहाहा ! परन्तु उसे पहिचाने बिना नमस्कार किसे कर ? आत्मा कौन है ? क्या है ? कैसे है ? यह कैसे है ? कहाँ है ? उसे जहाँ वस्तु का ज्ञान, भान ही नहीं, वहाँ उसे फिर नमस्कार करना ? अन्दर कहाँ नमस्कार ? यह तो बाहर के व्यर्थ में किया करता है। इन पंच परमेष्ठी को नमस्कार और इस नवकार को नमस्कार, शास्त्र को नमस्कार, वह सब तो पुण्यभाव है; वह कहीं धर्म-वर्म नहीं है। आहाहा ! आचार्य महाराज का यह पुकार है।

वहीं, **सत्पुरुषों को वही एक...** मूल तो यह कहा **तदेवैकं** वह ही, ऐसा। **वही एक...** वह एक ही नमस्कारयोग्य है। वह एक ही नमस्कारयोग्य है। आहाहा! दुनिया की दरकार छोड़कर जगत को प्रसिद्ध करते हैं। यह दुनिया कैसे मानेगी, करेगी, इसकी उन्हें कुछ पड़ी नहीं है। प्रभु! मार्ग यह है। आहाहा! चैतन्य अन्दर भगवान... आहाहा! विराजमान है। आहाहा! पूर्णानन्द से भरपूर, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर, भरचक भरपूर... आहाहा! अतीन्द्रिय शान्ति से भरपूर, अतीन्द्रिय वीतरागभाव से भरपूर ऐसा भगवान एक ही भगवान **नमस्कारयोग्य है,...** आहाहा! नमः समयसाराय—आता है न पहला? यह वह बात है।

मेरा प्रभु पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का ज्ञान है और उसकी कीमत है, इसलिए अब मैं उसे नमता हूँ। मेरा ढलान, मेरा झुकाव आत्मा चिदानन्द प्रभु है, वहाँ मेरा झुकाव है। वह नमस्कार है। आहाहा! बात-बात में अन्तर है। आहाहा! यह तो चार मांगलिक में से निकालेंगे, हों! **सत्पुरुषों को वही एक...** अथवा वह एक ही **नमस्कारयोग्य है,...** एक ही नमस्कारयोग्य है। दूसरा नमस्कारयोग्य है, वह सब व्यवहार है, जाननेयोग्य है। आहाहा! ऐसा होगा तो देव और गुरु को कोई मानेगा नहीं फिर। परन्तु जिसे ऐसी मान्यता होती है, उसे ऐसा व्यवहार विनय, विवेक आये बिना रहता नहीं। समझ में आया? जिसे सत्य यही है और इसका दर्शन और ज्ञान, वही वस्तु है—ऐसा भान होता है, उसे देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, विनय करने का शुभभाव आये बिना नहीं रहता। तथापि वह शुभभाव पुण्य-बन्ध का कारण है, ऐसा वह जानता है। वह शुभभाव मुझे धर्म होता है, ऐसा वह नहीं जानता। आहाहा! इन्द्र, यह एक आठवाँ द्वीप है न, कौन सा, नन्दीश्वरद्वीप। इन्द्र, समकिती नन्दीश्वरद्वीप में जाते हैं। एकावतारी भवी, शकेन्द्र, घुँघरुँ बाँधकर भगवान की प्रतिमा के सामने नाचते हैं। समझते हैं कि यह क्रिया जड़ की है, बाहर की है, मुझमें जरा भाव है, वह शुभ है, वह सब मुझे हेय है परन्तु इस कमजोरी के कारण आये बिना नहीं रहता। आहाहा!

वही एक नमस्कारयोग्य है, वही एक मंगल है,... लो, अरिहन्ता मांगलिक, और सिद्धा मांगलिक कहाँ गया? मांगलिक में आता है न? वह व्यवहार की बात है। अरिहन्ता मंगलम्, सिद्धा मंगलम्, और साहू मंगलम्, यह तो परद्रव्य की बात है। यह तो व्यवहार मांगलिक है। यह तो विकल्प शुभराग है। निश्चय मांगलिक, वह एक मंगल आत्मा है। है न? '**तदेवैकं च मङ्गलम्**' एक ही वह मंगल है। आहाहा! आचार्य का जोर! **वही एक**

मंगल है,... यह भगवान आत्मा मंगल है। मं अर्थात् पाप और पुण्य, उसे गल अर्थात गाले नाश कर डाले, ऐसा प्रभु है, वह आत्मा एक ही है। आहाहा! यहाँ तो जहाँ-तहाँ आत्मा के गीत हैं। आत्मा कौन है, इसकी खबर नहीं होती। आहाहा!

अभी तो रास्ते में कुत्ते मर जाते हैं, कौन जाने ऐसे बड़े डाघा जैसे। परन्तु ऐसा कैसे हुआ होगा। अभी-अभी... मोटर के नीचे कुचल जाते हैं। सड़क पर पड़े होते हैं। बड़े डाघा जैसा होते हैं। सिर पर ट्रक चल जाता है। सड़क पर मुर्दा पड़ा हो। आहाहा! वापस मरकर बेचारा कहीं तिर्यंच की दशा में। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच है न? आहाहा! माँस न खाते हों। उसमें अवतरे। आहाहा! अरे रे! यह संसार! एक क्षण भी इस संसार को अच्छा माननेयोग्य नहीं है। आहाहा!

यह मांगलिक आत्मा है। अरिहन्त मंगल और सिद्ध मंगल निकाल दिया। वह तो व्यवहार हो गया, वह तो परद्रव्य है। केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणम् मांगलिक, वह भी पर्याय है। यह तो यह आत्मा ही स्वयं मांगलिक है। आहाहा! है? आहाहा! **वही एक मंगल है,...** एक भी भगवान आत्मा मांगलिक है। पूर्ण शान्त और वीतराग और स्वच्छता, पूर्ण वीतरागी प्रभु आत्मा है। बाकी तो सब पर्याय में पुण्य का विकार, वह शुभराग भी घोर संसार है। क्योंकि उसका फल संसार है। आहाहा! तथापि व्यवहार का वर्णन करते हैं। चरणानुयोग में, करणानुयोग में - गणितानुयोग में (वर्णन करे) हो, उसका वर्णन करे, बतलावे। जाननेयोग्य वस्तु है, परन्तु यह आदरनेयोग्य वह नहीं है। आहाहा!

देखो! चत्तारि मंगलम्, अरिहन्ता मंगलम् - यह उड़ाया। स्वयं आचार्य हैं, वह उड़ाया। हम मांगलिक तेरे लिये व्यवहार हैं। निश्चय के लिये तेरा भगवान आत्मा मांगलिक है। आहाहा! अरे रे! ऐसा आत्मा अन्दर पूर्णानन्द और चैतन्य के रस से भरपूर, अतीन्द्रिय आनन्द और शान्तिरस का कन्द है। जैसे शकरकन्द है न? यह शक्करिया... शकरकन्द। वह शकरकन्द क्यों कहा? वह शक्कर अर्थात् चीनी की मिठास का कन्द है। मिठास। परन्तु वह तो अनन्त परमाणु हैं। यह तो एक ही अनन्त आनन्द का कन्द है। आहाहा! उस शकरकन्द खाने से जैसे शक्कर की मिठास आवे, इसलिए शकरकन्द कहा न? शकरकन्द का अर्थ यह कि शक्कर की जैसी मिठास देता है, वह धूल की मिठास है। आहाहा! वह तो धूल है। शकरकन्द अर्थात् धूल, मिट्टी, पुद्गल। आहाहा!

यह भगवान आत्मा अन्दर अमृत का सागर है, यह एक ही परमात्मा मांगलिक कहा जाता है। भगवान की प्रतिमा, भगवान का मन्दिर, भगवान स्वयं भी कहते हैं कि निश्चय मांगलिक हम नहीं हैं। सच्चा मांगलिक तो तू अन्दर है। आहाहा! वह चाहे तो सम्मेदशिखर की यात्रा करे और चाहे तो शत्रुंजय की करे या गिरनार की करे परन्तु वह सब शुभराग है; वह धर्म नहीं है। उसमें कहीं धर्म नहीं है। धर्म आत्मा धर्मी चैतन्य आनन्द का नाथ, उसमें आश्रित हो, वह धर्म है। आहाहा! इसमें कहाँ अब छिपाने जैसी गुप्त बात है। आहाहा! इसके बिना शरण नहीं है, बापू! यह... ऐसा मुँह फट जाएगा। सब पड़ा रहेगा। आहाहा! अरे! भाई बोल भी नहीं सकते। भाई को साध्य है या नहीं? बुलाओ। बोले बुलावे बोल सकते नहीं। भाषा बन्द हो गयी होगी। साध्य भी नहीं होगा। आहाहा! छह-छह महीने तक साध्य (होश) नहीं। पोरबन्दर भूराभाई को छह-छह महीने तक साध्य नहीं। आहाहा! अरे! प्रभु! यह तो बाह्य की साध्य नहीं परन्तु जिसे आत्मा साध्य भी नहीं और राग वह मेरा, उसमें अटका है, वह भी असाध्य है। यह क्या कहा? पुण्य के परिणाम में रुका हुआ है और पुण्य-परिणाम, वह धर्म है, वह असाध्य में है। कान्तिभाई! आहाहा! बापू! पद्धति तो यह है, भाई! कठिन लगे। ऐसी बात चलती नहीं, इसलिए कठिन लगती है, भाई! परन्तु परम सत्य तो यह है। आहाहा!

परम पीयूष। परम अमृत का सागर नाथ-प्रभु! वह शरीरप्रमाण दिखता है। है भले उसका ऐसा अवगाहन परन्तु उसके गुण के पार की बात नहीं है। आहाहा! ऐसा आत्मा प्रत्येक आत्मा में विराजमान है। वह आत्मा एक ही मांगलिक है। अरिहन्त और सिद्ध मांगलिक, वह व्यवहार में गया। आहाहा! यहाँ तो आवे महाराज! मांगलिक सुनाओ। दुकान लगानी है और दुकान ठीक से चले। कहा न? एक छोटा लड़का युवा व्यक्ति छोटी उम्र का। उसे दुकान लगानी होगी। पच्चीस-तीस लाख वाला था। महाराज! मांगलिक सुनाओ। परन्तु कहा इस देह की ५०-६०-७० वर्ष की स्थिति कहलाती है। यह देह की स्थिति है या आत्मा की? यह मुझे खबर नहीं। यह ५०-६०-७० वर्ष किसके कहलाते हैं? आत्मा के या शरीर के? आत्मा तो अनादि-अनन्त नित्य है। उसे स्थिति कैसी? अवधि तो इसे कहलाती है। आहाहा! यह मूर्त की मूर्ति है, इसकी अवधि है। भगवान तो अमूर्त अनादि-अनन्त है, उसकी अवधि नहीं। वह युवा व्यक्ति था। समझे नहीं, क्या

करे ? और या मांगलिक सुनेंगे तो अपने को... महाराज ! मांगलिक सुनाओ। (आपके) चरण हों तो अपने को पैसा-वैसा मिले। दुकान अच्छी चले।

मुमुक्षु : मुम्बई में सब ऐसा कहते हैं कि गुरुदेव के चरण होते हैं न...

पूज्य गुरुदेवश्री : सब बातें हैं। पुण्य के बिना नहीं होता। यह तो अभी कहा न ? मुम्बई... डॉक्टर को बतलाने गये न ! शरीर को अब कैसे है ? अफ्रीका जाना है न, लोग कहते थे कि एक बार बताओ। डॉक्टर सब पाँच-छह। एक तो बड़ा पारसी डॉक्टर आया था। बहुत होशियार। सब डॉक्टर किसी ने एक पाई नहीं ली। पाई नहीं। अरे ! महाराज ! आप जैसे आये हैं। बड़ा पारसी डॉक्टर था।

मुमुक्षु : उम्मेदचन्द मोदी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ मोदी। एक बार कहे, हम मोटाणी के घर में थे, वहाँ एक पारसी आया था। भरूच, एक पारसी। एक घण्टे के दो सौ रुपये लिये थे। दो सौ रुपये। घर में बुलाया था। उसने एक पाई नहीं ली। त्यागी है। इनके लिये मुझे ऐसा समय कहाँ से मिले ? पाँचों ही व्यक्ति। तीन तो अपने जैन थे, इसलिए वे तो बोले हम जैन हैं महाराज ! आहाहा ! पैसा हो, वह इससे होता है। हमारे पास आने का साधारण लोग तो बहुत हैं, बापू ! साधारण हैं। वह तो पूर्व का पुण्य हो, उसके कारण आते हैं। परन्तु आत्मा को क्या ?

मुमुक्षु : आपके दर्शन हों तो मूर्खता चली जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें हैं। इसे रोग आता है, उसका क्या तब ? इस शरीर को बुखार आता है, शरीर में रोग आता है। वह सब बाहर के माहात्म्य से लोग कहते हैं। अफ्रीका से एक पत्र भी आया है। वहाँ तो बड़े गृहस्थ हैं न ? आठ तो बड़े करोड़पति हैं। बाकी सब पन्द्रह लाख, बीस लाख, पच्चीस लाख और तीस लाखवाले हैं। एक पत्र आया है, महाराज ! आप यहाँ पधारो, तब हमें चरण कराना है, तो उसका क्या करना ? पत्र आया है। और आपका आहार करना है, उसका हमें क्या करना ? लोग घर-घर में माँगेंगे। एक जगह रखना या घर-घर में करना ? ऐसा लेख (पत्र) आया है। लक्ष्मीचन्दभाई प्रमुख हैं। यहाँ आये थे न, यहाँ आये थे। लक्ष्मीचन्दभाई और जेठाभाई दोनों, सब पैसेवाले, हों ! लक्ष्मीभाई के पास सत्तर लाख रुपये हैं। जेठाभाई के पास करोड़ रुपये हैं। यहाँ तो आते थे न, उनका पत्र आया है। आप यहाँ पधारो, हमारे घर में चरण करना है। आपके शरीर को

कैसा है ? किसे खबर, क्या हुआ, कहा। आने तो दो। एक जगह आहार रखना या घर-घर में ? माँगेंगे बड़े-बड़े पैसेवाले। ऐसा लोगों को... आहाहा! यह बाहर की बातें क्या है ? बापू! उसमें क्या पड़ी है ? अन्तर भगवान विराजता है, वहाँ जा न! उसका मांगलिक कर न! वहाँ तुझे मांगलिक होगा। मं अर्थात् पाप और गल अर्थात् गलना। पाप गल जाएँगे। पाप शब्द से यहाँ पुण्य और पाप दोनों, हों! पुण्य और पाप दोनों पाप गल जाएँगे। प्रभु! यह मांगलिक तू तेरा आत्मा है परन्तु यह कैसे जँचे। आहाहा! आज रास्ते में कुत्ता मरा हुआ देखा। बड़ा कुत्ता सिर पर कुछ ट्रक या (दूसरा कुछ) फिर गया होगा। आहाहा! अरे! मरकर वापस कहीं पशु में अवतरित हुआ होगा। ऐसे अवतार अनन्त बार किये हैं, हों! उसने किये ऐसा नहीं। ऐसे अवतार पूर्व में (तुझे) अनन्त बार हो गये हैं। भ्रमणा, मिथ्यात्व की भ्रमणा ऐसी कोई सूक्ष्म है। आहाहा!

जिसे यहाँ तो शुभराग का विकल्प उठे, उसे घोर संसार कहते हैं। यह आचार्य को जगत की कहाँ पड़ी है ? वस्तुस्थिति वर्णन करते हुए वे तो निस्पृही वीतराग हैं। हमारी भक्ति और हमें आहार-पानी देने का भाव तेरा विकल्प है, वह घोर संसार है - ऐसा कहते हैं। अर..र..र..! यह तो मुनि कहते हैं। वीतराग मुनि कहते हैं। आहाहा! भाव आता अवश्य है। पूर्ण वीतराग न हो, तब तक ऐसा भाव आता है परन्तु वह सब हेयबुद्धि चाहिए। उपादेय तो यह एक ही। अपने आया है न ? यह नहीं आया था ? १००वीं गाथा के शुरुआत में। **(-इस गाथा में), सर्वत्र आत्मा उपादेय है...** है ? टीका की पहली। आहाहा! ऐसा व्याख्यान सुनते हुए कितनों को ऐसा हो जाता है कि अर..र..र..! यह किस प्रकार का धर्म होगा ? यह जैनधर्म होगा ? हम तो पालीताणा की यात्रा करें। ९९ यात्रा करें.. अरे! ९९ क्या, लाख कर न! वहाँ कहाँ धर्म है ? यह तो हिलने-चलने की जड़ की क्रिया है, वाणी जड़ की है और राग मन्द रखता हो तो शुभ-पुण्य है। आहाहा! ऐसी बात है।

मांगलिक प्रभु कहते हैं कि मैं मांगलिक निश्चय से नहीं हूँ। आहाहा! यह तो तीर्थंकर, वीतरागी सन्त कहते हैं। वीतरागी सन्त कहते हैं। हम निश्चय मांगलिक नहीं हैं। तब ? कि तेरा आत्मा अन्दर निश्चय मांगलिक है। आहाहा! उन्हें कहाँ पड़ी है ? उन्हें तो सत्य आया विकल्प सहज उठा, वाणी आ गयी है। छूट गये हैं। जितना छूट गया तो सब छूट गया हो गया। आहाहा! ....हमेशा वे मांगलिक करे। सवेरे उठाकर मांगलिक सुनावे।

यहाँ कहते हैं **वही एक मंगल है,...** वह कौन ? आत्मा। आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु निर्मलानन्द स्फटिक जैसा... 'निर्मलता रे स्फटिक की, ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव रे...' आहाहा! 'ज्यों निर्मलता...' स्फटिक देखा ? स्फटिक मणि इतना ? मैंने तो वहाँ जामनगर में देखा। इतना स्फटिकमणि है। वह निर्मल-निर्मल होता है। जैसे उसमें निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव रे श्री जिनवीर ने धर्म प्रकाश किया, प्रबल कषाय अभाव रे...। कषाय का अभाव। राग भी कषाय है, उसका अभाव। आहाहा! गले उतरना कठिन पड़ता है। यह नया। एक तो फिर एक व्यक्ति ऐसा कहता है कि यह नया मार्ग निकाला। भाई! यह किसके घर का ? यह पुस्तक किसकी है, यह। यह यहाँ का लिखा हुआ है ? आहाहा!

वही एक... भाषा ऐसी है न ? '**तदेवैकं**'। '**तदेवैकं' वही एक मंगल है,...** प्रभु आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु निर्मलानन्द की खान... आहाहा! अब उसने ईशु-ख्रिस्ती का गुरु, उसे पाँच करोड़ की मोटर है, पाँच करोड़ की। पोप कहते होंगे। पाँच करोड़ की मोटर। पाँच करोड़ वह क्या ? अकेला सोना पहने तो भी। हीरा डाले होंगे। अरे रे! ऐसी दशाएँ। उसमें प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए। भक्त भी प्रसन्न हो जाए और वह प्रसन्न हो जाए। बापू! यह बाहर की क्या चीज़ ? बाहर के साथ क्या सम्बन्ध है ? वह तो संयोग जो आनेवाले हों, वे आते हैं। उनके कारण से संयोग और उनके कारण से वियोग (होता है)। वह कहीं तुझसे संयोग-वियोग नहीं होता। परचीज़ का संयोग-वियोग का तू त्यागोपादानशून्यत्व है। पर के त्याग और पर के ग्रहण से तो तेरा स्वरूप शून्य है। आहाहा! अशुद्धनिश्चयनय से एक राग का ग्रहण-त्याग है। पर का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है ही नहीं। आत्मा रजकण-कर्म को ग्रहण करे और कर्म को भोगे और कर्म को छोड़े तथा कर्म को बाँधे, यह आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! जैनधर्म का तो यह है न कि कर्म आत्मा बाँधे। अप्पा, कत्ता, विकत्ताय। आत्मा कर्ता और विकर्ता। उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन में अनाथीमुनि का अधिकार आता है। श्वेताम्बर में (आता है) आत्मा कर्ता और आत्मा भोक्ता, बापू! वह वाणी कहीं भगवान की नहीं है। आहाहा!

और यहाँ कर्ता कहते हैं तो उस राग का कर्ता है और कर्म का कर्ता कहते हैं तो उपचार से-व्यवहार से कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिये है। नियमसार में १८वीं गाथा

में आता है न ? व्यवहार से कर्म का कर्ता है। यह निमित्त है इसलिए। कर्ता-फर्ता नहीं है। निमित्त का ज्ञान कराते हैं। ओहोहो ! भगवान एक ही मांगलिक है। **वही एक उत्तम है...** वापस। चार बोल आते हैं न ? चत्तारि शरणम्, अरिहन्ता, चत्तारि लोगोत्तमा, चत्तारि शरणम् चार बोल आते हैं न ? चार उत्तम, इसमें यह कहते हैं **वही एक उत्तम है...** वही एक भगवान उत्तम है। इसके अतिरिक्त जगत में कोई उत्तम नहीं है। परमात्मा तीन लोक का नाथ भी व्यवहार से उत्तम है। निश्चय से उत्तम तो अन्दर तू है। आहाहा ! पहले बात सुनना कठिन पड़े। उठा तब से यह पढ़े, पढ़कर जहाँ बड़ा हो, वहाँ सगाई करे, फिर स्त्री हो, फिर दुकान में लग जाए। ऐई ! आहाहा ! ऐसी की ऐसी जिन्दगी चली जाती है। और शास्त्र सुने तो भी कहनेवाले कल्पना से करे और बातें करे। आहाहा !

यहाँ तो तू एक ही भगवान आत्मा सच्चिदानन्द पवित्र का पिण्ड यह पुण्य और पाप घोर संसार के कारण से रहित तेरा प्रभु है। उसे हम उत्तम कहते हैं। वह पुण्य परिणाम को उत्तम नहीं है, तीर्थंकरगोत्र को उत्तम नहीं (कहते), तीर्थंकरगोत्र जिस भाव से बँधे, वह उत्तम नहीं है। आहाहा ! गजब बात है। धीरुभाई ! ऐसी बात है। आहाहा ! प्रभु ! तुझे शरण की बात है, सत्य की बात है, प्रभु ! आहाहा ! दुनिया माने, न माने, इससे सत्य कहीं दूसरा नहीं होगा। सत्य तो सत्य ही रहेगा। आहाहा ! भले माने, न माने; उसकी संख्या न भी हो, इससे सत्य कहीं दूसरा हो जाएगा ? आहाहा !

वही एक उत्तम है... आहाहा ! प्रभु ! तुम उत्तम नहीं ? हम तो हमारे लिये उत्तम हैं। तुम्हारे लिये उत्तम तू है। आहाहा ! अन्दर है या नहीं ? यह तो मुनि कहते हैं, परन्तु मुनि आचार्य का आधार देते हैं। पद्मनन्दि आचार्य। वे पद्मनन्दि आचार्य ऐसा कहते हैं। आहाहा ! जो बहुत प्रचलित नहीं। पद्मनन्दिपंचविंशति। यहाँ तो वाँचन हो गया है। आहाहा ! व्याख्यान में पूरा वाँचन हो गया है। बहुत वर्ष हुए, परन्तु वाँचन हो गया है। पैंतालीस वर्ष तो यहाँ आये, उसे हुए हैं। पैंतालीस वर्ष। पैंतालीस वर्ष देह की स्थिति में आये थे। पैंतालीस वर्ष में आये थे और पैंतालीस हुए। शरीर को नब्बे वर्ष हुए। गर्भ सहित गिनें तो ९१वाँ वर्ष चलता है। सवा नौ महीने गिने तो ९१वाँ वर्ष है। देह की स्थिति है, प्रभु ! तुझसे उत्तम जगत में कोई नहीं है। आहाहा ! तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह उत्तम नहीं ?

मुमुक्षु : वह भी पर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव उत्तम नहीं ? उसमें से निकलेगा। आहाहा ! झवेरचन्दभाई पीछे बैठे हैं।

मुमुक्षु : थोड़ी सर्दी है इसलिए...

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्दी है इसलिए। सवेरे मैंने देखा नहीं। समझ में आया ? आहाहा ! यह तू एक स्वयं नमस्कारयोग्य और तू एक मांगलिक और तू एक ही उत्तम है। आहाहा ! **तथा वही एक शरण है।** अरिहन्ता शरणम्, सिद्धा शरणम्। कहे, नहीं-नहीं, वे कोई शरण देने नहीं आते। अन्दर में जा, प्रभु पूर्णानन्द का नाथ है, वहाँ तुझे शरण मिलेगी। वह शरण वहाँ है। अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। अतीन्द्रिय चमत्कारिक शक्तियों का तो महा चमत्कार है। दूसरे चमत्कार तुझे भासित होते हैं कि यह चमत्कार, इसे यह हुआ, इसे यह हुआ। आहाहा ! आम बताते हैं न वे ? आम का झूठा आम बताते हैं। हमने दस-बारह वर्ष की छोटी उम्र में देखा है, हों ! आम हो और एक आम। होवे झूठमूठ। आम कहाँ ? केरी कहाँ ? कौन जाने इस प्रकार से बतावे ऐसे। आम होवे तो यहाँ माँगने किसलिए आवे ? ऐसा आम बना न तू। हमने देखा है। दस-बारह वर्ष की उम्र थी। वहाँ कन्याशाला है। उसमें बाहर उसने रात्रि में बताया था। मैंने देखा है आम। पीला आम इतना खोटा आम। आम छोटा और कपड़ा ढँका हुअ। उसमें आम। दुनिया को चमत्कार लगता है। वह चमत्कार नहीं है, बापू ! चैतन्यचमत्कार... आहाहा ! एक-एक गुण में अनन्त चमत्कार, ऐसे अनन्त गुण के चमत्कार से भरपूर तो प्रभु चैतन्य है। वह जगत में तुझे शरण है। आहाहा ! दूसरी कोई वस्तु शरण नहीं है। आहाहा !

यहाँ तो ऐसा कहे - अपन जवानी में कमा लें, फिर वृद्धावस्था होगी तो फिर कमाने की शक्ति नहीं रहेगी तो पैसा-बैसा होगा तो खायेंगे-पियेंगे और ठीक रहेगा। आहाहा ! पहले कमा लें। फिर वृद्धावस्था में कमा नहीं सकेंगे तो वह पैसा होगा तो काम आयेगा। परन्तु तू होगा या नहीं ?

मुमुक्षु : बहुतों को ऐसा काम आया हो, इसलिए ऐसा लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी काम नहीं आया। वीरजीभाई ने ऐसा कहा था। वहाँ सम्प्रदाय में अन्तिम ८९... ८९ का वर्ष। वढ़वाण नहीं। ८९ का वर्ष बहुत लोग थे। दरियापरी उपाश्रय के सामने धर्मशाला है न ? ८९ का वर्ष। तीन-तीन हजार लोग उपाश्रय

में समाते नहीं। सामने धर्मशाला है न? वहाँ अन्दर दालान के ऊपर तो न समाये, इसलिए दालान के ऊपर बैठा नहीं जाए। सामने होवे वहाँ पाट डालकर बैठना पड़े। ऐसे सभा और ऐसे सभा। तीन-तीन हजार लोग। आहाहा! ८९ के वर्ष की बात है। कितने वर्ष हुए? ४७ वर्ष पहले की बात है। तब वीरजीभाई कांप में आये थे। वीरजीभाई से कहा—तुम क्यों आये हो? अभी युवावस्था है, वहाँ कमा लें। तुम क्या कहते हो? यह सब... यह प्रीतमभाई, यह रहे नहीं त्रिभुवनभाई। तब ऐसा कहा था, लो! कि यह कुछ कमाने आये थे। कहा परन्तु यह तुम्हें यहाँ व्याख्यान के समय समय पर आना चाहिए। अभी यह पहले कर लें। कहा, क्या कहते हो यह तुम? फिर रहेंगे या नहीं? कौन रहेंगे किसे खबर? ऐसा बोले थे, हों! फिर तो बदल गये थे। यहाँ तो कहते हैं तू एक ही शरण और तू एक ही उत्तम है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१०९, श्लोक-१३५, सोमवार, मागशर कृष्ण १३, दिनांक १७-१२-१९७९

नियमसार, १०० गाथा का तीसरा श्लोक। ऊपर पद्मनन्दिपंचविंशति का तीसरा श्लोक है।

आचारश्च तदेवैकं तदेवावश्यकक्रिया।
स्वाध्यायस्तु तदेवैक-मप्रमत्तस्य योगिनः।।

क्या कहते हैं? **अप्रमत्त योगी...** अर्थात् कि प्रमत्तयोगी को तो अभी विकल्प आता है। तीन कषाय का अभाव होने पर भी व्यवहार आवश्यक आदि व्यवहार आचार का विकल्प जाननेयोग्य होता है। इन्हें (अप्रमत्तयोगी को) तो विकल्प होता ही नहीं। यह बात ली है; इसलिए अप्रमत्तयोगी लिये हैं। प्रमत्तयोगी नहीं। प्रमत्तयोगी हैं, मुनि हैं, सच्चे सन्त हैं, तथापि छठवें गुणस्थान में प्रमत्तयोगी को प्रमाद का विकल्प-राग होता है। वह राग हेयरूप से है, परन्तु होता है। अप्रमत्त को वह नहीं होता। छठवें के बाद तुरन्त ही सातवाँ (गुणस्थान) आता है। मुनि की दशा ऐसी है कि पहले पाँचवें से, चौथे से सातवाँ गुणस्थान आता है। पहले तो सातवाँ अप्रमत्त ही आता है। फिर उसमें से विकल्प उठे तो छठवाँ

गुणस्थान आता है। फिर छठवाँ आता है, सातवाँ आता है, छठवाँ आता है, सातवाँ आता है—ऐसे हजारों बार आता है। परन्तु छठवें गुणस्थान तक अभी वीतरागता होने पर भी, पूर्ण वीतरागता नहीं है; इसलिए उन्हें अभी शुभराग-विकल्प-व्यवहार आचार आदि का होता है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार (तपाचार और वीर्याचार) पाँच आचार है न? उनके विकल्प होते हैं। यह प्रवचनसार में शुरुआत में चरणानुयोग में लिया है।

यहाँ **अप्रमत्त योगी...** विकल्प छूटकर अन्दर ध्यान में जाते हैं। उन **अप्रमत्त योगी को वही एक आचार है,...** आहाहा! यह पंच महाव्रत के परिणाम और समिति-गुप्ति, ऐसा आचार उन्हें नहीं है। सातवाँ गुणस्थान आया, वह मुनि को होता ही है। सातवाँ आता है, छठा-सातवाँ, छठा-सातवाँ। ऐसे यहाँ सातवें (गुणस्थान) की बात मुख्य की है। **अप्रमत्त योगी को वही एक आचार है,...** वह एक ही आचार है। अन्दर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आचार निर्विकल्प, वह एक ही आचार है। उन्हें व्यवहार आचार है नहीं। आहाहा! यह पंचम काल के मुनि, पंचम काल के जीव को कहते हैं कि मुनि की यह दशा होती है। वे अप्रमत्त में आते हैं, तब उन्हें इस प्रकार का विकल्प नहीं होता। ऐसी दशा को वह एक ही आचार सच्चा है - ऐसा कहते हैं। छठवें गुणस्थान में आवे और व्यवहार आचार आवे, परन्तु वह कोई बात व्यवहारकथनमात्र आचार (है)। अन्दर आनन्द में स्थिर होते हैं, वह एक ही आचार है। समझ में आया? आहाहा!

तीन कषाय का अभाव होने पर भी, मुनि को सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागता होने पर भी अभी छठवें गुणस्थान में व्यवहार से विकल्प आता है। तो कहते हैं कि वह कुछ वस्तु नहीं है। आहाहा! वह कुछ आचार नहीं है। अप्रमत्तयोगी को तो एक ही आचार है। वह आत्मा का आचार, आत्मा के आनन्द में एकाग्रता। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में लीनता-एकाग्रता, वह एक ही आचार है। ऐसा मुनिपना ऐसा होता है, यह अभी श्रद्धा में सुना न हो। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा... आहाहा!

अप्रमत्त योगी को वही एक... अथवा वह एक ही **आचार है,...** ज्ञानानन्दस्वभाव में रमणता, निर्विकल्परूप से ज्ञान-दर्शन-चारित्र-आनन्द में वीतरागभाव का जो भाव, वह एक ही आचार अप्रमत्त योगी सन्त आत्मा को होता है। उसे यहाँ मुख्य वीतरागता गिनी है। आहाहा! **वही एक आवश्यक क्रिया है...** अप्रमत्तयोगी है। छठवें से हटकर अन्दर में

जाते हैं, तब उन्हें सामायिकरूप से वीतरागी ही भाव होता है। चौबीसंथो वीतराग की स्तुति, यह भी वह अन्दर में स्तुति, आत्मा की वह स्तुति, वह आवश्यक है। छह बोल आते हैं न? सामायिक, चौबीसंथो, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान (ये) छह। यह छहों आवश्यक क्रिया... आहाहा! **अप्रमत्त योगी को वही एक...** आवश्यक क्रिया है। छठवें गुणस्थान में आवश्यक क्रिया का व्यवहार से विकल्प आता है, परन्तु वह कोई वस्तु नहीं है। वह तो कहनेमात्र, कथनमात्र है। वस्तुस्वरूप यह है। आहाहा!

अन्दर एक ही आचार है और एक ही क्रिया। **वही एक आवश्यक...** अवश्य क्रिया करने के योग्य होवे तो; मुनि को अप्रमत्तपने में जो आवश्यक क्रिया होती है, वही करनेयोग्य है। आहाहा! श्वेताम्बर के भगवती सूत्र में तो ऐसा आता है कि छठवाँ गुणस्थान... करोड़ पूर्व तक रहता है और सातवाँ गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त रहता है। पूरा उसमें..। ऐसा भगवती में लेख है। अर्थ ही एकदम सत्य से दूर है। यहाँ तो अप्रमत्तदशा अन्तर्मुहूर्त रहती है और प्रमत्तदशा अन्तर्मुहूर्त रहती है, फिर अप्रमत्त आती है; इस प्रकार प्रमत्त-अप्रमत्त हजारों बार अन्तर्मुहूर्त में हजारों बार अन्त में आती है। सैकेण्ड, पौन सैकेण्ड लगभग में छठवाँ गुणस्थान रहता है और पौन सैकेण्ड के आधे भाग में सातवाँ गुणस्थान रहता है, तथापि उसे अन्तर्मुहूर्त कहा जाता है। असंख्य समय है न? भले एक सैकेण्ड, परन्तु वह असंख्य समय है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **वही एक आवश्यक क्रिया है...** अवश्य करनेयोग्य यही है। आगे आवश्यक अधिकार में कहेंगे कि द्रव्य-गुण और पर्याय का विचार करे, वह भी आवश्यक नहीं है। वह पराधीन है। तीन का विचार करे, वह विकल्प है, वह पराधीन है; वह परमार्थ आवश्यक नहीं है। आहाहा! अन्त में आवश्यक का अधिकार है न! द्रव्य-गुण और पर्याय, ऐसे एक के तीन विचार में आवे, वह भी वास्तविक आवश्यक नहीं। वह शुभभाव आया, वह भी पराधीन है। आहाहा! वीतराग का मार्ग सुनना कठिन पड़े! यह तो कोई वीतरागमार्ग ऐसा होगा? अभी तक तो हमने, ऐसा करो, वैसा करो—ऐसा सब... मार्ग ही यह है। पाठ क्या कहलाता है?

वह एक ही आवश्यक है; दूसरा आवश्यक है ही नहीं। आहाहा! छठवें गुणस्थान में है तो वह कथनमात्र, व्यवहार कथनमात्र है। जाननेयोग्य है। वस्तुस्थिति से नहीं। आहाहा!

समझ में आया ? सामायिक या निर्विकल्प आनन्द में अन्तर रहा हो, वह एक ही आवश्यक सामायिक क्रिया है। चौबीसंथो, चौबीस तीर्थंकर की स्तुति कि अन्दर निर्विकल्प में एकाकार होकर रहा, वह एक ही आवश्यक स्तुति है। है न ? सामायिक, चौबीसंथो, वन्दन – वह स्वरूप में – आनन्द में अकेले वन्दन में रहना विकल्प बिना, वह एक ही वन्दनरूपी तीसरा आवश्यक है। आहाहा ! सामायिक, चौबीसंथो, वन्दन, प्रतिक्रमण। यह निश्चय से प्रतिक्रमण भी यह एक ही है। अप्रमत्तयोगी को निश्चय प्रतिक्रमण है। विकल्प उठता है, वह तो कथनमात्र है। यह तो आ गया है। निर्यापक आचार्यों ने छह सूत्र प्रतिक्रमण बनाया है। वह होता है, परन्तु पश्चात् उसका फल छोड़कर अन्दर में जाना वह है। आहाहा !

अब अन्दर में क्या है ? कहाँ है ? कौन है ? उसकी तो खबर भी नहीं होती। आहाहा ! आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द से भरचक भरपूर प्रभु है। ऐसे-ऐसे वीतरागी अनन्त गुण से भरपूर है। वीतरागी अनन्त गुणों से भरपूर है। उसमें स्थिर होना, वह एक ही वन्दन है। वह वन्दन, स्तुति यह चौथा बोल आया न ?

सामायिक, स्तुति या वन्दन तीसरा। यह वन्दन, वह वन्दन है। प्रतिक्रमण भी वही है। प्रत्याख्यान भी वही है। आहाहा ! और कायोत्सर्ग। वह भी आत्मा अनाकुल आनन्दस्वरूप में अप्रमत्तदशा में रमे, वही कायोत्सर्ग है। यह कायोत्सर्ग करते हैं न ? 'तस्सूतरी करणेणं, प्रायश्चित्त करणेणं।' कायोत्सर्ग नहीं करते ? सामायिक में पहले। वह सब कायोत्सर्ग नहीं है। वह सब राग है।

यहाँ तो एक ही कायोत्सर्ग है – ऐसा कहा है। स्वरूप—आनन्दस्वरूप में, अप्रमत्तदशा में जिसने अतीन्द्रिय आनन्द को पहले जाना हो, अनुभव किया हो, उसे यह स्थिति आवे या कुछ जाना नहीं, उसे यह स्थिति आयेगी ? आहाहा ! समझ में आया ? पहले आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय वीतरागमूर्ति है, ऐसा अन्दर में पहले अनुभव-ज्ञान में आवे, ज्ञान में वह चीज़ ज्ञात हो। जो जाना हुआ है, उसमें स्थिर हुआ जाता है। जो चीज़ जानी नहीं, उसमें स्थिर होना क्या ? आहाहा ! ऐसा मार्ग ! यह तो कहे, भाई ! चौथे काल की बात है। चौथे काल के साधु की बात होगी। तो यह कहते हैं पंचम काल का साधु मैं। अभी ९०० वर्ष हुए। मैं ऐसा कहता हूँ कि मुझे तो यह आवश्यक है। आहाहा ! कठिन काम है।

जैनदर्शन वीतराग सर्वज्ञ ने कहा हुआ मार्ग। यहाँ तो विशिष्टता क्या है ? कि एक ही सामायिक का प्रकार है, एक ही चौबीसंथो का प्रकार है, वन्दन एक ही है, प्रतिक्रमण एक ही है, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग भी एक ही है। एक ही प्रकार है। दो नहीं। आहाहा! यह सम्प्रदाय में चलता है, उसका क्या करना ? अकेला चल न! आहाहा! यह अकेला चले वह व्यवहार ही नहीं है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। वह तो निश्चय आत्मा का अनुभव हो, उसे वह विकल्प आवे तो व्यवहार कहलाता है परन्तु वास्तव में वह तो कथनमात्र है। निश्चय में तो अन्दर अप्रमत्तयोग में रमता है, उसे ही हम, एक को ही हम आवश्यक कहते हैं – ऐसा कहते हैं। आहाहा! इसमें है या नहीं ? ऐसा सब फेरफार होगा ? यशपालजी! वहाँ महाराष्ट्र में ऐसा सुना है ? आहाहा! ऐसी बात वहाँ सुनी है ? आहाहा!

यह शास्त्र कहीं घर का बनाया हुआ नहीं है। यह तो दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य का बनाया हुआ है। आहाहा! इसकी टीका फिर पद्मप्रभमलधारिदेव ने बनायी है। वे स्वयं कहते हैं कि अप्रमत्तदशा में जो यह सामायिक है, वह एक ही सामायिक है। छठवें गुणस्थान में भी जो कुछ शान्ति वर्तती है और विकल्प वर्तता है, वह विकल्प सामायिक का कथनमात्र व्यवहार है। यह एक ही सामायिक है। दो सामायिक (नहीं) है। एक निश्चय सामायिक और व्यवहार सामायिक, ऐसी दो है ही नहीं। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! भाई कहाँ गये ? गये ? बुखार आया है ? क्या कहा, समझ में आया ? यह पाठ है, हों!

तदेवैकं शब्द है न ? एक ही यह। बस एक को ही हम सामायिक चौबीस.. वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान कहते हैं। आहाहा! यह सब व्यवहार ? व्यवहार कहते हैं, वह तो कथनमात्र है। वास्तविक वह कोई चीज़ नहीं है। आहाहा! यहाँ एक ही कहा है न ? कि पद्मनन्दिपंचविंशतिका का आधार दिया है। उसका यह श्लोक है। पद्मनन्दिपंचविंशति, मुनि आचार्य हो गये हैं। महादिगम्बर आचार्य... आहाहा! कहते हैं कि मैं कहता हूँ कि सामायिक दो प्रकार की नहीं है। एक निश्चय सामायिक और एक व्यवहार सामायिक। यह यहाँ निषेध करते हैं। आहाहा! अन्दर में निश्चय सामायिक वह एक ही है। वीतरागभाव से रमना, वीतरागभाव का अन्दर स्वाद लेना, वह एक ही सामायिक है और प्रभु की स्तुति भी वह पूर्णानन्द का नाथ, उसकी स्तुति, उसमें एकाग्रता, वह एकत्व चौबीसंथो है। आहाहा! और उसे वन्दन करना, वह एक ही वन्दन है। पहले

अपने आ गया है। नमस्कार करनेयोग्य। इस ओर (आ गया है)। नमस्कार करनेयोग्य वह एक ही जीव है। इसके पहले आ गया है। है ?

इससे पहले का श्लोक। **सत्पुरुषों को वही एक नमस्कारयोग्य है,...** सत्पुरुषों को.. आहाहा! धर्मी-ज्ञानी को तो वह एक ही नमस्कारयोग्य है। अधर्मी-अज्ञानी चाहे जिसे नमस्कारयोग्य माने। और उस नमस्कार में से लाभ मानता है, ऐसा। आहाहा! ऐसा सुना नहीं होगा। वीतरागमार्ग ऐसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो मुनि के लिये है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु मार्ग यह है, ऐसा पहले वह निर्णय तो करे। भले मुनि के लिये है परन्तु देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा तो सच्ची करे कि मुनि ऐसे होते हैं। मुनि कैसे होते हैं उसकी खबर न हो, उसकी श्रद्धा विपरीत है। अमुनि को मुनि माने, वह मिथ्यात्व मान्यता है। आहाहा! साधु को कुसाधु माने, कुसाधु को साधु माने - ऐसा नहीं आता ? पच्चीस प्रकार के मिथ्यात्व में आता है। प्रतिक्रमण में। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **वही एक आवश्यक क्रिया है...** आहाहा! आचार्यों की तो कड़क भाषा। श्रीमद् कहते हैं कि दिगम्बर आचार्यों के तीव्र वचन के कारण रहस्य कुछ समझा जा सकता है। यह वीतरागता का वर्णन... वीतराग... वीतराग... वीतराग... वीतराग... वीतराग... उस आत्मावलोकन में यही कहा है। मुनि का उपदेश, उस उपदेश में वीतरागता ही होती है। राग से रहित वीतराग... वीतराग... वीतराग... वीतराग... आहाहा! क्योंकि वस्तुस्वरूप स्वयं वीतराग है, इसलिए उसके आश्रय से होनेवाली दशा वीतराग है और उसके आश्रय से पूर्ण दशा होने पर पूर्ण वीतराग बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में वीतराग होता है। आहाहा!

प्रभु वीतरागस्वरूप है। उसके आश्रय से वीतरागता होती है; दूसरे के आश्रय से वीतरागता नहीं होती और उसका पूर्ण आश्रय हो तो वीतराग पर्याय में पूर्ण वीतरागता होती है, वीतरागता पूर्ण होती है तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होता है। आहाहा! बारहवें गुणस्थान में वीतरागता होती है, तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होता है। आहाहा! ऐसी बातें। ऐसा सीधा-सट्ट था। एक घण्टे सुनने जाए। नागनेश में सुनने जाए। शान्तिभाई! वह तुम्हारे

वाँचते थे न क्या ? रूगनाथभाई। अब उनके लड़के को फिर प्रेम था। कांप में। लालचन्दभाई को प्रेम था। वे गुजर गये, उन्हें प्रेम-लगन थी, पढ़ते थे।

अरे! यह पक्ष भी कहाँ है ? बापू! यह तो सत् के पक्ष में परमात्मा के पक्ष में खड़ा रहा। परमात्मा के पक्ष में खड़ा रहा। आहाहा! भले अभी अन्दर जा न सके परन्तु पक्ष में खड़ा है। आहाहा! **वही एक...** वह एक ही सामायिक, चौबीसंथो, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान है। यह वीतरागस्वरूप भगवान त्रिकाली चीज़, वह स्वयं वीतराग मूर्ति प्रभु है। वीतरागमूर्ति कहो या अकषायस्वभाव कहो, या चारित्रस्वरूप कहो। त्रिकाली चारित्र, हों! त्रिकाली। आहाहा! उस स्वरूप में एकाग्रता, वह एक ही आवश्यक कहलाता है। आहाहा!

वही एक स्वाध्याय है... यह स्वाध्याय करते हैं न। वाँचन करते हैं। दो-दो घण्टे, चार-चार घण्टे वाँचन करे। आहाहा! यहाँ तो स्व+अध्याय। अपने अन्तर में ज्ञान की एकाग्रता, वह एक ही स्वाध्याय है। वह स्वाध्याय भी एक ही है। दिगम्बर सन्त गजब बात करते हैं न! स्वाध्याय तप है, ऐसा कहकर वह बाहर का स्वाध्याय पढ़े, वह तप है। वह तप नहीं, बापू! वह तो व्यवहार की बातें की हैं। आहाहा! **तथा वही एक स्वाध्याय है।** दो स्वाध्याय नहीं। आहाहा! मुनि को कहाँ पड़ी है ? जगत की कहाँ पड़ी है ? जगत को यह जँचेगा या नहीं ? उथल जायेगा। ऐसा सुनकर कि यह तो एकान्त है... एकान्त है.. मान न, तुझे मानना हो वैसा। तू भी स्वतन्त्र है न ? आहाहा! मार्ग तो यह एक ही है। एकान्त से यह एक ही मार्ग है। आहाहा!

वही एक... अथवा वह एक ही है **स्वाध्याय है।** चैतन्यमूर्ति, वीतरागमूर्ति प्रभु में एकाकार, स्व में एकाकार, निर्विकल्परूप से एकाकार, वह एक ही स्वाध्याय है। आहाहा! वाँचन का जो विकल्प उठता है, कहते हैं कि वह स्वाध्याय कथनमात्र है, कहनेमात्र है, व्यवहारमात्र है। आहाहा!

मुमुक्षु : चारों ही अनुयोग का स्वाध्याय करे तो मर्म खुले।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ से अन्दर (चले) तो मर्म खुले। आहाहा! यह कहते हैं, और वह चार अनुयोग का... परन्तु चारों ही अनुयोगों का सार आत्मा है। आत्मा में सब भरा है या नहीं ? ज्ञान आता है, वह चार अनुयोग को वाँचन में से ज्ञान आवे ? या जहाँ है,

उसमें से आवे ? बाहर चार अनुयोग के ज्ञान में यह ज्ञान है ? आहाहा ! जहाँ ज्ञानस्वरूप प्रभु है, वह ज्ञानस्वरूप है, वहाँ से ज्ञान आवे या बाहर से ज्ञान आवे ? न्याय से पकड़ेगा या नहीं ?

श्रीमद् ने तो एक बार ऐसा भी कहा कि बहुत वाँचन-वाँचन करे वह तो दिया होगा। वहाँ और वहाँ बातें किया करे। इसका ऐसा है... इसका ऐसा है... इसका ऐसा है... परन्तु अन्दर जाना है, वह सार क्या चीज़ है... ऐसा श्रीमद् ने कहा है। श्रीमद् वाँचन बहुत करते थे। अकेला वाँचन... वाँचन... वाँचन... वाँचन... रात और दिन वाँचन। वेदियो हो जायेगा। वेदिया ब्राह्मण होते हैं न ? वेद कण्ठस्थ करके वेदिया जैसे होते हैं। कुछ ठिकाना नहीं होता। आहाहा ! हमार गढडा में एक था। वह वेदिया कहलाता था, ब्राह्मण था, वेद कण्ठस्थ था। ऐसे डालकर आटा माँगने निकले। मैं दुकान पर बैठा होऊँ, वहाँ हमारे वनमाली काका की दुकान थी। उनकी दुकान में बैठा हो, तब निकला हो तो कहे, देखो, इसे चार वेद कण्ठस्थ है। आटा माँगने निकला है, वह वेदिया है, कहे। आहाहा !

मुमुक्षु : घी के आधार से बर्तन या बर्तन के आधार से घी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : घी के आधार से घी। बर्तन के आधार से बर्तन। बर्तन के आधार से बर्तन। घी के आधार से घी। नीचे रहे तो भी स्वयं का आधार, उसमें रहे तो भी स्वयं का आधार। बर्तन का आधार घी को है ही नहीं। अरे रे ! ऐसी बातें ? यशपालजी ! ऐसी बातें। कहो, घी है, वह वस्तु परमाणु का पिण्ड है। जहाँ होगा, वहाँ उस परमाणु में आधार नाम का गुण है। षट्कारक सत्पर्याय है। शक्ति है, वह तो जहाँ होगी वहाँ पर्याय स्वयं के आधार से वहाँ रहती है। एक परमाणु दूसरे परमाणु के आधार से नहीं है। आहाहा ! यह है, वह उसके आधार से रहा हुआ नहीं है। कहो, यह है न यह ? यह उसके आधार से रहा हुआ नहीं है। यह वस्तु है। एक-एक परमाणु, उसे षट्कारक हैं। कर्ता, कर्म (आदि षट्कारक)। वह अपने आधार से वहाँ रहा है। आहाहा ! ऐसी बात कठिन पड़ती है। क्या हो ? भाई ! आहाहा ! यह अब आयेगा। मरण के समय, बापू ! तू क्या करेगा ? देह छूटने का काल आयेगा। अकेला मरण। अब गाथा आयेगी। '**एगो य मरदि**'... '**एगो य मरदि**' है न ? पहली ही लाईन है। '**एगो य मरदि**' देह छूटेगी, वहाँ अकेला मरेगा, बापू ! कोई तुझे शरण नहीं है। णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं... करके मरेगा तो भी वह राग है। वह कहीं

आत्मा नहीं है। आहाहा! यह तो णमो अरिहन्ताणं करते हुए मरे तो समाधिमरण हो गया। स्वाध्याय सुनते-सुनते देह छूट जाए तो स्वाध्याय हो गयी। पण्डितमरण, समाधिमरण हुआ। लोग (ऐसी गप्प) हाँक रखते हैं। आहाहा!

बनिया बाहर माल लेने जाए तो बहुत तुलाते हैं, कसौटी करके माल लेते हैं। जरा सी लौकी-लौकी, सब्जी लेने जाए तो लौकी में कहीं टुवो-टुवो। टुवो समझ में आया? टुवो नहीं समझते? सड़ने का भाग जरा दिखायी दे। जरा ऊपर का दिखायी दे तो न ले। अभी सड़ने का भाग आगे न गया हो, ऊपर का दिखायी दे तो भी नहीं ले। नहीं, यह लौकी नहीं, सड़ी हुई लौकी नहीं। टुवो अर्थात् सड़ा हुआ भाग। ऊपर सड़ा हुआ हो। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : पर्याय, ध्रुव के आधार से तो टिक रही है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। पर्याय, पर्याय के आधार से है। पर्याय में षट्कारक है। यह तो अपने आ गया। चार प्रकार आये। मुझे, मेरे द्वारा, मुझमें, मुझसे मुझे देखता हूँ ऐसा कहकर फिर उतारे हैं। चेतना द्वारा चेतता हूँ, दर्शन द्वारा देखता हूँ; पश्चात् ज्ञान द्वारा जानता हूँ। पहले मेरे द्वारा कहकर, फिर उसे चेतना में उतार डाला, पश्चात् दर्शन-ज्ञान में डाला। चार बार चौबीस बोल उतारे हैं। आहाहा! रूखा लगे। वीतरागमार्ग है, बापू! इसमें रस न पड़ता। वह राग न आवे, राग से कुछ रूखा लगे, राग की अपेक्षा से प्रभु का मार्ग रूखा लगे, बाकी है रसवाला।

अतीन्द्रिय आनन्द के रसवाला प्रभु का मार्ग... आहाहा! राग के रस की अपेक्षा से रूखा लगता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, उड़ा डालते हैं। एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है... सोनगढ़ का एकान्त है। अभी एक व्यक्ति की पुस्तक आयी है ब्रह्मचारी की। कोई मर गया होगा अहमदाबाद, तो उसकी पुस्तक निकाली। ब्रह्मचर्य बहुत सब विस्तार है। अब ये लोग सब लौकिक हैं परन्तु उसमें भेंट दी है। उसमें लेखक ने सामने लिखा है कि उपादान को प्रसारित करनेवाले कानजीस्वामी एक ही हैं, उन्हें यह भेंट देता हूँ। उपादान से होता है, इसका प्रचार उन्होंने एक ने ही किया है। पुस्तक आयी थी, तो फिर ब्रह्मचर्य सरल होगा या नहीं? ऐसे शब्द हैं। व्याख्यान और बाहर की क्रिया, ब्रह्मचर्य, स्त्री का परिचय, हस्तक्रिया, यह बाहर के विषय की बातें सब बहुत लम्बाई है। लीलावती आदि

होगी, फिर कोई मर गया, उसके बाद बनायी है। लेखक ने सामने आगे मेरा नाम दिया है। ऊपर लिखा है, उपादान का प्रचार करनेवाले, उन्हें मैं भेंट देता हूँ। श्री कानजीस्वामी। ऐसा करके। उपादान का कुछ... उसका अर्थ कुछ उपादान का था नहीं। निमित्त से होता है... निमित्त से होता है... उपादान से कठिन बात क्रमबद्ध है। उपादान में आ गयी। जिस समय अपना होता है। उपादान-उपादेय भी एक बात है। पूर्व की पर्याय उपादान और बाद की पर्याय उपादेय। यह भी एक है। तब निमित्त की अपेक्षा से उसे नैमित्तिक कहा जाता है और उपादान की अपेक्षा से उपादेय कहा जाता है, यह एक व्यवहार की शैली है। निश्चय से तो ध्रुव उपादान है और क्षणिक पर्याय उत्पन्न हो, वह उपादान है। तो उस क्षण में जो उत्पन्न होने की पर्याय हो, वह पर्याय उत्पन्न हो, उसे उपादान कहते हैं और उस उपादान को द्रव्य-गुण के, निमित्त की आवश्यकता नहीं है। वह षट्कारकरूप से उपादान की पर्याय परिणमित होती है। आहाहा!

पद्मनन्दिपंचविंशति। एक ही स्वाध्याय है। आहाहा! इतनी बार समयसार पढ़ा, प्रवचनसार पढ़ा, पंचास्तिकाय पढ़ा। यह सब भगवान अन्दर आनन्दस्वरूप प्रभु स्व-अध्याय। उसका अध्याय, उसका अध्याय और अन्दर में रमण, वह स्वाध्याय है। आहाहा! यह पद्मनन्दिपंचविंशति का आधार दिया है। दो गाथा (श्लोक) कल पूरी हुई थी। कल दो गाथा में आया था कि नमस्कार करनेयोग्य है। पहला ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप आया था, कि आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु है, वही ज्ञान है, वही दर्शन है, वही चारित्र है और तप है। पश्चात् आया था कि नमस्कार करनेयोग्य भी प्रभु आत्मा है। आहाहा! और उत्तम भी वह है, मांगलिक भी वह है और शरण भी वही है। आठ बोल आये थे। दूसरे चार बोल आज आये। यह बारह बोल पद्मनन्दिपंचविंशति में हैं।

एकत्वसप्तति... एकपने में दूसरे की बात की आवश्यकता नहीं। आहाहा! इस पुस्तक के अधिकार में एकत्वसप्तति है न? उसमें आ गया न? **इस प्रकार एकत्वसप्तति में (-श्री पद्मनन्दि-आचार्यवरकृत पद्मनन्दिपंचविंशतिका के एकत्वसप्तति नामक अधिकार में...)** एकत्वसप्तति अधिकार। एक रूप में द्विरूप नहीं। ऐसा पूरा एक अधिकार है। यहाँ उसकी तीन गाथाएँ रखी हैं। अब स्वयं।

श्लोक-१३५

और (इस १००वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं):—

(मालिनी)

मम सहज-सुदृष्टौ शुद्ध-बोधे चरित्रे,
सुकृतदुरितकर्मद्वन्दसन्न्यासकाले।
भवति स परमात्मा सम्वरे शुद्ध-योगे,
न च न च भुवि कोऽप्यन्योऽस्ति मुक्त्यै पदार्थः।।१३५।।

(वीरछन्द)

मेरे सहज सुदर्शन में अरु शुद्ध ज्ञान में चारित्र में।
और शुभाशुभ कर्मद्वन्द्व के पावन प्रत्याख्यान समय॥
संवर में शुद्धोपयोग में एक यही परमात्मा ही।
मुक्ति प्राप्ति के लिए जगत में कोई अन्य पदार्थ नहीं॥१३५॥

[श्लोकार्थः] मेरे सहज सम्यग्दर्शन में, शुद्धज्ञान में, चारित्र में, सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मद्वन्द्व के संन्यास काल में (अर्थात् प्रत्याख्यान में), संवर में और शुद्ध योग में (-शुद्धोपयोग में) वह परमात्मा ही है (अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सभी का आश्रय—अवलम्बन शुद्धात्मा ही है); मुक्ति की प्राप्ति के लिए जगत में अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है, नहीं है॥१३५॥

श्लोक -१३५ पर प्रवचन

और (इस १००वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं):— १०० गाथा, १०० है। उसमें बारह बोल आये। १०० में सब पूरा आया। आहाहा! अब पद्मप्रभमुनि स्वयं दो श्लोक कहते हैं। १३५वाँ कलश।

मम सहज-सुदृष्टौ शुद्ध-बोधे चरित्रे,
सुकृतदुरितकर्मद्वन्दसन्न्यासकाले ।
भवति स परमात्मा सम्वरे शुद्ध-योगे,
न च न च भुवि कोऽप्यन्योऽस्ति मुक्त्यै पदार्थः।।१३५।।

आहाहा ! **मेरे सहज सम्यग्दर्शन में,...** मेरे सहज सम्यग्दर्शन में मेरा प्रभु है । कोई देव-गुरु-शास्त्र मेरे सम्यग्दर्शन के विषय में हैं नहीं । आहाहा ! है ? **मेरे सहज सम्यग्दर्शन में,...** मेरा वह परमात्मा ही है । तीसरी लाईन । मेरा परमात्मा है । वही मुझमें है । सबका आश्रय, अवलम्बन भगवान है । सम्यग्दर्शन में आश्रय, अवलम्बन शुद्धात्मा है । सम्यग्दर्शन में कोई बाहर का आधार नहीं है । आहाहा ! अब ऐसा सूक्ष्म । कितनों को तो ऐसा कि मेरा क्या होगा ? यहाँ से कहाँ जाऊँगा ? यह देह तो छूट जायेगी और भविष्य में अनन्त काल रहना है । कहाँ रहेगा ? बापू ! आहाहा ! वह बेभान करके चला जायेगा । माँस-वाँस तो न खाता हो । बड़ा भाग तो अभी माँस खानेवाला है । बौद्ध-बौद्ध गाय का माँस नहीं खाता । माँस खाता है । अर..र..र.. ! गजब है । ईसाई माँस खाते हैं, वे तो गाय का माँस खाते हैं । यह तो ईशु मरता था, उसने गाय का माँस माँगा था, जड़ा तब । आहाहा ! वह परमेश्वर कहलाया । परमेश्वर, वह ईश्वर का पुत्र कहलाया । आहाहा ! और मुसलमान । अफ्रीका के सिवाय क्या कहा ? अफगानिस्तान । अफगानिस्थान, पाकिस्तान, वह तो सब मुसलमान से भरे हुए । बड़ा भाग मुसलमान है, बड़ा भाग ईसाई है, बड़ा भाग बौद्ध है । हिन्दुस्तान में तो लोग बहुत थोड़े और थोड़ा भाग है । आहाहा ! उसमें यह और ऐसा सुनने का... अरे ! बेचारों को कहाँ मिले ? बापू !

वह बेचारा पोप पाँच-पाँच करोड़ की मोटर में बैठनेवाला । इस प्रकार उसकी बाहर की साहबी कैसी होगी ? पोप को पाँच करोड़ की एक मोटर । वह भाई ! बापू ! माँस खानेवाला मरकर... अरे रे ! उस बेचारे को सुनने को मिलता नहीं और मरकर नरक में जाए । यहाँ सब गुरु कहलाये । आहाहा ! कठिन मार्ग । नरक की गति जानेवाले लोग भी बहुत, तिर्यंच भी बहुत है । आहाहा ! ऐसा मनुष्यपना मिला, उसमें हिन्दुस्तान में हिन्दी, उसमें आर्यकुल, उसमें जैनकुल, उसमें जैनकुल में वाणी, बहुत महँगी, बापू ! यह कहीं अरबों रुपयों में मिले, ऐसा नहीं है । उसकी कोई कीमत नहीं है । आहाहा !

यह यहाँ कहते हैं कि मेरे सम्यग्दर्शन में मेरा प्रभु है। आहाहा! मेरा परमात्मा -ऐसा कहा। है न? तीसरी लाईन में आया न? **मेरे सहज सम्यग्दर्शन में,... वह परमात्मा ही है...** परमात्मा है, वह मेरे सम्यग्दर्शन में है। वह परमात्मा कौन? यह (आत्मा)। पूर्ण परमात्मस्वरूप जो आत्मा... आहाहा! उसमें यह माँस और हड्डियों जैसा शरीर, उसमें स्त्री और पुत्र। अब उसमें किस प्रकार बात जँचे? आहाहा! विचार करने का अवकाश नहीं मिलता। जिन्दगी चली जाती है। यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्दर्शन धर्म की पहली शुरुआत। धर्म की पहली शुरुआत, उस **मेरे सहज सम्यग्दर्शन में,...** वह सहज सम्यग्दर्शन, स्वभाविक, निश्चय। सहज कहा है न? मेरे निश्चय सहज सम्यग्दर्शन में वह परमात्मा ही है। मेरा प्रभु पूर्ण जो परमात्मा, वह मेरे सम्यग्दर्शन में है। मुझे उसका अवलम्बन है, उसका आश्रय है, उसका आधार है, उसका ध्येय है। आहाहा! शब्द तो बहुत सादे हैं, परन्तु अब भाव तो दूसरा क्या हो? चाहे जितना उसे सरल करे। आहाहा!

मेरे सहज सम्यग्दर्शन में, शुद्धज्ञान में,... सब लेना। वह है न सहज सम्यग्दर्शन। वैसे मेरे सहज **शुद्धज्ञान में,...** स्वभाविक ज्ञान में। शास्त्रज्ञान आदि, वह नहीं। आहाहा! मेरा जो सहज सम्यग्ज्ञान, उस ज्ञान में मेरा परमात्मा ही है। वह वापस परमात्मा 'ही' है, ऐसा लिया है। एकान्त लिया है। यह भी है और वह भी है, ऐसा नहीं। अनेकान्त ऐसा कहते हैं न लोग? अनेकान्त का अर्थ ऐसा (कि) कथंचित् निश्चय से होता है, कथंचित् व्यवहार से होता है, तो यह अनेकान्त है। कथंचित् निमित्त से होता है, कथंचित् उपादान से होता है। यहाँ इनकार करते हैं। आहाहा!

मेरे **शुद्धज्ञान में,...** परमात्मा ही है। **परमात्मा ही है...** क्योंकि मेरा जो ज्ञान है, उसका ध्येय-अवलम्बन-आश्रय और आधार परमात्मा-स्वरूप स्वयं है। अपना परमात्मस्वरूप है, वह शुद्ध ज्ञान का आलम्बन-आधार है। शब्दों का आलम्बन है, इसलिए यह सम्यग्ज्ञान है-ऐसा नहीं। आहाहा! भगवान की प्रतिमा देखकर दर्शन हो.. उसमें आता है - धवल में। भगवान के दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्म टूटते हैं। देखा? धवल में। वह भगवान, यह भगवान है। आहाहा! इस भगवान को देखकर, देखकर कि ऐसा ही मेरा प्रभु अन्दर है। ऐसे परमात्मस्वरूप अन्दर राग और पुण्य-पाप के विकल्परहित, ऐसा जो आत्मा वह परमात्मा ही मेरे शुद्ध ज्ञान में है। आहाहा! उस शुद्ध ज्ञान में ही आश्रय है, अवलम्बन शुद्धात्मा ही है। आहाहा!

चारित्र में,... गाथा में है न ? उसका टीकाकार... **चारित्र में,...** भी मेरा परमात्मा है। चारित्र में पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण, वह कहीं चारित्र में है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात एक तो सुनना कठिन पड़े। कपूरभाई! जिन्दगी धन्धे में निकाली, स्त्री, पुत्र में निकाली, उसमें ऐसी बात आयी। बात दूसरी निकली। धर्म के नाम से सुना था, उससे दूसरी बात निकली। संसार के बहाने तो ठीक। आहाहा! मार्ग ऐसा है, प्रभु! आहाहा! मेरे **चारित्र में,...** मेरा **परमात्मा ही है...** पंच महाव्रत और विकल्प-फिकल्प मेरे चारित्र में नहीं है। आहाहा! यह पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि ९०० वर्ष पहले हो गये हैं। वे स्वयं कहते हैं। आहाहा!

सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मद्वन्द्व के संन्यास काल में... आहाहा! क्या कहते हैं ? शुभ और अशुभभाव जो है, उनके त्याग काल में **(अर्थात् प्रत्याख्यान में),...** मेरा परमात्मा ही है। शुभ-अशुभभाव के त्याग में अर्थात् प्रत्याख्यान में, शुभभाव के त्याग में, प्रत्याख्यान में भी मेरा परमात्मा ही है। आहाहा! यह शुभभाव, वह प्रत्याख्यान नहीं है। ऐसा है। क्या कहा ? **सुकृत...** अर्थात् शुभभाव। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा, शास्त्र स्वाध्याय, वाँचन-श्रवण, मनन, यह सब सुकृत और दुष्कृत पाप है। यह कर्मद्वन्द्व। यह कर्म का द्वन्द्व दो प्रकार से। एक इसके संन्यास काल में, इसके त्याग काल में। दो के त्याग के समय में अर्थात् दो के त्याग के समय में अर्थात् प्रत्याख्यान में मेरा परमात्मा है। आहाहा!

संवर में... संवर.. संवर। शुभभाव और अशुभ से रहित ऐसे संवर में मेरा परमात्मा है। आहाहा! वह तो बाहर का पच्चखाण करके बैठ गया। मुझे संवर है, (ऐसा मान लिया)। अरे! भगवान! संवर कोई अलग चीज़ है, बापू! काल चला जा रहा है, ऐसा समय नहीं मिलेगा। इसलिए करने का यह है, इसे विकल्पसहित दृढ़ श्रद्धा तो कर कि यह एक ही कर्तव्य करनेयोग्य है। इससे रहित होकर निर्मल होना, वह (करनेयोग्य है)। आहाहा!

संवर में और शुद्ध योग में... शुद्ध योग अर्थात् **(-शुद्धोपयोग में)...** है न ? शुद्ध योग, पाठ में है। पाठ में था और गाथा में भी था। गाथा में था योग में। गाथा है न ? उसमें योग था। १००वीं गाथा **'संवरे जोगे'** १००वीं गाथा में। **'संवरे जोगे'** योग अर्थात् शुद्धोपयोग। आहाहा! अब यहाँ (आजकल) कहते हैं कि अभी शुद्धोपयोग नहीं होता,

अभी तो मुनि को शुभयोग ही होता है। अरे! प्रभु! क्या करता है? भाई! परमात्मा का तो यह (पुकार है) उनकी शैली का भी तू विरोध करता है! आहाहा!

दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा का राग, वह तो राग है; वह कहीं शुद्धोपयोग नहीं है और शुद्धोपयोग के बिना परमात्मा निकट में नहीं है। शुभराग में परमात्मा है नहीं। वह तो अनात्मा है। आहाहा! शुद्धोपयोग में **वह परमात्मा ही है।** आहाहा! **(अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सभी का आश्रय)...** सम्यग्दर्शन का, सम्यग्ज्ञान का, सम्यक्चारित्र का, प्रत्याख्यान का, संवर का और शुद्धोपयोग का। **(सभी का आश्रय—अवलम्बन शुद्धात्मा ही है);...** शुद्ध आत्मा 'ही' है। आहाहा! किसी प्रकार से व्यवहार भी है और व्यवहार से होता है, यह लोगों को ऐसा अच्छा लगता है जयसेनाचार्य की टीका। व्यवहार साधन, निश्चय साध्य। परन्तु वह तो निमित्त का ज्ञान कराया है, भाई! तो यह सब खोटा पड़ेगा। अब ऐसी बातें अभी चलती है। क्या हो? प्रभु रहे वहाँ। यहाँ कोई आता नहीं। देव भी नहीं होते और भगवान तो आये नहीं। आते नहीं। आहाहा! यह भगवान है, उसके पास जाता नहीं। आहाहा!

(अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सभी का आश्रय—अवलम्बन शुद्धात्मा ही है);... त्रिकाली शुद्ध प्रभु दया, दान, व्रत के परिणामरहित, वही धर्म का आश्रय है। वह धर्म का अवलम्बन है। वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान का आश्रय और आधार वह है। **मुक्ति की प्राप्ति के लिए...** जिसे मुक्ति चाहिए हो, उसके लिये। **जगत में अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है, नहीं है।** दो बार कहा है। पाठ में है न? **'न च न च'** आहाहा! जिसे मोक्ष चाहिए हो। धर्म का फल मोक्ष, तो मोक्ष का फल चाहिए हो, उसे एक ही आत्मा ही एक शुद्ध चैतन्यमूर्ति वीतराग निर्मलानन्द एक ही आधार है। दूसरा कोई पदार्थ नहीं। आत्मा के अतिरिक्त कोई पर भी मुक्ति के लिये आधार नहीं है। यह विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१३६

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति निर्मलं क्वचन निर्मलानिर्मलं,
क्वचित्पुन-रनिर्मलं गहन-मेव-मज्ञस्य यत् ।
तदेव निज-बोध-दीप-निहताघ-भूछायकं,
सतां हृदयपद्मसद्मनि च सन्स्थितं निश्चलम् ।।१३६ ।।

(वीरछन्द)

कभी दिखाई देता निर्मल कभी अनिर्मल-निर्मलरूप।
कभी अनिर्मल दिखे इसलिए अज्ञानी को गहन स्वरूप॥
आत्मज्ञानरूपी दीपक वह पाप तिमिर को किया विनष्ट।
सत्पुरुषों के हृदय कमलरूपी घर में निश्चल संस्थित॥१३६॥

[श्लोकार्थः] जो कभी निर्मल दिखायी देता है, कभी निर्मल तथा अनिर्मल दिखायी देता है, तथा कभी अनिर्मल दिखायी देता है और इससे अज्ञानी के एि जो गहन है, वही निजज्ञानरूपी दीपक—कि जिसने पापतिमिर को नष्ट किया है, वह—सत्पुरुषों के हृदयकमलरूपी घर में निश्चलरूप से संस्थित है॥१३६॥

प्रवचन-११०, श्लोक-१३६, गाथा-१०१, मंगलवार, मागशर कृष्ण १४, दिनांक १८-१२-१९७९

नियमसार, श्लोक १३६। शलेक है।

क्वचिल्लसति निर्मलं क्वचन निर्मलानिर्मलं,
क्वचित्पुन-रनिर्मलं गहन-मेव-मज्ञस्य यत् ।
तदेव निज-बोध-दीप-निहताघ-भूछायकं,
सतां हृदयपद्मसद्मनि च सन्स्थितं निश्चलम् ।।१३६ ।।

यह शैली समयसार की है न? पीछे है न! यह शैली ली है।

क्या कहते हैं? क्वचित् यह आत्मा निर्मल दिखता है। आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्द

है, चैतन्यरत्न है, चैतन्य अन्तर की शक्ति के स्वभाव का बड़ा समुद्र है। उसे देखने पर वह निर्मल दिखता है। साधकजीव की बात है। अन्तर में चैतन्यस्वरूप अनन्तगुणमणि रत्न की खान। अनन्तगुणमणि रत्न की खान आत्मा है। आहाहा! उसे अन्तर में देखने पर निर्मल दिखता है। अन्तर में उपयोग जाने पर अकेला निर्मल दिखता है।

कभी निर्मल तथा अनिर्मल दिखायी देता है,... कभी उपयोग जब अन्तर में नहीं, तब निर्मल भी है और रागादि दिखते हैं, मलिन भी दिखता है। समझ में आया? यशपालजी! फिर से, फिर से। सूक्ष्म है न? ऐसा कि आत्मा है तो शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द। अनन्त-अनन्तगुणमणि रत्न की खान। ऐसा जो शुद्ध आत्मा जहाँ सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान में ज्ञात होता है। धर्म की पहली शुरुआत में जहाँ ज्ञात होता है, तब निर्मल ज्ञात होता है, परन्तु जब वहाँ से उपयोग हट जाता है, तब निर्मल भी ज्ञात होता है और जरा राग होता है तो अनिर्मल भी ज्ञात होता है। समझ में आया?

उपयोग जब अन्दर में नहीं, तथापि शुद्धता प्रगटी है। शुद्ध चैतन्य साधक की बात है। सम्यग्दृष्टि साधक जीव को आत्मा कैसा, किस प्रकार भासित होता है? उसकी बात है। आहाहा! **जो कभी निर्मल दिखायी देता है,...** अर्थात् उपयोग अन्दर में जाने पर। 'एकत्वसप्तति' है न? पद्मनन्दिपंचविंशति में, उसमें ऐसा लिया है कि समता। एकत्वसप्तति। निर्मल अर्थात् साम्य, स्वास्थ, चित्त निरोध, शुद्धोपयोग—यह एक ही बात है। समझ में आया? समता कहो, वीतरागता कहो, आत्मा अन्दर उपयोग में आवे, तब वीतरागता होती है। अकेला राग लक्ष्य में रहे, तब तक उसे वीतरागता नहीं होती। जब तक दया, दान, आदि का राग रहे, अकेला राग लक्ष्य में रहे, तब तक अन्तर दृष्टि नहीं जाती।

इसलिए उसकी दृष्टि छोड़कर, अन्दर में उपयोग जाता है, तब ज्ञान-आनन्द निर्मल दिखता है और उपयोग उसमें से हटकर बाहर आता है, तब निर्मल भी है। वहाँ उपयोग नहीं है, इसलिए निर्मल भी है और मलिन भी राग है, वह दिखता है। निश्चय भी है और व्यवहार भी दिखता है। समझ में आया? आहाहा!

कभी निर्मल तथा अनिर्मल दिखायी देता है,... आहाहा! यह तो फिर ठीक। **तथा कभी अनिर्मल दिखायी देता है...** लक्ष्य उसमें से बराबर न हो। साधक है, तथापि राग और पुण्य के परिणाम हों, वही लक्ष्य में रहे, तो अकेला अनिर्मल दिखता है। दृष्टि में शुद्ध

है तो भी राग पर लक्ष्य आता है, तो अनिर्मल दिखता है। अरे रे! धर्म की ऐसी बातें!

मुमुक्षु : व्यंजनपर्याय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यंजन-फ्यंजन की यहाँ बात नहीं।

यहाँ तो राग और निर्मलता दो की बात है। आत्मा अन्दर शुद्धस्वरूप है, ऐसी दृष्टि है, तथापि बाहर आया और अकेले राग के ऊपर लक्ष्य रहा। वह उपयोग में नहीं रहा। लक्ष्य में राग आया, तब अनिर्मल दिखता है। वस्तुदृष्टि तो है। यह बात तो साधक जीव की है। आहाहा! विशेष फिर से देखना। कि यह आत्मा जो अन्दर है, वह तो एकदम इस देह के रजकण से भिन्न, कर्म के परमाणु से भिन्न और पुण्य तथा पाप के शुभ-अशुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति के शुभभाव से भी अन्दर वह भिन्न चीज़ है क्योंकि दया, दान, व्रत के परिणाम, वह पुण्यतत्त्व है। आत्मा तो ज्ञायकतत्त्व शुद्ध चैतन्यरत्न है। आहाहा! अर्थात् उस शुद्ध चैतन्यरत्न को जिसने देखा, शुद्धोपयोग में जिसने देखा, उसे आत्मा अकेला निर्मल दिखता है। उपयोग वहाँ से हट जाता है, तब निर्मल और अनिर्मल दोनों दिखता है और अकेले राग के ऊपर लक्ष्य रहता है। दृष्टि वहाँ है, परन्तु उसे मानो राग मलिन हो,-ऐसा दिखे, तब अनिर्मल दिखता है। है ?

कभी अनिर्मल दिखायी देता है और इससे... इस कारण से... आहाहा! भगवान पूरा पड़ा रहा और सब बाहर की बातें हो गयी। दूसरे के साथ जोड़ दी। आत्मा कौन है, इसकी कुछ खबर नहीं होती और करो सामायिक, करो प्रौषध, करो प्रतिक्रमण। (सब) एक रहित शून्य है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा तो मुख्य वस्तु है। पुण्य, पाप, आस्रव सब तत्त्व हैं, परन्तु उनका वह जाननेवाला है, करनेवाला नहीं, मेरा माननेवाला नहीं, परन्तु उनका जाननेवाला है परन्तु वह जाननेवाला कब हो ? कि स्वयं अपने को अनुभव करे और जाने, तब उनका जाननेवाला होता है। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप आत्मा भगवान पूर्णानन्द, वह चैतन्यरत्न ही सर्वोत्कृष्ट तीन लोक का नाथ, तीन लोक में उसके अतिरिक्त कोई बड़ी उत्कृष्ट चीज़ नहीं है। आहाहा! ऐसा अन्दर भगवान विराजमान है। उसकी दृष्टि होने पर, सम्यग्दृष्टि होने पर वह अति निर्मल है, वह दिखायी देता है और बाहर आने पर अति निर्मल है, वह तो है, परन्तु जरा राग के ऊपर

लक्ष्य जाने पर भक्ति, पूजा आदि, तब अनिर्मल दिखायी देता है और कभी अकेला अनिर्मल दिखायी देता है। वह तो निर्मल और अनिर्मल दोनों साथ दिखायी देते हैं। दूसरे बोल में दोनों साथ में दिखायी देते हैं। पहले बोल में एक दिखता है, दूसरे बोल में दो साथ दिखते हैं। निर्मल शुद्ध चैतन्य और राग दोनों इकट्ठे। तथा तीसरे बोल में अति राग का लक्ष्य लिया। अति अनिर्मल दिखता है राग। आहाहा!

समकिती को भी लड़ाई आदि में चढ़ना पड़ता है। भरत चक्रवर्ती आदि, बाहुबली, दोनों भाईयों ने युद्ध किया। समकिती थे, आत्मज्ञानी थे। जब राग के ऊपर लक्ष्य जाता है, तब मैल हो, ऐसा दिखता है, तथापि वस्तुदृष्टि है। आत्मा दृष्टि में है, परन्तु उपयोग में मानो अकेला मलिन है, ऐसा दिखता है। आहाहा! अहो! **और इससे...** इस कारण से **अज्ञानी के लिये जो गहन है,...** अज्ञानी को आत्मा समझना बहुत गहन है, बापू! आहाहा! अनन्त बार मुनिपना लिया, साधु अनन्त बार हुआ, पंच महाव्रत अनन्त बार पालन किये परन्तु वह तो सब राग की क्रिया है। वह कोई आत्मा का ज्ञान नहीं है। आहाहा! भारी कठिन बातें।

इसलिए कहते हैं कि ऐसी क्रिया में भी यह वस्तु सम्यग्दर्शन में इस प्रकार भासित हो, वह अज्ञानी को गहन लगती है। **इसलिए जो गहन है,...** आहाहा! स्वयं तो निर्मलानन्द का नाथ प्रभु है। पूर्णानन्द का नाथ अन्दर चैतन्य हीरा है। जैसे परमात्मा वीतरागपर्याय से प्रगट हुए—अरिहन्त वीतराग, वैसा ही आत्मा वीतरागपना है, उसमें से वीतरागता आयी है। वह आत्मा वीतरागस्वरूप ही है। स्वास्थ्यस्वरूप ही है। स्वास्थ्य अर्थात् यह नहीं पूछते? स्वास्थ्य है? निरोगस्वरूप ही है। उसमें राग का रोग है नहीं। आहाहा! यहाँ पूछते हैं न? स्वास्थ्य तो ठीक है? शरीर का स्वास्थ्य, धूल का। यह तो धूल है। उसके स्वास्थ्य को पूछते हैं, परन्तु आत्मा के स्वास्थ्य को... स्वास्थ्य अर्थात् स्व में टिके रहना। आनन्दमूर्ति भगवानस्वरूप है, उसमें टिके रहना, इसका नाम स्वास्थ्य है, इसका नाम शुद्धोपयोग है, इसका नाम समता है, इसका नाम चित्त का पुण्य-पाप से निरोध है। आहाहा! अब ऐसी बातें।

वह तो कैसा सीधे यदि एक घण्टे जाए, सामायिक करके णमो अरिहंताणं, तिकखुतो, इच्छामि पडिकम्मणा, तस्सूतरी इत्यादि... आठ पाठ पढ़ा, सामायिक हो गयी। एक घण्टे बैठा। सामायिक कर आये। धूल में भी सामायिक नहीं है। सामायिक व्यवहार से भी नहीं

और उसमें निश्चय तो कहाँ था ही वह। यहाँ तो कहते हैं कि निश्चय हो, उसे व्यवहार मलिनता राग, व्यवहार विकल्प दिखता है, होता है। समझ में आया? आहाहा! अरे! यह चीज़ ऐसी है, प्रभु! ऐसा कहते हैं। यह जिनेश्वरदेव का कथन है। उसे सन्त प्रसिद्ध करते हैं। प्रभु अन्दर चैतन्यरत्न हीरा पड़ा है न! आहाहा! तीन लोक में, तीन काल में इसके अतिरिक्त कोई बड़ी चीज़ नहीं है। आहाहा! इसके अतिरिक्त इसके जैसी बड़ी—सिद्ध कहो, परमात्मा कहो, वह अपनी चीज़ है, वह तो स्वयं है, इतना ही है। आहाहा!

यहाँ तो अभी दुकान के पाप के धन्धे के कारण निवृत्त नहीं होता। शुभभाव में नवकार गिनना, स्मरण करना, परमात्मा की पूजा-भक्ति, वह भी शुभभाव है; धर्म नहीं। वह पुण्य करने को निवृत्त नहीं है, वहाँ धर्म तो कहाँ था? आहाहा! सवेरे तुम कहाँ बैठे थे? आगे बैठे थे। समझ में आया? आहाहा! सर्वज्ञ भगवान ने कहा हुआ तत्त्व, सन्त-मुनिवर जगत को प्रसिद्ध करते हैं। मुनिवर ऐसा कहते हैं, प्रभु! तू अन्दर कैसा है? आहाहा! अति निर्मल है। है न? **कभी निर्मल दिखायी देता है...** इसका अर्थ ही अति निर्मल भगवान पूर्णानन्द।

कभी निर्मल तथा अनिर्मल दिखायी देता है,... परन्तु देखे उसे न! जो आत्मा को देखता ही नहीं, उसे दो भेद कहाँ से आये? आहाहा! समझ में आया? कठिन बात है, प्रभु! प्रभु का मार्ग कोई अलौकिक है। अभी तो बिगाड़कर फेरफार करके अन्यमति जैसा कर डाला है। जैनधर्म को अन्यधर्म जैसा कर डाला है। आहाहा! बाहर के क्रियाकाण्ड वह स्थूल। राग क्रिया को धर्म मनवाकर बैठे हैं। यह तो वीतराग। वीतराग धर्म वीतरागपर्याय से धर्म होता है। आहाहा! यह वीतरागस्वरूप ही भगवान है। यह भगवान आत्मा वीतराग की मूर्ति है। उसे देखकर वीतरागता ही प्रगट होती है परन्तु उसमें स्थिर नहीं हो सके, तब अनिर्मल-राग भी जरा आता है और किसी समय उस राग का मुख्यपना लक्ष्य में आवे तो अनिर्मल दिखता है।

अरे! ऐसी आत्मा की चीज़, भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर तीर्थंकर भगवान विराजते हैं। महाविदेह में अभी विराजते हैं, यह उनकी वाणी है। सीमन्धर भगवान समवसरण में विराजते हैं। पाँच सौ धनुष का देह है, करोड़ पूर्व का आयुष्य है। एक पूर्व में सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। ऐसे-ऐसे करोड़ पूर्व का आयुष्य

है। समवसरण में वर्तमान मनुष्यरूप से विराजते हैं। उनके पास ये कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। विक्रम संवत् ४९। आठ दिन वहाँ रहे थे। वहाँ से आकर यह बनाया है। यहाँ लोग नहीं कहते, इसका पिता बाहर गया हो तो, बापू! मेरे लिये तुम क्या लाये? कोई घड़ी लाये? या अमुक लाये? पूछते हैं न? कहते हैं कि भगवान के पास से आप क्या लाये प्रभु? आहाहा! कि देख, यह लाये, सुन! आहाहा!

इससे अज्ञानी के लिये जो गहन है, वही निजज्ञानरूपी दीपक... आहाहा! दूसरा सब नहीं। निजज्ञानरूपी दीपक अन्दर निज दीपक भगवान चैतन्यसूर्य, चैतन्यचन्द्र, शीतलता से भरपूर... आहाहा! आकाश में बादल होने पर भी आकाश में बादलों का चित्राम नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा में राग और शरीर का चित्राम नहीं होता। उस आकाश की भाँति निर्मलानन्द प्रभु विराजता है। आहाहा! ऐसा आत्मा जँचे किस प्रकार? अभी जहाँ दिन के दो-पाँच-दस हजार पैदा होते हों, हमेशा पाँच हजार, दस हजार (पैदा होते हों) वहाँ तो प्याला फट गया होता है (अभिमान में आ जाता है)। आहाहा! हमारे यह आमदनी है, इतनी यह आमदनी है। आहाहा! प्रभु! किसकी आमदनी? सब खोट की आमदनी है। खोट-खोट। आहाहा!

अन्दर चैतन्यरत्न भगवान जो गहन है, उसे तू देख। अज्ञानी को गहन लगेगा कि यह क्या? निर्मल और अनिर्मल दोनों! निर्मल होवे तो अनिर्मल नहीं और अनिर्मल होवे तो निर्मल नहीं। सुन, भाई! वस्तु की दृष्टि हुई है, अनुभव हुआ है, उतना निर्मल है और पूर्ण वीतरागता नहीं है, इसलिए बीच में पूजा, भक्ति, दान, दया के शुभभाव आते हैं, उन्हें जानता है परन्तु वे मलिन हैं, ऐसा जानता है। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! जगत को निवृत्ति-फुरसत भी नहीं मिलती। स्त्री-पुत्र के कारण फुरसत नहीं मिलती और धन्धा के कारण फुरसत नहीं मिलती, उसमें घुस जाता है। आहाहा! पूरे दिन अज्ञान की मजदूरी करता है। मिथ्यात्व की मजदूरी। यह मेरे... यह मेरे... यह मेरे... यह मिथ्यात्व है। वे तेरे नहीं हैं, उन्हें तेरे मानता है, यह तो महामिथ्यात्व है। आहाहा! मिथ्यात्व की मजदूरी में इसे यह कहना, तो प्रभु कहते हैं कि गहन है, बापू! तेरी चीज़, भाई! गम्भीर है, गहन है, गहरी-गहरी... आहाहा! जहाँ गुण का गोदाम है, जैसे बाहर में बड़े गोदाम होते हैं न? उसी प्रकार यह गुण का बड़ा गोदाम अन्दर भगवान है। भले शरीरप्रमाण हो, परन्तु राग को तो यह

द्रव्यस्वभाव स्पर्श भी नहीं किया है। आहाहा! यह दया, दान, व्रत के विकल्प राग हैं, वे ज्ञायक से अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा!

वह जब स्वभाव को देखने पर निर्मल दिखता है, विभाव को जरा देखने पर निर्मल और अनिर्मल दिखता है; अकेले विभाव को देखने पर अनिर्मल दिखता है। आहाहा! दूसरी बात तो यहाँ ली ही नहीं है। अमुक देखता है, भगवान को देखता है, अमुक देखता है। आहाहा! क्योंकि उस पर को नहीं देखता। देखता है अपने को। अपने ज्ञान-दर्शन को देखता है। पर को कब स्पर्श करता है? पर तो अत्यन्त भिन्न चीज़ है। जिसे जानता है, वह ज्ञात होता है, वह चीज़ तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। आत्मा में ज्ञान होता है, वह तो आत्मा का अपना अपने में अपने लिये होता है। आहाहा! ऐसा तत्त्व, वीतरागतत्त्व आत्मा गहन है परन्तु निज ज्ञानरूपी। जिसे निज ज्ञान, हों! परमात्मा का वीतराग का ज्ञान, वह नहीं। परमेश्वर का ज्ञान, वह भी पर शब्द से शुभराग है। आहाहा! पाँच नमोकार का ज्ञान और उनका स्मरण, यह सब राग है; यह कोई धर्म-बर्म नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बात! पूरी जिन्दगी निकाली हो साठ वर्ष और पचास वर्ष। उसे कहे कि राग धर्म नहीं है। शोर मचायेगा या नहीं? बापू! मार्ग ऐसा है, भाई! प्रभु! तूने मार्ग सुना नहीं है। आहाहा! तू दूसरे रास्ते चढ़ गया है। आहाहा! स्व का पन्थ जो अन्दर में जाना चाहिए, वह पंथ तूने छोड़ दिया। अकेले बाहर का राग पुण्य और पाप के भाव में तू चढ़ गया है। और वे मेरे हैं, (ऐसा) मानकर मिथ्यात्व में चढ़ गया है। आहाहा!

गहन है, वही निजज्ञानरूपी दीपक... जिसे अपना ज्ञानरूपी दीपक उघड़ा है। आहाहा! शास्त्रज्ञान और यह बात यहाँ नहीं की है। निजज्ञानरूपी दीपक। आहाहा! निज अर्थात् स्वयं आत्मा, उसका दीपकरूपी ज्ञान, वह जिसे प्रगट हुआ है। जिसने **पापतिमिर को नष्ट किया है,...** और पाप के अन्धकार का तो जिसने नाश कर डाला है। जहाँ सम्यग्ज्ञान का उजाला हुआ, सूरज का जहाँ उजाला हुआ, वहाँ अन्धकार रहता ही नहीं। सूरज का उजाला हो, वहाँ अन्धकार रहता ही नहीं। इसी प्रकार चैतन्य सम्यग्ज्ञान का उजाला हुआ, वहाँ अन्धकार नहीं रहता। आहाहा! ऐसी बातें, मार्ग ऐसा है, बापू! आहाहा!

निजज्ञानरूपी दीपक—कि जिसने पापतिमिर को नष्ट किया है, वह—सत्पुरुषों के हृदयकमलरूपी घर में निश्चलरूप से संस्थित है। सत्पुरुष, धर्मी जीव, समकिती के

हृदयकमल में, उनके हृदयकमलरूपी घर अन्दर का, उसमें निश्चलरूप से भगवान आत्मा विराजता है। आहाहा! बात-बात में अन्तर, शब्द-शब्द में अन्तर! वह सुना हो, उससे सब प्रकार ही अलग। अब कठिन पड़ता है। दुनिया की अन्दर की सब प्रकार की खबर है न! आहाहा! ऐसे **सत्पुरुषों के हृदयकमलरूपी घर में...** अर्थात् यहाँ ज्ञान में **निश्चलरूप से संस्थित...** आत्मा रहा हुआ है। ज्ञान की दशा में प्रभु रहा हुआ है। वह राग और पुण्य में यह आत्मा नहीं है। आहाहा! एक-एक लाईन भी ऐसी है।

मुमुक्षु : पापतिमिर तो आत्मा में नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप और पुण्य दोनों नहीं।

मुमुक्षु : आत्मा में है ही नहीं, फिर नष्ट कैसे करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा नहीं कि है कहाँ? परन्तु पर्याय में था, उसका नाश किया, ऐसा कहा। पर्याय में है न? यह तो कहा न? अनिर्मल दिखता है न? जब तक वीतराग न हो, तब तक धर्मी को भी निर्मल आत्मा दिखता है और राग मलिन दिखता है, दोनों दिखते हैं। राग की अस्ति नहीं - ऐसा है? वस्तु में नहीं है परन्तु वस्तु पूर्ण प्रगट न हो, जब तक वीतराग न हो, तब तक निर्मलानन्द का भी भान है, वीतरागता भी है और साथ में राग भी है। यदि वीतरागता पूर्ण हो गयी हो तो राग नहीं हो सकता। आहाहा!

सर्वज्ञ परमेश्वर अरिहन्तदेव को वीतरागता पूर्ण हो गयी। वीतरागता बारहवें (गुणस्थान) में पूर्ण हो गयी, इसलिए तेरहवें (गुणस्थान) में तो केवलज्ञान हो जाता है। आहाहा! उन्हें राग होता नहीं परन्तु जिसे अभी वीतरागता पूर्ण नहीं हुई परन्तु साधकदशा में वर्तता है। आत्मा में निज सम्यग्ज्ञान वर्तता है, उसकी पूर्णता नहीं है; इसलिए उसे निर्मल और अनिर्मल दोनों भासित होते हैं। निश्चय और व्यवहार का दोनों का ज्ञान उसे यथार्थ है। आहाहा! पूरी दुनिया में पूरे दिन रचा-पचा, अब उसे यह बात... आहाहा! अरे रे! मरकर कहाँ जाना? बापू! देह तो छूट जाएगी। वह तो ५, १०, १५, २० वर्ष। ५०-५० वर्ष निकाले उन्हें फिर से पचास वर्ष निकलनेवाले नहीं हैं। यह देह तो छूट जाएगी, यह तो हड्डियाँ हैं। आत्मा चला जाएगा। सब प्रपंच करके पूरे दिन राग और द्वेष, कषाय, मान, माया, लोभ किये होंगे। आहाहा! माँस और शराब-बराब नहीं खाया (पीया) होगा, वे सब

मरकर पशु में जानेवाले हैं। बहुत से तिर्यंच भव में जानेवाले हैं। पशु-पशु। आहाहा! देव के लक्षण तो हैं नहीं, मनुष्य में जाने के लक्षण राग की मन्दता और कषाय की मन्दता। यह तो एक घण्टे जाकर सुने, फिर हो गया। तेईस घण्टे पाप पूरे दिन। यह ऐरण की चोरी और सुई का दान। आहाहा! उसकी गिनती क्या? वह तो कहीं दान चला गया।

मुमुक्षु : तो धन्धा छोड़ देना?

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ता है कहाँ? कर कहाँ सकता है? करता है राग। राग करता है, उसे छोड़ने पर धन्धा छूट जाएगा। धन्धा यह कहाँ कर सकता है? धन्धा तो परवस्तु है। आहाहा! एक बार पालेज में हमारी दुकान पर... दुकान है न वहाँ? उस दुकान पर जहाँ बैठक है, वहाँ नागिन निकली। बैठक पर मेरे बड़े भाई बैठे हुए थे। उसमें नागिन निकली। वहीं निकली। स्वयं तो एकदम उठ गये। उसे कैसे बचाना? साथवाला वह बोहरा मुसलमान का एक घर था। उसने आकर मार डाला। आहाहा! इस धन्धे के रास्ते में भी... आहाहा! यह बैठक। जिस जगह पेढ़ी पर बैठने की गद्दी, व्यापार करने का, ठीक बराबर वहीं नागिन आयी।

अभी यहाँ नहीं नागिन ने काटा था, वहाँ हॉस्पीटल में। नागिन ऐसे... नाम अच्छा था। होगा कोई। वह ऐसे बैठा था। नागिन के ऊपर पैर आ गया और नागिन ने काट लिया तो तुरन्त मर गया। फिर मैंने पूछा था, नागिन का क्या हुआ? नागिन को बचाकर रखा। अब बेचारी के ऊपर पैर बहुत दब गया। फिर बचाकर जरा उपचार किया। जीवित रही है। वह मर गया। दूसरा होवे तो उसे मार डाले। कहा न वह बैठक में निकली, तो भाई तो उठकर गये तो साथवाले लोगों ने आकर मार डाला। यह देखो! आहाहा! पंचेन्द्रिय मारने का भी जिसे परिणाम का ठिकाना नहीं होता और एकेन्द्रिय जीव की दया कहाँ से लावे और एकेन्द्रिय की दया लावे तो भी वह राग है। एकेन्द्रिय की दया वह राग, हिंसा, आत्मा की हिंसा है। कठिन बात है, प्रभु! क्या करें? वीतराग का यह कथन है। तीन लोक के नाथ वीतराग ऐसा फरमाते हैं। जितना राग, उतनी तेरी हिंसा है। आहाहा! तो भी कहते हैं कि ज्ञानी को थोड़ा राग होता है। जानता है कि यह दुःख है, तथापि आदरणीय नहीं मानता। आहाहा! आदरणीय तो अन्दर चैतन्यमूर्ति भगवान स्वयं हीरा पड़ा है, उसमें से वीतरागता और केवलज्ञान आता है, उसे आदरणीय मानता है। यह गाथा पूरी हुई।

गाथा-१०१

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरओ।।१०१।।

एकश्च म्रियते जीव: एकश्च जीवति स्वयम्।
एकस्य जायते मरणं एक: सिध्यति नीरजा:।।१०१।।

इह हि सन्सारावस्थायां मुक्तौ च नि:सहायो जीव इत्युक्त:। नित्यमरणे तद्भवमरणे च सहायमन्तरेण व्यवहारतश्चैक एव म्रियते; सादिसनिधनमूर्तिविजातीयविभावव्यञ्जननर-नारकादिपर्यायोत्पत्तौ चासन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयादेशेन स्वयमेवोज्जीवत्येव। सर्वैर्बन्धुभि: परिरक्ष्यमाणस्यापि महाबलपराक्रमस्यैकस्य जीवस्याप्रार्थितमपि स्वयमेव जायते मरणं; एक एव परमगुरुप्रसादासादितस्वात्माश्रयनिश्चयशुक्लध्यानबलेन स्वात्मानं ध्यात्वा नीरजा: सन् सद्यो निर्वाति।

तथा चोक्तं ह्न

(अनुष्टुप्)

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति सन्सारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते।।

उक्तञ्च श्री सोमदेवपण्डितदेवै: ह्न

(वसंततिलका)

एकस्त्व-माविशसि जन्मनि सङ्क्षये च,
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम्।
अन्यो न जातु सुख-दु:ख-विधौ सहाय:,
स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते।।

मरता अकेला जीव एवं जन्म एकाकी करे।
पाता अकेला ही मरण अरु मुक्ति एकाकी करे॥१०१॥

अन्वयार्थः [जीवः एकः च] जीव अकेला [म्रियते] मरता है [च] और [स्वयम् एकः] स्वयं अकेला [जीवति] जन्मता है; [एकस्य] अकेले का [मरणं जायते] मरण होता है और [एकः] अकेला [नीरजाः] रज रहित होता हुआ [सिध्यति] सिद्ध होता है।

टीका : यहाँ (-इस गाथा में), संसारावस्था में और मुक्ति में जीव निःसहाय है ऐसा कहा है।

नित्य मरण में (अर्थात् प्रति समय होनेवाले आयुकर्म के निषेकों के क्षय में) और उस भव सम्बन्धी मरण में, (अन्य किसी की) सहायता के बिना व्यवहार से (जीव) अकेला ही मरता है; तथा सादि-सांत मूर्तिक विजातीय विभावव्यंजनपर्यायरूप नरनारकादिपर्यायों की उत्पत्ति में, आसन्न-अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के कथन से (जीव अकेला ही) स्वयमेव जन्मता है। सर्व बन्धुजनों से रक्षण किया जाने पर भी, महाबल-पराक्रमवाले जीव का अकेले का ही, अनिच्छित होने पर भी, स्वयमेव मरण होता है; (जीव) अकेला ही परम गुरु के प्रसाद से प्राप्त स्वात्माश्रित निश्चय शुक्लध्यान के बल से निज आत्मा को ध्याकर रजरहित होता हुआ शीघ्र निर्वाण प्राप्त करता है।

इसी प्रकार (अन्यत्र श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

स्वयं कर्म करता यह आत्मा तत्फल भोगे वही स्वयं।
भ्रमता स्वयं महाभववन में, भव से होता मुक्त स्वयं॥

[श्लोकार्थः] आत्मा स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं संसार में भ्रमता है तथा स्वयं संसार से मुक्त होता है।

और श्री सोमदेवपण्डितदेव ने (यशस्तिलकचंपूकाव्य में दूसरे अधिकार में एकत्वानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए ११९ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

स्वयं किये कर्मों का फल अनुबन्ध भोगने हेतु स्वयं।
करे प्रवेश अकेला जन्म-मरण में तू हे जीव स्वयं॥

विविध दुःख या सुख में तुझको बिलकुल नहीं सहाय स्वरूप।
निज जीवन के लिए मात्र यह टोली तुझे मिली ठगरूप॥

[श्लोकार्थः] स्वयं किये हुए कर्म के फलानुबन्ध को स्वयं भोगने के लिए तू अकेला जन्म में तथा मृत्यु में प्रवेश करता है, अन्य कोई (स्त्री-पुत्र-मित्रादिक) सुख-दुःख के प्रकारों में बिल्कुल सहायभूत नहीं होता; अपनी अजीविका के लिये (मात्र अपने स्वार्थ के लिये स्त्री-पुत्र-मित्रादिक) ठगों की टोली तुझे मिली है।

गाथा - १०१ पर प्रवचन

गाथा १०१। आहाहा! मूल गाथा।

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरओ।।१०१।।

नीचे हरिगीत

मरता अकेला जीव एवं जन्म एकाकी करे।
पाता अकेला ही मरण अरु मुक्ति एकाकी करे॥१०१॥

आहाहा! **टीका : यहाँ (-इस गाथा में), संसारावस्था में और मुक्ति में जीव निःसहाय है, ऐसा कहा है।** संसार में भी किसी की सहायता नहीं है और मुक्ति में भी किसी की सहायता नहीं है। सब स्वतन्त्र है। आहाहा!

नित्य मरण में (अर्थात् प्रति समय होनेवाले आयुकर्म के निषेकों के क्षय में)... आहाहा! जो आयुष्य बाँधकर आया है, वह समय-समय घटता जाता है और समय-समय में आयुष्य का नाश होता जाता है। अविचिमरण कहते हैं। जो मरण की अवधि है, उसके निकट जाता है। वह अवधि कहीं बदले ऐसी नहीं है। जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस देह में, जिस प्रकार से देह छूटनी है, उस क्षेत्र में, उस काल में बराबर छूटनी है। बड़ा डॉक्टर आवे या इन्द्र आवे तो भी बदले नहीं। आहाहा! उसका आयुष्य क्षण-क्षण में, पर्याय-पर्याय में क्षय होता है। आयुष्य है न, बाँधकर आया यह? समय-समय में आयुष्य कम होता जाता है, घटता जाता है। मरण के समीप जाता है।

जो **नित्य मरण में (अर्थात् प्रति समय होनेवाले आयुकर्म के निषेकों के क्षय में) और उस भव सम्बन्धी मरण में,...** आहाहा! इस देह छूटने के काल में, मरण में... आहाहा! **(अन्य किसी की) सहायता के बिना व्यवहार से (जीव) अकेला ही मरता है;...** व्यवहार से मरता है न? निश्चय से तो त्रिकाल है, वह है। त्रिकाली चैतन्य सदा आनन्दकन्द प्रभु है, उसका तो कभी नाश नहीं होता। देह छूटने के काल में सब स्त्री-पुत्र ऐसे सामने देखा करे। उस समय और वापिस पूछे। अब यहाँ मरने की तैयारी हो तो भी पूछे (कि) अब इसका क्या करना? अब परन्तु ठीक से मरने तो दे। हमने तो सब देखा है न? ९० के वर्ष में एक भाई वहाँ थे। क्या कहलाते हैं वे? जानवर को वह... मन्दिरवासी थे नहीं एक? राजकोट। गौशाला का नायक था। वह नायक नहीं। गौशाला में तो दूसरे थे। ये और दूसरे। यह तो दूसरे का ऊपरी था। उसे पूछकर करे। मारना हो, कसाईखाने ले जाना हो तो। बनिया, मन्दिरमार्गी था। हम वहाँ थे इसलिए... ९० के वर्ष की बात है। महाराज को बुलाओ दर्शन करने को। बेचारे की आँख में आँसू बहते चले जाएँ और दुःख... दुःख... दुःख... दुःख... ऊपर स्त्री पूछने को बैठी थी। निश्चित हो गया था कि देह अब छूट जाएगी।

मुमुक्षु : म्युनिसिपलटी का सेक्रेटरी...

पूज्य गुरुदेवश्री : सेक्रेटरी। किसका कहा? म्युनिसिपलटी का सेक्रेटरी।

मुमुक्षु : गाँव में गये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह। म्युनिसिपलटी का सेक्रेटरी था। यह तो ९० के वर्ष की बात है। ऐसे मैं गया, वहाँ स्त्री ऊपर बैठकर पूछताछ करती है। अरे! कहा क्या करते हो तुम यह? यह तैयारी हो गयी है और तुम इसे वहाँ रोकते हो। उसमें पोर्टर आया, नौकर लेकर कि आज रावसाहेब की पदवी सरकार देती है। मैं वहाँ था, हों! वहाँ एक पोर्टर सरकार का व्यक्ति। रावसाहेब की पदवी दे। यहाँ मरना है। आहाहा! तेरे रावसाहेब और फावसाहेब। जहाँ मैं उपाश्रय गया, वहाँ खबर पड़ी कि रात्रि में मर गया। दोनों आँखों में से आँसू बह रहे थे। कहीं विवाह में गया था वहाँ मैसूरपाक और मीठा खाया हुआ था, इसलिए ये सब उलझ गया। ऐसे करते-करते श्वास चले, बड़ा लट्ठ जैसा शरीर था। शरीर मजबूत था। मन्दिरमार्गी श्वेताम्बर। वैसे तो सबको प्रेम था न, इसलिए महाराज के दर्शन

करने और मांगलिक सुनने को। वह तो दोनों आँखों से रोवे और वह स्त्री पूछे कि इसका क्या करना ? भाई! यह अब जाता है। तुम यह क्या करते हो ? यह जाता है। वहाँ पोर्टर आया कि रावसाहेब का इलकाव देना है। मर गया। अभी देह छूट जाएगी। किसका इलकाव किसे यह देना है ? अरे! दुनिया पागल, पागल दुनिया। कुछ भान नहीं होता। क्या करते हैं और कहाँ जाएँगे यहाँ से ? देह तो अवश्य छूटेगी, आत्मा तो अनादि-अनन्त है, वह यहाँ से कहाँ जाएगा ? आहाहा! पुण्य के ऐसे परिणाम किये हों। कुछ ठीक दो-चार घण्टे सत्समागम, दो-चार घण्टे दया, दान, भक्ति, पूजा, तब तो फिर पुण्य भी हो। वह भी नहीं। एकाध घण्टे गया हो और तेईस घण्टे पाप के, अब मरकर पशु में जाना। उसे दूसरी गति नहीं होती। मरकर पशु होगा। भले करोड़पति या अरबोंपति हो। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। **(आयुकर्म के निषेकों के क्षय में) और उस भव सम्बन्धी मरण में,...** उस भव सम्बन्धी। दूसरे भव में दूसरा। **उस भव सम्बन्धी मरण में, (अन्य किसी की) सहायता के बिना...** कोई मदद नहीं करता, कोई सामने नहीं देखता। आहाहा! स्त्री टकटक देखे, लड़के रोते हों, उसको दो... श्वास चलता हो। नानालालभाई का भतीजा था और एक भाई था। नानालाल कालीदास राजकोट, करोड़पति, उसके काका का लड़का पूंजाभाई था, वह उसके काका का लड़का था। क्या नाम था, भूल गया। अमुलखभाई। उनकी अन्तिम स्थिति हुई और पूरा परिवार इकट्ठा हुआ। सब करोड़पति गृहस्थ। कहे, महाराज को बुलाओ मांगलिक सुनाने के लिये। वह भी ९० वर्ष की बात है। यह घर भरा हुआ। नानालालभाई और बेचरभाई तथा मोहनभाई सब थे। राजकोटवाले सब करोड़पति। सब कुटुम्ब इकट्ठा हुआ था। उसे दोनों आँखों में से आँसू बह रहे थे। यह सहन नहीं होता। यह सब पकड़ा गया है, ऐसे करे वहाँ अन्दर से चिल्लाहट मचाये। बड़े करोड़पति भाई थे। आहाहा! हाथ में मौसम्बी कुछ दी और महाराज को पड़गाहो परन्तु हाथ थी काँपते थे, आँख में आँसू, सब बैठे थे। देह छूट गयी। अकेला मरता है और अकेला जीता है, बापू! कौन तेरा सहायक है ? आहाहा! जिसके लिये तूने पूरी जिन्दगी पाप किये, वे भी मरते समय सामने देखते रहेंगे। कोई सहायक हों, ऐसा वहाँ नहीं है। आहाहा!

(अन्य किसी की) सहायता के बिना व्यवहार से (जीव) अकेला ही मरता

है;... आहाहा! देह छूट जाती है। देह जड़-मिट्टी है। वह कहाँ आत्मा है? वह तो धूल है। धूल की स्थिति है। वह स्थिति जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस संयोग में छूटना है, वह छूटेगी। केवली के ज्ञान में आया है कि इस जगह है, इस प्रमाण इसका इतना आयुष्य होगा। आहाहा! कौन कहता है मरण में सहायक है? आहाहा! **सहायता के बिना व्यवहार से (जीव) अकेला ही मरता है; तथा सादि-सांत मूर्तिक विजातीय विभावव्यंजनपर्यायरूप नरनारकादिपर्यायों की उत्पत्ति में, आसन्न-अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के कथन से (जीव अकेला ही) स्वयमेव जन्मता है।** कहीं से आकर अकेला जन्मता है। आहाहा! ढोर में से आवे, थोर में से आवे। ऐसे भाव हों, वहाँ से आवे और अकेला आकर जन्मे। आहाहा! जन्मे जहाँ बाहर आवे, पहले आँख खोले नहीं। देखा है? बालक जन्मता है, तब पहले आँख नहीं खोलता। पहले ऊंआं करे.. ऊंआं... रोने लगता है। बाहर जन्मे तब रोने लगता है। अभी उसकी माँ को खबर नहीं पड़े कि यह लड़का-लड़की है, वहाँ तो रोने लगता है। आँख बन्द होती है। यह स्थिति! अकेला जन्मता है और अकेला मरता है। तुझे कोई सहायक नहीं है, बापू! आहाहा! जगत को कठिन पड़ता है। आहाहा!

सादि-सान्त समझ में आया? इस शरीर की उत्पत्ति है न? इस उत्पत्ति का फिर अन्त है। सादि-सान्त है। शरीर की उत्पत्ति है, वह शुरुआत है। **सादि-सांत मूर्तिक विजातीय विभावव्यंजनपर्यायरूप नरनारकादिपर्यायों की...** नर-मनुष्य हो, कोई नारकी हो, कोई देव हो... आहाहा! और कोई देव हो, मनुष्य हो। उस **उत्पत्ति में, आसन्न-अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के कथन से (जीव अकेला ही) स्वयमेव जन्मता है।** आहाहा! कोई सामने देखनेवाला नहीं होता। वहाँ से जो परिणाम लेकर आया। थोर में हो, एकेन्द्रिय में कहीं हो, वहाँ से मरकर अकेला जन्मता है। यह बाँधा हुआ जो कर्म है। है न? जन्म में कोई सहायक होगा। यहाँ भले जन्म हो और फिर गाँव में लाखों के पेड़ा बाँटे परन्तु वह अकेला जन्मा, वहाँ ऊंआं.. ऊंआं... आहाहा! ऐसे भव किये हैं, बापू! आहाहा! चलता है एकदम। अकेला मरता है और अकेला जन्मता है। जन्मने और मरने के समय कोई सहायक नहीं होता। आहाहा!

हमारे यहाँ एक बार एक प्रश्न हुआ था। ८६ का चातुर्मास अमरेली में किया था न?

अमरेली से उठकर चीत्तल गये, चीत्तल। ८६ की बात है। उसमें चीत्तल में बाघेर है न? चीत्तल में बाघेर लोग। सब गृहस्थ।

मुमुक्षु : बहुत परिवार....

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत परिवार। १९ घर हैं। सब पैसेवाले हैं और (हम) गये, वहाँ हमारा मनसुख आया, आनन्द आया था, आणन्दजी। हमारे पालेज की दुकान से आया था। सगाई करने मनसुख का। वहाँ लालचन्दभाई थे बाघेर। सब गृहस्थ पैसेवाले। लाखोंपति उस समय, हों! फिर उन्होंने मुझसे प्रश्न किया वह हमारा आणन्दजी सगाई करने आया था। हमारा भागीदार था न वहाँ? यह तो ८७ की बात है। आहाहा! ८७ के (वर्ष) की बात है। (प्रश्न किया) कि यह क्या बनता होगा? कहा, एक आवे थोर में से और एक आवे दो इन्द्रिय में से। वे यहाँ फिर पति-पत्नी हों। वहाँ कहीं किसी का मेल नहीं है। आहाहा!

इस प्रकार का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का योग। परन्तु एक आवे थोर में से और एक आवे लट में से। यहाँ हो पति-पत्नी। आहाहा! वापस एक मरकर कहीं जाए और एक मरकर कहीं जाए। कौन सामने देखे? बापू! हमारा आणन्दजी था न? उसने तब प्रश्न किया था। वह भी मर गया, सब मर गये। आहाहा! बहुत वर्ष की बात है। आहाहा! जन्म में **स्वयमेव जन्मता है।** विजातीय बड़ी विभाव की पर्यायें। यह शरीर विजातीय है न? मूर्तिक है। यह नरनारकादि पर्याय की उत्पत्ति में इस नजदीक के **अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के कथन से (जीव अकेला ही) स्वयमेव जन्मता है।** आहाहा! **सर्व बन्धुजनों से रक्षण किया जाने पर भी, महाबल-पराक्रमवाले जीव का अकेले का ही, अनिच्छित होने पर भी, स्वयमेव मरण होता है;...** आहाहा! **सर्व बन्धुजनों से रक्षण किया जाने पर भी, महाबल-पराक्रमवाले जीव का...** महाबल और पराक्रमवाला भगवान अन्दर है। आहाहा! अनन्त-अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द से भरपूर भगवान। आहाहा! तू भगवान है, प्रभु! तुझे खबर नहीं। परमेश्वर है, भगवान है। भगवान और परमेश्वर न हो तो तेरी पर्याय में परमेश्वर कहाँ से आयेगा? परमेश्वर केवली होगा, वह आयेगा कहाँ से? बाहर से आवे ऐसा है? अन्दर में भरा हुआ, अन्दर विद्यमान है। आहाहा! इसकी कहाँ खबर है? परमेश्वर क्या और... आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं **महाबल-पराक्रमवाले जीव का...** आहाहा! **अकेले का ही,**

अनिच्छित होने पर भी,... उसे कुछ मरने की इच्छा है ? **स्वयमेव मरण होता है;...** देह छूट जाती है। सब टकटक देखें। 'खड़ी नारी रे तेरी कामिनी, टकटक देखे अरे देह में अब कुछ नहीं। ऐसे सुबक-सुबक कर रोवे।' आहाहा! 'अन्तकाल में तेरा कोई नहीं।' आहाहा! तेरे मरण को देखकर तेरी स्त्री सुबककर रोवे। अरेरे! इस देह में अब कुछ नहीं है। यह देह चली जाएगी, यह क्या है ? इसकी स्थिति प्रमाण रहे और इसकी स्थिति प्रमाण जन्मता है। कोई दूसरे की सहायता-मदद है नहीं। आहाहा! कठिन काम है।

(जीव) अकेला ही परम गुरु के प्रसाद से... आहाहा! अब सुलटा लेते हैं। **अकेला ही परम गुरु के प्रसाद से प्राप्त स्वात्माश्रित निश्चय शुक्लध्यान के बल से...** आहाहा! इसे गुरु का उपदेश मिला, प्रभु! तू आत्मा आनन्दकन्द है। तू चैतन्यरत्न है। तेरे जैसी तीन लोक में कोई चीज़ नहीं है। आहाहा! ऐसा इसे उपदेश मिला, उसके कारण उसके बल से। आहाहा! है न ? **परम गुरु के प्रसाद से...** यह निमित्त से बात है न ? **प्राप्त स्वात्माश्रित...** गुरु ने कहा क्या ? कि स्व आत्मा तेरा अन्दर भगवान है, वहाँ देख, उसका आश्रय ले। तू णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं... करेगा, वह तो राग होगा। उसमें कुछ तुझे सुधार-बुधार नहीं होगा। पाँच नवकार गिनो। नवकार गिने, वह राग है। आहाहा!

स्वात्माश्रित... ऐसा लिया। देखा ? गुरु ने इसे यह कहा है। आहाहा! परम गुरु के उपदेश से। गुरु उन्हें कहते हैं, कहते हैं कि जो स्व आत्मा का आश्रय बतावे। आहाहा! है ? **अकेला ही परम गुरु के प्रसाद से प्राप्त स्वात्माश्रित...** आत्मा के आश्रित निश्चय शुक्लध्यान। आहाहा! इस पंचम काल में नहीं है, तो भी ऐसी बात करते हैं। फिर भविष्य के भव में शुक्लध्यान करके मोक्ष जाएगा। आहाहा! इस भव में जिसने समकित होकर आराधन किया है, आत्मा का ज्ञान और अनुभव किया है, उसे भविष्य में शुक्लध्यान होगा और मोक्ष जाएगा। आहाहा!

निश्चय शुक्लध्यान के बल से निज आत्मा को ध्याकर... आहाहा! **रजरहित होता हुआ शीघ्र निर्वाण प्राप्त करता है।** मरण में अकेला, जन्म में अकेला, मोक्ष में अकेला - सर्वत्र अकेला है, कहते हैं। कोई साथ आवे, ऐसा नहीं है। थोड़ा पुण्य किया होगा तो उस पुण्य के परमाणु बँधे हुए हैं, वे परमाणु में पड़े हैं। उनमें कुछ तेरा भाव नहीं

है। आहाहा! कोई शरण नहीं। शरण चैतन्यमूर्ति है। यह कल आया था न! अरिहन्ता शरणम्, सिद्धा शरणम् - यह नहीं। यह तो व्यवहार है, राग है। मांगलिक में आता है न? अरिहन्ता शरणम्, सिद्धा शरणम्, साहू शरणम्, केवलीपण्णत्तो धम्मो शरणम्, यह तो राग है। कल आया था। आत्मा अन्दर शरण है। परद्रव्य के साथ कुछ भी सम्बन्ध है, वह राग है। अरिहन्त को याद करे और अरिहन्त का स्मरण करे तो वह राग है; उसमें धर्म-फर्म है नहीं। आहाहा!

इसलिए यहाँ कहा **स्वात्माश्रित...** अपना जो आत्मा है, उसके आश्रित। **निश्चय शुक्लध्यान...** होता है। यह तो मोक्ष लेना है न? **निश्चय शुक्लध्यान के बल से...** शरीर का संहनन और बल तथा वज्रनाराचसंहनन और उसके बल से नहीं। आहाहा! केवलज्ञान प्राप्त करता है, उसे वज्रनाराचसंहनन होता है। हो, उसके बल से केवल (ज्ञान) नहीं होता। आत्मा के आश्रय से होता है। प्रभु पूर्णानन्द का नाथ अन्दर विराजता है, उसका आश्रय लेने पर उसे समकित होता है, उसका आश्रय लेने पर उसे चारित्र होता है, उसका आश्रय लेने पर उसे निश्चल शुक्लध्यान होता है और उसका आश्रय पूर्ण होने पर केवलज्ञान होता है। आहाहा! भगवान आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य के आश्रय में राग है। आहाहा!

निज आत्मा को ध्याकर... देखा? अपने आत्मा का ध्यान करके, ऐसा कहा। णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं भगवान का ध्यान करना - ऐसा नहीं कहा। भगवान का स्मरण करे, वह राग है। परमेश्वर परद्रव्य है। आहाहा! **निज आत्मा को ध्याकर रजरहित होता हुआ...** आहाहा! **शीघ्र निर्वाण प्राप्त करता है।** आहाहा! इस प्रकार अकेला मरता है, अकेला जन्मता है, अकेला मोक्ष में जाता है। कोई सहायक नहीं है। आहाहा! अकेले बुरे परिणाम किये हों, स्त्री-पुत्र-धन्धे के लिये, भोगना स्वयं को। वह नरक और पशु में जाकर। आहाहा! अकेला भोगना और अकेला करना, ऐसा कहते हैं। इसलिए आत्मा का आश्रय ले और अन्दर धर्मध्यान ले तो उसमें से धीरे-धीरे मुक्ति होगी।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

नियमसार, आधार दिया है। इसी प्रकार श्लोक द्वारा कहते हैं।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति सन्सारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते।।

आत्मा स्वयं कर्म करता है,... किसी की कुछ सहायता नहीं। स्वयं अपने को भूलकर, विकल्प से लेकर परभाव को स्वयं करता है। यह तो ज्ञानानन्द शुद्ध विकल्परहित स्वरूप है, परन्तु यह विकल्प से लेकर दूसरे पदार्थ का कर नहीं सकता और करता हूँ— ऐसे अभिमान में मिथ्यात्वभाव का सेवन करता है। **'स्वयं कर्म करोत्यात्मा'** यह कर्म का भाग और विकल्प अपने आप स्वयं करता है। ऐसा कहकर कर्म के कारण से करता है, ऐसा नहीं – यह कहते हैं। जो विकार करता है, भटकता है, वह कर्म के कारण से नहीं। **'स्वयं कर्म करोत्यात्मा'** विकल्प से लेकर शुभाशुभराग, वह कर्म है, विकार है, दुःख है। उससे लेकर राग-द्वेष विकल्पों का जाल स्वयं करता है, स्वयं उसका फल भोगता है। आहाहा! किया हो किसी के लिये, उसे भोगने के लिये दूसरे साथ नहीं आते। स्त्री-पुत्र के लिये पाप किया हो, उसे भोगने के लिये कहीं स्त्री-पुत्र साथ आते हैं? अकेला करता है और अकेला भोगता है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्त्री-पुत्र का करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ थे, यह करे? स्त्री-पुत्र इसके कहाँ थे? वे तो उनके हैं। वह तो उनकी चीज़ है। अब उनकी चीज़ में करना कहाँ था? यह तो विकल्प भी जब इसके नहीं, विकल्प भी कर्मकृत है; स्वभावकृत नहीं। आहाहा! शुभ-अशुभ आदि राग कहीं स्वभावकृत नहीं। स्वभाव तो आनन्द का सागर है; उसमें विकल्प का दुःख नहीं है। आहाहा! विकल्प से लेकर बाहर के जितने संयोगों के आश्रय से विकल्प करता है, वह स्वयं करता है। दूसरे कराते हैं – ऐसा नहीं है। कर्म भी कराते हैं – ऐसा नहीं है। ऐसा यहाँ कहना है। आहाहा!

आत्मा स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है,... आहाहा! नरक और

निगोद में, अकेला ३३-३३ सागर नरक में। निगोद में तो अनन्त काल अपने किये हुए फल को भोगता है। आहाहा! **स्वयं संसार में भ्रमता है...** वापस स्वयं कर्म को करता है। स्वयं संसार में भ्रमता है; कर्म के कारण से नहीं। **स्वयं संसार में भ्रमता है...** नरक और निगोद के फल जो धारण करे, वह स्वयं अपने अपराध से करता है। एक विकल्प उठे, वह भी अपराध है। आहाहा! निरुपाधिस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का सागर है। निर्विकल्प स्वभाव का सागर है। उसमें विकल्पमात्र उठता है, वह सब संसार है।

वह संसार स्वयं करता है, भोगता है। **स्वयं संसार में भ्रमता है तथा स्वयं संसार से मुक्त होता है। 'तस्मात्'** है न? यह शब्द उस दिन पूछा था न? भाई! **'तस्मात्'** अर्थात्? यह **तस्मात** अर्थात् संसार, ऐसा। **स्वयं भ्रमति सन्सारे स्वयं सन्सारेविमुच्यते।** आहाहा! संसार से मुक्त अकेला होता है। अपने धर्मध्यान और शुक्लध्यान स्व आत्मा के आश्रय से (होता है)। परद्रव्य का कुछ आश्रय नहीं होता। आहाहा! दूसरा श्लोक।

एकस्त्व-माविशसि जन्मनि सङ्क्षये च,
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम्।
अन्यो न जातु सुख-दुःख-विधौ सहायः,
स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते।।

आहाहा! सोमदेव पण्डित ने कहा है। **स्वयं किये हुए कर्म के फलानुबन्ध को स्वयं भोगने के लिए...** अकेला फल नहीं, उसका अनुबन्ध। एक के बाद एक, एक के बाद एक उसका फल आया ही करे। आहाहा! लोग नहीं कहते कि घर में से पलंग छह महीने से खाली नहीं होता। एक बीमार पड़े और उठे, वहाँ दूसरा पड़े; दूसरा उठे, वहाँ तीसरा पड़े, (ऐसा) छह-छह महीने तक। परन्तु यह तो अनन्त काल। एक... जहाँ आवे, वहाँ दूसरा, तीसरा, चौथा - ऐसे अनन्त अनुबन्ध। कर्म की लार। आहाहा!

स्वयं किये हुए कर्म के फलानुबन्ध को स्वयं भोगने के लिये तू अकेला जन्म में तथा मृत्यु में प्रवेश करता है,... तेरे किये हुए भाव को भोगने के लिये जन्म में तेरा जन्म उसके कारण है। जन्म में प्रवेश है, वह तेरे किये हुए कर्म के कारण प्रवेश है। आहाहा! और मरण में भी यह। अकस्मात् मरण आ जाता है। आहाहा! बैठे होवे न ऐसे... लड़का मलकापुर का। क्या कहलाता है? ऐसा, मलकापुर का लड़का है न? स्वरूपचन्द कहता

था कि एक लड़का मेरा मित्र के साथ बैठा था, बात करते थे। नख में कुछ भी रोग नहीं। बात करते थे। बात करते-करते वहाँ थुऊं इतना किया, ऐसा जहाँ देखे वहाँ मर गया। बातचीत में कुछ रोग-बोग कुछ नहीं होता। आहाहा! देह की स्थिति पूरी हुई, ऐसा हुआ, इतना कस निकल गया। जीव निकल गया। साथ में बातें करते थे। दोनों मित्र थे। वह स्वरूपचन्द बड़ा व्यापारी है। दस-दस हजार का कपड़ा। उस दिन की बात है। अब तो बढ़ गया होगा। मोक्षमार्गप्रकाशक तो पूरा कण्ठस्थ है। छोटा लड़का है, उसे मोक्षमार्गप्रकाशक पूरा कण्ठस्थ है। यहाँ का रस बहुत है। तब कुँवारा था, अब विवाह हो गया होगा।

यहाँ कहते हैं कि **स्वयं किये हुए कर्म के फलानुबन्ध को...** लेकर एक के बाद एक, एक के बाद एक अवतार चला करते हैं। आहाहा! और **स्वयं भोगने के लिए तू अकेला जन्म में तथा मृत्यु में प्रवेश करता है,...** आहाहा! कोई सहायक नहीं मिलता। अरबों पैसे (रुपये) हों तो भी क्या करे। आहाहा! चले गये। अरबोंपति चले गये। **जन्म में तथा मृत्यु में प्रवेश करता है,...** प्रवेश करता है अर्थात् जन्म और मृत्यु स्वयं के कारण अकेले को होते हैं। आहाहा! **अन्य कोई (स्त्री-पुत्र-मित्रादिक) सुख-दुःख के प्रकारों में बिल्कुल सहायभूत नहीं होता;...** यह जब शरीर में तीव्र रोग आवे, वे तड़पे-देखे। आहाहा! अरे..रे..! यह क्या है?

दामनगर की एक लड़की थी। दो वर्ष की विवाहित, १८ वर्ष की छोटी उम्र और उसमें शीतला का रोग आया। दाने-दाने में कीड़े, दाने-दाने में कीड़े। धीरुभाई के दरवाजे के अन्दर। दरवाजे के अन्दर। लड़की को ऐसी पीड़ा। कीड़े दाने-दाने में। दाने अर्थात् छिद्र। ऐसे फिरे तो चिल्लावे, ऐसे फिरावे तो चिल्लावे। हजारों कीड़े घूमें। माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में किये नहीं। यह अनुबन्ध की बात चलती है। है? **फलानुबन्ध को स्वयं भोगने के लिए तू अकेला जन्म में तथा मृत्यु में प्रवेश करता है,...** आहाहा! वह लड़की रोती-रोती थी, माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में नहीं किये। यह कहाँ से आया? रोवे.. रोवे.. देह छूट गयी। कौन करे? आहाहा!

सुख-दुःख के प्रकारों में बिल्कुल सहायभूत नहीं होता;... स्त्री-पुत्र, जिन्हें 'मेरा' मानकर बड़ा किया, पढ़ाया-गुनाया। स्त्री को मनाया। आहाहा! वह कहे वैसा

करके दिया, प्रसन्न रखा। आहाहा! वह स्वयं को जब दुःख आया, वह बिल्कुल सहायभूत नहीं होते। यह विचार कब किया है?

मुमुक्षु : पैर तो दबावे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : आते हैं पैर दबाते हैं। सुमन! पैर जड़ है। उसे दबावे, उससे आत्मा को-रामजीभाई को क्या हुआ? सुमनभाई आते हैं न? उन्हें मुम्बई मैं छह-सात-आठ हजार का वेतन है। यहाँ पैर दबाते हैं। पैर में क्या है? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, कोई जरा कठिन कहेगा। उन **सुख-दुःख के प्रकारों में बिल्कुल सहायभूत नहीं होता; अपनी अजीविका के लिये (मात्र अपने स्वार्थ के लिये स्त्री-पुत्र-मित्रादिक) ठगों की टोली तुझे मिली है।**

मुमुक्षु : महापुरुष तो ऐसा ही कहे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दुःख ही है न? दुःखी ही है न? विकल्प है, वह दुःख है, बापू! इसे कहाँ खबर है? आनन्द का सागर अन्दर डोलता है। वह किसी भी प्रकार के परपदार्थ के लक्ष्य से विकल्प करे, वह दुःखी है। दुःख की व्याख्या की खबर नहीं। दुःख तो मानो ऐसे अग्नि में जलता हो, बिच्छु काटता हो, पैर टूटा हो, उसे दुःख मानता है। आहाहा! इसे दुःख की खबर नहीं। यह तो आनन्द का सागर भगवान! ब्रह्मानन्द, उसे विकल्प से लेकर किसी भी चीज़ के लिये, परद्रव्य के लिये विकल्प उठावे, अरे! तीन लोक के नाथ की भक्ति के लिये विकल्प उठावे, वह विकल्प दुःखरूप है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! यह तो वीतरागमार्ग है।

तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव अकषाय करुणा से जगत को कहते हैं, भाई! तेरे किये हुए कर्म के अनुबन्ध को एक के बाद एक तू भोगता है और तू करता है और तू भोगता है। बाकी तो ये स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी, ये सब ठगों की टोली है। आहाहा! अनुकूल होवे, वहाँ तक ठीक और प्रतिकूल होवे तो उसमें एकान्त में कहे बड़ा राजा था, उसे रानी थी। नाम नहीं देते। रानी थी तो एकान्त में कहे, कुछ थोड़ा रानी का अपमान किया होगा, इसलिए रानी कहे कि देखो! हम जागीरदार। हम जागीरदार की लड़की हैं, कोई साधारण नहीं हैं। हमारा ऐसा अपमान करना नहीं। नहीं तो इसका फल अच्छा नहीं आयेगा। आहाहा! बड़े राजा को, हों! रानी ने कहा - हमारा अपमान करना नहीं। इसका फल अच्छा नहीं आयेगा।

हम कोई साधारण हरिजन, भंगी और ढेढ़ के घर में नहीं अवतरित हुए हैं। हम राजा के घर में अवतरित हुए हैं। राजा की रानी हैं। स्वामी को ऐसा कहे। आहाहा! हमको बताना नहीं अधिक, हों! यह बहुत लम्बा करना नहीं। नहीं तो इसका फल अच्छा नहीं आयेगा, ऐसा बोले। आहाहा! परन्तु यह तो किसी समय हो, इसलिए ध्यान रखे न। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि ये सब लड़के-लड़कियाँ, स्त्री-पुत्र, बहुएँ... आहाहा! ये **अपनी अजीविका के लिये...** आजीविका के लिये-निभने के लिये **(मात्र अपने स्वार्थ के लिये स्त्री-पुत्र-मित्रादिक) ठगों की टोली तुझे मिली है।** है शब्द इसमें? ठगों की टोली मिलकर तुझे ठगती है। आहाहा!

मुमुक्षु : उत्साह-उत्साह में ठगाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सदा ठगाता है। उत्साह में क्या? परद्रव्य के आश्रय से विकल्प उठाकर मानता है कि हम सुखी हैं। ठगाता है। समय-समय में ठगाता है, भाई! आहाहा!

वीतराग तो ऐसा कहते हैं, प्रभु! तेरा स्वरूप तो वीतराग है न? वीतराग के स्वभाव से भरपूर भगवान भण्डार है न? उसमें से वीतरागता आनी चाहिए और तू यह राग करता है, विकल्प उठाता है? इस दुःख के समुद्र में डुबकी मारता है, भाई! तुझे खबर नहीं है। आनन्द के सागर में डुबकी मारना चाहिए। आहाहा! कृत्रिम विकल्प, कृत्रिम—क्षणिक। उसमें डुबकी मारकर दुःखी होता है। यह भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर अन्दर विराजता है। अन्दर एक बार डुबकी तो मार, अन्दर देख तो सही! आहाहा! तेरे दुःख का अन्त लावे, ऐसी चीज़ अन्दर है। आहाहा! कैसे जँचे? आत्मा अर्थात् कुछ नहीं मिलता। यह सब शरीर, वाणी, मन, स्त्री, पुत्र। पैस-बैसा हुआ हो तो... आहाहा! फटे, मस्तिष्क फट जाए (अभिमान में चढ़ जाता है)। आहाहा!

उपदेशवाले को उपदेश ठीक नहीं पड़ता। उसके अनुकूल न हो तो वह उपदेश भी ठीक नहीं पड़ता। वहाँ तक मस्तिष्क फट जाता है। आहाहा! यहाँ तो ऐसा कहते हैं। यह स्त्री, पुत्र, लड़के-लड़कियाँ... बापूजी! बापूजी! करते आवें। ऐसे आधीन होते आवें और गोद में बैठने आवें। ऐसा सिर डाले। आहाहा! वहाँ वह सहलावे और हाथ डाले, बापू! सब ठगों की टोली है। आहाहा! कहो, देवीलालभाई! आहाहा! प्रभु! तेरे दुःख में वे जरा भी मदद नहीं करते। आहाहा! अरे! शास्त्र में यहाँ तक दृष्टान्त आता है।

दो भाई थे, छोटा भाई बीमार पड़ा, बड़ा भाई उसे दवायें लाकर दे। छोटे भाई को बहुत पता नहीं कि इसमें अण्डा लाता है। दवा में अण्डा और ऐसा लाता है। उसे खबर नहीं। आहाहा! उसमें बड़ा भाई उसके छोटे भाई की दवा करता था। वह मरकर नारकी हुआ और छोटा भाई मरकर परमाधामी हुआ। नरक में। परमाधामी मारता है, उसे याद आती है अरे! भाई! मैंने तेरे लिये किया था और तू? मैंने तुझसे कहाँ कहा था? चिमनभाई! ऐसा कठिन, बापू! आहाहा! यह जगत की अनुकूलता। आहाहा! उसमें पाँच-पचास करोड़ रुपये हों और लड़के का विवाह, लाख-दो लाख दे। जाओ, घूमो देशावर में दोनों, सब देख लो देशावर में। आहाहा! अर..र..र!

मुमुक्षु : आज लाख रुपये में पूरा नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाख में नहीं होता। रेल में बैठे तो पूरा होता है। रेल में बैठे तो पूरा होता है। रेल में कम खर्च होता है न। आहाहा! अरे..रे..! दुनिया क्या करती है? कहाँ जाना है प्रभु तुझे? तू कौन है? और तू कहाँ जाना चाहता है? आहाहा! प्रभु! तू तो आनन्द का सागर है न, नाथ! प्रभु! तेरा हित तो तुझमें रहना, वह हित है। बाहर निकलना, विकल्प उठाना, प्रभु! उसमें दुःख है। आहाहा! श्रुत परिचित अनुभूता-आता है न? यह अपने आया है उसमें। यह पद्मनन्दिपंचविंशति में आया है। यह शब्द है। अनन्त बार तूने बापू! राग और विकार की बातें सुनी है और परिचय में आयी है और अनुभव में आयी है। उसमें, पद्मनन्दिपंचविंशति में है। उसमें तो है परन्तु उसमें उसने अर्थ किया है। समयसार में अर्थ किया है। बलभद्र ने अर्थ किया है। श्रुत अर्थात् ज्ञान, परिचित श्रुतपरिचित अर्थात् दर्शन अनुभूति अर्थात् चारित्र। आहाहा! उसमें पद्मनन्दिपंचविंशति में है। आहाहा! श्रुत परिचित अनुभूता। प्रभु! तूने बहुत बार सुना। पुण्य और पाप की बात तो अनन्त बार सुनी और अनन्त बार किये, अनन्त बार फल भोगा। यह भटकते.. भटकते.. आहाहा! ब्रह्मदत्त जैसा चक्रवर्ती, छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक, हीरा जड़ित पलंग में सोया हुआ, मरकर सातवें नरक में गया। अभी सातवें नरक में है। अभी पिच्यासी हजार वर्ष हुए हैं। अभी यह अरबों के अरबों वर्ष उसके अरबों वर्ष अभी सातवें नरक में तैंतीस सागर (की आयु) है। आहाहा! गजब बात है। एक अन्तर्मुहूर्त की कल्पना की, उसका फल कितना पल्योपम के नरक का दुःख भोगा है। अभी उसमें पड़ा है, सातवें नरक में भोगता

है। अभी तो पिच्यासी हजार वर्ष गये हैं। अभी तो असंख्य, बहुत-बहुत अरबों वर्ष बाकी है। आहाहा! एक अरब नहीं। पल्योपम के असंख्यातवें भाग में असंख्य अरब जाते हैं, ऐसे एक पल्योपम, ऐसे दस हजार पल्योपम का एक सागरोपम, ऐसी तैंतीस सागर की स्थिति में अभी पड़ा है। आहाहा! जब यहाँ था तब बापू! फिर गया था। हीरे के पलंग में हम मानो... आहाहा! बापू! जो आनन्द के सागर को भूलकर, प्रभु! तू क्या कर रहा है? और किसके लिये? स्त्री, पुत्र, सब आजीविका की ठगों की टोली है। ठीक न हो तो एकान्त में बोले। किसलिए विवाह किया था? किसलिए आये थे हाथ जोड़ते? एकान्त में बोले। बाहर में यह बात न आवे। है?

एक के ऊपर और पत्र आया था। यहाँ है, बैठे हैं। उनका ऐसा पत्र आया कि यह तुम हमारा ध्यान नहीं रखते तो वृद्धा महिला से विवाह करना था और जवान से किसलिए विवाह किया? समझ में आया? वे इसमें बैठे हैं। नाम नहीं देते। ऐसा पत्र आया था। ऐसा कहे, तुम यहाँ नहीं आते, तुम हमारे पास भोग नहीं लेते तो वृद्ध से विवाह करना था न? जवान से विवाह करके भागकर चले गये? यह सब समझने जैसे हैं। देवीलालजी! आहाहा!

मुमुक्षु : कहीं सबके घर में ऐसा होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : सबके घर में ऐसा ही है। सब ठगों की टोली है। आहाहा! समुचित वस्त्र न लाये हों और समुचित कपड़े न लाये हों तो मेढ़ूं मारे। ऐसे कपड़े होते हैं? ऐसे गहने? लड़के का विवाह होता है और अच्छी साड़ी लाना चाहिए, अमुक करना चाहिए। आहाहा! दुनिया तो है दुनिया। वह यह क्या कहते हैं?

अपनी अजीविका के लिये (मात्र अपने स्वार्थ के लिये)... आहाहा! **(स्त्री-पुत्र-मित्रादिक) ठगों की टोली तुझे मिली है।** तुझे ठगते हैं। लाओ.. लाओ.. लाओ.. कपड़े लाओ, अमुक लाओ, अमुक लाओ, अपने पास इतने पैसे हैं तो उसके प्रमाण में साड़ी, सौ-दो सौ की नहीं होती, पाँच हजार की साड़ी लाओ, दस हजार की (साड़ी) लाओ। वह जरी भरी है न जरी? छोर में जरी भरी हुई होती है न? क्या कहलाती है वह? ऐसे पल्लू रखते हैं न? जरी भरी हुई होती है। पल्लू। कीमती जरी भरी होती है। पाँच-पाँच हजार की साड़ी होती है। बहुत सब देखा और बहुत सुना है। और वह साड़ी पहनकर पुत्र की बहू बाहर निकले और दूसरे दूसरी नजर से देखे। यह ऐसा मानता है कि मेरी साड़ी

बाहर प्रसिद्ध होती है और पैसेवाला हूँ, यह बाहर प्रसिद्ध होता है न? ऐसे स्वार्थ के पुतले। आहाहा! वह साड़ी चाहिए महिला के ऊपर सामनेवाले की नजर फिरी हो। यह कहता है मेरी बहू पहनकर निकली है और वह देखते हैं। बाहर हमारी इज्जत बढ़ती है। पाँच हजार की साड़ी है, लोग देखते हैं। आहाहा! यह सब ठग हैं। कठिन काम, भाई! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं (कि) स्वद्रव्य के अतिरिक्त चाहे तो चाहे जो परद्रव्य हो और परद्रव्य के आश्रय से जो विकल्प है, वह दुःखरूप है। आहाहा! चाहे तो शुभविकल्प हो या अशुभ हो। आनन्द का सागर भगवान, उसके पास उस विकल्प की क्या कीमत है? आहाहा! जिसके साथ तुलना, आत्मा के आनन्द के अनन्तवें भाग भी विषय में सुख है, ऐसा है ही नहीं। उसके साथ में तुलना कर सके? वह विकल्प है, दुःख है। भगवान वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। आहाहा! अरबोंपति और करोड़ोंपति कुछ न कुछ सुखी तो होंगे न, फिर भले आत्मा के सुख से अनन्तवें भाग... ? उससे अनन्त गुणा जहर है। भाग-बाग नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! प्रभु का पुकार है।

जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ की यह वाणी है और स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य तो कहते हैं, मैंने तो मेरे लिये बनाया है। आहाहा! ठगों की टोली। यह स्त्री, पुत्र, मित्र,... आहाहा! यह लड़के की बहू भी बड़ी-बड़ी भाषा कहे, बापूजी! ऐसा है। बापूजी! ऐसा है - ऐसा कर-करके गहने लिवावे, कपड़े लिवावे, अमुक लिवावे। यह सब ठग हैं, कहते हैं। ऐई! देवीलालजी! आहाहा!

मुमुक्षु : आप तो बिल्कुल निर्लेप रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वस्तुस्थिति ऐसी है। आहाहा! यह तो पहले आया था, तब कहा, भाई! हमारा नाम लेना नहीं। बड़े भाई आये। उन्हें दो दुकानें थीं। उनकी दुकान अलग थी और हमारी दुकान अलग थी। उनका विवाह करना था तो हमारी दुकान में आये। भाई! यहाँ से तुम्हारी सगाई करके विवाह करना है, हों! मेरा नाम लेना नहीं, कहा। एक छोटा भाई है, उसका करो। वह बेचारा विवाह करके दो वर्ष में मर गया। यह तो देह की स्थिति, बापू! शरीर देखो तो ऐसा मजबूत था। मुझसे दो वर्ष छोटा था। बीस वर्ष में विवाह और बाईस वर्ष में तुरन्त ही आया था। शान्तिभाई को खबर नहीं होगी, यह ७१ के वर्ष में विवाह और विधवा हुए और तुरन्त 'नाग्नेश' आने से पहले। सब पूरा परिवार।

गांडाभाई, खुशालभाई सबको लेकर। ताराचन्दभाई के यहाँ उतरे थे। हमारे सन्तोकबा रिश्तेदार होते हैं न ? सन्तोकबा नाग्नेश। ७३ के वर्ष की बात है। ७१ के वर्ष में विवाह और ७३ के वर्ष में गुजर गया। विधवा महिला। विधवा महिला परन्तु बहुत रूपवान थी। बहुत रूपवान। वह छह महीने में पति के पीछे झूरकर मर गयी। यह संसार सब ऐसा देखा है।

यहाँ कहते हैं, बापू! सब ठगों की टोली है। तुझे चाहे जैसा लगता हो। दूसरे मक्खन लगावे। ऐसा करेंगे, बापू! ऐसा करेंगे, अमुक करेंगे। आहाहा! इतने पैसे मिलने के बाद अपन उसका ऐसा करेंगे, फिर ऐसा करेंगे। वे वापिस परस्पर में सिफारिश लगावे, भाई! कि यह सब ठगों की टोली तुझे मिली है। बात जँचना कठिन पड़ती है। भाई-भाई में ठगों की टोली, पति-पत्नी में ठगों की टोली। पत्नी-पति की ठगों की टोली और पति की ठगों की टोली। एक-दूसरे ठग हैं। तू मरकर नरक में जावे तो मुझे क्या ? मरे तब रोते हैं तो कोई ऐसा रोता है कि मरकर कहाँ गया होगा ? ऐसा रोता है कोई ? क्या कहा ? मरकर जाए, तो ऐसा पूछते हैं कि चालीस वर्ष का मर गया, पैंतीस वर्ष का मर गया। मरकर कहाँ गया होगा ? ऐसा किसी ने पूछा ? वह मर गया, हमारे कहाँ स्नान करना है ? यहाँ घर और दुकान सम्हालता था, वह हमारा गया, उसे हम रोते हैं। आहाहा! वह मरकर कहाँ गया ? ऐसा कोई पूछता है ? आत्मा मरकर कहाँ गया ? आत्मा तो नित्य है। देह छूट गयी। यहाँ से कहाँ अवतरित हुआ होगा ? अरे! कैसे चौरासी के अवतार। स्त्री मर जाए तो विचार करता है कि वह मरकर कहाँ गयी होगी ? पति मरे तो स्त्री ने ऐसा विचार किया होगा कि वह मरकर कहाँ गये होंगे ? हमारी सुविधा जाती है, उसे सब रोते हैं। आहाहा! यह बात बैठना बहुत कठिन। आहाहा!

अब टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं। यह तो आधार था।

श्लोक-१३७

और (इस १०१ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

(मंदाक्रांता)

एको याति प्रबल-दुरघाज्जन्म मृत्युं च जीवः,
कर्मद्वन्द्वोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखम्।
भूयो भुङ्क्ते स्वसुखविमुखः सन् सदा तीव्रमोहा-
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन्।।१३७।।

(वीरछन्द)

जन्म मृत्यु को प्राप्त करे यह जीव अकेला दुष्कृत से।
तीव्र मोह से विमुख हुआ यह जीव अकेला निज सुख से॥
कर्म शुभाशुभ का फल सुख दुःख जीव एक भोगे बहु बार।
किसी तरह गुरु से पाकर निज तत्त्व भोगता सौख्य अपार॥१३७॥

[श्लोकार्थः] जीव अकेला प्रबल दुष्कृत से जन्म और मृत्यु को प्राप्त करता है; जीव अकेला सदा तीव्र मोह के कारण स्वसुख से विमुख होता हुआ कर्मद्वन्द्वजनित फलमय (-शुभ और अशुभकर्म के फलरूप) सुन्दर सुख और दुःख को बारम्बार भोगता है; जीव अकेला किसी भी प्रकार गुरु द्वारा एक तत्त्व को (-चैतन्यतत्त्व को) प्राप्त करके उसमें स्थित रहता है॥१३७॥

श्लोक -१३७ पर प्रवचन

१३७वाँ (कलश) है न? १३७।

एको याति प्रबल-दुरघाज्जन्म मृत्युं च जीवः,
कर्मद्वन्द्वोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखम्।
भूयो भुङ्क्ते स्वसुखविमुखः सन् सदा तीव्रमोहा-
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन्।।१३७।।

जीव अकेला प्रबल दुष्कृत से जन्म और मृत्यु को प्राप्त करता है; जीव अकेला सदा तीव्र मोह के कारण स्वसुख से विमुख होता हुआ कर्मद्वन्द्वजनित फलमय (-शुभ और अशुभकर्म के फलरूप)... भाषा देखो! इतनी है। **सुन्दर सुख...** इस संसार के। सुन्दर सुख, दुःख है। दुनिया की भाषा में। पाठ में है न? '**चारुसौख्यं**' आहाहा! दुनिया ऐसा कहती है, दुनिया की भाषा से कहते हैं। आहाहा! दुनिया को उसे कहते हैं, पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये होवे तो.. ओहोहो! क्या भाई सुखी हैं! हमारा परिवार बहुत सुखी। तुम्हारे मलूकचन्दभाई कहते थे, न्याल सुखी है, ऐसा कहते थे। एक बार कहते थे। न्याल। क्योंकि लड़का नहीं है, चार-पाँच करोड़ रुपये हैं। बड़ा बँगला और बगीचा, बाग और बगीचा। वे कहते थे। न्याल। लड़कों में न्याल सुखी है। अब सुखी किसे कहना इसमें? क्योंकि एक लड़की है, उसके लड़के को साथ रखे। वह पाप करके पैसे होंगे तो देंगे। आहाहा! यह दुनिया।

यहाँ कहते हैं अकेला **प्रबल दुष्कृत से जन्म और मृत्यु को प्राप्त करता है; जीव अकेला सदा तीव्र मोह के कारण स्वसुख से विमुख होता हुआ कर्मद्वन्द्वजनित फलमय (-शुभ और अशुभकर्म के फलरूप) सुन्दर सुख...** अर्थात् यह सेठाई का, राग का, देव का। यह लौकिक भाषा में रखा है। है तो दुःख। राजा और देव सब दुःख के समुद्र में डूब गये हैं बेचारे। आहाहा! आनन्द का सागर अन्दर डोलता है। आहाहा! यह विकल्प तो एक कृत्रिम, क्षणिक उत्पन्न होता है, जाता है, उत्पन्न होता है और जाता है। यह कहीं शाश्वत् चीज़ नहीं है। शाश्वत् चीज़ तो अतीन्द्रिय आनन्द का सागर ध्रुव है। आहाहा! उस पर दृष्टि नहीं, उस पर आश्रय नहीं, और कृत्रिम क्षणिक पर सब आलम्बन.. आहाहा! और हम सुखी हैं (-ऐसा मानते हैं।)

बहुत वर्ष पहले एक व्यक्ति को यहाँ... नानालालभाई का रिश्तेदार। कैसा था? चूडगर। हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। सुखी की व्याख्या क्या? कहा। पैसा है, यह सुखी की व्याख्या? आहाहा! अरे रे! पैसा जड़ है, धूल है, मिट्टी है। वह कहीं तेरी चीज़ नहीं है। विकल्प उठता है, वह तेरा नहीं तो फिर और तेरा पैसा कहाँ आया? आहाहा! स्व के आश्रय बिना पर के आश्रय में विकल्प उठे... आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं। '**परदव्वादो दुग्गई**' प्रभु ऐसा कहते हैं। आहाहा! मोक्षपाहुड़ में (कहा है) '**परदव्वादो दुग्गई**' जितना स्वद्रव्य को भूलकर परद्रव्य की ओर विकल्प उठता है, वह सब दुर्गति है। तेरी चैतन्यगति

नहीं है। भले देवलोक में जाए तो वह दुर्गति है। आहाहा! वहाँ अकेला दुःख ही है। आहाहा! राग का क्लेश... राग का क्लेश भोगता है। अरे! इसमें बहुत अन्तर। इतना सब अन्तर मानना।

सुन्दर सुख और दुःख को बारम्बार भोगता है;... यह लौकिक की दृष्टि से भाषा की है। **जीव अकेला...** चाहे जैसे करके यह **गुरु द्वारा...** आहाहा! चाहे जैसे करके अर्थात् पुरुषार्थ करके **किसी भी प्रकार गुरु द्वारा एक तत्त्व को (-चैतन्यतत्त्व को) प्राप्त करके...** भाषा देखो! चैतन्यतत्त्व भगवान है। पुण्य को पाकर, मनुष्यपने को पाकर-ऐसा भी नहीं कहा और गुरु द्वारा भी पाकर क्या? चैतन्य को। गुरु को पाकर, ऐसा भी नहीं कहा। **किसी भी प्रकार गुरु द्वारा एक तत्त्व को...** आहाहा! एक चैतन्यतत्त्व भगवान अन्दर सच्चिदानन्द की मूर्ति, अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का सागर उछलता है। ऐसा जो चैतन्यतत्त्व गुरु द्वारा... इसमें दो-तीन न्याय हैं। एक तो एक कहा कि गुरु हैं, वे चैतन्यतत्त्व को बतलाते हैं। गुरु जो हैं, वे चैतन्य का आश्रय करने को बतलाते हैं। एक बात। और उसे समझने के लिये निमित्तरूप से होवें तो सच्चे गुरु ही होते हैं, दो बात। तथापि उन गुरु को पाकर गुरु ने कहा उस चैतन्यतत्त्व को पाकर—ऐसा कहा। गुरु को पाकर, छोड़कर चैतन्यतत्त्व को पाकर, ऐसा कहा। आहाहा! थोड़ी भाषा में अन्तर। आहाहा!

अकेला चाहे जैसे करके अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा, प्रयत्न द्वारा सहज स्वभावसन्मुख होकर गुरु ने कहा, गुरु ने यह कहा। आहाहा! दूसरा सब उपदेश आया, वह सब व्यवहार है। वस्तु आदरणीय यह उन्होंने कही है। बारह अंग में और चौदह पूर्व में यह एक चैतन्यतत्त्व को आदरणीय कहा है। आहाहा! ऐसा कहा न? चाहे जैसे करके। **गुरु द्वारा एक तत्त्व को (-चैतन्यतत्त्व को) प्राप्त करके...** गुरु द्वारा, यह निमित्त की बात की है। निमित्त गुरु ऐसे होते हैं कि वे चैतन्यतत्त्व को बतलाते हैं। पुण्य करना, ऐसा करना और उससे तुझे ऐसा होगा—यह बतलावे, वे गुरु नहीं हैं। व्यवहार करना और व्यवहार करने से तुझे लाभ होगा, वे गुरु नहीं हैं। इसमें आया या नहीं? आहाहा!

मुमुक्षु : आपको एक को गौण करके।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! गुरु कहते हैं, वह किया - ऐसा कहा। आत्मावलोकन में आता है।

गुरु वीतरागता का उपदेश देते हैं। पर का आश्रय छुड़ाकर स्व-आश्रय का उपदेश देते हैं। वीतरागपने का ही उपदेश देते हैं। वीतरागपना, यह बारह अंग का सार है। आहाहा! उसमें है बहुत करके। एकत्वसप्तति, पद्मनन्दिपंचविंशति। पूरे बारह अंग का सार साम्य, स्वास्थ, चित्त निरोध, शुद्धोपयोग यह बारह अंग का सार है। आहाहा! और... है वह शुद्धोपयोग, शुभभाव से होता है - ऐसा नहीं। एक तत्त्व को, चैतन्यतत्त्व को पाकर। पहले शुभभाव को पाकर और फिर चैतन्यतत्त्व को प्राप्त करे, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! उसमें है या नहीं? आहाहा! दुनिया से अलग प्रकार है। दुनिया के साथ कुछ मेल खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

स्वयं टीकाकार का कलश है, हों! पद्मप्रभमलधारिदेव। आहाहा! गुरु उसे कहते हैं कि इस चैतन्यतत्त्व को बतावे। आहाहा! लाख बात की बात करके भी चैतन्य के आश्रय की ही बात करे। आहाहा! यह करोगे तो ऐसा होगा, पूजा करोगे तो ऐसा होगा, भक्ति करोगे तो ऐसा होगा, यात्रा करोगे तो ऐसा होगा—यह बात गुरु द्वारा नहीं हो सकती। आहाहा! गुरु उसे कहते हैं कि जो चैतन्यतत्त्व को बतलावे। उन्होंने बतलाया, उसे वह प्राप्त हुआ। ऐसा आया न? **किसी भी प्रकार गुरु द्वारा एक तत्त्व को (-चैतन्यतत्त्व को) प्राप्त करके...** गुरु ने तो बहुत बात की है परन्तु एक ही तत्त्व को प्राप्त करने का सार उन्होंने कहा। आहाहा! व्यवहार से कहे, भेद करके समझावे, तथापि उन सबका आश्रय अभेद एक चैतन्य है, उसका आश्रय लेना। ऐसे चैतन्य को पाकर... आहाहा! इतना पुण्य करके, इतने दया-दान करके, इतनी भक्ति करके, इतने पैसे खर्च करके चैतन्यतत्त्व को प्राप्त करे - ऐसा नहीं कहा। उसमें है या नहीं। आहाहा!

अकेला जीव चाहे जैसे करके... आहाहा! **गुरु द्वारा...** देशनालब्धि है। देशनालब्धि है परन्तु तो भी एक तत्त्व को पाकर, वह भी गुरु के सामने देखकर नहीं। उस चैतन्यतत्त्व को पाकर। आहाहा! वह भी एक तत्त्व—चैतन्यतत्त्व। गुणभेद और पर्यायभेद, वह पर्याय भी नहीं। पर्याय नहीं - ऐसा आया है न? अबद्धस्पृष्ट। समयसार की १४-१५ गाथा। अविशेष। उसमें विशेष नहीं। दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद भी नहीं और पर्याय के विशेष भी नहीं। एक तत्त्व को पाकर। आहाहा! देखो! '**जो पस्सदि अप्पाणं**' आत्मा को देखना होवे तो इस प्रकार से देख। विशेष से रहित देख। विशेष का अर्थ गुणभेद और पर्यायभेद से

रहित। आहाहा! ऐसा महँगा लगे, फिर सोनगढ़वाले ऐसा कहते हैं, सोनगढ़वाले निश्चय कहते हैं, एकान्त कहते हैं। कहो बापू! जैसा कहो वैसा। वस्तु यह है। यह शास्त्र की बात है या नहीं? यह सब क्या है? पढ़ना नहीं, विचारना नहीं, समय लेना नहीं और अध्धर से गप्प मारना है। ऐसा नहीं चलता, प्रभु! यह तो तीन लोक के नाथ का मार्ग (है)। वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर जिनेश्वरदेव साक्षात् विराजते हैं। इन्द्र सुनने जाते हैं। बाघ, नाग, सिंह, सुनने जाते हैं। प्रभु की वाणी तो यह आयी है। भाई! तू अकेला तेरे चैतन्यतत्त्व को प्राप्त कर। प्रभु! आहाहा! किसी की सहायता बिना, किसी की मदद बिना, किसी की अपेक्षा बिना। आहाहा! '**भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' यह त्रिकाली वस्तु, वह शुद्धनय है। उसका आश्रय करने से चैतन्य को पाया जाता है। इसका दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं, भाई! तू चाहे जितनी बात कर। बारह अंग और चौदह पूर्व में बहुत सब भरा है परन्तु सब यह। वह तो सब इसका विस्तार है। आहाहा! फिर चैतन्यतत्त्व के गुण क्या? पर्याय क्या? विकार कैसे होता है? विकार का निमित्त क्या? यह सब करके समझ में यह लेना है। आहाहा! **एक तत्त्व को प्राप्त करके...** एक तत्त्व को प्राप्त करके। आहाहा! देव-गुरु तो साथ में नहीं वापस।

मुमुक्षु : गुरु द्वारा....

पूज्य गुरुदेवश्री : गुरु द्वारा कहा अर्थात् यह तो उन्होंने उसमें कहा, इसलिए कहा। उन्होंने इसे कहा कि जो चैतन्यतत्त्व प्रभु, यह है, इतनी बात की परन्तु उनके सामने देखकर चैतन्यतत्त्व प्राप्त नहीं किया जाता। आहाहा!

एक तत्त्व को (-चैतन्यतत्त्व को) प्राप्त करके उसमें स्थित रहता है। आहाहा! वह अकेला तत्त्व प्राप्त करके स्थिर रहता है। उसमें किसी की मदद नहीं है। अकेला जन्मे, अकेला मरे, अकेला लौकिक में सुखी-दुःखी हो और अकेला मुक्ति को प्राप्त करे। आहाहा! उसमें दूसरे किसी की कुछ आवश्यकता और अपेक्षा नहीं है। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! एक चैतन्यतत्त्व... कठिन लगे परन्तु प्रभु! मार्ग यह है। दूसरे बहुत व्यवहार के कथन आवें परन्तु उसका फल व्यवहार बताता है उस निश्चय को, इतनी अपेक्षा से व्यवहार पूज्य कहा जाता है परन्तु बतलाता है उस निश्चय को। चैतन्यतत्त्व को बतलाता है। आहाहा! इससे वह व्यवहार कहनेवाले और सुननेवाले को आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। यह १०१ गाथा हुई।

गाथा-१०२

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।।१०२।।

एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः।।१०२।।

एकत्वभावनापरिणतस्य सम्यग्ज्ञानिनो लक्षणकथनमिदम्। अखिलसन्सृतिनन्दनतरु-मूलालवालाम्भःपूरपरिपूर्णप्रणालिकावत्सन्स्थितकलेवरसम्भवहेतुभूतद्रव्यभावकर्माभावादेकः, स एव निखिलक्रियाकाण्डाडम्बरविविधविकल्पकोलाहलनिर्मुक्तसहजशुद्धज्ञानचेतनामतीन्द्रियं भुञ्जानः सन् शाश्वतो भूत्वा ममोपादेयरूपेण तिष्ठति, यस्त्रिकालनिरुपाधिस्वभावत्वात् निरावरणज्ञान-दर्शनलक्षणलक्षितः कारणपरमात्मा; ये शुभाशुभकर्मसंयोगसम्भवाः शेषा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाः स्वस्वरूपाद्बाह्यास्ते सर्वे; इति मम निश्चयः।

दृग्ज्ञान-लक्षित और शाश्वत मात्र-आत्मा मम अरे।
अरु शेष सब संयोग लक्षित भाव मुझसे है परे॥१०२॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानदर्शनलक्षणः] ज्ञान-दर्शन-क्षणवाला [शाश्वतः] शाश्वत [एकः] एक [आत्मा] आत्मा [मे] मेरा है; [शेषाः सर्वे] शेष सब [संयोगलक्षणाः भावाः] संयोगलक्षणवाले भाव [में बाह्याः] मुझसे बाह्य हैं।

टीका : एकत्वभावनारूप से परिणमित सम्यग्ज्ञानी के लक्षण का यह कथन है।

त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से निरावरण-ज्ञानदर्शनलक्षण से लक्षित ऐसा जो कारणपरमात्मा वह, समस्त संसाररूपी नन्दन वन के वृक्षों की जड़ के आसपास क्यारियों में पानी भरने के लिए जलप्रवाह से परिपूर्ण नाली समान वर्तता हुआ जो शरीर, उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित होने से एक है, और

वही (कारणपरमात्मा) समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर के विविध विकल्परूप कोलाहल से रहित सहजशुद्ध-ज्ञानचेतना को अतीन्द्रियरूप से भोगता हुआ शाश्वत रहकर मेरे लिए उपादेयरूप से रहता है; जो शुभाशुभ कर्म के संयोग से उत्पन्न होनेवाले शेष बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह, वे सब निज स्वरूप से बाह्य हैं।—ऐसा मेरा निश्चय है।

गाथा -१०२ पर प्रवचन

गाथा १०२

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।।१०२।।

आहाहा!

दृग्ज्ञान-लक्षित और शाश्वत मात्र-आत्मा मम अरे।
अरु शेष सब संयोग लक्षित भाव मुझसे है परे॥१०२॥

आहाहा! **एकत्वभावनारूप से परिणमित सम्यग्ज्ञानी के लक्षण का यह कथन है।** एकत्वभावनारूप से परिणमित, शुद्धोपयोग से परिणमित... आहाहा! साम्यभाव से परिणमित, समताभाव से परिणमित, शुभाशुभभाव से चित्त का निरोध करके परिणमित—ऐसे सम्यग्ज्ञानी के लक्षण का यह कथन है। आहाहा! **त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से...** अब यह आत्मा '**एगो मे सासदो अप्पा**' कहा न? मेरा भगवान एक शाश्वत् आत्मा है। आहाहा! परमात्मा शाश्वत् है, वे तो उनमें। मेरे लिये तो '**एगो मे सासदो अप्पा**' - ऐसा है न?

त्रिकाल निरुपाधिक... उपाधिरहित **स्वभाववाला होने से...** यह **निरुपाधिक स्वभाववाला होने से...** भगवान आत्मा जो त्रिकाली चैतन्यद्रव्य है, वह तो निरुपाधिक स्वभाववाला **निरावरण-ज्ञानदर्शनलक्षण से लक्षित...** ज्ञान-दर्शन लक्षण से लक्षित। परन्तु कैसा? **निरावरण-ज्ञानदर्शनलक्षण से लक्षित...** आहाहा! उसके लक्षण को आवरण नहीं। स्वयं भी त्रिकाली निरावरण है और जिसका लक्षण भी निरावरण है। आहाहा! ऐसे **निरावरण-ज्ञानदर्शनलक्षण से लक्षित ऐसा जो कारणपरमात्मा...** देखो! ऐसा यह

कारणपरमात्मा, आत्मा। कारण शब्द रखकर सब उड़ा देने के लिये रखा है। तब उस निर्मल पर्याय का कारण कारणपरमात्मा है। आहाहा! दूसरा कोई कारण नहीं है। थोड़ी लिखी बात, वह सुनना होवे तो भी यह और बहुत होवे तो भी यह है। आहाहा!

त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से... तीनों काल। निगोद में भी द्रव्य का निरुपाधि स्वध्भाव है। कारणपरमात्मा को उपाधि है ही नहीं। आहाहा! **त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से...** यह कारण। **निरावरण-ज्ञानदर्शनलक्षण से लक्षित ऐसा जो कारणपरमात्मा...** आहाहा! कारणपरमात्मा कौन? यह आत्मा त्रिकाली वस्तु, वह कारणपरमात्मा।

विशेष कहा जाएगा..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-११२, श्लोक-१३८, गाथा-१०२, गुरुवार, पौष शुक्ल १, दिनांक २०-१२-१९७९

नियमसार गाथा १०२, टीका फिर से।

एकत्वभावनारूप से परिणमित सम्यग्ज्ञानी के लक्षण का यह कथन है। एकत्वभावना अर्थात् स्वरूप जो ज्ञान और आनन्द—ऐसा जो स्वरूप। स्व-रूप—स्वभाव, उसकी एकाग्रता, वह भावना। ऐसी भावनारूप से परिणमित। इस ज्ञान-दर्शन और आनन्दरूप से परिणमित, होता हुआ। जैसा इसका स्वभाव है, वैसा पर्याय में हुआ। ऐसे **सम्यग्ज्ञानी के लक्षण का यह कथन है।** आहाहा! भाषा जरा सादी है, परन्तु वस्तु अलौकिक है। आहाहा! **एकत्वभावना...** अर्थात् यह विकल्प, ऐसा नहीं। एकत्वभावना अर्थात् एक हूँ - ऐसा नहीं। एकत्व की, एकाग्रता की भावनारूप से परिणमित। शुद्ध चैतन्य आनन्द और अन्तर में अनन्त-अनन्त वीर्य और आनन्दघन, अखण्ड आनन्द उसरूप अन्दर परिणमित, उसमें लक्ष्य-दृष्टि करने पर पर्याय में उसरूप परिणमित अर्थात् उस अवस्थारूप हुआ। आहाहा! ऐसे **सम्यग्ज्ञानी के लक्षण का यह कथन है।** है?

अब कहते हैं, **त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से...** भगवान आत्मा, उसका लक्षण और वह स्वयं, दोनों। **त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला...** है। आहाहा! वस्तु जो पदार्थ है, उसे राग का संग और राग का बन्ध... संग और बन्ध दोनों द्रव्यस्वभाव

मैं नहीं है। वस्तु है अस्ति सत्ता, चैतन्य की सत्ता है, चैतन्य का अस्तित्व है। चैतन्य की शक्ति के सामर्थ्य में अनन्त बल के सामर्थ्यवाला तत्त्व है। आहाहा! वह उसका लक्षण **त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से निरावरण-ज्ञानदर्शनलक्षण से लक्षित...** वह तो निरावरण ज्ञान-दर्शन लक्षण से लक्षित... आहाहा! राग से ज्ञात हो - ऐसा नहीं है - यह कहते हैं।

जैसा वह भगवान त्रिकाल निरावरण है, वैसे निरावरण उसकी पर्याय से ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा! ऐसी बात! कहाँ मार्ग रह गया और कहाँ मार्ग माने? **निरावरण-ज्ञानदर्शनलक्षण से लक्षित...** स्वयं निरावरण त्रिकाल है, इससे उसके स्वभाव में निरावरणपना जो लक्षण पर्याय में है, उससे वह लक्षित हो सकता है। आहाहा! उसमें जो भाव है, उसके लक्षण से वह लक्ष्य हो सकता है। उसमें नहीं है, उससे वह लक्ष्य नहीं हो सकता। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। एक-एक शब्द में पूरा...।

यह तो कहे दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, सामायिक करो, प्रतिक्रमण करो। परन्तु भान बिना (कि) तू अन्दर कौन है, किसका...? इसकी तो खबर नहीं होती। आहाहा! इसलिए पहली ही यह बात ली है कि **त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से निरावरण-ज्ञानदर्शनलक्षण से लक्षित...** ज्ञात हो, ऐसा है। **ऐसा जो कारणपरमात्मा...** लो! त्रिभुवनभाई! यह कारणपरमात्मा। यह निरावरण से ज्ञात हो, तब उसे यह कारणपरमात्मा है—ऐसा ज्ञात होता है। और कारणपरमात्मा है—परन्तु दृष्टि बिना? वह राग से ज्ञात नहीं होता, विकल्प से ज्ञात नहीं होता, व्यवहार से ज्ञात नहीं होता, निमित्त से ज्ञात नहीं होता, भेद से ज्ञात नहीं होता। यह जो स्वभाव है, वह स्वभाव के भाव से ज्ञात होता है। जो इसमें नहीं है, उनसे यह ज्ञात नहीं होता - ऐसा कहते हैं। आहाहा! जो इसमें है—त्रिकाल निरुपाधिक निरावरण ज्ञान-दर्शनलक्षण, उससे यह ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : क्षयोपशमज्ञान तो सर्वथा निरावरण नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्षयोपशम-फयोपशम का यहाँ काम भी नहीं है। जो पर्याय अन्दर में ढलती है, वह क्षयोपशम फिर द्रव्य में नहीं है। वह पर्याय भले क्षयोपशमवाली हो, परन्तु वह पर्याय अन्दर झुकती है, वह क्षयोपशम बिना की चीज़ में झुकती है। आहाहा! यह क्षयोपशम भी उसे अभी यहाँ नहीं कहना है। यहाँ उसे किसी की अपेक्षा ही नहीं है। कर्म की अपेक्षा क्षयोपशम में आती है, वह नहीं। निश्चय से तो ऐसा कहना चाहते

हैं कि परम-पारिणामिक ज्ञायकभाव जो है, वह परम ज्ञायकभाव की परिणति से ज्ञात हो, ऐसा है। सामने है या नहीं, देखो न! आहाहा! ऐसा स्वरूप! लोगों को बेचारों को कान में पड़ा नहीं। ऐसे के ऐसे बाड़ा में बँधकर जिन्दगी पूरी करके चार गति में भटकने चले जाते हैं। यह चीज़ महाप्रभु!

सिद्धान्त तो यह सिद्ध करना है कि इसमें जो स्वभाव हो, उस स्वभाव से ज्ञात होता है। इसमें जो न हो, ऐसे भाव से वह ज्ञात नहीं होता। तो वह स्वयं त्रिकाल निरावरण-निरुपाधिक ज्ञानस्वभाववाला है। ऐसा उसका लक्षण का स्वभाव है। आहाहा! ऐसा ही **स्वभाववाला होने से निरावरण-ज्ञानदर्शनलक्षण से लक्षित...** उससे लक्षित होता है। आहाहा! जिसे लक्षित करने में कहीं पर की कोई अपेक्षा नहीं है। उसकी जाति की जो निर्मल पर्याय, परमपारिणामिकस्वभाव की जाति की जो पर्याय, उस पर्याय से वह लक्षित (होता) है। आहाहा! अब इसमें क्या समझना? आहाहा! थोड़े शब्दों में बहुत भरा है, बहुत भरा है।

इसमें जो स्वभाव है, स्वयं त्रिकाल निरावरण है, परन्तु उसका लक्षण भी त्रिकाल निरावरण है। आहाहा! ऐसे लक्षण से लक्षित। ऐसे लक्षण से लक्षित अर्थात् ज्ञात हो, ऐसा। ऐसा वह आत्मा है। आहाहा! सामने पुस्तक है या नहीं? आहाहा! वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का यह फरमान है। यह बात (तो) एक ओर रह गयी और यह करो.. यह करो.. व्रत करो.. अपवास करो.. ओली करो.. होली करो... यह करो। आहाहा! बेचारे की जिन्दगी चली जाती है। वह चीज़ नहीं है - ऐसा कहते हैं। यह करो.. करो.. ऐसे विकल्प करता है, वह चीज़ इसमें नहीं है। तो इसमें नहीं है, उससे कैसे ज्ञात हो? इसमें जो नहीं है, उससे यह कैसे ज्ञात हो? इसमें नहीं.. इसमें नहीं। तो इसे (आत्मा को) जानता है; वह इसमें नहीं है, यह उससे कैसे ज्ञात हो? आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है, परन्तु बात तो, भाई! जैसी होगी, वैसी आयेगी। कोई दूसरी कहाँ से लाना? आहाहा!

ऐसा जो कारणपरमात्मा... ऐसा जो यह भगवान आत्मा, त्रिकाली ज्ञान-आनन्द अखण्ड ज्ञानस्वरूपी, जो अपने **निरावरण-ज्ञानदर्शनलक्षण से लक्षित...** है। आहाहा! गजब बात की है न! साधारण ऐसा कहे कि ज्ञान लक्षण है, इससे ज्ञात होता है—ऐसा कहने से कोई साधारण लक्षण मान ले। ज्ञान लक्षण और आत्मा लक्ष्य। चाहे जो ज्ञान

लक्षण मान ले, ऐसा नहीं है। जो ज्ञान निरावरण... आहाहा! है? निरावरण ज्ञान-दर्शन है। इस लक्षण से ज्ञान हो, ऐसा है। आहाहा! कठिन पड़ता है परन्तु मार्ग यह है। आहाहा! क्षण में चले जाते हैं। कितने ही फिर मर गये, उन्हें याद भी नहीं करते। याद करते हैं? हिम्मतभाई को याद करते हैं? गये सो गये। हो गया। आहाहा! ऐसे भाई, पुत्र, माता-पिता गये। आहाहा!

हमारी दुकान में से कितने ही चले गये। खुशालभाई गये, कुँवरजीभाई गये, आणन्दजीभाई गये, शिवलाल गये। आहाहा! कितने ही चले गये। अब वे कहाँ गये, उनका पता कोई पूछता है? वे गये, उनकी असुविधा हुई और सुविधा करते थे, इतना गया, यह उसकी दिक्कत निकालता है, उसे जरा रोता है। आहाहा! परन्तु वे कहाँ गये? आहाहा!

मुमुक्षु : किसे पूछना यह?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु श्रद्धा में तो विचार करे कि वे कहाँ गये होंगे? आहाहा! यह शास्त्र में आता है, कि भाई! तू एक हरितकाय इस पत्ते को तोड़ता है, तो इसमें तेरे पूर्व भव के माँ-बाप बैठे हैं। एक पत्ते के एक टुकड़े में असंख्य जीव। ऐसे नीम का पूरा पत्ता। ऐसा पूरा नीम। कितने जीव? बापू! अनन्त भव में किये हुए तेरी माँ और तेरे पिता मर गये हुए उसमें बैठे हैं। आहाहा! कभी विचार किया है? उसकी मोंघप और उनके भटकने की दु:खदशा जो वेदन की है... आहाहा! जरा सी यह बाहर की सुविधा मिले वहाँ तो मानो बस, हम तो मानो सुखी हो गये। दूसरे की अपेक्षा आगे बढ़ गये। आहाहा!

उसमें-पद्मनन्दिपंचविंशति में एक दृष्टान्त दिया था कि जो सिर को काटनेवाला है, उसके सामने तो यह देखता भी नहीं परन्तु कोई अंगुली में टच करके इतनी अंगुली काटी, उसके सामने देखा करता है, उसे बैरी मानता है। ऐसा दृष्टान्त है। क्या कहलाता है? पद्मनन्दिपंचविंशति। आहाहा! जो सिर को काटनेवाला शत्रु है, उसके सामने तो देखता नहीं कि यह क्या करता है। अंगुली को जरा तोड़ता है, वहाँ उसके सामने देखा करता है; इसी प्रकार महामिथ्यात्व—महाविपरीत श्रद्धा पूरे आत्मा का खून हो जाता है, उसके सन्मुख तो देखता नहीं और यह जरा दया, दान, व्रत के परिणाम हुए तो मानो आहा..! हो गया कल्याण। आहाहा! दृष्टान्त दिया है, हों! इसमें होगा कहीं है। पद्मनन्दिपंचविंशति। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि निरावरण ज्ञान-दर्शन... क्या कहते हैं? आहाहा! तू स्वयं त्रिकाली **निरुपाधिक स्वभाववाला होने से...** ऐसा। तू स्वयं ही निराकुल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से। तीनों काल में... आहाहा! इसलिए तेरे जो स्वभाव में है, उस जाति के निरावरण ज्ञान-दर्शनलक्षण से ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा! गजब बात की है न! जिसमें जो नहीं, उसके द्वारा ज्ञात हो? नहीं है, उसके द्वारा ज्ञात हो? आहाहा! इसमें है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द निरावरण लक्षण... आहाहा!

स्वयं ही **त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से निरावरण-ज्ञानदर्शनलक्षण से लक्षित ऐसा जो कारणपरमात्मा...** यहाँ तक बात रखी अब। **वह, समस्त संसाररूपी नन्दन वन के वृक्षों की...** समस्त संसाररूपी नन्दन वन की वृक्षों के **जड़ के...** आहाहा! **आसपास क्यारियों में पानी भरने के लिए...** सामने शरीर कैसा है, ऐसा कहते हैं। एक ओर आत्मा निरावरण लक्षण से लक्षित हो ऐसा, तब यह शरीर कैसा? शरीर। आहाहा! **समस्त संसाररूपी नन्दन वन...** संसाररूपी नन्दन वन कहा। जैसे नन्दन वन सदा हरा-भरा होता है; वैसे संसार हरा-भरा जहर से भरपूर है। राग और द्वेष, विषय कषाय के जहर से भरपूर है। यह शरीर ही ऐसा है - (ऐसा) कहते हैं। आहाहा! यह शरीर तो जड़ है, मिट्टी है, धूल है। भगवान अन्दर चैतन्यमूर्ति निरुपाधिक स्वभाववाला है। आहाहा! उसके सम्मुख कभी सुना नहीं, देखा नहीं। आहाहा!

संसाररूपी नन्दन वन के... मेरुपर्वत के ऊपर जैसे नन्दन वन ताजा का ताजा दिखता है, ऐसा, उसके **वृक्षों की जड़ के आसपास क्यारियों में पानी भरने के लिए...** उस नन्दन वन के वृक्ष तो ऐसे के ऐसे अच्छे हरे ही रहा करते हैं। ऐसी वहाँ स्थिति है। यह शरीर कैसा है? यह **आसपास क्यारियों में पानी भरने के लिए जलप्रवाह से परिपूर्ण नाली समान वर्तता हुआ जो शरीर...** आहाहा! **नाली समान वर्तता हुआ जो शरीर...** आहाहा! **संसाररूपी नन्दन वन के वृक्षों की जड़ के आसपास क्यारियों में पानी भरने के लिए जलप्रवाह से परिपूर्ण नाली...** आहाहा! शरीर के सामने देखना, शरीर का ऐसा करना... शरीर का ऐसा करना... शरीर का ऐसा करना... उसे ऐसा खिलाना, उसे पिलाना, उसे सुलाना, उसे जगाना... आहाहा! यह कहते हैं कि संसाररूपी जो वन है, उसमें **नन्दन वन के वृक्षों की जड़ के आसपास क्यारियों में पानी भरने के लिए जलप्रवाह से परिपूर्ण नाली समान वर्तता हुआ जो शरीर...** आहाहा!

अब यह कहे कि अपने शरीर से धर्म होता है। '**शरीरआद्यं खलु साधनम् धर्म**' यहाँ शरीर है, वह जहर है। यह तो भगवान निरुपाधिस्वरूप अन्दर है। चैतन्य भगवान अन्दर है। वह त्रिकाली निरुपाधिस्वरूप है। वह निरुपाधि लक्षण से ज्ञात हो, ऐसा है। यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के विकारी परिणाम से तीन काल में ज्ञात हो, ऐसा है नहीं तो पाप के परिणाम हिंसा, झूठ, धन्धा और पूरे दिन धन्धे के पाप... सवेरे से शाम तक। ऐई! रचा-पचा हो। उसमें दिन के दो-दो, पाँच-पाँच हजार की आमदनी होती हो, तुम्हारे देखो पागल। आहाहा! पागल देख लो। ऐसा करना... ऐसा करना... ऐसा करना... ऐसा करना... यह देखो! ग्राहक को... आहाहा!

इसी प्रकार यह शरीर नन्दन वन के वृक्ष को जैसे ताजा रखने के लिये पानी होता है, वैसे इस शरीर को ताजा रखने के लिये **जलप्रवाह से परिपूर्ण नाली समान वर्तता हुआ जो शरीर उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित होने से एक है,...** यह **शरीर उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत...** आहाहा! यह मिट्टी, जड़, धूल है यह। यह तो धूल, जड़, मिट्टी है। इसकी श्मशान में राख होगी। इतनी भी नहीं होगी। जलकर इतनी होगी। पवन आवे तो उड़ जाएगी। 'रजकण तेरे भटकेंगे जैसे भटकती रेत; फिर नर तन पाये कहाँ, चेत चेत नर चेत।' रजकण तेरे भटकेंगे। यह रजकण मिट्टी-धूल के। यहाँ अग्नि उठेगी। जलेंगे तो अग्नि निकलेगी यहाँ से। आहाहा!

'जैसे भटकती रेत, फिर नर तन पाये कहाँ' फिर बापू! यह शरीर कहाँ से मिलेगा? मुश्किल से अनन्त काल में मिला है। उसमें संसार के लिये इसका उपयोग करता है। राग और द्वेष पूरे दिन। इन पानी की नालियों से इस शरीर को खड़ा रखा है। आहाहा! पाप की नालियाँ भर-भरकर। आहाहा! **उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत...** कैसा है शरीर? कि **द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित होने से...** शरीर की उत्पत्ति में हेतु तो द्रव्य जड़कर्म है या दया, दान और पुण्य-पाप के भाव, वे शरीर का कारण है क्योंकि वह बन्ध का कारण है। शुभ-अशुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति का, पूजा का भाव वह पुण्यबन्ध का कारण है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना वह पापबन्ध का कारण है। इन दोनों—पुण्य और पाप के भावरहित, इनसे रहित होने से आत्मा **एक है... 'एगो मे सासदो अप्पा'** इसकी व्याख्या की है। आहाहा!

मैं अकेला चैतन्य। शरीर से भिन्न मेरा चैतन्य शरीर अन्दर भिन्न है। आहाहा! वह और क्या होगा? चैतन्य शरीर। अरे! पुण्य-पाप के भाव को भी क्लेशशरीर कहा है। विग्रह, क्लेश का विग्रहशरीर है। शुभ और अशुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध के भाव, वह विग्रह क्लेश है। राग है, विकार है। आहाहा! उसे **द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित होने से...** नोकर्म तो स्वयं है। शरीर नोकर्म है न? इसलिए अब वह नोकर्म कैसे हुआ? उसकी उत्पत्ति का अर्थ यह द्रव्यकर्म और भावकर्म है। इन तीनों से **रहित होने से...**

शरीर उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित होने से एक है,... क्या कहा? समझ में आया? भगवान आत्मा जो यह द्रव्यकर्म जो यह शरीर जड़ है, वह तो संसार के भटकने के जल से नालियाँ भरी हुई हैं। ऐसा एक शरीर और उसके **हेतुभूत द्रव्यकर्म-भावकर्म...** अर्थात् नोकर्म यह और द्रव्यकर्म तथा भावकर्म तीनों से रहित आत्मा है, वह एकरूप अन्दर है। आहाहा! पाठ है न? **'एगो मे सासदो अप्पा' 'एगो मे सासदो अप्पा'** मैं एक हूँ। एक की व्याख्या की है कि यह शरीर यह भटकने के, चार गति के भटकने के नालियों को पूरा पाड़े, ऐसा यह शरीर है। इस शरीर की उत्पत्ति का हेतु द्रव्यकर्म और भावकर्म है। जड़कर्म और पुण्य तथा पाप, इन तीन से रहित अकेला है। आहाहा! कमाना, स्त्री, पुत्र और धन्धे के कारण कहाँ समय मिले? चिमनभाई! आहाहा!

धर्म करते हो? कहता है हाँ; एक घण्टे पूजा करते हैं न, भगवान की भक्ति की है। लो हो गया। हिम्मतभाई! तुम्हारे घर की बात है। धर्म-बर्म करते हो? आहाहा! न्याल को पूछा था। भगवान की पूजा-भक्ति एक घण्टे करते हैं। धूल में भी नहीं। उसमें-पूजा-भक्ति में क्या आया? यह तो कोई जरा शुभभाव है। ऐरण की चोरी और सुई का दान। तेईस घण्टे पाप में और एक घण्टे जरा शुभ। वह तो पुण्य है, कहीं धर्म-बर्म नहीं है। भगवान की पूजा, दान, वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि एक शावश्त् आत्मा कैसा है? कि स्वयं निरुपाधिस्वरूप और निरावरण ज्ञान-दर्शन से ज्ञात हो ऐसा है; उससे विरुद्ध जो यह शरीर, यह पानी की नाली से शरीर बड़ा होता है। जैसे वन जमे, वैसे इस शरीर को पूरे दिन जीमावे। इसकी सब पंचायत। यह किया... यह किया... यह किया... ऐसे राग-द्वेष की नालियाँ भरी हैं, उनसे शरीर मिला। इस शरीर का हेतु? कर्मजड़ और भावकर्म पुण्य और पाप। ये तीनों आ गये।

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म तीन **रहित होने से एक है,...** है न? यह अन्दर भगवान एक अलग है। आहाहा! यह चैतन्य हीरा जैसे डिब्बी में अलग। डिब्बी अलग हीरा अलग। वह तो जड़ डिब्बी है। वह तो जड़, मिट्टी, धूल है। उसमें चैतन्य हीरा अन्दर ज्ञान के प्रकाश से भरपूर, आनन्द का सागर। वह चैतन्य सागर अन्दर भिन्न पड़ा है। आहाहा! किसने विचार किया है? यह शरीर... शरीर... शरीर... पूरे दिन। सवेरे से उठे, दोपहर में... चाय, आहार के समय अमुक करो और दोपहर में फिर वापस भुजिया या ऐसा करे, शाम को फिर पूड़ी और भुजिया बनावे। पूरे दिन यह होली सुलगती है। निवृत्त होकर धन्धा करे और स्त्री को प्रसन्न करे। अरे रे! प्रभु! तू कौन है? यह सब क्रिया है, वह तेरी है? प्रभु! यह तो संसार में भटकने को नन्दन वन को पुष्टि देनेवाले हैं। आहाहा!

तू तो एकरूप है। यह शरीर, कर्म और पुण्य-पाप के भाव से प्रभु तेरी चीज़ अन्दर भिन्न है। आहाहा! इसे कहाँ खबर है? कभी सुना नहीं। **और वही (कारणपरमात्मा)...** भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु। चैतन्य चमत्कार मणिरत्न अन्दर भरा हुआ है। आहाहा! जिसमें अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान भरा हुआ है, ऐसा प्रभु अन्दर है। ऐसा भगवान सब आत्मा अन्दर है। सम्मुख कब देखा है? ऐसा आत्मा **समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर के विविध विकल्परूप कोलाहल से रहित...** आहाहा! भगवान कारणपरमात्मा चैतन्यदल, आत्मस्वभाव, त्रिकाल रहनेवाले ज्ञान, आनन्द और शान्ति का सागर आत्मा, वह **समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर के...** क्रियाकाण्ड का आडम्बर—यह दया पालन की, व्रत किये, भक्ति की, अपवास किये, यह किया, वह किया। उसे मनाया वापस। यह वर्षीतप करे, फिर उसे पाँच-पच्चीस हजार खर्च करके मनावे। अधिक गृहस्थ हो तो लाखों रुपये खर्च करे। आहाहा! मानों हो गया तप और धर्म। धूल में भी धर्म नहीं। इस क्रियाकाण्ड के आडम्बर से तो भगवान रहित है। आहाहा!

एक पहला द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरहित कहा, तो भी भावकर्म की वापस दूसरी व्याख्या जरा यह की है। आहाहा! उसमें आ गया है, परन्तु यहाँ विशेष स्पष्ट करने को **समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर...** वह तो सब आडम्बर है। आहाहा! अहिंसा करते हैं, गौशाला पालते हैं, दया पालते हैं, दया मण्डल के अधिपति हैं, पाँच-पच्चीस लाख इकट्ठे किये हैं, पाँच-पच्चीस हजार, पचास हजार मिला-मिलाकर। यह सब आडम्बर है।

क्रियाकाण्ड का आडम्बर है। यह कोई आत्मा नहीं और इसमें धर्म-बर्म नहीं। कहो, चिमनभाई! आहाहा! ऐसा! अन्दर है या नहीं?

क्रियाकाण्ड, क्रियाकाण्ड अर्थात् शम्भु। क्रिया पूरे दिन। सवेरे यह और अमुक यह, अमुक खाया नहीं जाए, अमुक खाया जाए, अमुक चलता नहीं है... आहाहा! अफ्रीका में क्या मिले, यह भाई ने लिखा था। जतीश ने। यह मिलता है, यह मिलता है। एक अनार वहाँ नहीं मिलता। तेल नहीं मिलता। वहाँ तेल नहीं होता। अफ्रीका में। उसके बिना रहते हैं या नहीं? आहाहा! यह आत्मा तो **समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर के विविध विकल्प...** है, वह तो राग है। क्रियाकाण्ड का तो पंच महाव्रत और बारह व्रत वह तो सब राग और विकल्प है। आहाहा! कठिन काम। जिसे लोग धर्म मानकर बैठे, उसे कहते हैं कि राग है, विकार है। आहाहा! परमेश्वर का ऐसा फरमान है। जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ सीमन्धरस्वामी भगवान विराजते हैं। उनका यह फरमान है। मार्ग यह है। अरे! प्रभु! तू कहाँ चढ़ गया? किस रास्ते चढ़ गया तू? आहाहा! जिस रास्ते जाना चाहिए, उस रास्ते के सन्मुख देखता नहीं और कुरास्ते-ऊँधे रखते दौड़... दौड़... दौड़... दौड़... दौड़ता है। ऐसा आता है न? आहाहा! बहुत जोरवाला दौड़ता हो, इसलिए राग-द्वेष बहुत जोरवाला करता है। आहाहा! मानो बहुत क्रिया करते हैं। आहाहा!

क्रियाकाण्ड के आडम्बर के विविध विकल्परूप... भिन्न-भिन्न प्रकार के विकल्प। एक प्रकार के नहीं, कहते हैं। क्रिया भी अलग-अलग प्रकार की होती है न? व्रत की, तप की, भक्ति की, पूजा की, दान की, दया की, काम की, क्रोध की, विषय की, भोग की क्रिया, वह सब विकल्प है, राग है, विकार है। उन **विविध विकल्परूप कोलाहल...** वह कोलाहल है। आहाहा! **'सेसा मे बाहिरा भावा'** इसकी व्याख्या है। तीसरे पद की। **'सेसा मे बाहिरा भावा'** वे सब बहिर्भाव हैं। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, रोग, भोग, विषय और वासना यह सब बहिर्भाव हैं; चैतन्य में ये नहीं हैं। भगवान तो अन्दर निरुपाधिक त्रिकाल आनन्द का नाथ है। तुझे खबर नहीं। तू रंक होकर... राजा को रंक होकर तू मानता है। बड़ा बादशाह है, उसे तू भिखारी मानकर बैठा है। आहाहा!

कहते हैं कि ऐसा जो **कोलाहल से रहित सहजशुद्ध-ज्ञानचेतना को अतीन्द्रियरूप से भोगता हुआ...** आहाहा! स्वाभाविक शुद्धज्ञानचेतना। ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है। ज्ञान

अर्थात् यह शास्त्र का जानपना, वह नहीं। अन्दर ज्ञानस्वरूप ही चैतन्य है। जिसकी सत्ता में यह ज्ञात होता है। यह है... यह है... यह है... उसकी सत्ता में ज्ञात होता है, वह ज्ञानसत्ता है। वह यह चीज़ ज्ञात नहीं होती; वास्तव में तो वह ज्ञान ज्ञात होता है। आहाहा! जिसके अस्तित्व में, जिसकी मौजूदगी में यह ज्ञात होता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। जिसकी अस्ति में स्वयं जानता है, वह ज्ञान जानता है। ज्ञान में ज्ञान रहकर ज्ञान जानता है। आहाहा!

ऐसा जो **सहजशुद्ध-ज्ञानचेतना को अतीन्द्रियरूप से भोगता हुआ...** आहाहा! ऐसी ज्ञानचेतना को **अतीन्द्रियरूप से भोगता हुआ...** दया, दान और काम-क्रोध के परिणाम, वह कर्मचेतना, विकारीभाव है और उसके फलरूप से कर्मफलचेतनारूप हर्ष और शोक, वह दुःख है। आहाहा! ऐसे **अतीन्द्रियरूप से भोगता हुआ...** आहाहा! वह आत्मा अतीन्द्रियरूप से आत्मा को भोगता हुआ। अतीन्द्रियरूप से, अतीन्द्रिय आत्मा, अतीन्द्रियरूप से भोगता हुआ। आहाहा!

शाश्वत रहकर... मुनिराज कहते हैं कि **मेरे लिए उपादेयरूप से रहता है;...** मेरे लिये इस प्रकार से अन्दर उपादेयरूप से रहता है। मेरे आदरणीय हो तो ऐसा आत्मा है। यह सम्यग्ज्ञानी का लक्षण। यह सम्यग्दृष्टि के धर्म की शुरुआत के लक्षण। आहाहा! **सहजशुद्ध-ज्ञानचेतना को अतीन्द्रियरूप से...** पर्याय में **भोगता हुआ शाश्वत रहकर...** आहाहा! अतीन्द्रियपने को भोगता हुआ शाश्वत रहा, **मेरे लिए उपादेयरूप से रहता है...** मेरे लिये उपादेय वह एक ही आत्मा है। आहाहा! उपादेय अर्थात् आदरणीय। मेरे आदरणनेयोग्य दूसरी एक भी चीज़ नहीं है। आहाहा! मुनिराज अपनी बात करते हैं।

पर्याय का अनुभव हुआ है। पर्याय का द्रव्य में, द्रव्य का पर्याय में अनुभव हुआ। वह पर्याय द्रव्य से भिन्न रही है। उस पर्याय में मेरे लिये यह द्रव्य कहते हैं उपादेयरूप से रहा। अतीन्द्रियरूप से भोगता हुआ। आहाहा! ऐसी भाषा! ऐसा उपदेश किस प्रकार का! वह तो एकेन्द्रिया, द्वोइन्द्रिया, त्रीइन्द्रिया, चौइन्द्रिया, पंचेन्द्रिया... हो गया, लो! तत्सुत्री करणेन, हो गयी सामायिक। धूल में भी सामायिक नहीं। अभी सम्यग्दर्शन की खबर नहीं होती; मिथ्यादर्शन किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती। सामायिक और प्रौषध और प्रतिक्रमण आये कहाँ से ? एक के बिना सब शून्य है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं **अतीन्द्रियरूप से भोगता हुआ...** मैं। आहाहा! वह **भोगता हुआ**

शाश्वत रहकर... वापस वस्तु शाश्वत रहती है। मैं अतीन्द्रियरूप से भोगता हूँ, तो भी वस्तु शाश्वत रहकर **मेरे लिए उपादेयरूप से रहता है;...** आहाहा! मेरे लिये आदरणीय यह एक ही आत्मा रहता है। आहाहा! अरे रे! सुनने को मिलता नहीं। ऐसी बात कान में पड़ती नहीं। आहाहा! पूरे दिन संसार के धन्धे, निवृत्त होवे तो बाहर की व्यवहार की, क्रियाकाण्ड की बातें सुनें, वह भी सब क्रियाकाण्ड कैसा है, यह भी खबर नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा तो अन्दर एक ओर रह गया।

त्रिकाली निरुपाधिक, निरावरण लक्षण से ज्ञात हो ऐसा... आहाहा! वह यह भावकर्म और द्रव्यकर्म से ज्ञात नहीं होता ऐसा और शुद्ध ज्ञानचेतना को भोगनेवाला... आहाहा! यह पर्याय की बात है। पर्याय में **भोगता हुआ शाश्वत रहकर...** तथापि वस्तु शाश्वत रहकर **मेरे लिए उपादेयरूप से रहता है;...** आहाहा! एक तो भाषा ही कठिन। अन्दर परमात्मा विराजता है, भाई! केवलज्ञानी परमात्मा हुए, अरिहन्त हुए, सिद्ध हुए, वे कहाँ से हुए? कोई बाहर से आते हैं? अन्दर भरा है। अन्दर सब भरा है, उसमें से प्रवाह आता है, वह प्राप्त की प्राप्ति है, उसमें से बाहर आता है। यह पानी का घड़ा भरा है, वह छलकता है। छलकाये छे को हिन्दी में क्या कहते हैं? छलकता है। इसी प्रकार भगवान आनन्द और ज्ञान जल से भरा हुआ है। वह पर्याय की सब अवस्था में छलकता है। यह दुनिया की भाषा से अलग प्रकार है। वह घण्टे भर सुनने जाए तो आत्मा कौन? आनन्दकन्द अखण्ड है। अब कहीं-कहीं यहाँ का पढ़-पढ़कर बातें करते हैं। उनमें यह था कब? यहाँ की पुस्तकें पढ़कर अब कितने ही बातें करते हैं। आत्मा के नाम से (बातें करते हैं)। अभी तो देव-गुरु-शास्त्र का ठिकाना नहीं। देव-गुरु-शास्त्र किसे कहना? उसकी श्रद्धा का ठिकाना नहीं, वहाँ आत्मा कहाँ से आया? आहाहा! वह **मेरे लिए उपादेयरूप से रहता है;...** दुनिया दुनिया का जाने, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मेरे लिये तो यह शाश्वत है। अतीन्द्रियरूप से भोगने पर भी वस्तु शाश्वत रहती है। **जो शुभाशुभ कर्म के संयोग से उत्पन्न होनेवाले...** शुभ और अशुभ कर्म के संयोग से उत्पन्न होनेवाले **शेष बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह,...** आहाहा! अभ्यन्तर और बाह्य दोनों परिग्रह। **वे सब निज स्वरूप से बाह्य हैं।** मेरे स्वरूप से बाह्य है। **'सव्वे संजोगलक्खणा'** आहाहा! यहाँ तो अभी एक स्त्री मेरी नहीं, ऐसा मानना, इसे पानी उतर जाता है परन्तु वह तो उसका आत्मा अलग, शरीर

अलग-रजकण अलग, तेरे कब थे? उसका आत्मा मरकर कहाँ जाएगा और उसका आत्मा कहाँ से आया? उसके शरीर के रजकण कहाँ से उत्पन्न हुए। पूर्व में बिच्छु के डंक थे, वे परिणमित होकर अभी शरीर हुआ है। सर्प का जहर था, वह शरीररूप हुआ। यह शरीर के परमाणु भविष्य में वापस दूसरे प्रकार से होंगे। आहाहा! यह तो मिट्टी, जड़, धूल है। आहाहा! इससे भगवान अन्दर भिन्न है। वह... आहाहा!

बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह,... से भिन्न है। **सब निज स्वरूप से बाह्य हैं।** सब विकल्पमात्र... आहाहा! णमोकार गिनना, वह भी एक विकल्प है, राग है। आहाहा! कठिन बात, प्रभु! वीतराग का मार्ग कोई अलग प्रकार है। कहते हैं कि वह बाह्य जितने अभ्यन्तर और बाह्य विकल्प उठते हैं, वे दोनों **निज स्वरूप से बाह्य हैं।** मेरी चीज़ को वे स्पर्श नहीं करते। आहाहा! **ऐसा मेरा निश्चय है।** आहाहा! मुनिराज कहते हैं, यह चारों पहलुओं से सब समुचित है, हों! आहाहा! **ऐसा मेरा निश्चय है।** आहाहा! श्लोक तो बहुत अच्छा था। पौन घण्टे तो चला। आहाहा!

वे सब... बाह्य और अभ्यन्तर। कर्म के संयोग से उत्पन्न होनेवाले। यह स्त्री, कुटुम्ब वह तो अघाति से उत्पन्न होता है। स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत यह बाहर की चीज़ें तो अघातिकर्म से उत्पन्न होती हैं और यह पुण्य-पाप, दया-दान, यह सब घातिकर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। आहाहा! दोनों कर्म से उत्पन्न होनेवाले भाव। कहा न? बाह्य और अभ्यन्तर दोनों आ गये न? दोनों परिग्रह। **वे सब निज स्वरूप से बाह्य हैं।—ऐसा मेरा निश्चय है।** मुनिराज कहते हैं। आहाहा! यह टीका! यह मार्ग ऐसा है। कभी सुना भी नहीं। बाहर में और बाहर में क्रियाकाण्ड में मर गया। यहाँ तो कहते हैं कि क्रियाकाण्ड से भी मैं तो भिन्न हूँ। मुझे और उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

श्लोक-१३८

[अब इस १०२वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मालिनी)

अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेकः,
सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्धः ।
निरवधि-निज-दिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्धः,
किमिह बहुविकल्पैर्मे फलं बाह्यभावैः ।।१३८।।

(हरिगीतिका)

परमात्मा शाश्वत अहो मेरा कथञ्चित् एक है।
चैतन्य चिन्तामणि परम है सहज शाश्वत शुद्ध है॥
निज दिव्य अनहद ज्ञान दर्शन से सदा समृद्ध है।
तो फिर विविध बहिरंग भावों से मुझे क्या फल मिले?॥१३८॥

[श्लोकार्थः] मेरा परमात्मा शाश्वत है, कथंचित् एक है, सहज परम चैतन्यचिन्तामणि है, सदा शुद्ध है और अनन्त निज दिव्य ज्ञानदर्शन से समृद्ध है। ऐसा है तो फिर बहु प्रकार के बाह्य भावों से मुझे क्या फल है?॥१३८॥

श्लोक -१३८ पर प्रवचन

[अब इस १०२वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:] स्वयं

अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेकः,
सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्धः ।
निरवधि-निज-दिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्धः,
किमिह बहुविकल्पैर्मे फलं बाह्यभावैः ।।१३८।।

आहाहा! **मेरा परमात्मा...** मेरा परमात्मा अर्थात् कि यह आत्मा। इस आत्मा को यहाँ परमात्मा कहा है। कैसे जँचे? सवेरे उठकर दाँतन ठीक से न आया हो तो, कोई लाया नहीं? कोई मांगण आयी नहीं? लिया नहीं? क्या किया? आहाहा! चाय चाहिए, पानी चाहिए, आहार चाहिए। आहाहा! पूरे दिन होली सुलगती है। उसमें भगवान तो एक ओर पड़ा रहा। यहाँ तो कहते हैं कि **मेरा परमात्मा...** यह परमात्मा, हों! तीर्थंकर देव वे तो उनके परमात्मा हैं। तीर्थंकरदेव परमात्मा अरिहन्त सर्वज्ञ परमेश्वर हैं, परन्तु वे तो उनके परमेश्वर हैं। मेरा परमात्मा तो यहाँ है। आहाहा! आत्मा, वह परमात्मा। शान्ति की बात है, बापू! धीरज की - धीरज की बात है। पहले अपने बनियों में एक रिवाज था। विवाह के समय सूत का टुकड़ा रखते थे, उसे उलझन में लाकर, उलझन डालकर उसे दे। क्योंकि विवाह करने आया है तो इसकी कुछ धीरज रहती है या नहीं? ऐसा पहले था। अब तो कहाँ निवृत्त है? अब तो मुम्बई चार बजे विवाह करके पाँच बजे घर चले जाते हैं। आहाहा! पहले तो यह था। सूत का टुकड़ा उलझाकर। फिर ऐसा कहते हैं कि इसे धीरज है या नहीं? विवाह करने आया है तो एकदम अधीरज और आकुलता और व्याकुलता में है तो इसका सुलझाव कर सकता है या नहीं? इसी प्रकार आत्मा और जड़ का हल करना, बापू! इसमें बहुत शान्ति चाहिए। यह सब आंटीवाले टुकड़े पड़े हैं। आहाहा! शुभ और अशुभभाव, रागादिभाव... आहाहा! जिसे पंच महाव्रत कहते हैं पंच, बारह व्रत कहते हैं वह सब राग है। आत्मा का स्वरूप नहीं।

यहाँ तो **मेरा परमात्मा शाश्वत है,...** कथंचित् एक है। वस्तुरूप से एक है। गुणभेद, पर्यायरूप से भले दो हो। कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा से एक है। द्रव्य जो वस्तु है। सत्ता, अस्तित्व आत्मा का, अनादि अनन्त नित्य अमूर्त। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शरहित प्रभु अन्दर है। जिसमें रंग, गन्ध और रस, स्पर्श नहीं है तथा राग-द्वेष तो नहीं, नहीं और नहीं। आहाहा! ऐसा **मेरा परमात्मा शाश्वत है,...** कथंचित् **एक है, सहज परम चैतन्यचिन्तामणि है,...** स्वाभाविक परम चैतन्यचिन्तामणि है। वह तो पत्थर का चिन्तामणि है। बाहर होता है, वह पत्थर का है। वह तो कहीं से मिले तो आवे। यह तो सहज ही है। मिलना है कि वह चिन्तामणि कहीं पड़ा हो और भाग्यशाली को मिल जाए। कामधेनु गाय। यह तुम्हारे वढ़वाण में थी। कैसा?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....खबर है न खबर। चुन्नीभाई ने ८२ के वर्ष में हमारे पास नियम लिया था। ८२ के वर्ष का चातुर्मास था न? १९८२ का चातुर्मास वढवाण में था न? यह खबर नहीं होगी। बहुत वर्ष हो गये १८ + ६ = २४ और ५४ वर्ष। कितने वर्ष हुए? ६० वर्ष। छह वर्ष की खबर नहीं होगी। ८२ के वर्ष में चातुर्मास था न? बाहर व्याख्यान था। ठाकरसीभाई की धर्मशाला में। डेलाबाहर। तीनों उपाश्रयवाले थे। ८२ का वर्ष। उस दिन चुन्नीभाई ने घर में नियम लिया था। चुन्नीभाई ने, तब चातुर्मास था। सुन्दर वोरा का उपाश्रय में। सुन्दर वोरा का उपाश्रय तुम्हारे है न। आहाहा! यह बात पूरी अलग है। आहाहा!

कहते हैं कि स्वभाविक परम चैतन्यचिन्तामणि। अर्थात् क्या कहा? कि वह चैतन्यचिन्तामणि तो कहीं हो और मिले। यह तो स्वभाविक **परम चैतन्यचिन्तामणि...** शाश्वत है। आहाहा! स्वभाविक चैतन्यचिन्तामणि महारत्न है, अरूपी है। वर्ण, गन्ध, रस, रूप नहीं, रागादि तो नहीं। वह तो सूक्ष्म अरूपी है। वह नहीं। **सदा शुद्ध है...** मेरा प्रभु परमात्मा तो सदा शुद्ध है अर्थात् अशुद्धपना तो लेकर बैठा है कि राग-द्वेष मानकर। वस्तु में अशुद्ध नहीं है। पुण्य और पाप को मेरा मानकर अशुद्धरूप से चार गति में-चौरासी के अवतार में भटकाव हो रहा है। नरक और निगोद। आहाहा! भटकने। परन्तु मैं तो **सदा शुद्ध है...** आहाहा! वह अशुद्धता मुझमें है नहीं। जरा अशुद्धता चारित्रमोह का दोष दिखता है, उसे मैं जानता हूँ कि है, परन्तु मुझमें नहीं है। आहाहा!

अनन्त निज दिव्य ज्ञानदर्शन से... अनन्त निज दिव्य ज्ञानदर्शन से **समृद्ध है।** देखो! यह सब पर्याय जानती है, हों! द्रव्य तो द्रव्य है। पर्याय जो प्रगट। पर्याय बिना का द्रव्य तीन काल में कभी प्रगट नहीं होता। पर्याय बिना का अकेला द्रव्य हो तो निश्चयाभास हो जाता है। वेदान्त हो जाता है। यह तो जाननेवाली पर्याय ऐसा कहती है कि मेरा आत्मा शाश्वत है। यह और जाननेवाली पर्याय कहती है। ध्रुव है तो ध्रुव है। आहाहा! पर्यायरहित कोई दिन किसी समय होवे तो समाप्त हो जाए। वह वस्तु ही न रहे। पर्याय के बिना द्रव्य ही नहीं रह सकता। आहाहा!

सदा शुद्ध है और अनन्त निज दिव्य ज्ञानदर्शन से समृद्ध है। अनन्त निज दिव्य ज्ञानदर्शन से समृद्ध है। आहाहा! उसमें आया था न? **मेरे लिये उपादेयरूप से रहता है।**

उपादेयरूप से है परन्तु मानता कौन है ? पर्याय। समझ में आया ? यदि पर्याय द्रव्य में मिल जाए तो फिर हो गया। कुछ रहे नहीं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सब वहाँ घुस गये तो बाहर में कुछ रहे नहीं। आहाहा! यह तो मेरा प्रभु ऐसा है, ऐसा पर्याय जानती है। पर्याय प्रगट बाहर रहकर (जानती है)। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय ऐसा कहती है कि मैं शाश्वत् परमात्मा हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय ऐसा जानती है कि में यह शाश्वत् परमात्मा हूँ। पर्याय ऐसा जानती है। प्रगट रही हुई पर्याय... यह (समयसार) ३२० गाथा में है। सदा त्रिकाल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर प्रत्यक्ष प्रतिभासमय शुद्ध परमपारिणामिकभावलक्षण ऐसा निज परमात्मद्रव्य, वही मैं हूँ—ऐसा पर्याय मानती है। वही मैं हूँ। खण्ड-खण्ड ज्ञान, वह मैं नहीं हूँ। वहाँ दो शब्द हैं। खण्ड-खण्ड ज्ञान वह पर्याय स्वयं। खण्ड-खण्ड पर लक्ष्य करना तो नहीं, इसलिए खण्ड-खण्ड ज्ञान वह मैं नहीं हूँ; मैं यह हूँ, ऐसा पर्याय जानती है। ध्रुव तो कहाँ ? आहाहा! पर्याय न हो तो जाने कौन ? आहाहा! तथापि पर्याय में आत्मा आता नहीं, तथापि पर्याय आत्मा को जाने बिना रहती नहीं। आहाहा!

निज दिव्य ज्ञानदर्शन से समृद्ध है। अनन्त निज दिव्य ज्ञानदर्शन से समृद्ध है। **ऐसा है तो फिर बहु प्रकार के बाह्य भावों से मुझे क्या फल है ?** ऐसा मैं हूँ, फिर बाह्य की चिन्ता का, विकल्पों का क्या काम है ? विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१०३

जं किंचि मे दुच्चरितं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं।।१०३।।

यत्किञ्चिन्मे दुश्चरित्रं सर्वं त्रिविधेन विसृजामि।
सामायिकं तु त्रिविधं करोमि सर्वं निराकारम्।।१०३।।

आत्मगतदोषनिर्मुक्त्युपायकथनमिदम्। भेदविज्ञानिनोऽपि मम परमतपोधनस्य पूर्व-सञ्चितकर्मोदयबलाच्चारित्रमोहोदये सति यत्किञ्चिदपि दुश्चरित्रं भवति चेत्तत् सर्वं मनो-वाक्कायसन्शुद्ध्या सन्त्यजामि। सामायिकशब्देन तावच्चारित्रमुक्तं सामायिकछेदोपस्थापन-परिहारविशुद्ध्यभिधानभेदातिविधम्। अथवा जघन्यरत्नत्रयमुत्कृष्टं करोमि; नवपदार्थपरद्रव्य-श्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं रत्नत्रयं साकारं, तत् स्वस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपस्वभाव-रत्नत्रयस्वीकारेण निराकारं शुद्धं करोमि इत्यर्थः।

किञ्च, भेदोपचारचारित्रं अभेदोपचारं करोमि, अभेदोपचारं अभेदानुपचारं करोमि इति त्रिविधं सामायिकमुत्तरोत्तरस्वीकारेण सहजपरमतत्त्वाविचलस्थितिरूपसहज-निश्चयचारित्रं, निराकारतत्त्वनिरतत्त्वान्निराकारचारित्रमिति।

तथा चोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायां।

(वसंततिलका)

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि,
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षु-रधिरोहतु मोक्षमार्गं,
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य।।

तथाहि ह्न

जो कोई भी दुष्चरित मेरा सर्व त्रयविधि से तजूं।
अरु त्रिविधि सामायिक चरित सब, निर्विकल्पक आचरूँ॥१०३॥

अन्वयार्थ : [मे] मेरा [यत् किंचित्] जो कुछ भी [दुश्चरित्रं] दुःचारित्र [सर्वं] उस सर्व को मैं [त्रिविधेन] त्रिविध से (मन-वचन-काया से) [विसृजामि] छोड़ता हूँ [तु] और [त्रिविधं सामायिकं] त्रिविध जो सामायिक (-चारित्र) [सर्वं] उस सर्व को [निराकारं करोमि] निराकार (-निर्विकल्प) करता हूँ।

टीका : आत्मगत दोषों से मुक्त होने के उपाय का यह कथन है।

मुझे परम-तपोधन को, भेदविज्ञानी होने पर भी, पूर्वसंचित कर्मों के उदय के कारण चारित्रमोह का उदय होने पर यदि कुछ भी दुःचारित्र हो, तो उस सर्व को मन-वचन-काय की संशुद्धि से मैं सम्यक् प्रकार से छोड़ता हूँ। 'सामायिक' शब्द से चारित्र कहा है—कि जो (चारित्र) सामायिक, छेदोपस्थापन और परिहारविशुद्धि नाम के तीन भेदों के कारण तीन प्रकार का है। (मैं उस चारित्र को निराकार करता हूँ।) अथवा मैं जघन्य रत्नत्रय को उत्कृष्ट करता हूँ; नव पदार्थरूप परद्रव्य के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणस्वरूप रत्नत्रय साकार (-सविकल्प) है, उसे निजस्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप स्वभावरत्नत्रय के स्वीकार (-अंगीकार) द्वारा निराकार—शुद्ध करता हूँ, ऐसा अर्थ है। और (दूसरे प्रकार से कहा जाये तो), मैं भेदोपचार चारित्र को अभेदोपचार करता हूँ तथा अभेदोपचार चारित्र को अभेदानुपचार करता हूँ—इस प्रकार त्रिविध सामायिक को (-चारित्र को) उत्तरोत्तर स्वीकृत (अंगीकृत) करने से सहज परम तत्त्व में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र होता है—कि जो (निश्चयचारित्र) निराकार तत्त्व में लीन होने से निराकार चारित्र है।

इसी प्रकार श्री प्रवचनसार की (अमृतचन्द्राचार्यदेवकृत तत्त्वदीपिका नामक) टीका में (१२वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(हरिगीतिका)

चरण के अनुसार होता द्रव्य ऐसा जानिए।
द्रव्य के अनुसार होता चरण निश्चित मानिये॥
परस्पर सापेक्ष दोनों इसलिए मोक्षार्थिंजन।
द्रव्य अथवा चरण का आश्रय करो शिवपथ गमन॥

[श्लोकार्थः] चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है—इस प्रकार वे दोनों परस्पर अपेक्षासहित हैं; इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय करके अथवा जो चरण का आश्रय करके मुमुक्षु (ज्ञानी, मुनि) मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

प्रवचन-११३, गाथा-१०३, शुक्रवार, पौष शुक्ल २, दिनांक २१-१२-१९७९

गाथा १०३

जं किंचि मे दुच्चरितं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं।।१०३।।

जो कोई भी दुष्चरित मेरा सर्व त्रयविधि से तजूं।
अरु त्रिविधि सामायिक चरित सब, निर्विकल्पक आचरूँ॥१०३॥

टीका :- **आत्मगत दोषों से मुक्त होने के उपाय का यह कथन है।** आत्मा में होनेवाले राग-द्वेष, विकार, वह अशुद्धपरिणाम है। उन अशुद्ध दोषों से मुक्त होने के उपाय का यह कथन है। अब मुनि स्वयं कहते हैं। **मुझे परम-तपोधन को,...** आहाहा! परम तपोधन मुनि। दर्शन-ज्ञान-चारित्र उपरान्त तप अर्थात् चारित्र की विशेष निर्मलता की शुद्धता, वह तप है। ऐसे **परम-तपोधन...** और तपरूपी धन का धनी मैं.. आहाहा! **भेदविज्ञानी होने पर भी,...** राग से भिन्न आत्मा का अनुभव होने पर भी, राग के विकल्प से भिन्न अनुभव होने पर भी। दोष बतलाना है न? '**जं किंचि मे दुच्चरितं**' बतलाना है न? पाठ में यह है।

पूर्वसंचित कर्मों के उदय के कारण चारित्रमोह का उदय होने पर यदि कुछ भी दुःचारित्र हो,... कर्म का उदय तो निमित्त है। मेरी पर्याय में जो कोई दुःचारित्र हो... आहाहा! शुभभाव भी दुःचारित्र है। **तो उस सर्व को मन-वचन-काय की संशुद्धि से...** मन-वचन और काया की ओर के झुकाव को छोड़कर और **मैं सम्यक् प्रकार से...** शुद्ध चैतन्य का आश्रय लेकर; वे-वे दोष कर्म के निमित्त से पर्याय में मुझे होते हैं, उन्हें मैं **छोड़ता हूँ।** उपदेश के वाक्य अपेक्षित होते हैं, वरना तो दोष को तजता हूँ, तो यह कहा है, वह तो व्यवहार है। (समयसार) ३४ गाथा। राग का त्याग मात्र भी आत्मा में नहीं है। परमार्थ से राग का त्याग-कर्ता भी आत्मा नहीं है। आहाहा!

परद्रव्य का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में अज्ञानभाव में भी नहीं है, क्योंकि परद्रव्य और स्वद्रव्य के बीच तो अत्यन्त अभावरूप बड़ी वज्र दीवार पड़ी है। आहाहा! परन्तु कमजोरी के कारण पर्याय में यह जो रागादि होते हैं, उन्हें **मैं छोड़ता हूँ।** समझाना है न? एक ओर कहे कि राग को छोड़ता हूँ, यह आत्मा को नाममात्र कथन है। परमार्थ से छोड़ता हूँ-यह भी आत्मा में नहीं है। क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप से हटा ही नहीं है। ज्ञान में नहीं, वे वहाँ नहीं है। जहाँ राग नहीं है, वहाँ स्थिर हुआ हूँ। आहाहा! जिस स्थिति में राग को तजता हूँ-छोड़ता हूँ—ऐसा भी एक नाममात्र कथन कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बात है। उपदेश में व्यवहार के वाक्य तो ऐसे ही आते हैं।

हेय-उपादेयपना भी व्यवहार है। अकेला भगवान पूर्णानन्द के नाथ को अवलम्बन कर जो दशा होती है, वह एक ही धर्म है। आहाहा! लोगों को ऐसा कठिन पड़ता है। कुछ इसका दूसरा रास्ता होगा या नहीं? ऐसा कठिन! सवेरे-शाम कठिन.. कठिन... कठिन... कठिन की व्याख्या अपूर्व, ऐसा लेना। अपूर्व, पूर्व में कभी नहीं किया, इसलिए अपूर्व। आहाहा! कहते हैं कि **तो उस सर्व को मन-वचन-काय...** में,पूर्व संचित कर्म के उदय के निमित्त में, मेरे अशुद्ध उपादान की योग्यता में जो कुछ दोष आये हों। क्योंकि निमित्त और उपादान दो के बीच तो अभाव है। स्वयं अशुद्ध उपादान की अपेक्षा से निमित्त है ही नहीं। समझ में आया? अशुद्ध उपादान के अस्तित्व की अपेक्षा से.. इसकी अपेक्षा से तो निमित्त वस्तु ही नहीं है। निमित्त की अपेक्षा से निमित्त वस्तु है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। मार्ग ऐसा है, भाई!

भगवान चैतन्य आनन्दकन्द अखण्ड आनन्द का सागर जहाँ उछल रहा है, उसे राग का तो कलंक है। भव होना, वह भी कलंक है। आहाहा! योगीन्द्रदेव में आता है। योगीन्द्रदेव के दोहों (योगसार) में (आता है)। जन्म / भव कलंक है। आहाहा! भगवान असंयोगी चीज़, जिसमें राग के संयोगीभाव का भी अभाव। संयोगी चीज़ का ग्रहण-त्याग का अभाव तो सबको है। आहाहा! परन्तु संयोगी जो पुण्य, दया, दान आदि रागभाव है, उसका भी स्वभावभाव में संयोगीभाव का अभाव है। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो जो हों, वह हों न! ऐसा स्वरूप है।

किसी का पत्र आया है। भाई ने नाम नहीं लिखा। 'आत्मज' - ऐसा करके किया

है। वह आता है न ऐसा। क्या कहलाता है वह ? अन्तर्देशी। बहुत प्रसन्नता बतलाता है। ओहोहो! यह बात! कहीं सुनी नहीं। कहीं है नहीं। आनन्द.. आनन्द... आनन्द... आहाहा! अखण्डानन्द प्रभु भिन्न है। ऐसी बात कौन करे ? प्रभु! पीछे नाम में 'आत्मज' लिखा है। नाम नहीं दिया है। आत्मज्ञ अर्थात् क्या ? आत्मा से उत्पन्न हुआ। लड़का कहलाता है न ? आत्मज कहलाये। लड़के को आत्मज कहा जाता है। व्यवहार से आत्मा से उत्पन्न हुआ। कोई है सही। बराबर छाप नहीं है।

यहाँ कहते हैं, मैं तो तपोधन... मुझे मेरी पर्याय में, मेरी कमजोरी में, कर्म के निमित्त के जुड़ान से, जुड़ान अर्थात् उसमें लक्ष्य होने से **यदि कुछ भी दुःचारित्र हो, तो उस सर्व को मन-वचन-काय की संशुद्धि से...** आहाहा! यह आता है न ? भाई! पीछे आता है कि.. भले उसे भावार्थ में क्षणिक समकित लिया, कि क्षायिक समकित होने पर योग का कम्पन भी उतना नाश होता है। भावार्थ में आता है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग—पाँच बन्ध के कारण हैं। उन पाँच का अंश घट जाता है। मिथ्यात्व सर्वथा घटता है, दूसरा योग है, उसका भी वहाँ आंशिक नाश हो जाता है। आहाहा! समझ में आया ?

दूसरी भाषा से कहें तो सम्यग्दर्शन अर्थात् सर्वगुणांश समकित। उस सर्वगुणांश का अर्थ यह कि अन्दर जो अयोग नाम का गुण है, वह कम्पनरूप है। इस सम्यग्दर्शन के समय भी कम्पन तो नाश होता है। है, कहीं है। भावार्थ में कहीं है। पीछे-पीछे। समयसार है ? यह तो नियमसार है। समयसार में है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि **मन-वचन-काय की संशुद्धि से...** संशुद्धि शब्द पड़ा है न ? **मन-वचन-काय की संशुद्धि से...** अर्थात् तीन के अभावरूपी शुद्धि का अंश प्रगट होता है। आहाहा!

मन-वचन काया के परिणाम। अशुद्ध परिणाम तो दूर रहे, परन्तु यह कम्पन है न, कम्पन ? मन-वचन-काया का निमित्त है और कम्पन है, उस कम्पन की भी आंशिक शुद्धि होती है। इतना कम्पन भी चौथे (गुणस्थान) में नाश हो जाता है। आहाहा! इसलिए तीनों की संशुद्धि - ऐसा कहा है। तीनों की संशुद्धि। **सम्यक् प्रकार से...** उनकी शुद्धि है। क्या कहा यह ? मन-वचन और काया के निमित्त से होनेवाले तीन अवगुण जो हैं, यह अन्दर जाने; पर तीनों का कम्पन होता है न ? उस कम्पन से भी अन्दर घटकर संशुद्धि होती

है। आहाहा! अशुद्ध से तो हट जाता है, परन्तु अशुद्ध के साथ कम्पन भी अशुद्ध है, उसमें से आंशिक हट जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : निष्कम्प होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्थिर होता है। चौदहवें (गुणस्थान) में ही अयोग होता है - ऐसा एकान्त नहीं है, यह कहना है। समझ में आया? चौदहवें गुणस्थान में अयोग होता है, यह अयोग होता है, वह तो अयोग इसका गुण है। गुण है अर्थात् पूर्ण शुद्ध वहाँ होता है। योग इसका गुण नहीं कम्पन। आहाहा!

चारित्रमोह का उदय होने पर यदि कुछ भी... ऐसा है न? **यदि कुछ भी दुःचारित्र हो,...** मलिनता का अंश... आहाहा! **तो उस सर्व को...** उस सर्व को। आहाहा! **मन-वचन-काय की संशुद्धि से...** सर्व की अशुद्धि का अंश नाश होकर सर्व की शुद्धि का अंश प्रगट होता है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए समकित को ऐसा कहा है न श्रीमद् ने? 'सर्वगुणांश, वह समकित।' अपने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में टोडरमलजी ने ऐसा कहा है, 'चौथे गुणस्थान में एकदेश ज्ञान प्रगट होता है।' ज्ञानादि। ऐसा रहस्यपूर्ण चिट्ठी में है और सर्व देश पूर्ण, वह केवलज्ञान में होता है। आहाहा! समझ में आया?

भगवान पूर्ण परमात्मस्वरूप है। अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसमें से उसका आश्रय लेने पर, जितने गुण हैं, उनका एक-एक अंश शुद्धि प्रगट होने पर, उससे विरुद्ध के जितने अशुद्ध हैं, उसके अशुद्ध का अंश वहाँ घट जाता है-नाश हो जाता है। कितने ही अशुद्ध अंश सर्वथा जाते हैं; कितने ही अशुद्ध अंश थोड़े घट जाते हैं, परन्तु संशुद्धि होती है। आहाहा! समझ में आया इसमें? आहाहा!

मुमुक्षु : अकेला चारित्रगुण नहीं लेना, परन्तु सब गुण लेना।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब गुणों का अंश संशुद्धि है। वह चौथे (गुणस्थान) में अनन्त गुण, द्रव्य है या नहीं? द्रव्यदृष्टि हुई न? किसकी दृष्टि हुई? द्रव्य की। तो द्रव्य में जितने गुण हैं, उनकी शुद्धि एक अंश बाहर आती ही है। समझ में आया? आहाहा! धीरे से समझने जैसी बात है, बापू! यह तो वीतरागमार्ग है। सर्वज्ञदेव परमेश्वर का अलौकिक मार्ग है। आहाहा! उनकी बातें तो, वह पूरी बात तो भगवान जाने, सन्त जाने। आहाहा! जो विकल्पातीत है, वचनातीत है। आहाहा! वह कम्पन से रहित है। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा, उसमें मुझे जो कुछ अशुद्धता होती है, कहते हैं। मैं मुनि हूँ, तो पर्याय में आंशिक अशुद्धता आती है। उसे मैं **मन-वचन-काय की संशुद्धि से मैं सम्यक् प्रकार से...** शुद्धि से। **मैं सम्यक् प्रकार से छोड़ता हूँ।** अर्थात् ? आहाहा! मैंने ज्ञान को धारणा में रखा नहीं, ऐसा कहते हैं। उसका जो ज्ञान है, ऐसा यह है, योगरहित है, अमुक है, अमुक है, ऐसा मैंने धारणा में नहीं रखा। मैंने तो मेरे प्रवर्तन में ही रख दिया है। **सम्यक् प्रकार से...** शब्द पड़ा है न ? आहाहा!

मैं सम्यक् प्रकार से छोड़ता हूँ। आहाहा! जिस प्रकार से वस्तु का स्वभाव है, उसी प्रकार से आंशिक प्रगट होने पर अशुद्धि को, मन-वचन-काया की अशुद्धि को भी... आहाहा! **मैं सम्यक् प्रकार से छोड़ता हूँ।** सम्यक् प्रकार से। जैसा सत् है, उस प्रकार से सत् का अंश प्रगट करके और असत् के अंश को सम्यक् प्रकार से छोड़ता हूँ। आहाहा! क्या इसकी गहनता! इसकी गम्भीरता! ऐसी बात है। यह तो नियमसार है। यह भी कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं कि मैंने तो मेरे लिये बनाया है। अन्तिम गाथा में है। आहाहा! ऐसा भगवान अन्दर विराजता है। अनन्त-अनन्त गुण के चैतन्य के चमत्कार की शक्ति से भरपूर प्रभु, अयोगस्वरूप से भरपूर है। कम्पन-फम्पन उसके स्वरूप में है ही नहीं, वह त्रिकाल निरावरण है। त्रिकाल प्रत्यक्ष प्रतिभास हो, ऐसा है। वह पर्याय में ज्ञात हो, ऐसा वह है। पर्याय में प्रतिभास। यह शब्द ३२० गाथा में है न, भाई ? त्रिकाल निरावरण और प्रत्यक्ष प्रतिभास। प्रत्यक्ष प्रतिभास मेरे ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रतिभास हो। आहाहा! वह वहाँ रहे, तथापि प्रतिभास। प्रतिबिम्ब कहलाता है न ? सामने बिम्ब वहाँ रहे और दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखता है। जैसी चीज़ है, वैसा वहाँ प्रतिबिम्ब। इसी प्रकार मुझमें प्रतिपक्ष, प्रतिप्रत्यक्ष... आहाहा! मेरी पर्याय में यह पूरी चीज़ पूर्ण प्रत्यक्ष दिखती है, प्रत्यक्ष ज्ञात होती है। आहाहा! समझ में आया ? यह कथा नहीं, बापू! यह तो वीतराग तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि है। आहाहा! इसे सुनने के लिये एकावतारी इन्द्र इकट्ठे होते हैं, इसे सुनने को जगत के बाहर के जंगल के सिंह, जंगल के बाघ, काले नाग (सब आते हैं)। दूसरों को भय दिये बिना ऐसे सरसराहट करते हुए वहाँ समवसरण में अभी चले जाते हैं। आहाहा! वह वाणी कैसी होगी ? बापू! वह कहीं कथा है ? बारोठ है ? कि कुल (परिवार) की लगावे बड़ी। तेरा कुल ऐसा था और ऐसा था। यह तो तेरे आत्मा का कुल, ऐसा है, इसकी बात है। आहाहा!

मैं सम्यक् प्रकार से छोड़ता हूँ। 'सामायिक' शब्द से चारित्र कहा है... यहाँ चारित्र शब्द लिया है न? आहाहा! यहाँ सामायिक शब्द से चारित्र। पाठ में सामायिक है न? तीसरा पद। **'सामायिक' शब्द से चारित्र कहा है—कि जो (चारित्र)...** तीन प्रकार का है। **सामायिक, छेदोपस्थापन और परिहारविशुद्धि नाम के तीन भेदों के कारण तीन प्रकार का है।** आहाहा! यह सामायिक का अर्थ किया। वह **तीन प्रकार का है।** ....त्रिविधे कहकर उसे—राग को छोड़कर तीन प्रकार से छोड़कर निराकार आत्मा को करता हूँ। आहाहा!

तीन भेदों के कारण तीन प्रकार का है। (मैं उस चारित्र को निराकार करता हूँ।) अथवा मैं जघन्य रत्नत्रय को उत्कृष्ट करता हूँ;... आहाहा! तीन प्रकार है न? एक जघन्य रत्नत्रय है, निचला रत्नत्रय है, निचली दशा में। जघन्य रत्नत्रय को उत्कृष्ट करता हूँ। तीन प्रकार कहे न? **'सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं।'** मूल पाठ। सामायिक को तीन प्रकार से मैं निराकार करता हूँ। उस तीन प्रकार के दो अर्थ। एक तो यह... आहाहा! **मैं जघन्य रत्नत्रय को उत्कृष्ट करता हूँ;...** जो जघन्य दशा है, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निचली दशा है, उसे उत्कृष्ट करता हूँ। एक।

नव पदार्थरूप परद्रव्य के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणस्वरूप रत्नत्रय साकार (-सविकल्प) है,.. आहाहा! यह दूसरा। **नव पदार्थरूप परद्रव्य...** यहाँ तो देखा? मोक्षमार्गप्रकाशक में नव तत्त्व की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। वह अभेद से कहा है। वह एक वचन है और यहाँ बहुवचन है। **नव पदार्थरूप परद्रव्य के...** यह व्यवहार है। **नव पदार्थरूप परद्रव्य के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणस्वरूप रत्नत्रय साकार (-सविकल्प) है,..** तीनों रागवाले हैं। आहाहा! एक तो जघन्य रतनत्रय है, उसे उत्कृष्ट करता हूँ। एक, नव पदार्थ का जो श्रद्धान-ज्ञान जो साकार है... साकार अर्थात् भेदवाला है।

उसे निजस्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप स्वभावरत्नत्रय के स्वीकार (-अंगीकार) द्वारा निराकार—शुद्ध करता हूँ,.. आहाहा! है? आहाहा! **उसे निजस्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप...** यह तीसरा। पहले यह कहा कि जघन्य रत्नत्रय और उत्कृष्ट। दूसरा नव पदार्थ की श्रद्धा, वह साकार और तीसरा **उसे निजस्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप स्वभावरत्नत्रय के स्वीकार (-अंगीकार) द्वारा निराकार—शुद्ध**

करता हूँ,... ये तीन हुए। समझ में आया इसमें ? तीन के पाठ यहाँ है न ? **'तिविहं करेमि'** इसलिए उसके दो बोल लिये। तीन प्रकार को शुद्ध करता हूँ, इसके दो बोल लिये। एक बोल जघन्य रत्नत्रय से उत्कृष्ट करता हूँ और नव पदार्थरूप जो साकार है, दूसरा, उसे छोड़कर निराकार करता हूँ। **निराकार—शुद्ध करता हूँ,...** आहाहा! है इसमें ? तीन हुए।

जघन्य को उत्कृष्ट करता हूँ... आहाहा! नव पदार्थ का जो साकार है, वह दो। उसे छोड़कर अब निराकार करता हूँ, तीन। इस सामायिक को तीन प्रकार से करता हूँ, वह इस प्रकार से। आहाहा! सूक्ष्म पाठ आया। आहाहा! मेरी दशा जो जघन्य रत्नत्रय की है, उसे बढ़ाता हूँ। आहाहा! और नवतत्त्व की—परद्रव्य की जो श्रद्धा है, वह साकार है, उसे छोड़कर मैं निराकार एकरूप आत्मा की श्रद्धा करता हूँ। है ? उस नव में परद्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान आचरण था। अब **निजस्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप स्वभावरत्नत्रय के स्वीकार (-अंगीकार) द्वारा निराकार—शुद्ध करता हूँ, ऐसा अर्थ है।** अरे! ऐसा सूक्ष्म है। समझ में आता है या नहीं ? चिमनभाई! कठिन गाथा है।

सामायिक को तीन प्रकार से करता हूँ, कि जो कुछ दर्शन-ज्ञान-चारित्र मेरे थोड़े हैं, उन्हें बढ़ाता हूँ और नवतत्त्व की भेदवाली जो श्रद्धा साकार है, उसे छोड़कर मैं निराकार करता हूँ। आहाहा! एक अर्थ यह हुआ। अब वापस इसका दूसरा अर्थ। तीन प्रकार का एक अर्थ हुआ और तीन प्रकार का अब दूसरा अर्थ। आहाहा! **और (दूसरे प्रकार से कहा जाये तो), मैं भेदोपचार चारित्र को अभेदोपचार करता हूँ...** शुभराग—व्यवहार विकल्प जो है, पंच महाव्रत आदि का भेदोपचार... आहाहा! ऐसे को छोड़कर अभेदोपचार करता हूँ। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र करता हूँ। व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को छोड़कर निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को करता हूँ। इसमें कितना याद रहे ? लोहे में सब याद रहे कलश में और अमुक में। आहाहा! एक तीन प्रकार वह लिये और तीन प्रकार यह। आहाहा!

अभेदोपचार... अर्थात् व्यवहार। भेद उपचार है न ? राग में भेद का उपचार किया है समकित का, ज्ञान का। उस **चारित्र को अभेदोपचार करता हूँ...** उसे छोड़कर निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप करता हूँ। आहाहा! इस भेद उपचार चारित्र को

अभेद उपचार करता हूँ। पाठ तो ऐसा है। शब्द को समझाना हो तो किस प्रकार समझावे? आहाहा! जो मैं भेद में-राग में हूँ, उसमें से अभेद सम्यग्दर्शन-ज्ञान-निश्चय जो है परन्तु वह तीन है, इसलिए अभेद उपचार है। तीन है, इसलिए अभेद उपचार है। आहाहा! वे तीन अभेद हैं परन्तु वह व्यवहार है। उपचार अर्थात् व्यवहार। दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सेवन करना, पर्याय की अपेक्षा से कहा है। नीचे लिखा है। तीन भेद क्यों कहे? कि लोग पर्याय से समझते हैं, इसलिए तीन भेद कहे हैं। (समयसार में) १६वीं गाथा में। समझ में आया? आहाहा!

तथा अभेदोपचार चारित्र को अभेदानुपचार करता हूँ... सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसे तीन भेद हैं। निश्चय के, हों! परन्तु वे तीन भेद हैं, वह अभेद उपचार है। उसे अभेद अनुपचार करता हूँ। इन तीन के भेद को छोड़कर आत्मा में एकाकार होता हूँ। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। यह तो सामायिक की बात चलती है। यह दुनिया सामायिक लेकर बैठी है, यह सामायिक-फामायिक नहीं। वह तो मिथ्यात्व है। शुभभाव का ठिकाना नहीं और माने सामायिक। वहाँ तो अकेला मिथ्यात्व है। पोषण मिथ्यात्व का पोषण, आहाहा! यहाँ तो अन्दर जघन्य रत्नत्रय है, उसे उत्कृष्ट करूँ, नव की परद्रव्य की श्रद्धा है, उसे छोड़कर और साकार को छोड़कर निराकार करूँ और भेदोपचारचारित्र जो व्यवहार है, उसे छोड़कर अभेद उपचार करूँ अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन भेद, उन्हें अभेद उपचार कहा। अभेद उपचार, उसे छोड़कर आत्मा में एकाकार होऊँ, इसका नाम अभेद अनुपचार है।

मुमुक्षु : अभेद उपचार अर्थात् निर्विकल्पदशा हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आत्मा है। यह अभेद उपचार करना है न? अभी यह पर्याय द्रव्य के आश्रय करनी है न, इसलिए वह तो अभेद उपचार है इतना।

मुमुक्षु : यह तो विकल्प हो गया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प नहीं। है तो निर्विकल्प, परन्तु इतना उपचार है न? अभेदोपचार करे। इस आत्मा को मैं एकाकार करता हूँ, इतना भी उसमें भेद है।

मुमुक्षु : यह निर्विकल्पदशा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निर्विकल्प। परन्तु यह तो भेद अन्दर आता है। आहाहा! यह कलश-टीका में आता है। भेदज्ञान विकल्प है। केवलज्ञान की भाँति निर्विकल्प नहीं। कलश-टीका में, कलश-टीका। यह यहाँ विकल्प को छोड़कर भी अब निर्विकल्प करता हूँ, परन्तु निर्विकल्प करता हूँ तो वस्तु है, उसे निर्विकल्प करता हूँ, इतना यह उपचार आया न, अन्दर कथन। आहाहा! अनुपचार आया यह। भेद नहीं रहा, अभेद अनुपचार आया। वहाँ उपचार नहीं आया। आत्मा में अभेद एकाकार, वह अभेद अनुपचार है और निश्चय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन हैं, वह अभेद उपचार है क्योंकि वह अभेद है तो भी दोनों व्यवहार है और व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प जो है, वह तो साकार है ही वह। आहाहा!

यहाँ तो पर्याय को अन्दर में एकाकार करता हूँ अर्थात् अभेद अनुपचार करता हूँ ऐसा लेना है। नहीं तो वास्तव में पर्याय है, वह कहीं द्रव्य में नहीं मिलती परन्तु पर्याय का अकेला अभेदपना द्रव्य के ऊपर गया है, इसलिए उसे अभेद अनुपचार कहा है। आहाहा! एक ओर ऐसा कहते हैं कि पर्याय को, अव्यक्त है, वह स्पर्श भी नहीं करता। समयसार की ४९ गाथा में। व्यक्त-अव्यक्त को जानने पर भी, एक साथ जानने पर भी,... व्यक्त अर्थात् प्रगट और अव्यक्त अर्थात् द्रव्य ध्रुव। दो को एकसाथ जानने पर भी व्यक्त को अव्यक्त स्पर्श नहीं करता। द्रव्य, पर्याय को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! और वहीं का वहीं वापस बीसवाँ प्रवचनसार (अलिंगग्रहण के बोल में) कहते हैं कि द्रव्य को पर्याय स्पर्श नहीं करती। पर्याय द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। वह कहा द्रव्य पर्याय को स्पर्श नहीं करता। बीसवें बोल में कहा कि पर्याय द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। जो अनुभव की पर्याय हुई, वेदन की पर्याय हुई, उस वेदन की पर्याय में ध्रुव नहीं आता। उस सामान्य को वह स्पर्श नहीं करती, वेदन में आता है, वही मैं आत्मा हूँ। पर्याय में आया, वह मैं आत्मा हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु : यहाँ द्रव्य-पर्याय अभेद हो जाते हैं, ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ अभेद नहीं होते। द्रव्य पर लक्ष्य करने से कुछ भेद नहीं रहता, इतनी बात है। अभेद अनुपचार। अकेला द्रव्य पर लक्ष्य होने से, भेद... सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद भी लक्ष्य में से छूट गये। तीन के भेद हैं, वहाँ तक अभेदोपचार है और

छूट जाने पर अभेदोनुपचार है। आहाहा! अब ऐसी भाषा। बनिये को फुरसत नहीं मिलती और ऐसी बात आयी। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग ऐसा है।

कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैंने तो मेरे लिये यह बनाया है। उसमें से टीका करनेवाले और निकले, यह टीका करनेवाले ऐसा कहते हैं, इसकी टीका करनेवाला मैं मन्दबुद्धि तो कौन? इसकी टीका तो गणधरदेव और परम्परा आचार्य से चली आयी है। है न? आहाहा! गजब बातें हैं। दिगम्बर सन्तों की बातें। नागा बादशाह से आघा। उन्हें दुनिया की कुछ पड़ी नहीं है। यह दुनिया संगठित रहेगी या नहीं? यह समाज मानेगी या नहीं? माने, न माने उसके घर में रहो। वीतराग तत्त्व यह है। आहाहा! जरा सूक्ष्म गाथा थी।

एक तो मन-वचन-काया की संशुद्धि से मैं एक मलिनता को सम्यक् प्रकार से तजता हूँ—ऐसा आया न? मन-वचन-काया की जो अशुद्धि थी, उसे-काया की अशुद्धि को **संशुद्धि से मैं सम्यक् प्रकार से छोड़ता हूँ।** आहाहा! फिर कहा कि सामायिक कहने पर तीन अर्थ हैं। **सामायिक, छेदोपस्थापन और परिहारविशुद्धि...** एक बात। दूसरे तीन इस प्रकार हैं। जघन्य को उत्कृष्ट करना, नव पदार्थ को साकार करके और निराकार करना। तीसरी यह अपेक्षा है, इन तीन में तीन निकाले। **'सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं'** है शब्द? निराकार करता हूँ। आहाहा! साकार और निराकार। एक ओर ज्ञान साकार, दर्शन निराकार - वह अलग चीज़; यह अलग चीज़। नव तत्त्व के भेदवाला ज्ञान, वह साकार और अभेदवाला वह अन्दर... आहाहा! निज स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञानवाला, वह निश्चय, वह निराकार। आहाहा!

यह निराकार अर्थात् दर्शन और साकार अर्थात् ज्ञान, यह यहाँ नहीं लेना है। नहीं तो साकार अर्थात् ज्ञान और निराकार अर्थात् निर्विकल्प दर्शन। ज्ञान वह सविकल्प-साकार है। सविकल्प अर्थात् स्व-पर को जानता है न, यह विकल्प। विकल्प अर्थात् राग, ऐसा नहीं। इसका विकल्प स्वभाव ही है। स्व-पर को जानना, ऐसा सविकल्प स्वभाव है। यहाँ कहते हैं कि मैं नवतत्त्व के भेदरूप परद्रव्य है यह... आहाहा! उन नव पदार्थ में मोक्ष आया। संवर, निर्जरा आयी। उसे परद्रव्य कहा। है? आहाहा! नव पदार्थ के ऊपर द्रव्य.. आहाहा! तथापि भेद पड़े न नौ। यह श्रद्धा-ज्ञान आचरणरूप रत्नत्रय साकार है, इसलिए सविकल्पवाले हैं। आहाहा! यह रागसहित हैं। धीमे-धीमे समझना। भाई! आहाहा!

सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ की वाणी कैसी होगी ? आहाहा ! इसकी गम्भीरता का पार नहीं। जिसकी गहराई का पार नहीं, जिसकी शक्ति के संग्रह का पार नहीं, जिसकी शक्ति के सामर्थ्य का पार नहीं। शक्ति का संग्रह कितना, इसका पार नहीं और इसकी शक्ति के सामर्थ्य का पार नहीं। आहाहा ! ऐसा जो भगवान आत्मतत्त्व। आहाहा ! उसे उत्कृष्ट करता हूँ, वह वस्तु है और **निजस्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप...** निराकार करूँ, यह भी अभी जरा भेद है। आहाहा ! फिर भेदोपचार को छोड़कर अभेद उपचार करता हूँ। छोड़कर यहाँ नहीं परन्तु मैं भेदोपचारचारित्र को अभेदोपचार करता हूँ। राग में विकल्प है, पंच महाव्रत समकितसहित है, हों ! समकितसहित पंच महाव्रत के विकल्प हैं, वे साकार हैं, उन्हें निराकार करता हूँ। आहा !

स्वभावरत्नत्रय **निजस्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप स्वभावरत्नत्रय के स्वीकार (-अंगीकार) द्वारा निराकार—शुद्ध करता हूँ,...** निराकार का अर्थ यह शुद्ध करता हूँ। आहाहा ! उसमें साकार का अर्थ सविकल्प करता हूँ। साकार का अर्थ सविकल्प करता हूँ। निराकार का अर्थ शुद्ध करता हूँ। है ? आहाहा ! आहाहा ! **इस प्रकार त्रिविध सामायिक को (-चारित्र को) उत्तरोत्तर स्वीकृत (अंगीकृत) करने से...** आहाहा ! यह सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित की बात है। सम्यग्दर्शन बिना सामायिक-फामायिक नहीं होती। प्रौषध, प्रतिक्रमण यह सब (सम्यक्त्व बिना) एक रहित शून्य है। सम्यग्दर्शन बिना... आहाहा ! सम्यग्दर्शन क्या है, यह बात तो चलती ही नहीं। यह तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करो, फिर व्रत करो हो गया। ये बनिया सब व्यापार में से निवृत्त नहीं होते। इसलिए ये जय नारायण कहते हैं। आहाहा ! ऐसा मार्ग है। कितनी टीका की है, देखो न ! पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि।

इस प्रकार त्रिविध सामायिक को (-चारित्र को) उत्तरोत्तर स्वीकृत (अंगीकृत) करने से... एक के बाद एक निर्मल करने से। **सहज परम तत्त्व में अविचल स्थितिरूप...** सहज परम तत्त्व भगवान आत्मा, अकेला आनन्द का गोला है, ज्ञान का गोला है, आनन्द का सागर है, अखण्ड आनन्द का समुद्र है। ऐसा जो भगवान आत्मा, ऐसा **सहज परम तत्त्व...** स्वभाविक परम तत्त्व है, उसमें **अविचल स्थितिरूप...** चलित न हो, ऐसी स्थितिरूप **सहज निश्चयचारित्र होता है...** लो। आहाहा ! इस प्रकार अन्दर में अभेद जाने पर सहज

अविचल स्थितिरूप निश्चयचारित्र / सच्चा चारित्र होता है। यह चारित्र, मोक्ष का मार्ग है। आहाहा!

कि जो (निश्चयचारित्र) निराकार तत्त्व में लीन होने से निराकार चारित्र है। विकल्परहित है, ऐसा कहना है। **निराकार तत्त्व में लीन होने से...** देखो! वापस यह डाला। यह १०२ गाथा में डाला था कि त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप भगवान है, इसलिए निरावरण ऐसा ज्ञान-दर्शन के लक्षण से वह लक्षित हो सकता है। त्रिकाली निरुपाधि तत्त्व भगवान, वह निरावरण ज्ञान-दर्शन के लक्षण से लक्षित हो सकता है। आहाहा! यह यहाँ ऐसा कहा, देखो! **(निश्चयचारित्र) निराकार तत्त्व में लीन होने से...** तत्त्व में लीन होने से **निराकार चारित्र है।** तत्त्व में लीन होने से। शुद्ध, अखण्ड, अभेद तत्त्व जो कहा... आहाहा! **सहज परम तत्त्व में अविचल स्थितिरूप...** ऐसा कहा। सहज स्वभाविक परम तत्त्व में अविचल— चलित न हो ऐसा। ऐसी **स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र होता है—कि जो (निश्चयचारित्र) निराकार तत्त्व में लीन होने से...** दोनों बातें की हैं।

एक तो स्वयं निश्चय कहा। कहा न? **सहज परम तत्त्व में अविचल स्थितिरूप...** यह वस्तुस्थिति। इसमें। आहाहा! **सहज परम तत्त्व में...** यह वस्तु कही। **अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र होता है...** यह पर्याय कही और इससे **निराकार तत्त्व में लीन होने से...** यह निराकार वस्तु जो है, वह वस्तु निराकार होने से, उसमें लीन होने से **निराकार चारित्र है।** १०२वीं गाथा में कहा यह। १०२ गाथा में पहले कहा न! आहाहा! यह क्या कहा? कि सहज परमात्मा निराकार शुद्ध चैतन्य है। उसमें साकार अर्थात् विकल्प-विकल्प है नहीं। ऐसा जो निराकार प्रभु... आहाहा! उसे पर्याय में निराकार चारित्र होता है। उस निराकार चारित्र से निराकार वस्तु में स्थिर होता है। आहाहा! समझ में आया? इसमें? वस्तु दोनों निराकार ली है।

निश्चयचारित्र निराकार और निराकार तत्त्व। यह निराकार निश्चयचारित्र निराकार तत्त्व में लीन होता है। आहाहा! निराकार ऐसा तत्त्व, इस राग से उसमें लीन नहीं हुआ जा सकता। व्यवहाररत्नत्रय से उसमें लीन नहीं हुआ जा सकता। यह अन्तिम योगफल किया। आहाहा! ऐसा स्वरूप।

मुमुक्षु : निराकार और अभेद एक ही बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही। वस्तु अन्तर एक। निर्विकल्प वस्तु वह निराकार वस्तु। अभेद वस्तु वह निराकार। अभेद वस्तु, उस अभेदभाव से स्थिर होता है। निर्मल निराकार अभेद वस्तु है, वह निराकार पर्याय से उसमें स्थिर होता है। निराकार पर्याय से वहाँ अन्दर अविचल में स्थिर होती है। आहाहा! यह सामायिक की बात चलती है। अभी तो सामायिक में आठ वर्ष की लड़की बैठ जाए। पाँच सामायिक का पंचरंगी करके बैठे। फिर सेठ रुपया, दो रुपया, पताशा, पेड़ा दे, इसलिए लोग अधिक बैठे। अरे भाई! अभी सामायिक किसे कहना, यह सुना नहीं, बापू! आहाहा!

यहाँ तो समता का पिण्ड प्रभु! उस समता द्वारा ज्ञात होता है। दूसरे प्रकार से कहें तो शुद्धोपयोगस्वरूप आत्मा त्रिकाल, वह वर्तमान शुद्धोपयोग द्वारा ज्ञात होता है। आहाहा! निराकार वस्तु भगवान तत्त्व, वह निराकार चारित्र से स्थिर होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : अभेद उपचार और शुद्ध परिणति तथा अभेद अनुपचार में शुद्धोपयोग दोनों एक हुए?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह शुद्धोपयोग है। अभेद जो उपचार है, वह शुद्धोपयोग है। पश्चात् एकाकार हो जाता है, वह अभेद अनुपचार है। कल कहा था। स्वास्थ कहो, साधन कहो, इस सम्बन्ध से उसे शुद्धोपयोग कहा जाता है। साम्य कहो। प्रवचनसार में शुरुआत में आता है, साम्य को अंगीकार करता हूँ। वह साम्य अर्थात् शुद्धोपयोग है। आहाहा! पहले शुरुआत में आता है। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, मैं तो साम्य को अंगीकार करता हूँ, शुद्धोपयोग को अंगीकार करता हूँ। आहाहा! टीका करते हैं तो परम शुद्धोपयोग को अंगीकार करता हूँ और परम उसमें डाला है। आचार। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार (चारित्राचार) इत्यादि। आहाहा!

शुद्धोपयोग कहो, समता कहो, वीतरागता कहो, पर्याय की द्रव्य की ओर एकता कहो, यह सब एक अर्थ में है। यह शुद्धोपयोग और समता की यह सब टीकाएँ हैं। आहाहा! उसका यह सब विवरण और विवेचन है। आहाहा! समता। पुण्य परिणाम दया, दान है, वह विषमता है। वह इसका स्वभाव नहीं है; इसलिए उससे यह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। यह बड़ा विवाद अभी बाधक है। दिगम्बर सम्प्रदाय को बाधक है। व्यवहार शुभराग है, वह शुभराग इसकी चीज़ में नहीं है। इसकी चीज़ में नहीं है, उससे यह चीज़

प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। इसकी चीज़ में तो वीतरागता है। शुद्धोपयोग भरा है, तो उस शुद्धोपयोग से प्राप्त होता है। वीतरागभाव वीतरागपर्याय से प्राप्त होता है परन्तु अकषायभावस्वरूप भगवान अकषाय परिणाम से प्राप्त होता है, सकषायपरिणाम से प्राप्त नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : घड़ीक में कहते हो कि भेद उपचार से अभेद उपचार में जाते हैं फिर...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अभेद अनुपचार वह वस्तु हुई। उसमें द्रव्य और पर्याय दो भेद रहे न। दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय और आत्मा - ऐसे दो भेद रहे। समयसार की १६वीं गाथा में कहा न? '**दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं**' साधु को तीन सेवन करना, कि ऐसा कैसे कहा? कि भाई! लोग पर्याय से समझते हैं, इसलिए पर्याय से बात की है। पर्याय, वह कौन? निश्चय, हों! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह निश्चय वह। बाकी '**ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो**' तीन नहीं परन्तु एक ही आत्मा। आहाहा!

मुमुक्षु : वहाँ तीन भेद को मेचक कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : मेचक कहो या भेद कहो, मैल कहो या व्यवहार कहो। यह १६वीं गाथा में कहा है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद करना, वह मेचक - मैल है। मैल कहने की पद्धति है। ऐसा लिखा है। आहाहा! कठिन काम है। एक-एक बोले...

हेय-उपादेय कहना वह व्यवहार है। अकेला भगवान शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द घन का आश्रय लेना, वही वस्तु। चैतन्य चमत्कार अनन्त गुण की बोरी, अनन्त गुण की बोरी। यह तुम्हारे चावल की बोरियाँ होती हैं न? वे चावल अलग और बोरी अलग। यह तो अनन्त गुण का गुणी। आहाहा! अनन्त गुण से भरपूर गुणी, परन्तु उन चावल की बोरी अलग। उसमें गुण और गुणी अलग नहीं है। यह दोनों के प्रदेश एक हैं। पर्याय के प्रदेश अलग कहे जाते हैं, गुण और गुणी के नहीं। आहाहा! अन्तिम क्या कहा?

इस प्रकार त्रिविध सामायिक को (-चारित्र को) उत्तरोत्तर... व्यवहार छोड़कर निश्चय, निश्चय छोड़कर अभेद अनुपचार। ऐसे **स्वीकृत (अंगीकृत) करने से सहज परम तत्त्व में...** स्वभाविक भगवान आत्मा में **अविचल स्थितिरूप...** न फिरे, ऐसी

स्थितिरूप **सहज निश्चयचारित्र होता है...** इसका स्पष्टीकरण किया। लाइन की अर्थात् इसका अर्थ **कि जो (निश्चयचारित्र) निराकार तत्त्व में लीन होने से...** इसे निश्चयचारित्र क्यों कहा ? कि **निराकार तत्त्व में लीन होने से निराकार चारित्र है।** निराकार चारित्र में वस्तु है वस्तु, उसमें **लीन होने से निराकार चारित्र कहते है।** उसे विकल्प नहीं है, राग नहीं है, भेद नहीं है। आहाहा! वह चारित्र मुक्ति का कारण है। दूसरा चारित्र, पंच महाव्रत और वस्त्र छोड़ना, नग्न हुए, इसलिए चारित्र हो गया... (ऐसा नहीं)। आहाहा!

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-११४, श्लोक-१३९, गाथा-१०४, शनिवार, पौष शुक्ल ३, दिनांक २२-१२-१९७९

नियमसार। गाथा का अन्तिम भाग है। १०३ गाथा है न, उसका....

इसी प्रकार श्री प्रवचनसार की (अमृतचन्द्राचार्यदेवकृत तत्त्वदीपिका नामक) टीका में (१२वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:— वहाँ आया है।

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि,
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षु-रधिरोहतु मोक्षमार्गं,
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य।।

चरण द्रव्यानुसार होता है... प्रत्याख्यान का अधिकार है न ? पच्चखाण का अधिकार है। पच्चखाण है, वह चारित्र है और चारित्र जो है, वह स्वरूप जो चैतन्य अनन्त बल का धनी; जिसमें अपने अनन्त गुण हैं, उसका जिसे अनन्त विश्वास है। श्रद्धा नाम का गुण। शक्ति में समकित और चारित्र नहीं लिया है, ४७ शक्ति। परन्तु सुखशक्ति में वे आ जाते हैं। ४७ शक्तियाँ है न ? उसमें सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनों आ जाते हैं। इसलिए यहाँ ऐसा कहना है कि आत्मा में अनन्त बल है। राग से पराजित हो जाए, ऐसा वह नहीं है। आहाहा! उसे विश्वास नहीं है। अनन्त-अनन्त बल, अनन्त ज्ञान का बल, अनन्त दर्शन का बल, अनन्त श्रद्धा का बल, विश्वास का बल, अनन्त चारित्र का बल, अनन्त वीर्य का बल—

ऐसे अनन्त बलवाला मैं आत्मा हूँ—ऐसा भगवान कहते हैं। आत्मा कैसा होता है, इसकी खबर भी नहीं होती। जय नारायण! आहाहा! समझ में आया?

आत्मा में अनन्त विश्वास-श्रद्धा नाम का एक गुण है, कि जो अनन्त विश्वास है। अनन्त गुण हैं, एक-एक गुण अनन्त है - शक्तिवन्त है। इन सब गुणों का जिसमें अनन्त-अनन्त विश्वास और अनन्त-अनन्त बल है। आहाहा! यह आत्मा **चरण द्रव्यानुसार होता है...** अर्थात् क्या कहते हैं? प्रत्याख्यान का अधिकार है न? उसका चरण अर्थात् निर्मल परिणति। पाँचवें या छठवें गुणस्थान में जो निर्मल परिणति होती है, उसके प्रमाण में द्रव्यानुसारी होता है। द्रव्यानुसार जो निर्मल परिणति है, उसके प्रमाण में उसे राग की मन्दता का चरण होता है। फिर से।

चरण अर्थात् राग की मन्दता की योग्यता। छठवें गुणस्थान में नग्न-दिगम्बर मुनि हों तो उनका चरण अर्थात् राग की मन्दता, पंच महाव्रत की, कि वस्त्र नहीं प्रयोग करना, वस्त्र नहीं लेना, ऐसी जो मन्दता वह उसके अनुसार पवित्रता की परिणति है। आहाहा! ऐसा है। यह **चरण द्रव्यानुसार...** अर्थात् द्रव्य नहीं लेना। द्रव्य तो त्रिकाली है। अनन्त बल का धनी भगवान अनन्त विश्वास, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त वीर्य। एक-एक वीर्य अनन्त-अनन्त गुण में व्याप्त है। तो अनन्त ज्ञान वीर्य, अनन्त दर्शन वीर्य, अनन्त सुख वीर्य, अनन्त शान्ति वीर्य, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे अनुसरण कर जो परिणति होती है, उसके प्रमाण में चरण होता है। यहाँ भाषा चरण से ली है।

मुनि को छठवें (गुणस्थान) में राग की मन्दता की योग्यता इतनी ही होती है कि पंच महाव्रत (होते हैं), उसे वस्त्र लूँ या उसके लिये बनाया हुआ आहार लूँ, ऐसा चरण अर्थात् राग की मन्दता से यह विशेष बात उसे नहीं होती। समझ में आया? आहाहा! चरण अर्थात् राग की मन्दता, उसकी क्रिया, उसका पवित्र जो द्रव्य परिणमित हुआ है, उस पवित्रता के प्रमाण में राग की मन्दता होती है। मुनिपना विशेष प्रगट हुआ और चरण में तीव्र राग हो, वस्त्र ग्रहण का, पात्र ग्रहण का, उसके लिये बनाया हुआ आहार लेने का (राग हो) तो ऐसा चरण उसे नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? यह प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान की परिणति ऐसी होती है कि उसे अनुसरण कर राग की मन्दता होती है, पहला यहाँ से लिया है। कि राग की मन्दता इतनी उस भूमिका में होती है कि जिससे

द्रव्य के अनुसार जो शुद्धपरिणति प्रगट हुई है, उसके प्रमाण में राग की मन्दता होती है। समझ में आया? आहाहा! प्रवचनसार, ज्ञेय अधिकार की अन्तिम गाथा है, अन्तिम गाथा है। सूक्ष्म बात है, भाई! प्रत्याख्यान उसे कहते हैं कि जिसे राग की मन्दता... यहाँ जिसे प्रत्याख्यान हुआ है, आनन्दस्वरूप में रमता है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द में रमता है, वह रमता है, उसे प्रत्याख्यान। वह प्रत्याख्यान चरणानुसार होता है। उसके प्रमाण में उसकी रग की मन्दता इतनी होती है। राग की मन्दता के अनुसार, उसके कारण नहीं। आहाहा!

प्रत्याख्यान उसे होता है कि जिसे राग की मन्दता जो छठवें गुणस्थान की भूमिका में होती है, उस भूमिका के अनुसार यहाँ शुद्ध परिणति होती है। यह पहला अर्थ है। कहो, समझ में आया इसमें? कोई कहता है कि हमें शुद्धपरिणति प्रत्याख्यान है, परन्तु हम वस्त्र और पात्र प्रयोग करते हैं तो वह मिथ्यादृष्टि है। उसे चरण द्रव्यानुसारी नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! कठिन है। लोगों को कहाँ पड़ी है। पाप के कारण पूरे दिन कहाँ निवृत्त होता है? धन्धे के पाप, स्त्री, पुत्र को सम्हालना। दो-पाँच करोड़ रुपये इकट्ठे हो जाएँ, पाप में खर्च करे और उसकी महिमा हो जाए। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि पच्चखाण की दशा अर्थात् चारित्र की दशा ऐसी होती है कि **चरण द्रव्यानुसार होता है...** यह जितनी शुद्ध परिणति प्रगट हुई हो, उसके प्रमाण में चरण अर्थात् राग की मन्दता होती है। है न? पहला चरण है, वह चरणानुयोग का चरण है और दूसरा द्रव्यानुयोग। वह द्रव्य की शुद्धि है। द्रव्य अनुसार ऐसा नहीं। द्रव्य को अनुसरण कर होनेवाली परिणति, वह यहाँ द्रव्यानुसार लेना है। समझ में आया? आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म है, बापू! जन्म-मरण कर-करके कचूमर निकल गया है। अनन्त बार जन्मा है। करोड़पति, अरबोंपति अनन्त बार हुआ और मरकर वापस सूकर में, कौवे, कुत्ते में अवतरित हुआ और फिर नरक और निगोद की चार गतियों में भटका है। आहाहा! चिमनभाई! यहाँ तो मानो पाँच-पचास लाख मिले, वहाँ तो ओहोहो! मानो हम क्या बढ़ गये और क्या? पाप में बढ़ गया है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि बढ़ा हुआ हो, उसका चरण उसे ऐसा होता है कि राग की मन्दता के प्रमाण में शुद्ध की परिणति बढ़ी हुई होती है। चन्दुभाई! समझ में आया? ऐसा सीधा अर्थ कठिन पड़ता है। वस्तु ऐसी है। आहाहा! यह शरीर, वाणी, मन तो जड़ है, यह तो

मिट्टी, धूल है। यह कहीं आत्मा नहीं है। अन्दर कर्म है, वह जड़-धूल है। अन्दर कोई दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम होते हैं, वह पुण्य है। हिंसा, झूठ, कमाना, भोगना, दुकान का धन्धा, वह पाप है। परन्तु उन पुण्य और पाप से भिन्न अन्दर आत्मा है। आहाहा! उस आत्मा का **चरण द्रव्यानुसार होता है...** वह आत्मा का चरण अर्थात् राग की मन्दता, द्रव्य की शुद्धि की परिणति प्रमाण होती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : अन्तर में चौथा गुणस्थान हो और बाहर में २८ मूलगुण होवे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तब द्रव्यलिंगी कहलाता है। उसे द्रव्यलिंग कहते हैं। द्रव्यलिंग के तीन प्रकार हैं। एक तो बाहर से साधु की क्रिया करता हो। वह साधु कौन? नग्न-दिगम्बर हो वह। वस्त्रवाले साधु को जैनदर्शन में नहीं गिना है। वह साधु नहीं है। यहाँ तो वस्त्ररहित होकर, नग्नपना होकर पंच महाव्रत पालन करता हो, परन्तु दृष्टि मिथ्यात्व हो। वह राग की क्रिया है, धर्म है ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी है। एक बात। दूसरा जिसे आत्मज्ञान है कि मैं शुद्ध हूँ। यह राग की मन्दता बन्ध का कारण है। पंच महाव्रत के परिणाम भी बन्ध का कारण है ऐसा जानता है परन्तु क्रिया साधुपने की, व्यवहार की करता है। अन्दर में छठवाँ गुणस्थान नहीं है। अन्दर में समकित है और बाहर में क्रिया बराबर चरण द्रव्यानुसार जो यहाँ कहते हैं, उस प्रकार करता है, उसे भी द्रव्यलिंगी कहा जाता है। और तीसरा, अन्दर में पाँचवाँ गुणस्थान हो, क्रिया सब साधु की हो। नग्न-दिगम्बर, वस्त्ररहित, जंगल में बसे। ऐसा आचरण हो परन्तु अन्दर पाँचवाँ गुणस्थान हो, उसे भी द्रव्यलिंगी कहते हैं। आहाहा!

भावलिंगी तो उसे कहते हैं, चैतन्य भगवान अन्दर अनन्त आनन्द का नाथ प्रभु अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द, अनन्त सुख और अनन्त शान्ति, अनन्त जिसका बल है। जिसके विश्वास से अनन्त बल प्रगट होता है और अनन्त बलवाला है, ऐसा उसका विश्वास आता है। उस अनन्त बल के कारण वह राग के आधीन नहीं होता। आहाहा! सम्यग्दर्शन-अभी तो धर्म की पहली दृष्टि। वह यहाँ कहाँ है? अभी तो सब बातें हैं। आहाहा! अन्तर की आनन्द की रमणता में, सम्यग्दर्शन की क्रीड़ा अन्दर में होती है, स्वरूप का भान होकर (होती है), तथापि क्रिया में तीव्र राग की मन्दता उसके प्रमाण में होती है तो उसके प्रमाण में राग की मन्दता विषय आदि हों, तथापि उसकी राग की मन्दता

प्रमाण द्रव्य की शुद्धि होती है। उसके द्रव्य की शुद्धि पाँचवें और छठवें गुणस्थान जैसी नहीं होती। तीव्र विषय, भोग, वासना आदि होते हैं, आर्त्त, रौद्रध्यान आदि होते हैं, तो ऐसा चरण जहाँ होता है, वहाँ आगे अन्दर में शुद्धि की प्रवृत्ति जैसी ऊँची चाहिए, वैसी नहीं होती। निचली भूमिका प्रमाण वह शुद्धि होती है। उस शुभ के कारण शुद्धि होती है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! दुनिया से सब उल्टा है। दुनिया उल्टी है तो उससे यह उल्टा है। उल्टे घड़े में उल्टा... पड़े। उल्टा घड़ा रखे तो सुल्टा बैठता नहीं। उल्टे पर उल्टा ही बैठता है। इसी प्रकार जिसने पहले से आत्मदर्शन क्या चीज़ है? वह रागरहित अन्दर निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य की दृष्टि क्या है? इसकी खबर बिना उल्टे तर्क करे, उसके सब तर्क एक-एक उल्टे ही होते हैं। आहाहा! समझ में आया? उल्टे तर्क का चरण है, वहाँ सामने मिथ्यात्व है और राग की मन्दता का प्रमाण पाँचवाँ और छठा गुणस्थान प्रमाण में हो तो अन्दर में शुद्ध परिणति की प्रत्याख्यान दशा उसके प्रमाण में होती है। आहाहा! यह एक अर्थ हुआ।

चरण द्रव्यानुसार होता है... राग की मन्दता का भाव, द्रव्य की शुद्धि के प्रमाण में होता है। यह उसका अर्थ। देवीलालजी! **और द्रव्य चरणानुसार होता है...** और द्रव्य की शुद्ध परिणति भी राग की मन्दता के प्रमाण में शुद्ध उसकी परिणति होती है। आहाहा! यहाँ शुद्ध परिणति विशेष हो और यहाँ राग की तीव्रता हो, ऐसा नहीं होता। द्रव्य अर्थात् शुद्ध परिणति, चरणानुसार और राग की मन्दतानुसार होती है। समझ में आया? यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की वाणी है। अभी तो सब वाणी-बानी लोप हो गयी है। अभी तो दया पालो, व्रत करो, तप करो, अपवास करो, सूख जाए वैसा करो। तत्त्व की तो खबर भी नहीं होती। आहाहा! यह वीतराग का वचन है। यह मुनि आढ़तिया होकर जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा!

द्रव्य अर्थात् शुद्ध परिणति। दूसरा बोल। द्रव्य अर्थात् शुद्ध परिणति लेना। शुद्ध परिणति चौथे की, पाँचवें की, छठवें की, उसके प्रमाण में राग की मन्दता होती है। समकिती की द्रव्य परिणति थोड़ी शुद्ध है, तो उसे राग चरण में कोई कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को माने, ऐसा चरण हो - यह नहीं हो सकता। समझ में आया? इसी प्रकार सच्चा श्रावक हो... यह तो सब वाड़ा के श्रावक हैं। यह तो एक भी सच्चा श्रावक नहीं है।

अन्तर... शान्तिभाई! यह कठिन पड़ेगा यह। यह तो सबको देखा है न? इस शरीर को ९० वर्ष हुए। पहले से ७२ से यह लगाया है। अठारह वर्ष की उम्र से दुकान पर। पालेज में दुकान है न? भरुच और बड़ोदरा के बीच पालेज में दुकान है। वहाँ दुकान में नौ वर्ष निकाले हैं। वहाँ मैं तो शास्त्र पढ़ता था। बहत्तर वर्ष पहले। बहत्तर से अभी तक शास्त्र वांचन। अभी ९० वर्ष हुए।

मुमुक्षु : तब श्वेताम्बर के शास्त्र पढ़ते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्वेताम्बर शास्त्र पढ़ते थे। स्थानकवासी थे। पिताजी स्थानकवासी थे। पिताजी ढूँढिया थे। उसमें जन्म हुआ। वह पढ़ते थे परन्तु फिर अन्दर से पूर्व भव का आया। भगवान महाविदेह में प्रभु विराजते हैं, वहाँ का आया। है?

द्रव्य की शुद्ध परिणति **चरणानुसार होती है...** द्रव्य परिणति शुद्ध बहुत हो और राग की तीव्रता हो, जैसे की छठवें गुणस्थान में शुद्ध परिणति बहुत है और उसे रौद्रध्यान हो, ऐसा नहीं हो सकता। पाँचवें गुणस्थान में शुद्ध परिणति हो और उसे आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान हो सकता है। आहाहा! ऐसी बातें समझना (कठिन पड़ती है)। यह धर्म कथा। बापू! वस्तु कोई अलग है। जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ का कथन कोई अलग प्रकार का है।

द्रव्य चरणानुसार होता है... द्रव्य की शुद्ध परिणति राग की मन्दता प्रकार जितने चाहिए, उस गुणस्थान में उसके प्रमाण में होता है। आहाहा! कहो, समझ में आया या नहीं? सुमनभाई! पारस्परिक दूसरा। चिमनभाई! समझ में आया या नहीं इसमें? उस लोहे में झट समझ में आता है। एकदम पैसे की कमाई हो जाती है। बारह महीने में पचास हजार, लाख की आमदनी हो तो ऐई.. ऐसे मानो.. आहाहा! बड़े सेठिया को मानो यह क्या है? यहाँ तो प्रभु कहते हैं कि आत्मा का जो ज्ञान और श्रद्धा-दृष्टि नहीं है, वह सब दरिद्र, भिखारी है। जिसे राग के विकल्प से, दया, दान के विकल्प राग से भिन्न आत्मा, उस आत्मा की कीमत नहीं, आत्मा की महिमा नहीं, आत्मा की महिमा और प्रतीति और अनुभव नहीं, वे सब करोड़पति दरिद्री हैं। दरिद्र हैं... भिखारी हैं। भगवान को कुछ जगत की पड़ी नहीं कि करोड़पति ऐसे होंगे।

द्रव्य चरणानुसार होता है... शुद्ध परिणति के प्रमाण में चरण के अनुसार होता है। यहाँ वापस राग की जैसी मन्दता हो, उसके प्रमाण में द्रव्य की शुद्धि होती है। उससे नहीं।

यह तो मात्र ज्ञान कराते हैं। आहाहा! अन्दर है या नहीं? **इस प्रकार वे दोनों परस्पर अपेक्षासहित हैं;...** कौन दो? एक तो भगवान आत्मा शुद्ध रागरहित, विकल्परहित, निर्मलानन्द प्रभु है। उसका अनुभव और उसके आनन्द का स्वाद होता है। जघन्य श्रेणी का धर्मी, पहली श्रेणी का धर्मी, उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद होता है। उसके बिना वह धर्मी नहीं हो सकता। आहाहा! उसके स्वाद के प्रमाण में उसे राग की तीव्रता इतनी अधिक नहीं होती कि जिससे कुगुरु, कुदेव को माने। समझ में आया? आहाहा!

इस प्रकार वे दोनों परस्पर अपेक्षासहित हैं;... दोनों परस्पर शुद्ध परिणति और शुभभाव, आहाहा! **इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय करके...** इसलिए या तो शुद्ध की परिणति का ज्ञान करके... आश्रय अर्थात् यहाँ ज्ञान लेना। समझ में आया? या तो द्रव्य अर्थात् शुद्ध परिणति। वीतरागी परिणति अन्दर दया, दान, भक्ति के परिणाम, वे भी राग हैं, विकार हैं; वह धर्म नहीं है। उससे रहित आत्मा की शुद्ध परिणति का आश्रय करके अर्थात् उसका ज्ञान करके। यह शुद्ध परिणति ऐसी है, ऐसा उसका ज्ञान करके और या तो चरण का आश्रय करके। राग की मन्दता अनुसार ऐसा ही होता है, उसका ज्ञान करके... आहाहा! अब यहाँ शब्द ऐसे हैं और अर्थ ऐसा है, लो! चरण का आश्रय करके। चरण का आश्रय करना है?

शुद्धस्वभाव भगवान आत्मा, ऐसे परमानन्द की मूर्ति प्रभु का ज्ञान करके कि उसे ऐसी परिणति के समय राग की मन्दता ऐसी ही होती है और या राग की मन्दता का ज्ञान करके, राग की मन्दता हो, वहाँ शुद्ध परिणति ऐसी होती है, इस प्रकार दोनों कहो **मुमुक्षु (ज्ञानी, मुनि) मोक्षमार्ग में आरोहण करो।** आहाहा! कहो। यह बहियों में आवे नहीं। सुनने जाए, वहाँ आवे नहीं। एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिया, चौइन्द्रिया, मिच्छामि दुक्कडम करो तत्सूत्रि करणेणम्। वह तो सब राग की क्रिया है। ऐसा तो अनन्त बार किया है। आहाहा! चिमनभाई! मैंने इससे पहले यह किया था। करते थे न! दुकान पर हम करते थे। सामायिक, प्रतिक्रमण, रात्रिभोजनत्याग। रात्रिभोजनत्याग तो ६५ के वर्ष से। ६५ के वर्ष से आजीवन चतुर्विध रात्रि आहार का त्याग है। पानी की बूँद नहीं। ६५ के वर्ष से। दीक्षा ७० के वर्ष में। दुकान पर थे, वहाँ सब वे लोग जीमते, तुम जानो, कहा – मैं सूर्यास्त से पहले भोजन कर लूँगा। दुकान में २५-३० लोग। दो दुकानें थी। आहाहा! अभ्यास तो वहाँ भी करता था। भागीदार था। भागीदार बैठा हो तो मैं पढ़ता। वह बाहर गया हो तो मुझे

दुकान में बैठना पड़ता। यह तो ६४-६५-६६ के वर्ष की बातें हैं। ६८ के वर्ष में दुकान छोड़ दी। ६८ के वर्ष में वैशाख में। दुकान चलती है। बड़ी दुकान है। चालीस लाख रुपये हैं। चार लाख की आमदनी है। अभी एक वर्ष की चार लाख की आमदनी है। चालीस लाख रुपये हैं। धूल-धूल।

मुमुक्षु : पहले महिमा करने के पश्चात् बाद में धूल कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : महिमा कहाँ की ? वह तो अंक बताया। मैं लड़कों को कहता हूँ। मेरे बुआ के लड़के भागीदार थे न। वे तो सब मर गये। यहाँ ९० वर्ष हुए। ६७ वर्ष तो दीक्षा ली थी उसे हुए। ६० और ७। वे लड़के हैं। बुआ के लड़के भागीदार थे, उनके सब लड़के नरम हैं। सबको कहते हैं कि सब यह तुमको पैसा है, दुकान घर की है... आहाहा! सौ गाँव में उगाही आठ-आठ लाख की डालते हैं। बड़ा व्यापार है। आठ लाख की तो उगाही डालते हैं। उसमें मर जाओगे कहा, हों! ध्यान रखना। लड़के नरम हैं। मनसुख और तीनों लड़के। आहाहा!

(ज्ञानी, मुनि)... यह गाथा तो कठिन आयी। इसमें शब्द ऐसे हैं न ? इसलिए आश्रय शब्द ऐसा, हों! लेना। एक तो द्रव्यानुसार में द्रव्य को शुद्ध परिणति लेना। द्रव्य नहीं लेना और चरणानुसार फिर परस्पर अपेक्षा सहित है। अब या तो द्रव्य का आश्रय अर्थात् वहाँ द्रव्य अर्थात् शुद्ध परिणति का ज्ञान। या इतनी शुद्ध परिणति यहाँ है, तो शुभराग ऐसा ही होना चाहिए। पश्चात् चरण का आश्रय करके। राग की मन्दता इतनी है तो शुद्ध परिणति निर्मल इतनी ही होनी चाहिए। आहाहा! ऐसी बातें हैं। वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजमान हैं। सीमन्धरस्वामी भगवान विराजते हैं, उनकी यह वाणी है। आहाहा! अभी तो चलती नहीं। अभी तो पूरा सब उल्टा चलता है। आहाहा!

इस प्रकार **मोक्षमार्ग में आरोहण करो।** मोक्षमार्ग में... पाठ में है ? '**मुमुक्षु-रधिरोहतु**' आहाहा! चौथे गुणस्थान में शुद्ध परिणति होती है, उसके प्रमाण में उसे युद्ध का भी भाव होता है। पाँचवें गुणस्थान में होवे तो उसे अमुक प्रमाण के राग की मन्दता होती है, छठवें गुणस्थान में सच्चे मुनि हों तो उन्हें मात्र आहार-पानी निर्दोष लेना, उनके लिये बनाया हुआ नहीं। इतने विकल्प की हद होती है। वस्त्र-पात्र लेना या यह चीज़ मुनि को हो नहीं सकती, वहाँ मुनिपना नहीं रहता। समझ में आया ?

श्लोक-१३९

और (इस १०३ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

(अनुष्टुप्)

चित्तत्त्वभावनासक्तमतयो यतयो यमम्।
यतन्ते यातनाशील-यम-नाशनकारणम्।।१३९।।

(हरिगीतिका)

निज आत्मा की भावना में लीन जिनकी बुद्धि है।
वे यति यम में यत्न करते दुःखद यम-नाशक अहो॥१३९॥

[श्लोकार्थः] जिनकी बुद्धि चैतन्यतत्त्व की भावना में आसक्त (रत, लीन) है, ऐसे यति यम में प्रयत्नशील रहते हैं (अर्थात् संयम में सावधान रहते हैं)—कि जो यम (-संयम) यातनाशील यम के (-दुःखमय मरण के) नाश का कारण है॥१३९॥

श्लोक -१३९ पर प्रवचन

और (इस १०३ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):— वह आधार था।

चित्तत्त्वभावनासक्तमतयो यतयो यमम्।
यतन्ते यातनाशील-यम-नाशनकारणम्।।१३९।।

आहाहा! **जिनकी बुद्धि चैतन्यतत्त्व की भावना में आसक्त (रत, लीन) है...** आत्मा है न? अस्ति है न? सत्ता है न? तो सत्ता है तो स्वभाव बिना अकेली सत्ता होगी? शक्कर है और मिठास स्वभाव न हो, ऐसा कहीं होगा? इसी प्रकार आत्मा है, उसमें अनन्त स्वभाव है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द ऐसा अनन्त स्वभाव है। उसमें चैतन्यस्वभाव मुख्य है। आहाहा! यह (शरीर) तो हड्डियाँ, चमड़ा है। अन्दर पुण्य-पाप

के भाव उठते हैं, वह तो विकार है। नव तत्त्व में वह विकार तो भिन्न तत्त्व है, आत्मा भिन्न तत्त्व है। आहाहा!

चैतन्यतत्त्व की भावना में... आहाहा! जानने-देखनेवाला ऐसा मैं। उसमें जिसकी बुद्धि आसक्त है। जानने-देखनेवाला मैं। मैं किसी का करनेवाला नहीं और मैं किसी से लेनेवाला नहीं। आहाहा! इसमें पिता-पुत्र भी नहीं होता, ऐसा कहते हैं। ऐई! सुमनभाई! पीछे प्रश्न चलता है। आकर पैर तो दाबते हैं सुमनभाई। आठ हजार का वेतन है। छह थे, उसमें से आठ हजार महीने किये हैं। इनका लड़का है। आकर पैर दबाता है। पैर दबावे, वह तो जड़ है, मिट्टी है। मिट्टी को क्या करे?

मुमुक्षु : उसमें दिन क्या वले

पूज्य गुरुदेवश्री : दिन क्या वले? धूल। आहाहा! बेचारा वह लड़का मर गया नहीं? उसकी माँ की सेवा करके मर गया, भाई! वह लड़का मनसुख हमेशा उसकी माँ के पैर दबाता। पैंतीस वर्ष की उम्र। अब बेचारे को क्या हुआ? कौन जाने? मंजिल, चौथी मंजिल। मर गया। पहले हेमरेज हो गया और फिर देह छूट गयी। कल सवेरे वे पैसे नहीं निकाले थे? आज-आज। उसके पीछे ५५५५५ निकाले थे। ५५५५५। पच्चीस हजार दूसरे गुप्त निकालनेवाले हैं। पिचहत्तर लाख रुपये उसके लड़के के नाम से। स्त्री नहीं है। विवाह किया परन्तु वह स्त्री ठीक निकली नहीं तो छोड़ दी। यह दशा। आहाहा! यहाँ आता था, सुनता था, बैठता था। मस्तिष्क में जरा अस्थिरता थी। पढतु-मुखतु हो गया। पाँच भाई। उसमें अन्तिम स्थिति ऐसी होने की। आहाहा! ऐसे अनन्त मरण किये हैं। ऐसे इस जीव ने अनन्त मरण किये हैं, प्रभु! आहाहा! अनन्त-अनन्त काल हुआ, ऐसे भटकते-भटकते। ऐसे भूतकाल में देखे तो भव बिना का कभी रहा है? गत काल में ऐसे देखो तो भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... कोई कुत्ते का, कौवे का, नरक का, निगोद का, सूकर का, ऐसे अनन्त भव किये हैं। आहाहा! अभी मनुष्यपना आया, वहाँ सब भूल गया। वह वहाँ रहा और यह यहाँ। मेरा होवे वह ठीक। भविष्य के लिये कहाँ जाना है तू तो अनादि-अनन्त है। शरीर तो नाश होगा, यह तो राख होगी। फिर आत्मा का क्या?

मुमुक्षु : ऐसा विचार करने का समय कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : विचार करने का समय नहीं। ऐई! सुमनभाई! महीने में आठ हजार

का वेतन है न? वेतन तो पन्द्रह हजार के वेतनवाले बहुत पड़े हैं। मुम्बई में हैं। अपने दलीचन्दभाई का एक लड़का नहीं? मोरबीवाला। एक को पन्द्रह हजार और एक को दस हजार वेतन। वहाँ वह टाटा है न? तीनों भाई का चलता है न। एक बार वहाँ गये थे। उसमें क्या?

इस आत्मा को जाने बिना सब व्यर्थ है। एक बिना शून्य निकलनेवाले हैं। लाख शून्य किये हों परन्तु एक नहीं, तो संख्या में नहीं आते। इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु, जानन-देखन आनन्दकन्द प्रभु की दृष्टि और अनुभव नहीं, तब तक सब व्यर्थ है। उसके व्रत, तप, भक्ति, पूजा वह सब रण में शोर मचाने जैसा है। समझ में आया? आहाहा! यह यहाँ कहते हैं, **जिनकी बुद्धि चैतन्यतत्त्व की भावना...** भावना शब्द से एकाग्रता। मैं ज्ञायकस्वरूप तो जानने-देखनेवाला आनन्द। मेरा ज्ञान अनन्त, मेरा दर्शन अनन्त, मेरा वीर्य अनन्त, मैं अनन्त विश्वासु व्यक्ति हूँ। अनन्त का विश्वास मैं हूँ। आहाहा! बाहर की संख्या नहीं। आत्मा के अनन्त-अनन्त गुण भगवान सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव ने कहे हैं। उन अनन्त गुण का विश्वासु मैं हूँ ऐसी **भावना में आसक्त...** आहाहा!

ऐसे यति... यति अर्थात् मुनि। वे यति नहीं, हों! यह जतड़ा-जति। यति क्यों कहा? अन्दर आत्मा के आनन्द का यत्न करें, वे यति। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ अन्दर विराजता है। आहाहा! उसे पुण्य और पाप के राग से भिन्न करके स्वरूप का यत्न करे, वह यति है। **ऐसे यति यम में प्रयत्नशील रहते हैं...** यम अर्थात् संयम। आहाहा! अपने स्वरूप में वे प्रयत्नशील हैं। बाह्य क्रियाकाण्ड के आडम्बर से रहित हैं। आहाहा! अन्तर में आनन्द का नाथ प्रभु, सच्चिदानन्द अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। जिसमें अनन्त बल है। उस अनन्त बल के कारण वह जिसे अनन्त बल का अनन्त विश्वास आया है... आहाहा! अनन्त गुण और उसके अनन्त गुण में अनन्त बल है, ऐसा विश्वास आया... आहाहा! वह अन्दर में प्रयत्नशील है। समझ में आया? सामने है या नहीं? यह कहीं यहाँ का नहीं है। सोनगढ़ का नहीं है। आहाहा!

प्रयत्नशील... भाषा कैसी है? **यति यम में प्रयत्नशील रहते हैं...** एक तो यति और यम में अर्थात् संयम में। प्रयत्नशील रहते हैं। **(अर्थात् संयम में सावधान रहते हैं)—कि जो यम...** आहाहा! शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा अन्दर आनन्द के नाथ में मुनि रमते हैं, मुनि उन्हें कहते हैं। वह **यम (-संयम) यातनाशील यम के (-दुःखमय मरण के) नाश का**

कारण है... भाषा देखो! वह यम अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान का संयम अन्दर। संयम अर्थात् सम्यक् प्रकार से समकितसहित यम। समकितरहित सब व्यर्थ। इसलिए संयम। सम+यम। सम्यक् दर्शन अर्थात् आत्मा का अनुभव। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद। उसके सहित जो अन्दर यत्न में पड़े हैं, वह यम। भाषा यत्न की प्रयोग की है।

यातनाशील यम... यातनाशील यम। यह यम यातनाशील मरण के **नाश का कारण है।** आहाहा! ऐसी बातें, लो! कैसी है? घर में पूछे कि क्या सुना? कुछ कहते थे कौन जाने। ऐसा... ऐसा... ऐसा... वह कथा होवे तो याद भी रहे। प्रभु! यह कथा, धर्म कथा है। बाकी सब विकथाएँ हैं। आहाहा! पुण्य से धर्म माने, व्रत से धर्म माने, वह सब विकथाएँ हैं। वह धर्म कथा नहीं। आहाहा! यहाँ कहते हैं **यम (-संयम)...** सम्यग्दर्शनसहित अन्दर स्वरूप में यत्न ऐसा संयम। यम उस यम के **नाश का कारण है।** यम, यम के नाश का कारण है। पहला यम वह संयम। दूसरा यम वह दुःखमय मरण। यम, यम के नाश का कारण है। आहाहा! है या नहीं?

यम... आहाहा! अन्तरस्वरूप आनन्द का नाथ, उसे जगाकर उसमें एकाकार हुआ है, ऐसा यम। यातना, पीड़ा के स्वभाववाला यम। पीड़ा अर्थात् दुःखमय। यातनाशील है न? उसका अर्थ दुःखमय कहा। यातना अर्थात् दुःखरूप स्वभाव, ऐसा जो मरण, उसे यह **यम (-संयम) यातनाशील यम के (-दुःखमय मरण के) नाश का कारण है।** आहाहा! संयम है न? सम, यम। सम्यग्दर्शन। पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव का जिसे अन्दर स्वाद आया है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है। यह तुम्हारे मैसूर के, धूल के स्वाद तो जड़ के हैं, उन्हें कहीं उनका स्वाद नहीं आता। यह रसगुल्ला और मैसूर को क्या कहते हैं तुम्हारे? पतरबेलिया-अरबी के पत्ते के पतरबेलिया। चने के आटे में टुकड़े डालकर बनाते हैं न? दूधपाक और फिर खाते हैं। वह खाता नहीं-आत्मा खा नहीं सकता, वह तो जड़ की क्रिया है। उसमें एक राग करता है, उसे अनुभव करता है। आहाहा! यह राग को अनुभव करता है। खाने की क्रिया यह नहीं कर सकता। आहाहा! पागल को तो पागल जैसा लगे, ऐसा है। आहाहा! खा नहीं सकता। अरे! आत्मा हिल नहीं सकता, आत्मा बोल नहीं सकता। यह तो भाषा जड़ है। आहाहा! ऐसा जो संयम अन्दर। पर का कुछ करना नहीं और अन्दर स्व के यत्न में पड़ा है, ऐसा यम। यातना अर्थात् दुःखरूप स्वभाववाला मरण, उसका यह यम नाश का कारण है। आहाहा! लो, यह गाथा पूरी हुई।

गाथा-१०४

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए।।१०४।।

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मह्यं न केनचित्।
आशां उत्सृज्य नूनं समाधिः प्रतिपद्यते।।१०४।।

इहान्तर्मुखस्य परमतपोधनस्य भावशुद्धिरुक्ता। विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारस्य मम भेद-विज्ञानिष्वज्ञानिषु च समता; मित्रामित्रपरिणतेरभावान्न मे केनचिज्जनेन सह वैरं; सहजवैराग्य परिणतेः न मे काप्याशा विद्यते; परमसमरसीभावसनाथपरमसमाधिं प्रपद्येऽहमिति।

तथा चोक्तं श्री योगीन्द्रदेवैः ह्न

(वसंततिलका)

मुक्त्वालसत्वमधिसत्त्वबलोपपन्नः,
स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वम्।
सज्ज्ञानचक्रमिदमङ्ग गृहाण तूर्ण-
मज्ञान-मन्त्रि-युत-मोह-रिपूपमर्दि।।

तथाहि ह्न

समता मुझे सब जीव प्रति वैर न किसी के प्रति रहा।
मैं छोड़ आशा सर्वतः धारण समाधि कर रहा॥१०४॥

अन्वयार्थ : [सर्वभूतेषु] सर्व जीवों के प्रति [मे] मुझे [साम्यं] समता है, [मह्यं] मुझे [केनचित्] किसी के साथ [वैरं न] बैर नहीं है; [नूनम्] वास्तव में [आशाम् उत्सृज्य] आशा को छोड़कर [समाधिः प्रतिपद्यते] मैं समाधि को प्राप्त करता हूँ।

टीका : यहाँ (इस गाथा में) अन्तर्मुख परम-तपोधन की भावशुद्धि का कथन है।

जिसने समस्त इन्द्रियों के व्यापार को छोड़ा है, ऐसे मुझे भेदविज्ञानियों तथा अज्ञानियों के प्रति समता है; मित्र-अमित्ररूप (मित्ररूप अथवा शत्रुरूप) परिणति के अभाव के कारण मुझे किसी प्राणी के साथ बैर नहीं है; सहज वैराग्यपरिणति के कारण मुझे कोई भी आशा नहीं वर्तती; परम समरसीभावसंयुक्त परम समाधि का मैं आश्रय करता हूँ (अर्थात् परम समाधि को प्राप्त करता हूँ)।

इसी प्रकार श्री योगीन्द्रदेव ने (अमृताशीति में २१ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि: —

(हरिगीतिका)

हे भाई! बल सम्पन्न स्वाभाविक अहो आलस्य तज।
उत्कृष्ट समतामयी कुलदेवी सदा स्मरण कर॥
अज्ञान मन्त्री सहित शत्रु मोह नृप नाशक सदा।
चक्र सम्यग्ज्ञानरूपी को त्वरित तू ग्रहण कर॥

[श्लोकार्थः] हे भाई! स्वाभाविक बल सम्पन्न ऐसा तू आलस्य छोड़कर, उत्कृष्ट समतारूपी कुलदेवी का स्मरण करके, अज्ञानमन्त्री सहित मोहशत्रु का नाश करनेवाले इस सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को शीघ्र ग्रहण कर।

गाथा - १०४ पर प्रवचन

गाथा १०४।

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए।।१०४।।

'**खामेंमि सव्वे जीवा**' आता है न?

समता मुझे सब जीव प्रति वैर न किसी के प्रति रहा।
मैं छोड़ आशा सर्वतः धारण समाधि कर रहा॥१०४॥

यहाँ (इस गाथा में) अन्तर्मुख परम-तपोधन की भावशुद्धि का कथन है। जो साधु अन्तर्मुख भगवान अन्तर में पूरा स्थित है, उस पर जिसकी दृष्टि है। अन्तर्मुख... आहाहा! वह पुण्य और पाप के भाव से दृष्टि उठ गयी है। शरीर से तो दृष्टि उठ गयी है। वह तो जड़ मिट्टी अजीव है, श्मशान की राख है। आहाहा! जिसे **अन्तर्मुख परम-तपोधन की भावशुद्धि का कथन...** अन्तर्मुख। बहिर्मुख में पुण्य और पाप तथा उनके निमित्त। यह तो अन्तर्मुख प्रभु स्वयं विराजमान है। भगवान स्वयं अन्दर परमेश्वर है। परमेश्वर न होवे तो परमेश्वर पर्याय में आयेगा कहाँ से? बाहर से कुछ आनेवाला है लटकता हुआ? आहाहा! यह परमेश्वर है। वह अन्तर्मुख है। अन्तर्मुख है। विकल्प से, राग से भिन्न अन्दर है। उसमें **अन्तर्मुख परम-तपोधन की भावशुद्धि...** ऐसे सन्तों की भावशुद्धि का इसमें कथन है। आहाहा!

जिसने समस्त इन्द्रियों के व्यापार को छोड़ा है... यह इन्द्रियाँ जड़-मिट्टी। आँख, कान यह मिट्टी है। धूल, मिट्टी धूल-धूल है। इसका **व्यापार को छोड़ा है...** आहाहा! भावेन्द्रिय का भी जिसने व्यापार छोड़ा है। जो एक-एक इन्द्रिय एक-एक का ज्ञान करती है, ऐसी भावेन्द्रिय का भी व्यापार छोड़ा है। **ऐसे मुझे...** अब मुनिराज स्वयं कहते हैं। **भेदविज्ञानियों तथा अज्ञानियों के प्रति समता है;...** कहते हैं कि समस्त इन्द्रियों का व्यापार छूट गया है। अतीन्द्रिय आनन्द भगवान के अनुभव में मैं हूँ, इसलिए भेदज्ञानी कोई समकिती पाँचवें, छठवें या चौथे गुणस्थान में ज्ञानी हो या (कोई) अज्ञानी हो, दोनों के प्रति समता है। आहाहा! '**खामेमि सव्वे जीवा**' आता है न? '**सव्वे जीवा**' आहाहा! समता है। मैं तो आत्मा हूँ। अतीन्द्रिय आत्मा हूँ। इन्द्रियाँ ही मेरी नहीं तो उनका व्यापार मेरा कहाँ से? आहाहा!

अतीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा, ऐसे मुझे **भेदविज्ञानियों...** अर्थात् ज्ञानियों के प्रति **तथा अज्ञानियों के प्रति समता है;...** चाहे तो केवलज्ञानी हो तो भी मुझे समता है। परद्रव्य के प्रति लक्ष्य जाए तो राग होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान का स्मरण और भगवान याद आवे, तो भी राग होता है, वह शुभराग है, वह धर्म-बर्म नहीं। आहाहा! इसलिए... है न? **ऐसे मुझे भेदविज्ञानियों...** अर्थात् समकिती। पाँचवें, छठवें... मुनि आदि। सबके प्रति और अज्ञानियों के प्रति समता। भले अज्ञानी हो। विपरीत

श्रद्धावाला अज्ञानी अनादि से पड़े हैं, इस जाति के भले हों, परन्तु मुझे उनके प्रति समता है। आहाहा!

भगवान के प्रति राग नहीं और अज्ञानी के प्रति द्वेष नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! है ? **समता है;...** इसका नाम समता। इसका नाम प्रत्याख्यान, इसका नाम शुद्धोपयोग... आहाहा! कठिन काम है। ऐसी समता। **मित्र-अमित्ररूप (मित्ररूप अथवा शत्रुरूप) परिणति के अभाव के कारण...** मुझे कोई मित्र या कोई शत्रु है ही नहीं। मेरी परिणति में, अवस्था में, दशा में **मित्र-अमित्ररूप (मित्ररूप अथवा शत्रुरूप) परिणति के अभाव के कारण मुझे किसी प्राणी के साथ बैर नहीं है;...** चाहे वह प्राणी निन्दा करे या प्रशंसा करे, मुझे किसी के प्रति बैर नहीं है। वे आत्मा हैं, वे आत्मा वस्तुरूप से भगवान है। पर्याय में भान नहीं है। वस्तुरूप से भगवान है, इसलिए सबके प्रति मुझे बैर नहीं है। आहाहा!

सहज वैराग्यपरिणति के कारण... स्वाभाविक वैराग्य। अकेला स्त्री, पुत्र और दुकान छोड़ दिये, इसलिए वैरागी-ऐसा नहीं है। अन्तर के स्वभाव के अनुभवसहित जो राग से पृथक् पड़कर वैराग्य करे, वह वैराग्य। स्त्री, पुत्र, दुकान छोड़कर बैठे, इसलिए वैरागी है, (ऐसा नहीं है)। इससे भगवान इनकार करते हैं। पुण्य और पाप के भाव से जो विरक्त है, वह वैरागी है। पुण्य-पाप के अधिकार में आ गया न ? समयसार, पुण्य-पाप के अधिकार में। आहाहा! बात-बात में अन्तर है। अरे रे! चौरासी के अवतार करते-करते अनन्त काल गया। कभी इसने आत्मा का विश्वास नहीं किया। आत्मा क्या है, इसकी विस्मयता, आश्चर्यता ही नहीं आयी। आत्मा की आश्चर्यता ही नहीं आयी और दुनिया की आश्चर्यता नहीं छूटी। आहाहा! स्त्री जरा अच्छी मिले, वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है। आहाहा! अब वह तो आत्मा अलग, तुझसे उसका शरीर अलग, तुझे और उसे क्या लेना-देना ? आत्मा को स्त्री कैसी और आत्मा को पुत्र कैसा ? आहाहा! कठिन काम है। बोलने में बोला जाता है। पहिचान करनी हो तो ऐसा कहा जाता है कि यह मेरा पुत्र है, ये मेरे घरवाले हैं। यह तो कथनमात्र है। मान्यता में होवे तो मिथ्यादृष्टि है। वह जैन नहीं।

जिसकी मान्यता में यह मेरी पुत्री है, मेरी स्त्री है, मेरा पुत्र है—ऐसी मान्यता है, वह

तो मिथ्यादृष्टि है, जैन नहीं। आहाहा! इसी प्रकार यहाँ भगवान कहते हैं। जैन तो राग को जीतकर ज्ञानस्वरूप में आवे, उसे जैन कहते हैं। जैनश्रुत है न? जैन में जीतना होता है कि राग और पुण्य को जीतकर उनसे रहित होकर आत्मा में आवे तो वह जैन कहलाता है। बाकी सब व्यर्थ कहलाते हैं। आहाहा! यह बात सुनी नहीं होगी, कभी सुनी नहीं होगी। दुनिया की पाप की कथाएँ लगाकर... आहाहा!

मुमुक्षु : हमें कोई मिले नहीं करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मिलता है या नहीं अब? आहाहा!

हमारे वहाँ दुकान पर ऐसा था। साधु आवे तो मैं भगत कहलाता था (तो) दुकान छोड़ दूँ। दूसरे सब आठ बजे पूरा धन्धा पूर्ण हो जाए रात्रि में, फिर जाते थे। साधु कहे - रातड़िया आये। बस, रात्रि को निवृत्त होकर घण्टे भर सुनने जाए और कहनेवाले भी कथाएँ करे। कैसी? कथा-वार्ता। इसने व्रत पालन किये थे, उसने उपवास किये थे, उसने यह किया था... उसने यह किया था... धूलधाणी। कहनेवाले ऐसे थे। दरियापरी एक साधु आये थे। अहमदाबाद में दरियापरी एक है न? यहाँ बहुत साधु आते थे। पालेज में बीच में आया न? भरुच और बड़ोदरा के बीच मुम्बई जाते हुए पालेज, वहाँ रास्ते में ही है। सब ऐसी बातें करे। 'भूदरजी तुमको भूला रे, भटकता हूँ भव में।' भूदरजी तुमको भूला या आत्मा को भूला? आहाहा!

स्वाभाविक **वैराग्यपरिणति के कारण...** वैराग्य के लिये स्वाभाविक शब्द प्रयोग किया है। यह स्वाभाविक शब्द ऐसा प्रयोग किया है कि शुभ और अशुभ जो पुण्य-पाप के भाव, उनमें जो अनादि से रक्त था, उनसे विरक्त हुआ, उसे वैरागी कहा जाता है। आहाहा! **सहज वैराग्यपरिणति के कारण मुझे कोई भी आशा नहीं वर्तती;...** आहाहा! कुछ ऐसा मान मिले, इज्जत मिले, अमुक मिले, धूल में, इज्जत में... आहाहा! वह स्वयं मूली में और प्याज में पड़ा था। चार पैसे सेर रींगण। तब। अब तो अभी महँगा हो गया लगता है। चार पैसे सेर रींगण ले और छोटी लड़की साथ में हो। इस लड़की को यह प्याज देना। मूली का कान्दा मुफ्त में। कान्दे में स्वयं बैठा हो। अनन्त भव किये, उसमें अन्दर बैठा था। मुफ्त में गया। आहाहा! पहले ऐसा आता था। अभी तो रींगण महँगे हो गये हैं। पहले तो चार पैसे सेर, तीन पैसे सेर था। अब महँगा हो गया।

मुमुक्षु : तब लोगों के पास पैसे नहीं थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे कम थे। पैसे की कीमत भी कम थी। अधिक कीमत थी। अभी माल की कीमत बढ़ गयी है। बाजरा, चावल का भाव बढ़ गया। पैसे की कीमत कम। उस समय के लाख और अभी के पच्चीस लाख दोनों समान। क्योंकि वह सब भाव बढ़ गया तो उस प्रमाण वह खर्च करे। सब फेरफार... फेरफार.. फेरफार... आहाहा!

यहाँ कहते हैं **वैराग्यपरिणति के कारण मुझे कोई भी आशा नहीं वर्तती;...** आहाहा! शिष्य हो, सम्प्रदाय बढ़े, ऐसी कोई आशा नहीं है। आहाहा! बननेवाला हो, वह बनो। मुझे और पर को कोई सम्बन्ध है नहीं। आहाहा! **परम समरसीभावसंयुक्त परम समाधि का मैं आश्रय करता हूँ...** आश्रय शब्द आया। **परम समरसीभावसंयुक्त...** समरसी, समता, वीतरागता। पुण्य-पापरहित वीतरागता। ऐसा **परम समरसीभावसंयुक्त परम समाधि का मैं आश्रय करता हूँ...** पर्याय की बात है। वह अशुभ टालने को रखा है।

परम समाधि का मैं आश्रय करता हूँ... द्रव्य का आश्रय है, वह तो मूल वस्तु और यहाँ तो पर्याय में समाधि-शान्ति है, उसका ज्ञान करता हूँ। आलम्बन लेता हूँ अथवा है, ऐसा। आहाहा! '**समाहिवरमुत्तमं दिंतु**' आता नहीं है? लोगस्स में आता है। '**समाहिवरमुत्तमं दिंतु**' अर्थ की किसे खबर होती है? लोगस्स में आता है '**एवं मए अभिथुआ**' है?

मुमुक्षु : रट गये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : रट गये थे?

'**एवं मए अभिथुआ विहुयरयमला**' कुछ अर्थ की खबर नहीं होती और यह फिर घड़ी लेकर बैठ जाए। सामायिक हो गयी। धूल भी नहीं। सामायिक कैसी और धर्म कैसा? आहाहा! लींबड़ी में दशाश्रीमाली और वीसाश्रीमाली के बीच विवाद हुआ था। लींबड़ी-लींबड़ी तुम्हारे। दो उपाश्रय हैं न? एक संघवी का उपाश्रय और एक सेठ का उपाश्रय। उसमें दशाश्रीमाली की महिला सामायिक करने बैठी होगी। उसमें वह वीसाश्रीमाली के साथ विवाद था। वहाँ यह आया '**एवं मए अभिथुआ विहुयरयमला**' विहा रोई मलया। उसे ऐसा अर्थ किया। विहा रोई मलया। परन्तु वह कहे - अपना विवाद इस लोगस्स में

कहाँ से आया ? इतना भान नहीं होता और हो गयी सामायिक। मरकर कौवे में और बकरे में (भटकनेवाले) हैं। आहाहा!

'**विहुयरयमला**' आता है ? '**विहुय**' अर्थात् टाले हैं, प्रभु! आपने '**विहुय**' विशेषरूप से टाले हैं। '**रयमला**' कर्मरूपी रज और राग-द्वेष जो परिणाम, वह मल। पुण्य-पाप के विकारी भाव, वह मल और कर्मरज। '**रयमला**' वह रज और मल दोनों टाले हैं, प्रभु! लोगस्स में आता है। उसके बदले ऐसा अर्थ करे। परन्तु इसमें कहाँ है यह ? अर्थ की खबर नहीं होती। यहाँ तो **परम समाधि का मैं आश्रय करता हूँ...** विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-११५, श्लोक-१४०-१४१, रविवार, पौष शुक्ल ५, दिनांक २३-१२-१९७९

कलश है १०४ गाथा का कलश।

मुक्त्वालसत्वमधिसत्त्वबलोपपन्नः,
स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वम्।
सज्ज्ञानचक्रमिदमङ्ग गृहाण तूर्ण-
मज्ञान-मन्त्रि-युत-मोह-रिपूपमर्दि ।।

योगीन्द्रदेव का आधार है। योगीन्द्रदेव का है न ?

हे भाई! ऐसा कहकर बात की है **स्वाभाविक बल सम्पन्न ऐसा तू...** यहाँ से शुरु किया है। प्रभु! तुझमें बल तो अनन्त है क्योंकि वीर्य नाम का गुण है तो अनन्त बल है। विश्वास नहीं, इसलिए इसे अनन्त बल दिखायी नहीं देता। मानना चाहिए। उसके सन्मुख होकर उस प्रकार से न माने, तब तक यह अनन्त बल है, ऐसा इसे ख्याल में, ज्ञान में नहीं आता। **स्वाभाविक बल सम्पन्न...** स्वाभाविक बल सम्पन्न, ओहोहो! एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त वीर्य और वीर्य नाम का गुण भी भिन्न। वह अनन्त-अनन्त गुण को अनन्त बल सम्पन्न कह रहनेवाला ऐसा जो यह तत्त्व... आहाहा!

वह **स्वाभाविक बल सम्पन्न ऐसा तू..** आहाहा! कहते हैं कि बल तुझे बाहर से

लाना नहीं पड़ता। तू अन्दर में अनन्त बल सम्पन्न है। जिसे आत्मा कहते हैं, वह आत्मा अन्तर अनन्त वीर्य सम्पन्न है। अनन्त वीर्य कहो या बल कहो? और अनन्त बल सम्पन्न है तो अनन्त गुण में प्रत्येक में उसका रूप भी है। रूप है अर्थात्? आनन्द है, उसमें भी बल का रूप है; ज्ञान है, उसमें बल का रूप है। श्रद्धा है, उसमें बल का रूप है। श्रद्धा त्रिकाल, हों! आनन्द-चारित्र है, उसमें भी बल का रूप है... उस प्रत्येक गुण में अनन्त बल का रूप है।

जिसमें परिणमन की पर्याय भी नहीं। आहाहा! ऐसा जो आत्मा, उसके अनन्त गुण में अनन्त बल सम्पन्न है। एक-एक गुण अनन्त बल सम्पन्न है। आहाहा! वह दूसरे गुण की भी जिसे अपेक्षा नहीं है। ऐसे अनन्त-अनन्त गुणों से भरपूर भगवान है। आहाहा! वह सब आत्माएँ अन्दर भगवान है। पूर्णानन्द के नाथ, अनन्त गुण के बल सम्पन्न। बल सम्पन्न कहकर तो गजब किया है। आहाहा! हमें क्यों नहीं ज्ञात होता? परन्तु जो बल सम्पन्न है, उसे तू मानता नहीं। आहाहा! अनन्त बल सम्पन्न भगवान आत्मा पर इसकी नजर नहीं है। पामर के ऊपर नजर है। वर्तमान पर्याय और राग पर इसकी नजर है। इसलिए... प्रभु! जिसे निश्चय से आत्मा ही कहते हैं। ३८ गाथा में आता है कि निश्चय आत्मा तो यह ध्रुव है, वह निश्चय आत्मा है। पर्याय तो व्यवहार आत्मा है। आहाहा! ऐसी बात है।

ऐसा जो भगवान आत्मा, अनन्त बल स्वाभाविक। स्वाभाविक अनन्त बल है, ऐसा कहते हैं। कुछ लाना नहीं पड़ता। शरीर में बल तो घटता है, आहार-पानी न ले तो ऐसा होता है। उसमें ऐसा नहीं है। शरीर तो कमजोर पड़ जाता है, बलवाला हो जाता है। बहुत प्रकार के आहार-पानी इत्यादि से, भस्म खाने से फिर बलवान हो जाता है। आहाहा! ऐसा यह नहीं है। यह तो **स्वाभाविक बल सम्पन्न ऐसा तू...** आहाहा! जिसका स्वभाव ही अनन्त वीर्य सम्पन्न है भगवान! यह बात एक ही शब्द बैठना... आहाहा! जहाँ है और जो है, वहाँ इसकी नजर जानी चाहिए। जहाँ नहीं, वहाँ नजर पड़ने पर, है वहाँ की नजर लुट जाती है। आहाहा! यह क्या कहा?

जहाँ प्रभु अन्दर ध्रुव है। अनन्त बल स्वाभाविक बल है, उसके अनन्त बल की बात क्या करना? सैंतालीस शक्तियों में वीर्यगुण की तो ऐसी रचना कही है कि वह सर्व गुण की रचना करे, निर्मल रचना करे, उसका इतना बल है। सैंतालीस शक्ति में (यह बात

है) स्वरूप की रचना करे। अनन्त बल उसे कहते हैं और यह वीर्य अर्थात् शक्ति उसे कहते हैं, स्वरूप की रचना करे, उसे बल कहते हैं। राग की रचना करे उसे तो नपुंसक कहते हैं। आहाहा! कठिन बात। सुमनभाई! आहाहा! यह नौकरी का राग करे तो वह नपुंसकता है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : नपुंसकता के कोई पैसे देगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे कौन दे? यह तो पैसे आनेवाले हों, वे आते हैं; जानेवाले हों, वे जाते हैं। परमाणु है, उन्हें जहाँ आना हो, वहाँ आते-जाते हैं। उसके कारण से उनकी क्रियावतीशक्ति एक समय में ध्रुवपना रहे और एक समय की पर्याय में परमाणु में षट्कारक से परिणमती जहाँ जैसे परिणमन होकर जाना हो, वहाँ जाए। कोई दे और ले, यह सब बातें व्यवहार की है। आहाहा! यह सब ज्ञात होता है, यह बात ऐसी नहीं है क्योंकि जिसके साथ तन्मय नहीं है, उसे जानता है—ऐसा कहना वह तो व्यवहार का असद्भूत कथन हुआ। आहाहा! यह क्या कहा?

यह ज्ञात होता है कि यह... यह... यह... परन्तु उसमें ज्ञात होता है तो ज्ञान की पर्याय। यह कहीं ज्ञान की पर्याय उनमें जाती नहीं और वे पदार्थ जो शरीर, वाणी, यह सब है, वह कहीं आत्मा-ज्ञान में आते नहीं। ज्ञान, ज्ञान में रहकर स्व और पर के सामर्थ्यवाला स्व-पर प्रकाशक स्वयं से ही प्रकाशित होता है। पर के कारण वह प्रकाशित नहीं होता। आहाहा! निश्चय से तो ज्ञाता भी आत्मा, ज्ञेय भी आत्मा और ज्ञान भी आत्मा। ज्ञेय, परज्ञेय और ज्ञान यह, यह सब व्यवहार कथन है। आहाहा!

जिसकी सत्ता में ज्ञात होता है, जो ज्ञात होता है, उसकी सत्ता में ज्ञान नहीं है। जिसकी सत्ता यहाँ है, उसकी सत्ता में ज्ञात होता है। यह... यह... यह... यह... यह... यह इसकी पर्याय है। ज्ञान की पर्याय में वह ज्ञात होती है, वह ज्ञात होती है, (ऐसा) कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसी बात! दो घड़ी, चार घड़ी निवृत्ति लेनी हो तो मिलती नहीं, ऐसा धन्धा-पानी में रुका हुआ रहे, उसे ऐसी बातें... आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसी ही बातें सुननेयोग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो सत्य है। ऐई! आहाहा!

चैतन्य महाप्रभु अनन्त बल सम्पन्न जो शब्द उठाया है, उसमें पहला शब्द स्वाभाविक लिया है। **स्वाभाविक बल सम्पन्न...** इस शब्द में बहुत जोर है। आहाहा! स्वाभाविक अन्दर बल सम्पन्न प्रभु भगवान है। इसलिए वह बल सम्पन्न होने से अनन्त गुण में तो उसके बल का रूप है। इसलिए अनन्त गुण की रचना करे, वह वीर्य है। व्यवहाररत्नत्रय का राग आवे, इसलिए गुण की रचना होती है, ऐसा नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आवें, इसलिए यहाँ सम्यग्दर्शन या निर्मल पर्याय होती है, ऐसा नहीं है। स्वाभाविक बल सम्पन्न के कारण अनन्त गुण में उस बल का रूप है, उसके कारण उस स्वाभाविक की रचना होती है। राग से रचना नहीं होती। आहाहा! ऐसी वस्तु है। बालक हो या वृद्ध हो, वह तो शरीर की अवस्था है। भगवान आत्मा को कहीं बालक-वृद्धपना नहीं है। हाँ, उसे बालक कब कहा जाता है ? कि पर को अपना माने, ऐसे मिथ्यात्व में है, उसे बालक कहा जाता है और अपने को जाने, उसे युवक कहा जाता है और स्वयं केवलज्ञान को प्राप्त करे, वह वृद्ध कहलाता है। आहाहा! बाकी शरीर की बाल अवस्था, युवान, वृद्धावस्था, वह सब जड़ की है।

यहाँ तो इतने शब्द में बहुत भरा है। **स्वाभाविक बल सम्पन्न...** आहाहा! इसमें शरीर में कुछ बल चाहिए हो तो कुछ खुराक ले, भस्म, अमुक की, अमुक की, हीरा की, माणिक की भस्म खाये। आहाहा! बत्तीस ग्रास का चक्रवर्ती का आहार होता है। एक-एक ग्रास करोड़ों रुपये की कीमत का, क्योंकि वह सब भस्म हीरा-माणिक की भस्म होती है, वह पूरे गर्म घी में उसे करके, गेहूँ का दाना डाले और उसका चूरा उसमें डाले, इसलिए गेहूँ घी पी जाए। उसकी रोटी बने। हीरा-भस्म की रोटी खाये और बत्तीस ग्रास करे। जिसका एक ग्रास छियानवें करोड़ सैनिक पचा न सकें। आहाहा! एक ग्रास, छियानवें करोड़ सैनिक नहीं पचा सकते, तथापि बत्तीस ग्रास ले और होवे क्षायिक सम्यग्दृष्टि। आहाहा!

मुमुक्षु : यह बात सच्ची होगी ? गुरुदेव!

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे खबर नहीं। आत्मा का बल अलग है, इसका अलग है। आत्मा के बल के कारण शरीर में बल आवे, ऐसा कुछ है नहीं। शरीर की ताकत अलग है, प्रभु की ताकत अलग है। आहाहा! यह तो पुराण में चला है। सब राजाओं की सभा

भरी थी, उसमें चर्चा चली। भीम, अर्जुन, पाण्डव दूसरे राजाओं में चर्चा चली, इनमें बलवान कौन? इन राजाओं में बलवान कौन? कोई कहे कि भीम बलवान, कोई कहे अर्जुन बलवान, कोई कहे अमुक बलवान। किसी ने कहा भाई! दूसरा कोई नहीं परन्तु देखो, नेमिनाथ भगवान बैठे हैं। गृहस्थाश्रम में (अभी हैं), वे बलवान हैं। इस शरीर के, हों! आत्मा के नहीं। भगवान बैठे हैं, इसलिए हो गया...

श्रीकृष्ण उठे, तो पैर नीचे रखा, अब पैर उठा दो। श्रीकृष्ण पैर को उठाओ, ऐसा कहे, भगवान ने नीचे रखा। टँग गये परन्तु कोई ऊँचा नहीं कर सके। ऐसा तो भगवान के शरीर का बल। समझ में आया? यह तो प्रत्यक्ष बल दिखता है। वह नहीं था कैसा वह? घामा। चलती हुई दो मोटरें हों, उन्हें हाथ डालकर खड़ी रखे। चलती मोटर में हाथ डालकर खड़ी रखे, इतनी ताकत थी। वह मरते समय मक्खी यहाँ खड़ी हो, तो उस मक्खी को उड़ाने की शक्ति नहीं थी। ऐसे-ऐसे कर-करके महा मुश्किल से हाथ ऐसे होता था। जो मोटर को खड़ी रखता था, वह मक्खी को उड़ा नहीं सकता था। उस जड़ की शक्ति में इतनी विचित्रता है। समाचार-पत्र में आया था। (वह) सो रहा था, उसमें उस मक्खी को उड़ावे, ऐसा समाचार-पत्र में आया था। मक्खी को उड़ा नहीं सकता था। यहाँ कहते हैं कि उसके साथ आत्मा को सम्बन्ध नहीं है। आत्मा तो स्वाभाविक अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त विश्वास कर। बल सम्पन्न है। उसके जैसा बल अन्यत्र कहीं नहीं है। कोई शरीर में या कोई अन्य प्रकार की भस्म, दवा दे, इसलिए शरीर पुष्ट लगे और मजबूत तथा बलवाला लगे, यह कुछ नहीं है। आहाहा!

स्वाभाविक (अनन्त) बल सम्पन्न ऐसा तू आलस्य छोड़कर,... क्यों दिखता नहीं? कि आलस है इसलिए। कर्म है, इसलिए-ऐसा नहीं। आहाहा! **आलस्य छोड़कर,...** ऐसा नहीं कहा कि कर्म को घटने दे, घटे तो तेरा बल काम आवे, ऐसा नहीं। तू आलस को छोड़। आलस तू स्वयं... **आलस्य छोड़कर, उत्कृष्ट समतारूपी कुलदेवी का स्मरण करके,...** आहाहा! उत्कृष्ट समतारूपी, वीतरागतारूपी कुलदेवी। यह तेरे कुल की देवी वीतरागता... आहाहा! रागरहित वीतरागस्वभाव वह आत्मा के कुल की देवी वीतरागता है। राग उसका स्वभाव ही नहीं है। राग उसमें है ही नहीं। आहाहा!

उत्कृष्ट समतारूपी... उत्कृष्ट वीतराग। उत्कृष्ट वीतरागरूपी कुलदेवी को स्मरण

करके... आहाहा! **अज्ञानमन्त्री सहित मोहशत्रु का नाश करनेवाले...** आहाहा! अज्ञानमन्त्री है। मोहशत्रु राजा है। आहाहा! उस **अज्ञानमन्त्री सहित मोहशत्रु का नाश करनेवाले...** आहाहा! **इस सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को शीघ्र ग्रहण कर।** इस सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को, अन्दर ज्ञान को पकड़। जो ज्ञान ध्रुवस्वरूप परमात्मा अनन्त बल का धनी है, उसे पकड़। वह भी शीघ्र ग्रहण कर। **सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को शीघ्र ग्रहण कर।** जिस चक्र द्वारा अज्ञानमन्त्री सहित मोहशत्रु का नाश होता है। और शीघ्र ग्रहण कर। वहाँ शीघ्र ग्रहण करने में क्रमबद्ध कहाँ आया?

वह क्रमबद्ध में ही शीघ्र ग्रहण आता है। कहने का आशय है कि ऐसा जो करे, अब उसे अल्प काल में ही केवलज्ञान होगा। आहाहा! समझ में आया? पश्चात् तो प्रत्येक गाथा में तो विवाद उठाते हैं। **शीघ्र ग्रहण कर।** शीघ्र। यह तो जिस समय में जो पर्याय होनी है, उस समय में वह होनी है, होनी है। शीघ्रपना तो वहाँ... पर्याय में शीघ्रपना है, पुरुषार्थ शीघ्रपना होकर पर्याय को पलटा कर दूसरी पर्याय कर डालना। आहाहा! यह शीघ्र का अर्थ उस समय ऐसा जो करे, उसे अल्प काल में उसके अज्ञान, मोह का नाश होता है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को शीघ्र ग्रहण कर। आहाहा! तेरा भगवान अन्दर... पहले बल लिया, पश्चात् ज्ञान लिया। फल में कुलदेवी को याद कर, वीतराग परिणति को याद कर। आहाहा! **सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को शीघ्र ग्रहण कर।** आहाहा! यहाँ तो उसके पुरुषार्थ से आत्मा हाथ आवे, ऐसा है - यह कहते हैं। कोई उल्टे-सीधे से नहीं। क्रमबद्ध है, उसमें उल्टा-सीधा नहीं। उसमें पुरुषार्थ नहीं - ऐसा नहीं है। उसमें ही अनन्त पुरुषार्थ है। एक समय की पर्याय है, उसे भी आगे-पीछे करना नहीं। आहाहा! और आत्मा में एक भाव नाम का गुण है। भाव नाम का गुण है। कि जहाँ वस्तु को पकड़ा, उस भाव के गुण के कारण एक पर्याय होती ही है। निर्मल पर्याय भावगुण के कारण होती ही है। सैंतालीस शक्ति में आता है। भाव-भाव।

मुमुक्षु : भाव, अभाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाद में, पहला भाव।

वस्तु जहाँ अनन्त स्वाभाविक बल है, ऐसा जो ज्ञान और आनन्द को पकड़ा, तो उस समय जो भावगुण के कारण निर्मल पर्याय उस समय में होनेवाली थी, वह हुई। अभाव के कारण नहीं, कर्म के कारण नहीं, राग के कारण नहीं। अपना वह अभाव नाम का एक गुण है, उसके कारण रागरहित-अभावरूपी परिणमन उसका हुआ। राग का अभाव हुआ, इसलिए नहीं। परन्तु यहाँ अभाव नाम का गुण है, इससे राग के अभावरूप परिणमन हुआ। आहाहा! गजब बात है न?

मुमुक्षु : यह बात शीघ्र पकड़ में आवे ऐसी नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा तो सादी है। संसार की बहियों को कैसे पकड़ते हैं सब? ऐई! सुमनभाई! बहियाँ सूक्ष्म होवे तो ब्याज निकाले तो ऐसा है, वैसा है, अमुक है, अमुक है। प्रतिदिन का ब्याज निकालकर वापस चढ़ावे। एक टके के ब्याज में पाँच लाख दिये हैं। एक दिन का ब्याज यह चढ़ाओ। यह ब्याजसहित वापस दूसरे दिन ब्याज। यह वहाँ बनिया चक्रवृद्धि ब्याज निकालता है। यहाँ चक्रवृद्धि ब्याज निकालना हो तो नहीं मिलता। आहाहा!

यहाँ तो द्रव्य की महिमा है। उस द्रव्य की दृष्टि हुई, यह उसमें भाव नाम का गुण है, इससे वह पर्याय करना नहीं; पर्याय होगी ही। आहाहा! और अभाव भी रागादि के अभावरूप उस राग के कारण से नहीं, अपना अभाव गुण है, उसके कारण से भाव का अभाव होगा ही। आहाहा! भाव का अभाव अर्थात् पर के भाव का अभाव, हों! पश्चात् भाव-अभाव। वापस तीसरा गुण यह है कि भाव है, उसका स्वभाव अभाव होगा। दूसरे समय में उसका अभाव होगा, ऐसा उसका गुण है। उसे दूसरे समय में अभाव करूँ तो होगा, ऐसा नहीं है। आहाहा!

आत्मा में भाव-अभाव नाम का एक गुण है कि जो भाव वर्तमान पर्याय निर्मल वर्तती हो, उसे छोड़कर फिर अभाव जो पर्याय नहीं है, वह आयेगी। उसमें भाव-अभाव नाम का गुण है। है, उसे छोड़कर नहीं है, वह आयेगी। नहीं है, वह आयेगी ही। आहाहा! अभाव भाव। जिसका अभाव है, ऐसा भाव वहाँ आयेगा ही। अभाव का भाव आयेगा ही। भाव का अभाव होगा, पश्चात् अभाव अर्थात् उस भविष्य की पर्याय का वर्तमान में अभाव है। उस अभाव का भाव होगा। भाव का अभाव होगा और अभाव का भाव होगा। आहाहा! इतना अब क्रमबद्ध क्या करना? आहाहा! ऐसा उसका स्वरूप है।

भाव, अभाव, भावअभाव, अभावभाव, भावभाव, अभावअभाव। यह पर्याय जो द्रव्य को पकड़ा, प्रभु को उसकी जो पर्याय है निकली वह भावभाव। है... है... है... उस प्रकार की आया करेगी और अभाव-अभाव। जो नहीं है, उस नहींपने का ही अभाव रहा करेगा। आहाहा! जरा सूक्ष्म है। कहाँ तक फिर सूक्ष्म-सूक्ष्म करना? आहाहा! यह यहाँ कहते हैं, अरे! **सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को...** चढ़ा। **सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को...** चढ़ा। स्व को पकड़कर जो ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है। उस **चक्र को शीघ्र ग्रहण कर।** शीघ्र ग्रहण कर, जिससे अज्ञानमन्त्रीसहित मोह का नाश होगा। अज्ञानमन्त्रीसहित मोह का नाश होगा। अरे रे! ऐसी बातें! आहाहा! यह कलश हुआ। आधार था।

श्लोक-१४०

और (इस १०४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं):—

(वसंततिलका)

मुक्त्यङ्गनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं,
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम् ।
सम्भावयामि समता-मह-मुच्चकैस्तां,
या सम्मता भवति संयमिना-मजस्रम् ।।१४०।।

(हरिगीतिका)

मुक्तिरूपी अंगना के लिये भ्रमर समान जो।
दुर्भावनारूपी तिमिर को शशि-प्रकाश समान जो॥
संयमी को नित्य संमत, मोक्ष सुख का मूल जो।
अत्यन्त भाता हूँ सदा मैं सखी समता को अहो॥१४०॥

[श्लोकार्थः] जो (समता) मुक्तिरूपी स्त्री के प्रति भ्रमर समान (रत) है, जो मोक्षसौख्य का मूल है, जो दुर्भावनारूपी तिमिरसमूह को (नष्ट करने के लिए) चन्द्र

के प्रकाश समान है और जो संयमियों को निरन्तर सम्मत है, उस समता को मैं अत्यन्त भाता हूँ॥१४०।

श्लोक -१४० पर प्रवचन

और (इस १०४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं):— उस श्लोक का तो आधार दिया था। अब टीकाकार स्वयं दो श्लोक कहते हैं। यह धीमे-धीमे-धीरे-धीरे समझने की बात है। यह कोई वार्ता कथा नहीं है। आहाहा! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा परम गुरु का इतिहास है। आहाहा! सर्वज्ञदेव परम गुरु ने कही हुई बात का यह इतिहास है कि ऐसा कहा है और ऐसा होता है और ऐसा होगा। आहाहा! निवृत्ति लेनी चाहिए। प्रवृत्ति में से बाहर निकलना और उसमें झुकना पड़े। सूक्ष्म बातों में... आहाहा! १४० कलश।

मुक्त्यङ्गनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं,
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम्।
सम्भावयामि समता-मह-मुच्चकैस्तां,
या सम्मता भवति संयमिना-मजस्रम्।।१४०।।

जो (समता)... रूपी। आहाहा! समता कहो, वीतरागी पर्याय कहो, शुद्धोपयोग कहो, आत्मा का स्वास्थ कहो। आत्मा की जो वीतरागी पर्याय है, उसे समता कहो, शुद्धोपयोग कहो, चित्त निरोध कहो... आहाहा! यह भिन्न-भिन्न भाषा का अर्थ है। स्वास्थ कहो। स्वस्थ - स्व-अपने में रहना है, वह शुद्धोपयोग है। आहाहा! यह शुद्धोपयोग **मुक्ति सुन्दरी की सखी है।** इसमें सुधारा है। पुराने में होगा। उसमें-पुराने में मुक्तिरूपी स्त्री के प्रति भ्रमर समान है, ऐसा लिखा है। नयी में स्पष्ट है।

जो (समता)... आहाहा! जो पुण्य और पाप के विकल्प / रागरहित समता। चैतन्य भगवान वीतरागमूर्ति है, उसके आश्रय से होनेवाली वीतरागदशा, उसे यहाँ शुद्धोपयोग और समता कहते हैं। आहाहा! **जो (समता) मुक्ति सुन्दरी की सखी है।** मोक्षरूपी सुन्दर स्त्री, उसकी वह मैत्री है। उसकी सखी, सहेली है। आहाहा! कि जिसे समता प्रगट हुई

है, उसे अल्पकाल में मुक्तदशा होनेवाली ही है। आहाहा! जिसे शुद्धोपयोग प्रगट हुआ, शुभ-अशुभ विकल्प के राग से रहित होकर... आहाहा! शुद्धोपयोग कहो, समता कहो, वीतरागता कहो, स्वास्थ कहो, चित्त निरोध कहो। आहाहा! वह **मुक्ति सुन्दरी की सखी है।** वीतरागता-शुद्धोपयोग, वह मुक्तिसुन्दरी की सखी है। इसमें राग को-व्यवहार को कहीं नहीं रखा। व्यवहार से होता है, व्यवहार साधक है और निश्चय साध्य है—ऐसा कुछ नहीं कहा। जयसेनाचार्य में साधक, ऐसा बतलाया है। आरोपित साधक है, ऐसा आरोपित बतलाया है। अब उन लोगों को वह ठीक पड़ता है।

मुमुक्षु : परन्तु व्यवहार शब्द कब कहलाये कि उसका अभाव होवे तब।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ऐसा माने नहीं। यह तो व्यवहार करने से निश्चय होता है। सवेरे नहीं आया था? व्यवहार से निश्चय प्राप्त होता है। वह तो व्यवहार था, उसका अभाव करके हुआ, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! सवेरे समयसार में था। व्यवहार से निश्चय प्राप्त होता है, देखो! आहाहा! उसका तो अभाव करके। उसका लक्ष्य जब तक है, तब तक तो अन्तर में नहीं जाया जाता। शुभराग का जब तक दया, दान, व्रत, भक्ति आदि, अरे! सूक्ष्म राग, गुण-गुणी के भेद का सूक्ष्म राग है, तब तक अन्दर निर्विकल्प दृष्टि नहीं होती। आहाहा! और निर्विकल्प दृष्टि बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं होता। आहाहा! ऐसा है, प्रभु! भाषा सादी परन्तु वस्तु तो जैसी हो, वैसी होगी न? आहाहा!

जो मोक्षसौख्य का मूल है,... यह वीतरागता मोक्षसौख्य का मूल है। **मुक्ति सुन्दरी की सखी है...** एक बात। और **जो मोक्षसौख्य का मूल है,...** अनन्त सुख जो मुक्ति का, उसमें वीतरागता, समता जो शुभाशुभभावरहित वीतरागदशा, वह मोक्षसौख्य का मूल है। मोक्ष के आनन्द के सुख का वह मूल है। आहाहा! **जो दुर्भावनारूपी तिमिरसमूह को (नष्ट करने के लिए)...** वह समता कैसी है? वीतरागपर्याय कैसी है? आहाहा! तिमिर-अज्ञान-अन्धकार। विपरीत भावना विकल्प से लाभ होगा, ऐसे **तिमिरसमूह को (नष्ट करने के लिए) चन्द्र के प्रकाश समान है...** जैसे चन्द्र का प्रकाश बढ़े, वैसे समुद्र का पानी बढ़ता है। ज्वार बढ़ता है। भरती (ज्वार का गुजराती शब्द) को क्या कहते हैं? बाढ़।

जैसे चन्द्रमा बढ़ता है, वैसे ज्वार बढ़ता है। पूर्णिमा से ओट आती है, ऐसा कुदरत का नियम है। चन्द्र का प्रकाश जैसे पूर्ण होता है तो समुद्र में ज्वार आता है। इस प्रकार **चन्द्र के प्रकाश समान है...** आहाहा! वह **दुर्भावनारूपी तिमिरसमूह को (नष्ट करने के लिए)...** कौन? समता, और **चन्द्र के प्रकाश समान...** जितनी वीतरागता है, उतना गुण बढ़ता है। जितनी वीतरागता, उतने अनन्त गुणों को प्रकाश बढ़ता है। चन्द्रमा के कारण जैसे... चन्द्रमा तो निमित्त है। उसके कारण कहीं समुद्र.. समुद्र तो स्वयं के कारण से है परन्तु वह तो निमित्त है। चन्द्रमा के कारण समुद्र में ज्वार आता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

इसे और उसे क्या सम्बन्ध है? परन्तु ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि जहाँ चन्द्र का प्रकाश बढ़ता है तो समुद्र में ज्वार आता है। इसी प्रकार यहाँ मोक्षसौख्य का मूल ऐसा वीतरागभाव, वह **चन्द्र के प्रकाश समान है और जो संयमियों को निरन्तर सम्मत है,...** समकित सहित जो संयमी है। आहाहा! सम + यम है न? सम - सम्यग्दर्शनपूर्वक यमी है। यम - यम। यह अपने आया था। यम - यातनाशील ऐसा जो यम उसके नाश करनेवाला है, यम अर्थात् संयम। यातना अर्थात् पीड़ा, दुःख करनेवाला ऐसा मोह... उसका नाश करनेवाला है - यम। यम, यम का नाश करनेवाला है। सवेरे आया था। समझ में आया? अरे रे! ऐसा सूक्ष्म!

दया पालने का कहे, व्रत का कहे तो समझ में भी आये, रात्रिभोजन नहीं करना, यह तो... चतुर्विध आहारत्याग... छह परबी कन्दमूल नहीं खाना, छह परबी ब्रह्मचर्य पालना, ऐसा कहे तो समझ में आये। ठीक करते हैं। इसमें क्या हुआ? वह तो जड़ है। राग मन्द होवे तो पुण्य होता है। बाकी यह तो शरीरादि जड़ की क्रिया है। इस शरीर को मैं कर नहीं सकता। शरीर से विषय-सेवन नहीं कर सकता। यह भी एक मिथ्यात्व अभिमान है। आहाहा! और शरीर से मैं विषय-सेवन कर सकता हूँ, स्पर्श कर सकता हूँ, यह मिथ्यात्व है और शरीर को मैंने इन्द्रिय के विषय से जाते हुए रोक रखा है... आहाहा! गजब बात है। शरीर से इन्द्रिय के विषय में जाने से मैंने रोक रखा है, यह भी एक मिथ्यात्व है। शरीर की क्रिया को रोकना और छोड़ना, वह कहीं आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **चन्द्र के प्रकाश समान है और जो संयमियों को निरन्तर सम्मत है,...** मुनियों को तो तत्काल सम्मत है और वीतरागता होती है। चौथे गुणस्थान में अभी,

पाँचवें गुणस्थान में थोड़ी वीतरागता होती है। संयमियों को तो बहुत वीतरागता... आहाहा! वीतराग के झूले में झूलते हैं। आहाहा! **संयमियों को निरन्तर सम्मत है,...** निरन्तर अर्थात् दूसरे, चौथे और पाँचवें गुणस्थान में हैं उन्हें संयम आने में देरी लगती है। वीतरागता आने में देरी लगती है परन्तु **संयमियों को निरन्तर सम्मत है,...** संयमियों को तत्काल वीतरागता आती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? बात बात में कठोर बात। वीतरागमार्ग ऐसा है, भाई! अभी तो सब गड़बड़ कर डाली है। यह तो वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का कथन है। उसे मुनि दुनिया के लिये प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! पहले कह गये हैं न? हम टीका करनेवाले कौन? यह तो गणधर से और आचार्यों से परम्परा से टीका चली आयी है। वह यहाँ कही है। मैं तो निमित्तमात्र हूँ। आहाहा! निमित्त का अर्थ कि मैं उसका कर्ता नहीं। आहाहा!

जो समता, वीतरागता। शुभ-अशुभ राग से रहित। समता, स्वास्थ, वीतरागता, यह **दुर्भावनारूपी तिमिरसमूह को (नष्ट करने के लिए) चन्द्र के प्रकाश समान है...** जितने प्रमाण में वीतरागता प्रगट होती है, उतने प्रमाण में राग का अभाव होता जाता है। आहाहा! जितने प्रमाण में वीतराग पर्याय के चन्द्रमा का प्रकाश बढ़ता जाता है, उतना-उतना राग के अंश का नाश होता जाता है। आहाहा! समयसार में आया है न? विज्ञानघन होता जाता है। जितना ऐसा होता जाए, वैसे विज्ञानघन होता जाता है। विज्ञानघन होता जाता है, उतना ऐसे स्थिर होता जाता है। आहाहा! समयसार की ७४वीं गाथा में आता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म।

संयमियों को निरन्तर सम्मत है,... जो मुनि हैं... आहाहा! नग्न मुनि हैं, दिगम्बर मुनि हैं, उन्हें मुनि कहते हैं। वस्त्रवाले वे मुनि, मुनि हैं ही नहीं। वस्त्र का टुकड़ा रखकर मुनि माने, मनावे... सूत्रपाहुड़ की १८ गाथा में स्पष्ट कहा है - निगोद में जाएगा। लहसुन और प्याज में उत्पन्न होगा। आहाहा! ऐसी बात है। आचार्य, उपाध्याय और सब साधु। यहाँ तो कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं, एक टुकड़ा रखकर मुनिपना माने तो वह मुनिपने की दशा है ही नहीं। क्योंकि वस्त्र ग्रहण की ममता है, इसलिए वह मुनिपना नहीं है। मुनिपना नहीं है, नवतत्त्व की श्रद्धा की विपरीतता है। उसमें नवतत्त्व की श्रद्धा की विपरीतता है। आहाहा! क्योंकि एक तो जीव का आश्रय जितना लिया, उतना आश्रय राग है, इसलिए उतना आश्रय कम हुआ। वस्त्र-पात्र राग है, उतना आश्रय कम। वस्त्र-पात्र न हो, तब आश्रय विशेष होता है। राग उसमें होवे तो आश्रय कम होता है। अजीव का संयोग जितना

चाहिए, उतना नहीं, उससे अधिक है; इसलिए अजीव की भूल हुई। अन्दर पुण्य-पाप में भी भूल हुई। ऐसा कहते हैं कि थोड़ा संयोग है और उसका शुभराग है, उसे वीतरागता मानता है, उससे कल्याण मानता है। पुण्य में भी भूल है, पाप में भी भूल है, आस्रव में भूल है, संवर में भूल है, निर्जरा में भूल है, मोक्ष में भूल है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

इसी प्रकार यह नग्न है, वे सब साधु हैं, ऐसा भी नहीं है। नग्नपना अनन्त बार लिया है। अनन्त बार नग्नपना और पंच महाव्रत अनन्त बार लिये हैं। वह तो शुभभाव है, वह कहीं धर्म नहीं है। यहाँ क्या कहना है ? **संयमियों को निरन्तर सम्मत है,...** इसका अर्थ चलता है। चौथे गुणस्थान में और पाँचवें गुणस्थान में वीतरागता मानी है, परन्तु उन्हें प्रगटता में देरी लगती है। आहाहा! और मुनि को है, वह निरन्तर सम्मत है। सातवाँ (गुणस्थान) आवे, तुरन्त वीतरागता आती है। आहाहा!

उस समता को... आहाहा! मुनिराज स्वयं कहते हैं। पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि (कहते हैं)। **उस समता को मैं अत्यन्त भाता हूँ।** मैं तो वीतरागभाव को भाता हूँ। आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम आते हैं परन्तु उन्हें कहीं भाता नहीं हूँ। आहाहा! **समता को मैं अत्यन्त भाता हूँ।** भाषा देखी ? अकेला भाता हूँ, ऐसा नहीं कहा। **मैं अत्यन्त भाता हूँ।** ऐसा कहकर अपनी मुनिदशा की वीतरागता प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! जीव का जैसा वीतरागस्वभाव है, वैसा वीतरागी अंश चौथे (गुणस्थान) में प्रगट होता है और मुनि को तो वीतरागता तत्काल विशेष प्रगट होती है। इसीलिए वह मुक्ति सुन्दरी की सखी है। अल्प काल में उन्हें केवलज्ञान होगा, आहाहा! मति और श्रुतज्ञान यथार्थ हुआ। धवल में ऐसा कहते हैं कि यह मतिज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। ओहोहो! आहाहा! उसमें मतिज्ञान बुलाता होगा ? पाठ ऐसा है। मतिज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। बुलाता है अर्थात् अब उसे नजदीक में है।

जिसे मतिज्ञान सम्यक् हुआ, उसे केवलज्ञान अत्यन्त निकट में है। आहाहा! श्रीमद् ने तो ऐसा भी कहा है कि सम्यग्दर्शन होकर पश्चात् तू ऐसा कहे कि हमें अब भवभ्रमण करना है। हमारे यह नहीं चलता, भवभ्रमण अब नहीं होगा। ऐसा है, आहाहा! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जहाँ प्रगट हुआ, उसे अब भवभ्रमण नहीं है। तू इनकार कर कि अब केवलज्ञान नहीं चाहिए। नहीं चलेगा, ऐसा लिया है।

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन बलजोरी से खींचकर ले जाता है मोक्ष में ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा उसका स्वरूप ही है। सम्यग्दर्शन से पूर्ण आत्मा को जोर से पकड़ा है, इसलिए उसकी पर्याय बढ़ती ही जाती है। बढ़ जाने पर अल्प काल में केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा। आहाहा! ऐसा है। भाव-भाव। भाव-भाव। भाव है, उस भाव को... आहाहा! वीतराग के वचन बहुत सूक्ष्म हैं। लोगों को सुनने को मिले नहीं। बेचारे कुछ न कुछ रुक गये हैं। धर्म एक ओर पड़ा रहा। आहाहा! **उस समता...**

मुमुक्षु : मति-श्रुत को केवलज्ञान कितना दूर होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूर कुछ नहीं। वह तो किसी को अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होता है, किसी को एकाध-दो भव करना पड़ता है। परन्तु इस अनन्त काल के हिसाब से वे दो भव गौण कहे जाते हैं। जहाँ अनन्त भव हुए... आहाहा! उसमें दो-चार भव या पन्द्रह भव... श्रीमद् ने पन्द्रह कहे हैं। सम्यक्त्व होने के बाद पन्द्रह भव होते हैं। आगे न बढ़े तो (होते हैं)। आहाहा!

उस समता को मैं अत्यन्त भाता हूँ। अकेला भाता हूँ, ऐसा नहीं। **अत्यन्त भाता हूँ।** आहाहा! मुनि की दशा तो वीतरागभाव की ही होती है। वीतरागभाव की दशा और वीतरागभाव की ही भावना। वीतरागभाव का ही घोलन। आहाहा! ऐसी मुनिदशा। यह कहा। **अत्यन्त भाता हूँ** का अर्थ यह किया। १४० कलश हुआ।

श्लोक-१४१

(हरिणी)

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा,
निजमुखसुखवार्धिप्रस्फारपूर्णशशिप्रभा ।
परम-यमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमनःप्रिय-मैत्रिका,
मुनिवरगणस्योच्चैः सालङ्क्रिया जगतामपि ।।१४१।।

(वीरछन्द)

निजसन्मुख सुखसागर ज्वार-हेतु जो चन्दप्रभा-सम है।
परम संयमी जन की दीक्षारमणी मन को प्रिय सखि है॥
मुनि समूह अथवा त्रिलोक का जो अतिशय आभूषण है।
योगिजनों को भी दुर्लभ जयवन्त सदा यह समता है॥१४१॥

[श्लोकार्थः] जो योगियों को भी दुर्लभ है, जो निजाभिमुख सुख के सागर में ज्वार लाने के लिए पूर्ण चन्द्र की प्रभा (समान) हैं, जो परम संयमियों की दीक्षारूपी स्त्री के मन को प्यारी सखी है तथा जो मुनिवरों के समूह का तथा तीन लोक का भी अतिशयरूप से आभूषण है, वह समता सदा जयवन्त है॥१४१॥

श्लोक -१४१ पर प्रवचन

१४१ वाँ (कलश)।

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा,
निजमुखसुखवार्धिप्रस्फारपूर्णशशिप्रभा।
परम-यमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमनःप्रिय-मैत्रिका,
मुनिवरगणस्योच्चैः सालङ्क्रिया जगतामपि।।१४१।।

आहाहा! **जो योगियों को भी दुर्लभ है,...** वीतरागता योगियों को भी दुर्लभ है। समकितसहित की वीतरागता... आहाहा! **योगियों को भी दुर्लभ है,..** आहाहा! बोधिदुर्लभ भावना में ऐसा आता है न? समकित बोधि दुर्लभ है। इसी प्रकार यह भी दुर्लभ है। समता अर्थात् वीतरागता। **जो निजाभिमुख सुख के सागर में ज्वार लाने के लिए पूर्ण चन्द्र की प्रभा (समान) हैं,...** आहाहा! अन्दर की वीतरागता। शुभ और अशुभभावरहित, शुद्ध चैतन्य का उपयोग, शुद्धोपयोग, वीतरागभाव, समताभाव... आहाहा! **जो निजाभिमुख...** निज के सन्मुख, अभिमुख है। आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है, उसके अभिमुख - सन्मुख। सुख के सागर में वह **निजाभिमुख सुख के सागर में ज्वार लाने के लिए...** उस सुख के समुद्र में-पर्याय में ज्वार लाने के लिये। भाषा।

निजाभिमुख सुख के सागर में... अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद तो चौथे गुणस्थान

से आया है। यहाँ तो मुनि को अतीन्द्रिय आनन्द... आहाहा! वह सुख के सागर में ज्वार लाता है। आहाहा! पर्याय में सुख का सागर डोलता है, झूलता है, विशेष प्रगट होता है। आहाहा! ऐसा मुनिपना है। **पूर्ण चन्द्र की प्रभा (समान) हैं,...** सागर में ज्वार लाने के लिये पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा समान। पूर्ण चन्द्रमा होता है तो समुद्र में ज्वार आये बिना रहता ही नहीं। इसी प्रकार स्वसन्मुख उस सुख का सागर, उसे पर्याय में **ज्वार लाने के लिए पूर्ण चन्द्र की प्रभा (समान)...** समता है। समता अर्थात् रागरहित समता। पुण्य और पाप का भाव विषमता है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी विषमता है। वह समता नहीं है। आहाहा! उससे विरुद्ध पूर्ण चन्द्र की प्रभा समान वीतरागता है। आहाहा!

जो परम संयमियों की... परम संयमी सन्तों की... आहाहा! **दीक्षारूपी स्त्री के मन को प्यारी सखी है...** दीक्षारूपी स्त्री के मन को प्रिय सखी है। आहाहा! मुनि की दीक्षा हुई, वहाँ वीतरागता होती ही है। उसकी सखी है। साथ में होती है। अन्तर से जहाँ मुनिपना लिया। अन्तर से, हों! मात्र बाहर से ले, वह मुनि नहीं है। नग्नपना अकेला मुनिपना नहीं है। वस्त्रवाले तो मुनि हैं ही नहीं। कभी अज्ञानमय। वस्त्र छोड़कर नग्न हो, वह भी कहीं मुनि नहीं है। अन्तर की **परम संयमियों की दीक्षा...** वीतरागपने की जो दीक्षा थी। आहाहा!

जयधवल में तो ऐसा भी कहा है। मुझे तो शुद्धोपयोग में रहना, यह प्रतिज्ञा की है। शुद्धोपयोग में रहना, ऐसी मैंने प्रतिज्ञा की थी और यह पंच महाव्रत के परिणाम आये, वह मेरे प्रत्याख्यान का भंग हो गया। आहाहा! समझ में आया? मुझे तो शुद्धोपयोग में रहना अर्थात् वीतरागभाव में रहना है, यह मैंने प्रतिज्ञा की है। उसमें मैं नहीं रह सका, महाव्रत के परिणाम आये... आहाहा! व्यवहार समिति, गुप्ति आयी, भक्ति आयी; इसलिए मेरी प्रतिज्ञा में भंग पड़ा। फिर प्रतिज्ञा लेता हूँ। आहाहा! शुभ वीतरागता के अतिरिक्त मुझे कुछ दूसरा नहीं है। ऐसी वीतरागतासहित की मृत्यु समाधिमरण है। आहाहा! वह पच्चखाण करता है। मरण के समय ऐसे पच्चखाण करता है कि वह पंच महाव्रत का प्रमादभाव था, उसमें-अप्रमाद में रहना, वीतरागता में रहना ऐसी मैंने... उसमें यहाँ आकर इतना दोष लग गया, इसलिए फिर से प्रत्याख्यान करता हूँ। आहाहा! बातें सुनना कठिन पड़ती हैं। आहाहा! यशपालजी! जयधवल में है। क्या कहलाता है वह? जयधवल। जयधवल में ऐसा लेख है।

धवल, महाधवल और जयधवल। कि मुझे तो उपयोग को शुद्ध रखना है। शुद्ध उपयोग में रहना है, वीतरागरूप से रहना है, यह मैंने प्रतिज्ञा की थी। वह मैं शुद्ध उपयोग में रह नहीं सका और पंच महाव्रत आदि के परिणाम आये, इसलिए मेरी प्रतिज्ञा भंग हुई। अब मैं पण्डितमरण में वैराग्यवाला हूँ। वह प्रतिज्ञा लेता हूँ। शुद्ध उपयोग की प्रतिज्ञा। शुद्ध उपयोग वही मेरा स्वरूप है और मेरा संयम है। आहाहा! है ?

जो परम संयमियों की दीक्षारूपी स्त्री के मन को प्यारी सखी... अर्थात् क्या कहा ? मुनि जहाँ दीक्षा लेते हैं तो उन्हें वीतरागता ही होती है। सच्ची दीक्षा जो है, उसे वीतरागता ही होती है। आहाहा! है उसमें ? **परम संयमियों की दीक्षारूपी स्त्री के मन को...** समता अर्थात् वीतरागता **प्यारी सखी है...** वीतरागता तो उसकी प्रिय सखी है। आहाहा! सन्तों की वाणी, दिगम्बर सन्तों की वाणी भी अलग प्रकार की है। पूरी दुनिया से अन्तर है। नागा बादशाह से आघा। उन्हें बादशाह की पड़ी नहीं। कौन मानेगा, कौन कहेगा ? उसके घर में रहा। मार्ग तो यह है। आहाहा!

तथा जो मुनिवरों के समूह का तथा तीन लोक का भी अतिशयरूप से आभूषण है,... वीतरागता। समता अर्थात् वीतरागता। वह **मुनिवरों के समूह का...** जितने मुनि हैं, उन सबका। वीतरागभाव, वह उनका आभूषण है और तीन लोक का... आहाहा! यह मुनिपना... यशपालजी! आहाहा! यह तो थोड़ा कुछ छोड़े तो मुनिपना ले लो, व्रत ले लो, व्रत ले लो। आहाहा! **मुनिवरों के समूह का तथा तीन लोक का भी अतिशयरूप से आभूषण है,...** आहाहा! वीतरागता तो **अतिशयरूप से आभूषण है, वह समता सदा जयवन्त है।** वह समता वर्तती है, ऐसा कहते हैं। जयवन्त है अर्थात् वह वीतरागता मुझे वर्तती है। वह जयवन्त वर्तती है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव)

नोट—इस शृंखला में गाथा 105 का प्रवचन अनुपलब्ध होने से 1971 के वर्ष के प्रवचनों से लिया गया है — प्रवचन क्रमांक 100, 101, 102।

प्रवचन-१००, श्लोक-१४१, गाथा-१०५, शुक्रवार, श्रावण कृष्ण १५, दिनांक २०-०८-१९७१

निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार। वीतराग परिणतिरूप चारित्र, उसका यह प्रत्याख्यान अन्तर्भेद है। १४१ कलश है।

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा,
निजमुखसुखवार्धिप्रस्फारपूर्णशशिप्रभा।
परम-यमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमनःप्रिय-मैत्रिका,
मुनिवरगणस्योच्चैः सालङ्क्रिया जगतामपि।।१४१।।

क्या कहते हैं? कि आत्मा में वीतरागतारूपी समता प्रगट होना। राग तो अनादि का प्रगट होता है। पुण्य और पाप के विकल्प, वह तो विकार है, परन्तु वीतरागता धर्म का स्वरूप, वह सब शास्त्र का तात्पर्य भाव है। आत्मा में वीतरागतारूपी समता।

श्लोकार्थ : जो योगियों को भी दुर्लभ है... '**योगिनामपि दुर्लभा**' क्या आता है? दूसरे में आता है न? सेवना। सेवा तो योगियों को भी गहन है, ऐसा लोग कहते हैं। सेवा, सेवा। दुनिया की सेवा करना, वह तो योगी को दुर्लभ है—ऐसा एक पत्र में आया था। जैन के पत्र में, हों! यहाँ तो कहते हैं सेवा किसकी? पर की सेवा कर कहाँ सकता है? और पर की सेवा का भाव है, वह शुभभाव-पुण्य है, राग है, वह कहीं गहन नहीं है। एक पण्डित ने लिखा था। पत्र में आया है। 'सेवा योगिनापि गहनम्।' पण्डित था, उसने लिखा था। धूल भी गहन नहीं है। यह गहन तो योगियों को दुर्लभ वीतरागभाव कि जो वस्तु अखण्ड आनन्द प्रभु के उग्र आश्रय से प्रगट हो, उस आत्मा की सेवा से जो प्रगट हो, ऐसी वीतरागता योगियों को भी दुर्लभ है। आहाहा! समझ में आया? भीखाभाई! लोग ऐसा कहते हैं। पैसा-बैसा कुछ दिया हो, पाँच-पचास हजार और निवृत्ति ली हो, इसलिए ऐसा कि यह सेवा करते हैं, वह योगियों को भी दुर्लभ है। ऐसा।

यहाँ तो मुनि पद्मप्रभमलधारिदेव पंच महाव्रतधारी व्यवहार से थे। निश्चय से स्वरूप के धारक थे। वीतरागभाव, जिसे अन्तर भगवान निधान चिदानन्द प्रभु के अवलम्बन से, उग्र आश्रय से जिन्होंने वीतरागता प्रगट की है। यह प्रत्याख्यान और यह चारित्र है। जो योगियों को भी दुर्लभ है। सन्तों को भी अन्दर उग्ररूप से वस्तु का आश्रय लेकर

प्रत्याख्यान अर्थात् चारित्र की वीतराग परिणति प्रगट करना दुर्लभ है। पर का आश्रय छोड़कर अनादि से पर के संस्कार, पर का आश्रय, पर का अवलम्बन, यह अनादि से आदत में आ गया है। उसमें से कहते हैं कि आत्मा भगवान पूर्णानन्द प्रभु का उग्ररूप से आश्रय लेकर जो समता, वीतरागता होना, (वह) दुर्लभ है। आहाहा! यह पैसा मिलना दुर्लभ है, यह व्रत पालना दुर्लभ है, ऐसा यहाँ नहीं कहा।

मुमुक्षु : एक जगह कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा हो, वह तो स्वरूप की स्थिरता की अपेक्षा से। अन्दर स्वरूप की स्थिरता हो, उसे महाव्रत बड़े। ऐसा कहा है। महाव्रत महापुरुष पालन करते हैं। है न? पण्डितजी! महाव्रत है न, तो उसका अर्थ ऐसा करते हैं। उन्हें महापुरुषों ने पालन किया है। इसका अर्थ कि जहाँ स्वरूप की ध्रुव पर बहुत ही उग्रता के आश्रय से जो वीतरागता प्रगटी है, वहाँ आगे ऐसे पंच महाव्रत के विकल्प होते हैं। पालन की है स्वरूप की स्थिरता, परन्तु व्रत पालते हैं—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? जो समता। समता अर्थात् वीतरागता; वीतरागता अर्थात् चारित्र की रमणता, प्रत्याख्यान—यह सब एकार्थवाचक हैं। यह सब वस्तु भगवान... आहाहा! जिसने अपनी शक्ति पर अनन्त काल से नजर नहीं की। आहाहा! महा अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार, ऐसा परम स्व तत्त्व। उसका उग्ररूप से आश्रय लेना। जघन्यरूप से आश्रय लेना, वह समकित है। उग्ररूप से आश्रय लेना, उसका नाम चारित्र है। आहाहा! समझ में आया?

जो निजाभिमुख सुख के सागर में ज्वार लाने के लिए पूर्ण चन्द्र की प्रभा (समान) हैं,... आहाहा! स्वरूप के अवलम्बन से प्रगट हुई समता वीतराग निर्विकल्प दशा, वह निज अभिमुख सुख के सागर में... देखो! यह वीतरागता, स्वरूप के अवलम्बन से प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन, वह वीतरागता है। सम्यग्ज्ञान, वह वीतरागता है और सम्यक्चारित्र, ये तीनों ही वीतरागता है। कहते हैं कि जो समता-वीतरागता चारों ही अनुयोग का तात्पर्य है। चार शास्त्र-अनुयोग हैं न, उनका तात्पर्य वीतरागता है, समभाव है, समता है। वह समता... ऐसे समता रखना, राग की मन्दता की, उस समता की यह बात नहीं है। आहाहा! जिसमें वीतरागता, वस्तु के स्वभाव में... अरे! विश्वास (आना कठिन है)।

भगवान आत्मा में पूर्ण अचल वीतरागता के स्वभाव का भगवान भण्डार है। उसमें उसका आश्रय करके उसे ध्येय बनाकर जो वीतरागता प्रगट होती है, वह निज अभिमुख सुख के सागर में... आहाहा! कहते हैं कि अपने आत्मा के सन्मुख हुआ, अभिमुख हुआ सुख और उसमें से प्रगट हुआ सुख, ऐसे सुख के सागर में। आहाहा! सम्यग्दर्शन में भी सुख की दशा है। सम्यग्दर्शन प्रथम धर्मदशा, उसमें वह अतीन्द्रिय आनन्द के आश्रय से सुख की प्रशमता-शान्ति प्रगट हुई होती है। आहाहा! समझ में आया? यह तो निजाभिमुख उग्ररूप से सुख का सागर प्रगट हुआ है, कहते हैं। पर्याय। मुनिदशा की बात है न! आहाहा! अतीन्द्रिय सागर आनन्द वह नहीं, परन्तु उसके आश्रय से, उसमें एकाग्र होकर अतीन्द्रिय आनन्द का सागर उछला है, कहते हैं। आहाहा! कहो, सेठ! वह तुम्हारा सागर नहीं। आहाहा!

सुख के सागर में ज्वार लाने के लिए... ज्वार समझते हो? बाढ़। बाढ़ आती है। आहाहा! भगवान पूर्ण सुख का सागर, अपरिमित मर्यादारहित जहाँ सुख की दशा, जहाँ सुख का स्वरूप पड़ा है। भगवान अन्तर में उसके सन्मुख होकर, आहाहा! राग और निमित्त से विमुख होकर। यह नियमसार है न! नियमसार अर्थात् मोक्ष का मार्ग। उस वस्तु के निजाभिमुख—निज अभिमुख से प्रगट हुई आनन्द और वीतरागदशा है, उसका नाम मोक्ष का मार्ग परमात्मा फरमाते हैं। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा भी कहना चाहते हैं कि जो चारित्र अर्थात् समता भाव है, वह आनन्दरूप है, दुःखरूप नहीं। लोग ऐसा कहते हैं न? चारित्र तो बापू! लोहे के ग्रास हैं। दूध के दाँत से रेत... रेत समझते हो? बालू। बालू होती है न? रेत... रेत। दूध के दाँत से रेत चबाना। ऐसा चारित्र दुःख है, कठिन है। यह बात झूठी है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भाई! तुझे खबर नहीं। चारित्र तो आनन्ददायक है। उसे दुःखदायक मान (तो) तुझे वस्तु की खबर नहीं है। वह चारित्र अर्थात् पंच महाव्रत के परिणाम या नग्न की क्रिया, वह नहीं। भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर छलाछल भरा हुआ तत्त्व है। उसमें डुबकी मारकर - एकाग्र होकर जो आनन्द की लहर - भरती आती है, वर्तमान किनारे / पर्याय में। आहाहा! अरे! व्रत और कष्ट सहन तो करके देखो! व्रत कैसे कठिन हैं। अरे! ऐसा नहीं है, प्रभु! तुझे खबर नहीं है। आहाहा!

वह चारित्र तो **निजाभिमुख सुख के सागर में ज्वार लाने के लिए पूर्ण चन्द्र की प्रभा (समान)...** वीतरागता है। वह चारित्रता कहो, समता कहो, वीतरागता कहो, प्रत्याख्यान कहो। आहाहा! जैसे सागर में पूर्णिमा हो, तब उसका ज्वार बहुत आता है। पूर्णिमा हो न, पूर्णिमा? पूर्णिमा का चन्द्र। बहुत ज्वार आता है, बहुत बाढ़ आती है। चन्द्र को और सागर को ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। जब चन्द्र पूर्णिमारूप से खिला हो, तब समुद्र भी ऐसे ज्वार में-बाढ़ में उछल जाता है। दो-दो, तीन-तीन आदमी डूबें उतना उछलता है। यहाँ तो हमने देखा है। पोरबन्दर, पोरबन्दर में नजदीक से देखा है। वहीं सामने हम उतरे हुए थे। समुद्र के किनारे उतरने का स्थान कहलाता है। क्या कहलाता है वह? टाउनहॉल? ऊपर वहाँ उतरे हुए थे, वहीं समुद्र है इस ओर। बण्डी है ऊपर। समुद्र ऊपर से वह दिखता है। लहरें उछले, जब पूर्णिमा हो। चन्द्रमा। आज तो अमावस्या है। पूर्णिमा पूर्ण महीना होता है न! अमावस्या तो अर्धमास है। महीना पूरा होता है, तब चन्द्रमा पूर्ण होता है और समुद्र उछलता है, कहते हैं। आहाहा!

इसी प्रकार समता अर्थात् भगवान आनन्द के धाम का आश्रय लेकर-उग्र आश्रय लेकर जो समता और वीतरागता आयी, उस वीतरागता-सुख का सागर, जो ज्वार आता है, वह ज्वार लाने में चन्द्रमा के समान है। आहाहा! कहो, समझ में आया? अरे! प्रभु! तेरा सुख कहीं अन्यत्र नहीं है, ऐसा कहते हैं। शरीर में नहीं, पैसे में नहीं, इज्जत में नहीं। नहीं पाप के भाव में सुख, नहीं पुण्य के भाव में सुख। वह तो दुःख है। भगवान आत्मा के आनन्द का जहाँ आश्रय लिया है और समुद्र में जैसे गोता खाकर अन्दर पड़कर जैसे मोती लावे, वैसे भगवान आत्मा अपना स्वभाव-सागर में एकाग्र होकर... आहाहा! यह बात तो कोई बात है! दशा पलटकर दिशा पलट जाना। आहाहा!

निज अभिमुख—भगवान आत्मा के सन्मुख होकर जो आनन्द प्रगट होता है, वह आनन्द प्रगट होने में ज्वार को लाने में, यह पूर्ण चन्द्र की प्रभा समान समता है। आहाहा! ऐसा कहते हैं कि चारित्र में कहो, वीतरागता में कहो या समता कहो, उसमें आनन्द है-ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अरे! हमें सहन करना पड़ता है, नंगे पैर चलना पड़ता है, गर्म पानी पीना, (केश) लोंच कराना और यह तीक्ष्ण धार जैसे व्रत पालना... अरे! भगवान! क्या कहता है? भाई! यह तो बाह्य दृष्टि है। आहाहा! शब्द भी

कैसे प्रयोग किये हैं! मानो कम पड़ते हैं। भाई ने लिखा है न? पण्डितजी ने कहीं इसमें लिखा है या कहीं लिखा है? प्रस्तावना में लिखा है। शब्द कम पड़ते हैं। पाठ है न? देखो न **'निजमुख'** ऐसा है न? **'निजमुख'**। भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द का धाम है, उसके सन्मुख। निज के सन्मुख और विकार तथा संयोग से विमुख। आहाहा! यह कोई बात है! यह कहीं बातों से बैठे ऐसा है? आहाहा! जिसमें अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ है। ऐसी दशा है, उसे ऐसी कर डालना। निजसुख शब्द प्रयोग किया है। ऐसी जो समता, वह सुख के सागर की ज्वार लाने के लिये सागर में जैसे चन्द्रमा है, वैसे यह चन्द्रमा है। यह चन्द्रमा के समान है। शान्ति... शान्ति... शान्ति... ऐसा कहा।

जो परम संयमियों की दीक्षारूपी स्त्री के मन को प्यारी सखी है... जो वस्तु भगवान परम तत्त्व के अवलम्बन से - आश्रय से जो वीतरागता प्रगट हुई, वह वीतरागता परम संयमियों की दीक्षा / चारित्र, उसकी जो स्त्री। चारित्र दीक्षारूपी प्रव्रज्यारूपी स्त्री, उसके मन को प्रिय सहेली है। समता अर्थात् वीतरागता मुनियों को प्रिय है, ऐसा कहते हैं। राग प्रिय नहीं। आहाहा! समझ में आया? पंच महाव्रत के परिणाम वे प्रिय नहीं हैं - ऐसा इसमें कहते हैं, भाई! आहाहा! प्रिय नहीं हैं। आहाहा! समझ में आया? यह तो वीतराग के घर के मण्डप हैं। समझ में आया? यह वीतरागता के घर के मण्डप में किसके गीत होंगे? राग के (गीत) होंगे? कहो। विवाह के समय तो उठाओ कहा जाता है, यह ठीक नहीं कहलाता, लो। ....कहा जाता है, भाषा भी देखो न? कहा था न?

हमारे ऐसा हुआ था न, (संवत्) १९६४ के वर्ष। १९६४-६४। हमारे फावाभाई का विवाह था। चौदह वर्ष की उम्र, मेरी अठारह की। मैं उनका अणवर हुआ था। वह सम्हालने। गहने-बहने होवे न, मूल तो वे। उसमें उसके कारण बैठाने गये खड्डे में। मैंने कहा उठाओ। उनको ऐसा हुआ कि विवाह में उठाओ नहीं कहा जाता। हम तो भगत व्यक्ति। अपने को कुछ लोक की (खबर नहीं)। कहा, उठाओ। सेठ, उठाओ। समझे न उठाओ। उठाओ नहीं कहा जाता। विवाह के प्रसंग में उठाओ नहीं कहा जाता। ले चलो, ऐसा कहा जाता है। यह भाषा है। तेडो को तुम्हारी भाषा में क्या कहते हैं? उठाओ मुर्दे को उठाओ, ऐसा कहा जाता है। अपने को कुछ खबर नहीं होती। गाँव में विवाह और बाहर में गाड़ी थी। गाड़ी में बैठाने को। यहाँ उमराला। फावाभाई थे न अपने? फावाभाई, नहीं?

सूरतवाले। मनहर है या नहीं ? गया ? गया होगा। लोगों को गांडाभाई कहे। देखो भाई ! यह भगत है। इसके शब्द मंगलिक हैं। कोई अमंगलिक मानना नहीं। गांडाभाई को हमारी छाप थी न ! छोटी उम्र से छाप थी न सब। कहा... एक का एक लड़का, भाई ! एक का एक लड़का। छोटी उम्र। चौदह वर्ष का विवाह, चौदह वर्ष। चौदह वर्ष में। पहले तो... नहीं था न, इसलिए ऐसा कि कौन जाने कैसे होगा, विवाह कर दो। यह शब्द निकला और लोगों को ऐसा हो गया, यह क्या ? शंका करना नहीं, कोई सन्देह करना नहीं। यह भगत का वाक्य है। ऐई ! सेठी ! (संवत्) १९९६ में मेरे निकट ब्रह्मचर्य लिया, लो, यहाँ। १९६४ और १९९६, कितने हुए ? बत्तीस वर्ष। कुछ हुआ नहीं। उठाओ कहा तो कुछ (हुआ नहीं) व्यर्थ में लोगों का (वहम है)। यहाँ १९९६ के बाद तो कितने वर्ष रहे ? बहुत। ब्रह्मचर्य सजोड़े से यहाँ लिया था। फिर बहुत वर्ष रहे। पश्चात् गुजर गये। फिर यह दूधीबेन गये उनके घर में महिलाएँ... दुनिया में वचन छेंक, उसके भाव का आशय क्या है, उसे समझते नहीं।

यहाँ कहते हैं, आहाहा ! मुनियों को तो वीतरागता प्रिय है। ऐई ! सम्यग्दृष्टि को भी वीतरागता प्रिय है; राग प्रिय नहीं। होता अवश्य है। आहाहा ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : सब समझने योग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! एक-एक शब्द...

परम संयमियों की दीक्षारूपी स्त्री के मन को प्यारी सखी है... आहाहा ! भगवान आत्मा शान्ति से लबालब भरा हुआ। उसमें उछलकर ऐसी पर्याय प्रगट हुई, अन्दर स्वसन्मुखता होकर। ऐसी वीतरागता, ऐसा चारित्र, वह निश्चय प्रत्याख्यान। वह सन्तों को प्रिय है, वह दुःखदायक नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रव्रज्या। प्रव्रज्या, प्रव्रज्या नहीं ख्याल ? वह तो दीक्षा है। चारित्र। दीक्षा अर्थात् चारित्र कहो। स्वसन्मुख की स्थिरता। वह तो सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, तब शुद्धात्माभिमुख परिणाम से प्राप्त होता है। वह कहीं बाहर से नहीं होता। शुद्ध भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अन्दर, उसकी सन्मुख शुद्ध अभिमुख परिणाम। उससे सम्यक्त्व

होता है। और विशेष शुद्ध अभिमुख परिणाम से चारित्र होता है। परिपूर्ण जहाँ द्रव्य का आश्रय लिया, (वहाँ) केवलज्ञान होता है। आहाहा! चारित्र किसे कहना? यहाँ तो इसकी श्रद्धा का ठिकाना नहीं। नवतत्त्व में संवर-निर्जरा आता है न? वह संवर-निर्जरा यह चारित्र है। तो संवर-निर्जरा की दशा मुनि को कैसी होती है, तब उसे मुनिपना कहा जाता है, इसकी खबर नहीं (तो) नवतत्त्व की श्रद्धा का ठिकाना नहीं। आहाहा! पण्डितजी! यह तो बापू! नव भिन्न-भिन्न तत्त्व की अभी खबर नहीं। संवर-निर्जरा इतनी दशा होती है, तब उसे चारित्र कहा जाता है और आस्रव का इतना मन्द भाग होता है, तब उसे व्रत आदि कहा जाता है। इसे एक भी तत्त्व की भिन्न-भिन्न की वास्तविकता की खबर नहीं होती। अभिन्न एकाकार तो बाद में। समझ में आया?

जो चारित्र तो दीक्षा अर्थात् स्वरूप की स्थिरता करनेवाले, रमण करनेवाले मुनि को वह समता / वीतरागता अथवा चारित्र उनकी सखी है। प्रिय सखी है। आहाहा! वह प्रिय सखी है, ऐसा कहते हैं। (सखी को गुजराती में) बहिनपणी कहते हैं न? हिन्दी में कहते हैं या नहीं? बहिनपणी कहते हैं? बहिनपणी, यह प्रिय सखी होती है न? उसे (गुजराती में) बहिनपणी कहते हैं। हमारे यहाँ बहिनपणी कहते हैं। जैसे यह भाईबन्ध, भाई नहीं होते, भाईबन्ध। वैसे यह बहिन न हो तो बहिनपणी, ऐसा। आहाहा!

जो मुनिवरों के समूह का... आहाहा! वस्तु भगवान के आश्रय से प्रगट हुई समता-वीतरागता-निर्विकल्पता-चारित्रता, प्रत्याख्यान। वह **मुनिवरों के समूह का तथा तीन लोक का भी अतिशयरूप से आभूषण है,...** वीतराग तिलक तीन लोक में वह शोभता है, कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! चारित्र अर्थात् क्या? यह तो मानो यह वस्त्र छोड़ दिये और यह किया और हो गया। महाव्रत के विकल्प कुछ हों, शुद्धतारहित के। हो गया, जाओ! यह यहाँ कहेंगे १०५ में। यह समता भगवान आत्मा से प्रगट हुई। पूर्ण समता का कन्द नाथ आत्मा, उसमें प्रवेश होकर जो प्रगट हुई, ऐसी जो समता और चारित्र, प्रत्याख्यान। आहाहा! मुनिवरों के समूह को प्रिय है, आभूषण है। मुनि के समूह को वह आभूषण है। उसमें उनकी शोभा है। आहाहा! और तीन लोक का भी विशेषरूप से आभूषण है। आहाहा! धन्य! धन्य! वीतरागता द्रव्य के आश्रय से समता चारित्र प्रत्याख्यान तीन लोक का आभूषण है। जिसे सन्त धारण करते हैं, इन्द्र जिसे चाहते हैं। आहाहा! ऐसी जो

चारित्रदशा तीन लोक में भी... ऐसा। मुनिवरों को तो ठीक परन्तु तीन लोक में दूसरे सबको। आहाहा! स्वर्ग के देव भी (भावना) भाते हैं कि हम कब चारित्र अंगीकार करेंगे! वह चारित्र अर्थात् यह व्रत और नग्नपना, वह नहीं। कहते थे न? एक मारवाड़ी आया था तब। वहाँ उसे यह कहना था। चारित्र तो देव को नहीं है। यह तो महाव्रत का चारित्र मनुष्यपने में होता है। यह नग्नपना और महाव्रत मनुष्यपने में (होता है), इसलिए चारित्र अंगीकार करो। देव में चारित्र वहाँ नहीं होता, इसलिए यह चारित्र माना हुआ। अरे! यह चारित्र कैसा, यह तो अचारित्र है। आहाहा!

वह समता सदा जयवन्त है। ऐसा कहकर अपनी दशा की प्रसिद्धि करते हैं। हमारे आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई वीतरागता, वह जयवन्त वर्तती है। उसकी जय है। आहाहा! समझ में आया? सदा जयवन्त है, ऐसा कहा है न? आहाहा! हमारा भगवान, उसे अवलम्ब कर, आश्रय करके, ध्येय बनाकर जो वीतरागता—चारित्र प्रगट हुआ है, वह वस्तु जैसे जयवन्त वर्तती है वैसे, उसके आश्रय से प्रगट हुई चारित्रपर्याय भी जयवन्त वर्तती है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग तो देखो! ओहोहो! कहो, देवीलालजी! कितनी महिमा चारित्र की!

मुमुक्षु : द्रव्यचारित्र तो है... भावचारित्र...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु द्रव्यचारित्र हो, परन्तु द्रव्यचारित्र कहा कब जाए उसे? भाव प्रगट हुआ हो तो उसे द्रव्यचारित्र कहा जाता है। आता है पहला, बात सच्ची है। इसलिए कहते हैं न, पहले आवे न? चौथे, पाँचवें में आया हो तो उसको द्रव्यचारित्र कहा जाए। नहीं तो द्रव्यचारित्र किसका कहा जाए? वह तो चारित्र के दो प्रकार है कहाँ? चारित्र एक ही है। उसका निरूपण दो प्रकार से है। अरे! भगवान! आहाहा!

गाथा-१०५

णिक्कसायस्स दान्तस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसार-भय-भीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे।।१०५।।

निःकषायस्य दान्तस्य शूरस्य व्यवसायिनः।
सन्सारभयभीतस्य प्रत्याख्यानं सुखं भवेत्।।१०५।।

निश्चयप्रत्याख्यानयोग्यजीवस्वरूपाख्यानमेतत्। सकलकषायकलङ्कपङ्कविमुक्तस्य निखिलेन्द्रियव्यापारविजयोपार्जितपरमदान्तरूपस्य अखिलपरीषहमहाभटविजयोपार्जित-निजशूरगुणस्य निश्चयपरमतपश्चरणनिरतशुद्धभावस्य सन्सारदुःखभीतस्य व्यवहारेण चतुरा-हारविवर्जनप्रत्याख्यानम्। किञ्च पुनः व्यवहारप्रत्याख्यानं कुदृष्टेरपि पुरुषस्य चारित्रमोहोदय-हेतुभूतद्रव्यभावकर्मक्षयोपशमेन क्वचित् कदाचित् सम्भवति। अत एव निश्चयप्रत्याख्यानं हितं अत्यासन्नभव्यजीवानां; यतः स्वर्णनामधेयधरस्य पाषाणस्योपादेयत्वं न तथान्ध-पाषाणस्येति। ततः सन्सारशरीरभोगनिर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यानस्य कारणं, पुनर्भाविकाले सम्भाविनां निखिलमोहरागद्वेषादिविविधविभावानां परिहारः परमार्थप्रत्याख्यानं, अथवा-नागतकालोद्भवविविधान्तर्जल्पपरित्यागः शुद्धनिश्चयप्रत्याख्यानं इति।

जो शूर एवं दान्त है, अकषाय उद्यमवान है।
भव-भीरु है, होता उसे ही सुखद प्रत्याख्यान है॥१०५॥

अन्वयार्थ : [निःकषायस्य] जो निःकषाय है, [दान्तस्य] [१]दान्त है, [शूरस्य] शूरवीर है, [व्यवसायिनः] व्यवसायी (-शुद्धता के प्रति उद्यमवन्त) है और [संसार भयभीतस्य] संसार से भयभीत है, उसे [सुखं प्रत्याख्यानं] सुखमय प्रत्याख्यान (अर्थात् निश्चयप्रत्याख्यान) [भवेत्] होता है।

टीका : जो जीव निश्चयप्रत्याख्यान के योग्य हो, ऐसे जीव के स्वरूप का यह कथन है।

१. दान्त=जिसने इन्द्रियों का दमन किया हो ऐसा; जिसने इन्द्रियों को वश किया हो ऐसा; संयमी।

जो समस्त कषायकलंकरूप कीचड़ से विमुक्त है, सर्व इन्द्रियों के व्यापार पर विजय प्राप्त कर लेने से जिसने परम दान्तरूपता प्राप्त की है, सकल परीषहरूपी महा सुभटों को जीत लेने से जिसने निज शूरगुण प्राप्त किया है, निश्चय-परम-तपश्चरण में [१]निरत ऐसा शुद्धभाव जिसे वर्तता है, तथा जो संसारदुःख से भयभीत है, उसे (यथोचित शुद्धता सहित) व्यवहार से चार आहार के त्यागरूप प्रत्याख्यान है। परन्तु (शुद्धतारहित) व्यवहार-प्रत्याख्यान तो कुदृष्टि (-मिथ्यात्वी) पुरुष को भी चारित्रमोह के उदय के हेतुभूत द्रव्यकर्म के और भावकर्म के क्षयोपशम द्वारा क्वचित् कदाचित् सम्भवित है। इसीलिए निश्चयप्रत्याख्यान अति-आसन्नभव्य जीवों को हितरूप है; क्योंकि जिस प्रकार [२]सुवर्णपाषाण नामक पाषाण उपादेय है, उसी प्रकार अन्धपाषाण नहीं है। इसलिए (यथोचित् शुद्धता सहित) संसार तथा शरीर सम्बन्धी भोग की निर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यान का कारण है और भविष्य काल में होनेवाले समस्त मोह-राग-द्वेषादि विविध विभावों का परिहार, वह परमार्थप्रत्याख्यान है अथवा अनागत काल में उत्पन्न होनेवाले विविध अन्तर्जल्पों का (-विकल्पों का) परित्याग वह शुद्ध निश्चयप्रत्याख्यान है।

गाथा -१०५ पर प्रवचन

१०५ (गाथा)।

णिक्कसायस्स दान्तस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसार-भय-भीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे।।१०५।।

जो शूर एवं दान्त है, अकषाय उद्यमवान है।
भव-भीरु है, होता उसे ही सुखद प्रत्याख्यान है॥१०५॥

आहाहा! भाषा देखो न! अज्ञानी का प्रत्याख्यान दुःखमय होता है, ऐसा कहते हैं। आत्मा के शुद्धता के भान और अनुभव बिना जो कुछ पंच महाव्रत को ले, वह सब

१. निरत=रत; तत्पर; परायण; लीन।
२. जिस पाषाण में सुवर्ण होता है, उसे सुवर्णपाषाण कहते हैं और जिसमें सुवर्ण नहीं होता, उसे अन्धपाषाण कहते हैं।

दु:खरूप है-ऐसा बतलाना है। इसलिए तो यह पाठ है। पाठ है न? **'सुहं हवे'** उसके सामने रखा। उसको दु:खम्। आहाहा!

टीका : जो जीव निश्चयप्रत्याख्यान के योग्य हो... देखो! जो आत्मा अपने स्वरूप का अवलम्बन कर वीतरागता प्रगट होने के योग्य हो, **ऐसे जीव के स्वरूप का यह कथन है।**

जो समस्त कषायकलंकरूप कीचड़ से विमुक्त है,... कषायकलंकरूपी कादव / कीचड़। कषायकलंकरूपी कादव। देखो! कादव शब्द है न इसमें? हिन्दी में क्या है? कीचड़ है। हिन्दी में है। बराबर है। यह पंच महाव्रत के परिणाम को कषायकलंक कादव कहा है। सम्यग्दृष्टि को यह कादव है। राग है न? आहाहा! दु:ख से लिप्त भाव है। आहाहा!

कषायकलंकरूप कीचड़ से विमुक्त है,... चारित्र जिसे वर्तता है, ऐसा आगे कहना है न? ऐसी शुद्धता वर्तती है, उसे व्यवहार होता है-ऐसा कहते हैं।

सर्व इन्द्रियों के व्यापार पर विजय प्राप्त कर लेने से जिसने परम दान्तरूपता प्राप्त की है,... इन्द्रियों का दमन किया हो, इन्द्रियों को वश किया हो, ऐसा। है न नीचे? इन्द्रियों के विषय से विरक्त हुआ है। अतीन्द्रिय आनन्द के धाम में पहुँच गया है। अतीन्द्रिय सुख को पहुँच गया है, ऐसा कहते हैं। ऐसे मुनि, उनका यह चारित्र अथवा शुद्धभाव। **सकल परीषहरूपी महा सुभटों को जीत लेने से...** परीषहरूपी महा सुभट। आहाहा! जिसने जीता है, आनन्द से शान्ति से। वीतरागभाव से जिसने परीषह जीते हैं।

जिसने निज शूरगुण प्राप्त किया है,... यह निज शूरगुण प्राप्त किया है। शरीर की शूरता और बल की वह बात यहाँ नहीं है। विकल्प का बल, राग का वह नहीं। निज शूरगुण। आत्मा की वीरता गुण-पुरुषार्थ गुण जिसने प्राप्त किया है। शूरवीर है। स्वरूप में रमने के लिये वीर है। राग की रमत जिसने छोड़ दी है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो मुनि की बात है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह मुनि का भाव है, वह समकित में भी है न आंशिक? आंशिक है या नहीं उसे? उसे मुनिपना क्या है, इसकी श्रद्धा करनी है या नहीं? और उसे

भावना होती है या नहीं ? या मुनि के लिये है, हमारे कुछ नहीं है ? सेठ ! हमारे तो कुछ नहीं। बस यह धन्धा-बन्धा करना। समकिती को भावना होती है। आहाहा ! अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा- आता है न ? 'कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब' देखो ! गृहस्थाश्रम में है।

कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब,
सर्व भाव से उदासीन्य वृत्ति करि।

देखो ! समकिती की यह भावना होती है।

सर्व भाव से उदासीन्य वृत्ति करि।
मात्र देह वह संयम हेतु होय जब॥

श्रीमद् को लाखों का मोती का व्यापार था, ऐसा लोग कहे। उन्हें व्यापार था आत्मा का। अरे... अरे... ! गजब। समझ में आया ? लोगों को तत्त्व क्या है, (इसकी खबर नहीं होती)। 'सर्व भाव से उदासीन्य वृत्ति करि। मात्र देह वह संयम हेतु होय जब।' इसका नाम संयम। इसकी भावना समकिती भी भाता है। उसे भी जानकर, पहिचानकर भावना भाता है। हमारे कुछ नहीं, उन्हें है, ऐसा नहीं। विकासभाई ! मुक्ति चाहिए या नहीं ? मुक्ति, वह अनन्त आनन्द का धाम। जिसे सुख चाहिए, वह सुख तो मुक्ति में है और मुक्ति का कारण तो चारित्र है और चारित्र, सम्यग्दर्शन-ज्ञान होवे तो होता है। आहाहा ! समझ में आया ? देखो न ! कितनी भावना भायी है ! धन्धा था परन्तु संयम की भावना होवे न ! छहढाला में आता है न ? 'लेश न संयम, पै सुरनाथ जजै हैं।' तथापि वह चारित्र की भावना रखता है, यह आता है न ? उसमें काव्य आता है न। छहढाला में ऐसी एक कड़ी आती है। सब कहीं याद रहता है ? संयम धारण (कर) नहीं सकता परन्तु संयम धारण की छटाछटी। दौलतरामजी (भजन में कहते हैं)। यह आता है न ? संयम धारण नहीं कर सकता परन्तु संयम कैसे लूँ ? कैसे लूँ ? उसकी छटापटी लगी होती है। ऐ... सेठ ! ऐसे के ऐसे बीड़ी के धन्धे में पड़ा रहना और डालचन्द का मान मिले, बापूजी... बापूजी... (करे)। ऐसे होशियार लड़के पके और फिर बापूजी। अर्थात् और कैसे होंगे ?

मुमुक्षु : वे होशियार हुए तो हमें निवृत्ति मिली न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। यह झूठ बात है, ऐसा कहते हैं। पर के साथ क्या सम्बन्ध है ? आहाहा! और यह निवृत्ति क्या ? यह बाहर से निकले इतना। निवृत्ति तो राग से निवृत्ति होकर स्वरूप में जाए, उसे निवृत्ति कहते हैं। आहाहा! बाहर से निवृत्त हो, फिर वृद्ध होवे तो क्या करे ? वह करते हों तो फिर छोड़ो अपने। अपन करें, वह करते हैं। इतना सम्मत तो उसे आनन्द है, अनुमोदना है। हमारी ओर से वह करते हैं, भले। हमारे जो करना है, वह तो हम कर चुके। अब यह करते हैं, वह हम ही करते हैं। उसे मजा मानते हैं। यह सब पाप की अनुमोदना है। सेठ! यह तो ऐसा है। आहाहा!

कहते हैं **जिसने निज शूरगुण प्राप्त किया है,...** आहाहा! शरीर का बल नहीं, पुण्य का बल नहीं। धर्मात्मा ने तो आत्मा के निज शूरगुण को प्राप्त किया है। आहाहा! जो वीर्य स्वरूप का है, वह शुद्धता को रचे, ऐसा वीर्य प्रगट किया है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? उसे वीरता कहते हैं। बाकी तो कायरता है। आहाहा! **निज शूरगुण प्राप्त किया है, निश्चय-परम-तपश्चरण में निरत ऐसा शुद्धभाव जिसे वर्तता है,...** देखो! **निश्चय-परम-तपश्चरण में निरत...** साधुपने में। ऐसा शुद्धभाव मुनि को वर्तता है। लो, यह मुनि को शुद्धभाव होता है या नहीं ? आठवें में शुद्ध होता है, (ऐसा आजकल) कहते हैं। आहाहा! यह तो छठे की बात यहाँ तो करते हैं। जिसे शुद्धभाव वर्तता है, उसे व्यवहार प्रत्याख्यान इस त्याग का होता है, ऐसा यहाँ कहना है। आहाहा! समझ में आया ? यह तो भाई ने कहा है न! ऐसा कहते हैं। पद्मनन्दि ने कहा है न ? कहा है क्या ? सुन न। यह **'पच्चक्खाणं सुहं हवे'** इसका न्याय निकाला है। ऐसा जो आत्मा, जिसे पुण्य-पाप के रागरहित शुद्धभाव वर्तता है। उसकी भूमिका प्रमाण में चैतन्य के आनन्द का पवित्र भाव जिसे वर्तता है।

तथा जो संसारदुःख से भयभीत है,... चार गति के दुःख के समुद्र में पड़ना, इसका भय है। आहाहा! अरे! चौरासी लाख के अवतार। कहीं कोई शरण नहीं। निराधार चार गति में भटकना। आहाहा! धर्मी को इसका भय होता है। समझ में आया ? संसारदुःख से। संसारदुःख कहा। चारों गति के भव। देव भी संसारदुःख है। आहाहा! देव का भव भी संसारदुख है। यह अरबोंपति के सेठिया के भव, वह संसारदुःख है। कहो, सेठ! देखो, इसमें लिखा। संसारदुःख। ऐसा नहीं कहा कि अमुक का नारकी का दुःख या पशु का दुःख और देव का सुख। चारों ही गति के दुःख, (ऐसा कहा है)। आहाहा! ये सेठिया भी

कषाय की अग्नि के अंगारों में जल रहे हैं, सुलग रहे हैं, जल रहे हैं। पोपटभाई! लालिमायुक्त शरीर लगे। बँगले छह-छह लाख के बनाये, चालीस-चालीस लाख के बँगले। आहाहा! देव के बँगले में वह देव दुःखी है। आहाहा! जिसे स्व अवलम्बी तत्त्व प्रगट नहीं हुआ, पर अवलम्बन में ही विकल्पों की जाल में गुँथ गये हैं। ऐसे संसार का जिसे डर है। भवभय से भयभीत हैं। आहाहा! भवभय से डरे हैं। भव नहीं, हों! आहाहा! समकिती भवभय से भयभीत हैं। आहाहा!

जैसे सिंह को देखकर जवान व्यक्ति भागता है... वढ़वाण में, नहीं। लड़का मर गया। नहीं? आपटा का था। आपटा आता है न? ट्रैक्टर में... होता है। टीमर, बीड़ी का टीमर, छोटे पन्ने आते हैं न? छोटे। वे बड़े पन्ने। यह तो सब हमारे दुकान में थे न। सब देखा है, दुकान में सब रखा था। दुकान में धन्धा था। आपटा के पत्ते और टीमर का। दोनों की बीड़ी बनती है। उस लड़के को उसके पिता ने वढ़वाण भेजा। भाई! तू अब जा न। विवाहित, विवाह किया हुआ। तीन लोग साथ में भेजे। जंगल में आपटा के पत्तों का बड़ा ढ़ेर था। बीड़ियाँ आती हैं न? आपटा। आपटा को तुम्हारे क्या कहते हैं? वे छोटे पत्ते। हमारे यहाँ आपटा कहते हैं और टीमरू। एक-एक पत्ते की बीड़ी होती है, उसे टीमरू कहते हैं और वे दो-तीन पत्ते डाले। एक पत्ते को दूसरा करे और फिर तीसरा करे। छोटे-छोटे होते हैं न, इसके लिये लड़के को भेजा, हों! बड़ा ढ़ेर पड़ा हुआ था। तीन लोग साथ में रखे। उसमें ऐसे देखा सिंह। ढ़ेर के पीछे सिंह। सिंह - शेर। ऐसी चिल्लाहट मचायी। तुम पहिचानते होंगे। नहीं? वढ़वाण, पीछे रहते थे। हम वहाँ इतने में थे, उस समय में। लड़का भागा, भाई! बबूल पर चढ़ने। तीन लोग साथ में। लकड़ी रखी। क्या करे लकड़ी। तीनों चढ़ गये बबूल पर। सिंह आया इसलिए। वह चढ़ने गया वहाँ बबूल की लकड़ी कपड़े में उलझ गयी। चढ़ नहीं सका ऐसे कपड़ा उलझ गया। वहाँ सिंह आया, वे तीनों रखवाले थे, वे देखते थे। वह खाता था। रखवाले थे, वे ऊपर से देखते थे। नीचे सेठ का लड़का। कड़ा सोने का। सोने का कड़ा होता है न? क्या कहते हैं? सोने का कड़ा कहते हैं न? वह अकेला पृथक् कर डाला और उसे पूरा खा गया। फिर नीचे उतरे। वह सिंह चला गया। आहाहा! ऐसा संसार। उस संयोग के कारण दुःख है, ऐसा नहीं है। यह आकुलता है, वह दुःख है। इस संसार का ज्ञानी को आकुलता से भय वर्तता है। आहाहा! अरे! चौरासी के अवतार।

कहते हैं **संसारदुःख से भयभीत है,...** आहाहा! **उसे (यथोचित शुद्धता सहित)...** अब लेते हैं, देखो! देखो! यह शुद्धता छठे सहित की बात है, भाई! छठे की बात है। कोई कहे छठे गुणस्थान में शुद्धता नहीं होती। यह क्या कहते हैं? अरे! चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान की शुद्धता है। स्वरूपाचरण, वह भी शुद्धता है। आहाहा! पाँचवें गुणस्थान में भी शुद्धता विशेष बढ़ गयी है। छठवें में विशेष शुद्धता है। ऐसी शुद्धतावाला मुनि। अब देखो, न्याय तो कितना दिया है! व्यवहार से चार आहार के त्यागरूप प्रत्याख्यान है। व्यवहार। आहार करके चार आहार का त्याग, वह व्यवहार है परन्तु ऐसी शुद्धता सहित होवे उसे। आहाहा! समझ में आया? ऐसी शुद्धता भगवान आत्मा की, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता प्रगट हुए बिना अकेले चार आहार का त्याग करे, वह व्यवहार प्रत्याख्यान भी नहीं है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! कितनी स्पष्ट बात की है! ऐसी यथोचित। छठी भूमिका के योग्य जो शुद्धता, सम्यग्ज्ञान, चारित्र, दर्शन-चारित्र की जो शुद्धता। रागरहित वीतरागता प्रगट हुई है, वह चारित्र और वह प्रत्याख्यान है। उसे आहार करके चार आहार का त्याग वह व्यवहार प्रत्याख्यान है। वह विकल्प है। समझ में आया? निश्चय और व्यवहार के साथ में हो, ऐसा कहते हैं। निश्चय शुद्धता न हो और व्यवहार प्रत्याख्यान हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : छठवें तक तो अकेला व्यवहार होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेला व्यवहार कभी नहीं होता। अकेला निश्चय होता है। केवली हो गये उन्हें। परन्तु अकेला व्यवहार साधक को नहीं हो सकता। अज्ञानी को व्यवहार, वह व्यवहार नहीं है। निश्चयरहित व्यवहार कैसा? समझ में आया? व्यवहार से चार प्रकार के आहार के त्यागरूप प्रत्याख्यान है।

परन्तु (शुद्धतारहित)... सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति अन्दर प्रगट नहीं हुई। **(शुद्धतारहित) व्यवहार-प्रत्याख्यान तो...** मिथ्यादृष्टि को होता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? जहाँ राग का भी कर्तव्य नहीं और स्वरूप के कर्तव्य की दशा की स्थिरता प्रगट हुई है, उसे व्यवहार प्रत्याख्यान कहने में आता है। विकल्प उठे उसे। परन्तु इस शुद्धतारहित। जिसने स्व भगवान का आश्रय नहीं लिया और अवलम्बनरहित पवित्रता जिसे प्रगट नहीं हुई, वह पवित्रतारहित जो व्यवहार लेकर बैठे, वह मिथ्यात्वी **कुदृष्टि**

(-मिथ्यात्वी) पुरुष को भी चारित्रमोह के उदय के हेतुभूत द्रव्यकर्म के और भावकर्म के क्षयोपशम... अर्थात् इतना पुरुषार्थ है न, ऐसा। राग की मन्दता की है, इतना क्षयोपशम। यह वास्तविक क्षयोपशम नहीं है। द्रव्य क्षयोपशम। यह क्या कहा? भाव क्षयोपशम नहीं। इसमें से सब निकालते हैं न? सामनेवाले श्वेताम्बर और वे। हमारे राग की मन्दता की क्रिया, वह क्षयोपशमभाव है। वह करते-करते क्षायिक होगा, ऐसा कहते हैं। मिथ्या बात है। उदयभाव है परन्तु मिथ्यादृष्टि ने जरा राग में पुरुषार्थ से मन्द किया है, मन्द किया है, इसलिए उसे जरा क्षयोपशम कहने में आता है।

मुमुक्षु : वास्तविक नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वास्तविक नहीं। पंचास्तिकाय में ऐसा अधिकार आता है। समझ में आया? उसे तो वास्तव में तो **चारित्रमोह के उदय के हेतुभूत...** ऐसा है। द्रव्यकर्म और भावकर्म। इसका कुछ पुरुषार्थ है न इतना। मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, शुद्धता के अनुभवरहित है। उसका इस राग की मन्दता का प्रत्याख्यान व्यवहार से कहने में आता है। क्षयोपशम है, ऐसा कहा। **क्वचित् कदाचित् सम्भवित है।** किसी समय किसी को ऐसा होता है। नौवें ग्रैवेयक गया, तब ऐसा था। व्यवहार प्रत्याख्यान। समझ में आया?

यह तो हमारे बड़ी चर्चा हुई थी। राणपुर। कौन सी चर्चा? (संवत्) १९८०। ८० का वर्ष। १९७९ का चातुर्मास लींबडी था। हमारा था बोटाद। दोनों राणपुर इकट्ठे हुए। १९८० के वर्ष। ४७ वर्ष हुए। तब प्रश्न चला था। मूलचन्दजी थे और यह जैचन्दजी (थे)। दोनों के बीच नीचे चर्चा चलती थी। मैं ऊपर था। राणपुर, मंजिल है न? नौवें ग्रैवेयक मिथ्यादृष्टि गया, इतना चारित्र का क्षयोपशम है, इतना उस पुरुषार्थ का क्षयोपशम है - ऐसा कहते थे। भाई! उन्हें यह कुछ ऐसी खबर नहीं थी परन्तु उन्हें... है न? भेद भंग में आता है। वे लोग मानते हैं। श्वेताम्बर तो वही मानते हैं। हमारा व्यवहार करते हैं भले, वह व्यवहार क्षयोपशमभाव से है। ऐसा करने से निश्चय होगा। व्यवहार, वह उदयभाव है। निश्चय से तो उदयभाव है। व्यवहार से जरा राग की मन्दता का पुरुषार्थ है, इसलिए क्षयोपशम कहा है, परन्तु वह कुछ संवर-निर्जरा नहीं है। अकेला बन्ध का ही कारण है। आहाहा! यह प्रश्न तब चला था। फिर मैं नीचे उतरा, तब यह बात चलती थी। मुझसे कहा, यह? मैंने कहा, नहीं। अनन्त बार गया, वह क्षयोपशम नहीं है परन्तु उदयभाव है। ऐई!

सैंतालीस वर्ष पहले, हों! पचास में तीन कम। यह क्षयोपशमभाव नहीं। ऐ... ! भीखाभाई!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : चारित्र का क्या कहते हैं ?

मुमुक्षु : ...कर्म का क्षयोपशम हो, इसमें क्षयोपशम कैसे कहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें क्षयोपशम यह तो कहा न, मन्द किया न! राग की मन्दता का वीर्य है, इतनी अपेक्षा से कहते हैं। कहा, दो-तीन बार कहा। ख्याल तो होता है न, यह क्या कहना है। यह तो हमारे पचास वर्ष से चलता था। यह कोई नया नहीं है। समझ में आया ? ऐ.. पोपटभाई! तुम सब अभी नये आये। उदयभाव है, परन्तु तीव्र की अपेक्षा से मन्द को क्षयोपशम द्रव्यनिक्षेप से कहा है; भावनिक्षेप से नहीं - ऐसा कहा था। ऐई! वस्तु तो ऐसी है। भावनिक्षेप से नहीं। अनुयोग का, ऐसा अनुयोग द्वार में पाठ है। अनउपयोग वह द्रव्य है। जिसमें भाव उपयोग प्रगट नहीं हुआ, वह सब द्रव्य है। शुद्ध उपयोग के बिना भाव नहीं हो सकता। भावनिक्षेप। यह कदाचित् होता है। लो। अब इसकी विशेष बात है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१०१, श्लोक-१४१-१४२, गाथा-१०५-१०६,
शनिवार, भाद्र शुक्ल १, दिनांक २१-०८-१९७१

---

१०५ गाथा, नियमसार। निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार अर्थात् सच्चा चारित्र। रागादि दोषों का स्वभाव और आत्मा शुद्ध पवित्र आनन्दकन्द सच्चिदानन्दस्वरूप, उसका आनन्द और शान्तिरूप परिणमन अवस्था का होना, इसका नाम प्रत्याख्यान और इसका नाम मोक्ष का मार्ग है। वह यहाँ पहले बात की। व्यवहारप्रत्याख्यान तो अज्ञानी को होता है। राग की मन्दता करे। होता है, वह तो मिथ्यात्वसहित पुण्यबन्ध का (कारण है)। यहाँ आया है न, दूसरी लाईन ? **इसीलिए निश्चयप्रत्याख्यान...** पृष्ठ २०४ टीका की दूसरी लाईन।

व्यवहारप्रत्याख्यान अर्थात् जिसके आत्मा का भान नहीं, आत्मा सच्चिदानन्द निर्मलानन्दस्वरूप है, ऐसा जिसे आत्मज्ञान नहीं, वह जीव मिथ्यादृष्टि राग और पुण्य को

अपना माननेवाला, उसे राग की मन्दता का कुछ पुरुषार्थ होवे तो उसे व्यवहारप्रत्याख्यान कहा जाता है परन्तु वह कुछ धर्म नहीं है। इसीलिए निश्चयप्रत्याख्यान-सच्चा राग का त्याग और सच्चा सच्चिदानन्द प्रभु ऐसा आत्मा, उसके आश्रय से-अवलम्बन से प्रगट हुई आनन्द की और शान्ति की निर्दोष दशा, वही प्रत्याख्यान **अति-आसन्नभव्य जीवों को हितरूप है;...** आहाहा!

अनादि अनभ्यास चैतन्य की जाति का। भगवान आत्मा तो शावश्त वस्तु है। सत्... सत् है वह और उसका शाश्वत स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द है। अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द है, वह उसका स्वभाव, उसका—आत्मा का—स्वरूप है परन्तु उसका अभ्यास नहीं। अनादि राग और पुण्य-पाप की क्रियाओं के परिणाम जो कृत्रिम विकार अनित्य है, उसका अभ्यास है; इसलिए उसे आत्मा का नित्यपना और उसके अवलम्बन से होनेवाली शुद्धता की दशा कैसी होती है, इसकी उसे खबर नहीं है। कहो, सेठ! एक तो यह बाहर के धन्धे के कारण निवृत्त नहीं होता।

मुमुक्षु : नहा-धोकर पवित्र होकर तो आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ अभी वे लड़के काम करें, वे हमारी ओर से करते हैं और ठीक करते हैं, यह सब पतंग साथ में हाथ में रखकर बैठे हैं। पतंग... पतंग..। पतंग दूर उड़ती हो न, तो उसका डोरा हाथ में होता है।

मुमुक्षु : पतंग कब्जे में रहती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; जब खींचना हो, तब खींचे; छोड़ना हो तो छोड़ा जाए। ऐसा सब दुकान का धन्धा हम करते थे, राग, वे यह लड़के करते हैं, वह ठीक करते हैं, इसलिए बात तो वह की वह है। आहाहा! अरे..! इसने अनादि का सदोष विकारभाव का व्यापार किया है, बीड़ी का व्यापार नहीं, हों! तम्बाकू, बीड़ी का व्यापार, वह तो जड़ है, उसका कोई व्यापार कर नहीं सकता। उसमें होनेवाला राग और द्वेष का भाव, पुण्य-पाप का भाव, इसका इसने व्यापार किया। तब जो यह वस्तु है, वह तो नाशवान है, पुण्य-पाप तो नाश होने योग्य है; इसलिए उसका अर्थ यह कि पुण्य-पाप का भाव शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव में नहीं है। नहीं तो नाश होनेयोग्य नहीं हो सकता। शरीर, वाणी तो नाशवान है, यह तो अलग बात है। यह तो परवस्तु है, मिट्टी है परन्तु अन्दर में पुण्य-पाप का राग और विकल्प होता

है, वह अभाव किया जा सकता है, नाश किया जा सकता है। इसलिए वह चीज़ इसकी नहीं है। कहो, पोपटभाई! इसकी नहीं, उसका इसने व्यापार किया।

मुमुक्षु : यह चोर हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चोर है। आहाहा!

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द परमानन्द की मूर्ति आत्मा तो है। सत् शाश्वत् चिद् ज्ञान और आनन्द, ऐसा उसका स्वरूप है परन्तु अनन्त काल में कभी उसकी सम्हाल और पुरुषार्थ नहीं किया। आहाहा! इसलिए इसने पुण्य और पाप के भाव, शुभ-अशुभराग जो त्यागनेयोग्य है, इसके घर में नहीं है, उसका व्यापार किया; इसलिए चार गति में भटका है। आहाहा! इसलिए कहते हैं कि अज्ञान में आत्मा के भान बिना कोई दया, दान, व्रत के परिणाम करे तो उसमें राग की कुछ मन्दता होवे तो इससे उसे अज्ञानी को व्यवहार-प्रत्याख्यान कहने में आता है परन्तु वह तो कहीं जन्म-मरण को टालने का हेतु नहीं है। वह तो कर्म के बन्ध और कारणरूप हेतु है। आहाहा!

इसीलिए निश्चयप्रत्याख्यान... ऐसा कहते हैं। इस कारण निश्चय अर्थात् सच्चा आत्मा का स्वरूप जो आनन्द और ज्ञान है, उसकी दशारूप परिणमित होना, होना और पुण्य-पाप के राग के अभावरूप होना, वह सच्चा त्याग और सच्चा धर्म और सच्चा चारित्र कहने में आता है। भारी सूक्ष्म, भाई! अरे! यह निश्चयत्याग अर्थात् राग का अभाव और भगवान आत्मा निर्दोष पवित्र का पिण्ड प्रभु, उसमें से प्रगट हुई पवित्रता, यह पवित्रता, वह मोक्ष का मार्ग है।

मुमुक्षु : जब तक सच्चा समझ में न आये तब तक....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अज्ञान से करता है। उसमें विशिष्टता की क्या बात हुई? यह तो किया है। यह बात करते हैं। अनादि से चार गति में घानी में पिलता है, ऐसा इसने किया है। आहाहा! अरे! जिसका निजस्वरूप पवित्र और आनन्द का धाम प्रभु, उसके सन्मुख देखे बिना पर के सन्मुख देखकर पुण्य और पाप, राग और द्वेष, संकल्प और विकल्प किये हैं। यह तो अज्ञानी अनादि से करता है और उससे चार गति में भटकता है। आहाहा! यह कहीं नयी चीज़ नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं यह व्यवहारप्रत्याख्यान भी कोई नयी चीज़ नहीं है, ऐसा कहते हैं और यह हितरूप भी नहीं है। ऐसा हुआ न भाई! इसमें? यह हितरूप नहीं है। आहाहा! आत्मा के भान बिना, अनुभव बिना जो कुछ राग का क्रियाकाण्ड—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, (करुणा, कोमलता किये), वह कुछ हितरूप नहीं है। आहाहा! जो आसन्न भव्य जीव है, जिसे निकट में मुक्ति का मार्ग और मुक्ति जिसे नजदीक है, आहाहा! ऐसे जीव को तो सच्चा त्याग अर्थात् राग का अभाव और निर्दोष स्वभाव का सत्यपना प्रगट होना। आत्मा जैसा निर्दोष पिण्ड है, उसमें से निर्दोषता स्व का आश्रय लेकर प्रगट हो, यह निर्दोषता वह अति आसन्न भव्य जीव को हितरूप है। आहाहा! समझ में आया?

क्योंकि जिस प्रकार सुवर्णपाषाण नामक पाषाण उपादेय है,... क्या कहते हैं? यह सोने का पत्थर निकलता है न? सोना होवे और पत्थर साथ में हो, उसे सुवर्णपाषाण कहते हैं। पश्चात् पिघलाकर पृथक् करते हैं न? पत्थर को पृथक् करते हैं और सोने को (पृथक् करते हैं)। वह **सुवर्णपाषाण नामक पाषाण उपादेय है,...** उसमें से सोना निकलता है। समझ में आया? और उस सोने के साथ में पत्थर है न? व्यवहार से वह उपादेय है। यह बात जरा ध्यान रखने जैसी है। अन्त में यह कहेंगे। समझ में आया? आगे कहेंगे। व्यवहार और निश्चय स्वीकृत है। १६० में कहेंगे। निश्चयप्रत्याख्यान और व्यवहारप्रत्याख्यान स्वीकृत करे। अन्तिम सार है न? उसका हेतु यह है, कहने का आशय ऐसा है कि जैसे स्वर्णवाला पत्थर, वह उपादेय कहने में आता है क्योंकि सोनासहित पत्थर है न? इसलिए उसे पृथक् करने के लिये वह उपादेय है। उपादेय समझ में आया? आदरणीय है। परन्तु वह राग व्यवहार में उपादेय... व्यवहारप्रत्याख्यान ऊपर आया न? ऊपर आया न? चार आहार का त्याग करे। उसके साथ यह सन्धि है। आहार के त्यागरूप प्रत्याख्यान व्यवहार से है। जरा सूक्ष्म बात है। आहाहा!

मुनिराज ऐसा कहना चाहते हैं कि जिसे भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति परमानन्द का धाम ऐसा जिसने दृष्टि में लिया है और स्वरूप में स्थिर हुआ है, उसे तो सच्चा पच्चक्खाण और सच्चा चारित्र कहते हैं, परन्तु वैसे चारित्र शुद्धता के भानसहित की भूमिका में चार (प्रकार के) आहार का त्याग आदि जो आता है, ऐसा विकल्प, वह भी एक व्यवहार-प्रत्याख्यान है। वह भी व्यवहार से आदरणीय कहा जाता है। व्यवहार से व्यवहार आदरणीय; निश्चय से निश्चय आदरणीय—ऐसा कहते हैं।

फिर से। ऊपर कहा था न? निश्चयसहित है, वह त्यागरूप प्रत्याख्यान है। जहाँ स्वरूप का अन्तर आनन्द और अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु, उसका जहाँ अनुभव हुआ, आनन्द का अनुभव, शुद्धता की दशा वर्तती है, उसे जो व्यवहारत्याग का विकल्प आता है, उसे व्यवहारप्रत्याख्यान / व्यवहारत्याग कहने में आता है - ऐसा कहते हैं। अर्थात् कि **सुवर्णपाषाण नामक पाषाण उपादेय है, उसी प्रकार अन्धपाषाण नहीं है।** अर्थात्? जिसमें सोना नहीं है, वह पत्थर भी उपादेय नहीं है। व्यवहार से भी। अर्थात् **(यथोचित् शुद्धता सहित)...** देखो, आत्मा में ज्ञानानन्द और शुद्ध चैतन्यप्रभु का अन्तर आश्रय लेकर जो शुद्धता प्रगट हुई है, उस शुद्धतासहित **संसार तथा शरीर सम्बन्धी भोग की निर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यान का कारण है...** समझ में आया? देवीलालजी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बात यह। जहाँ आगे शुद्ध प्रभु चैतन्यमूर्ति की शुद्धता जिसने अन्तर में चैतन्य को अनुभव करके, आत्मा का अनुभव करके और प्रगट शुद्धता की है, उस शुद्धतासहित **संसार तथा शरीर सम्बन्धी भोग की निर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यान का कारण है...** यह सच्चा चारित्र और राग का सच्चा त्याग। समझ में आया? परन्तु वह अन्धपाषाण जो है, अकेला अन्धपाषाण अर्थात् निश्चय शुद्धता के भान बिना अकेली राग की मन्दता का त्याग व्यवहारप्रत्याख्यान, वह अन्धपाषाण है।

मुमुक्षु : व्यवहार से उपादेय....

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से उपादेय नहीं। समझ में आया? धीरे से समझनेयोग्य (बात है) बापू! अनन्त काल में आत्मा वस्तु भगवान देह से भिन्न है और पुण्य-पाप के राग से भी भिन्न है, उस भिन्न की बात कहेंगे। भिन्न करने का अभ्यास। समझ में आया?

इस प्रकार अन्तर्मुख में जाकर और राग से भिन्न पड़ने की जो कला, वह जिसने प्रगट नहीं की, उसका रागादि की मन्दता का त्यागभाव अन्धपाषाण जैसा है। ऐई! व्यवहार अकेला अन्ध है, ऐसा कहा।

मुमुक्षु : शुद्धता के साथ न हो, उसमें कुछ...

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्धता के साथ होवे तो उस व्यवहार का आरोप कहा जाए, तो

व्यवहारप्रत्याख्यान कहा जाए। आहाहा! समझ में आया? भगवान जागकर देखा हो उसने। मेरी पूँजी, मेरे निधान में तो आनन्द और शान्ति और ज्ञायकता चैतन्यस्वभावभाव भरा है। ऐसी निज पूँजी को... ऐ... सेठ! यह तुम्हारी पूँजी-बूँजी को धूल को नहीं, ऐसा कहते हैं। वे सब दुःख के निमित्त हैं, तुम्हारी धूल। ऐ.. सेठ!

मुमुक्षु : तो क्या डाल देना नदी में?

पूज्य गुरुदेवश्री : डाल दी है, वह कहाँ डाल दे? इसने दी है? ममता ली है इसने तो। ममता। वह तो जिसके स्थान में है, वह पड़ी ही है। समझ में आया? आहाहा!

मुनि निश्चय और व्यवहार दो की सन्धि करते हैं। सोने का पत्थर सुवर्णपाषाण है। वह तो लेकर भेद करने की स्थिति करनी चाहिए। उसमें राग की मन्दता का भाव और राग के अभाव का भाव। उस शुद्धतासहित यदि यह होवे तो इसे व्यवहार कहने में आता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : उपादेय...

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से उपादेय कहा न? व्यवहारनय से व्यवहार उपादेय है। इसलिए छठवें में कहेंगे, व्यवहारप्रत्याख्यान को स्वीकृत करते हैं-अंगीकृत। गाथा का अन्तिम योगफल है न? व्यवहार है न! व्यवहार है। व्यवहार से आदरणीय और व्यवहार से पालन करे, ऐसा भी कहने में आता है।

मुमुक्षु : व्यवहार से पूज्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से पूज्य है। व्यवहार से व्यवहार पूज्य है। व्यवहार से व्यवहार पूज्य न हो तो भगवान त्रिलोक के नाथ भी पूजनीक नहीं हो सकते, व्यवहार से। पद्मनन्दि में यह आता है। पद्मनन्दि में पाठ आता है। व्यवहार से पूज्य है, ऐसा आता है। व्यवहार से व्यवहार पूज्य है। निश्चय में पूज्य नहीं। आहाहा! दो वस्तु है न? दीपचन्दजी ने तो बहुत लिखा है। व्यवहार त्याज्य है, त्याज्य है परन्तु जिसे... नहीं तो तीन लोक के नाथ का भी त्याग हो जाएगा। अध्यात्म... वह क्या कहलाता है? पंच संग्रह। उसमें लिखा है। श्लोक है। दीपचन्दजी (ने लिखा है)। व्यवहार से व्यवहार है इतना; और पूज्य भी व्यवहार से कहा जाता है। निश्चय से दूसरी चीज़ है। निश्चय और व्यवहार दोनों को यहाँ

सिद्ध करना है न! समझ में आया? आहाहा! वाणी भी पूज्य है, ऐसा नहीं आया? पहले में निषेध किया और दूसरे में हाँ किया। किस अपेक्षा से?

मुमुक्षु : उसमें वापस.... निकाला, वह तो जड़ है, जड़ को कैसे...?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जड़ है परन्तु सर्वज्ञ अनुसारिणी है, ऐसा कहा। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा को अनुसरण करके अर्थात् निमित्त होकर बाहर आयी है। उसमें निमित्तपना वाणी में भगवान का ज्ञान है। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान का ज्ञान जड़ में कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आया है कहाँ? किसने कहा? निमित्त कहा न! देवीलालजी! ऐसा मार्ग है, भगवान! ऐ... पाटनीजी! देखो! इसमें है, सर्वज्ञ-अनुसारिणी। अनुसारिणी अर्थात् निमित्त को अनुसारिणी इतना। कहीं सर्वज्ञ के भाव वाणी में आये हैं? वाणी में तो वाणी के-जड़ के भाव हैं, परन्तु वह व्यवहार कहना है न!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान वाणी में क्या आवे? वाणी तो जड़ है। जड़ के द्रव्य, गुण, पर्याय जड़ हैं। उनमें चैतन्य का अंश कहाँ से आया? यह तो उस वाणी के परिणमन के काल में सर्वज्ञ का ज्ञान निमित्त है, इतना लेकर, निमित्त अनुसारिणी है—ऐसा कहने में आता है। आहाहा! यह तो बात... वचन भी कथंचित् वस्तु... है न? कह सकती है वाणी, सर्वथा... अवक्तव्य है-ऐसा कहाँ होगा? भगवान तो विकल्परहित, आत्मा तो वाणीरहित है परन्तु उस काल में सर्वज्ञ परमात्मा आत्मा हुआ। जो सर्वज्ञस्वभाव आत्मा में था, उसे घोलकर अन्दर में से सर्वज्ञपना पर्याय अन्तर में से प्रगट की, अब उसे वाणी उस काल में निकली, वह वाणी ऐसी ही होती है। उस वाणी में स्व-पर प्रकाशक कहने की ताकत है। स्व-पर जानने की ताकत नहीं। ताकत है। केवलज्ञानी का केवलज्ञान कैसा होता है, उसे कहने की वाणी में ताकत है, ऐसा कहते हैं। ऐई...!

मुमुक्षु : उसे भी उपादेय कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से उपादेय कहा। निश्चय से कहाँ है? सर्वज्ञ कैसे होते हैं, सिद्ध कैसे होते हैं? ऐसा वाणी में कहने की ताकत है, तथापि वह सिद्ध रूप और केवलज्ञान का रूप वाणी में कुछ नहीं आया। समझ में आया? आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। देखो न! इसलिए लिया न? स्पष्टीकरण किया है, पण्डितजी ने डाला है। **(यथोचित् शुद्धतासहित)...** अर्थात् सोनेवाला पत्थर, सुवर्णपाषाण। उसमें अच्छा स्वर्ण निकले, वह, हों! नहीं तो इस गिरनार के पत्थर हैं, उनमें सोना है परन्तु वह सुवर्णपाषाण क्या? सौ रुपये खर्च करे, तब साठ रुपये का सोना निकले। वह सोना क्या? उसमें तो सोना ऐसे एकदम पृथक् पड़े। पत्थर और सोना दोनों पृथक् पड़ जाएँ, ऐसा सुवर्णपाषाण। है न बड़ी खान? स्वर्ण की खान होती है न? जेठाभाई वे थे न? सोने के पत्थर लाकर पिघलाते थे। जेठालाल संघवी, मुम्बई, बोटादवाले। उन्हें यह सोने का धन्धा था। सुवर्ण के पत्थर लाकर उन्हें पिघलाते थे। पृथक् करते थे। इसी प्रकार निश्चय भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द का धाम, उसका जिसे भान, उसका जिसे भान, उसमें जिसकी स्थिरता की शुद्धता और उसके साथ राग का भाग व्यवहारप्रत्याख्यान, वह सुवर्णपाषाण है। वह राग है, वह पत्थर जैसा है और यह शुद्धता, वह स्वर्ण जैसी है। एक पर्याय के दो भाग सब लिये हैं। आहाहा! समझ में आया? परन्तु अन्ध पाषाण, जिसमें सोना नहीं, ऐसी जिसमें शुद्धता, आत्मा पवित्र भगवान का जिसे भान, श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति नहीं, ऐसी शुद्धता के बिना त्याग का भाव अन्धपाषाण है। सेठ! यह समझने की दरकार ही नहीं की। हो और हाँ।

मुमुक्षु : दरकार तो बहुत की।

पूज्य गुरुदेवश्री : कमाने की। धूल इकट्ठी करने की करी थी। वह भी पुण्य के कारण मिली है, वह कहीं तुम्हारे पुरुषार्थ से नहीं मिली। तुम्हारा पुरुषार्थ तो राग का था। ऐ... सेठ! तुमने राग किया था। पूर्व का पुण्य था, इसलिए व्यवस्थित हो गया। आया, धूल दिखायी दी, बँगले दिखायी दिये। दिखायी दिये, हों! परन्तु दिखायी दिये, वहाँ कहता है (कि) मेरे हैं।

यहाँ कहते हैं कि जिसे अन्तर में राग और परवस्तु की मेरेपन की बुद्धि छूट गयी है और आत्मा पूर्ण आनन्दकन्द है, ऐसी बुद्धि और ऐसा ज्ञान जिसे हुआ है, ऐसी शुद्धतावाले का भाव, वह तो सच्चा प्रत्याख्यान है और उसमें चार (प्रकार के) आहार आदि का त्याग योग्यता प्रमाण ऐसा विकल्प है, वह व्यवहारत्याग कहलाता है। समझ में आया? आहाहा! होता अवश्य है न? मुनि को हमेशा आहार करने के बाद चार (प्रकार

के) आहार का त्याग कर दे। चौबीस घण्टे या ४८ घण्टे। यह तो व्यवहार हुआ, वह तो परलक्ष्यी विकल्प है। अन्दर शुद्धता... वस्तु जो अन्तर है, उसके अन्तर्मुख में जाकर जिसने पाताल में से-समुद्र में से मोती लाये, ऐसे शुद्धता प्रगट की है। आहाहा! सम्यग्दर्शन, ज्ञान और शान्ति... शुद्धता प्रगट की है, वह सच्चा चारित्र और सच्चा धर्म है परन्तु उसके साथ ऐसे शुद्धतावाले को, पूर्ण शुद्धता नहीं, इसलिए व्यवहारत्याग का विकल्प उठता है, उसे व्यवहारप्रत्याख्यान कहा जाता है। कहो, पण्डितजी! आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कारण नहीं। कारण-फारण नहीं। है, इतनी बात है। कारण-फारण नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। उसमें नहीं। निश्चयप्रत्याख्यान का कारण यह एक ही। निश्चय की बात है। व्यवहार कारण है, उसमें यह बात में उसमें है ही नहीं। क्या कहा? शुद्धतासहित **संसार तथा शरीर सम्बन्धी भोग की निर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यान का कारण है...** यह निश्चयप्रत्याख्यान, यह इसकी बात है। संसार और शरीर सम्बन्धी भोग का त्याग वह व्यवहार और यह निश्चय, ऐसा नहीं। भाई! इन्होंने यह स्पष्टीकरण किया, यह नहीं। यहाँ तो स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द में रमणता आयी, इसलिए राग से निवृत्ति हो गयी, ऐसा। व्यवहार-फ्यवहार की बात यहाँ नहीं।

मुमुक्षु : निर्वेगता शब्द...

पूज्य गुरुदेवश्री : उस ओर हट गया है, इस ओर आ गया है, बस इतना। यह दोनों निश्चय है।

मुमुक्षु : निश्चय-व्यवहार।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार नहीं। दोनों निश्चय है।

मुमुक्षु : एक नास्ति है, एक अस्ति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा। शुद्धता की दशा का परिणमना, अशुद्धता का अभाव होना, यह भी है एक ही निश्चय। समझ में आया? अरे! गजब बात! धर्म की बातें!

मुमुक्षु : शुद्धता पर भार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्धता पर भार है। हाँ।

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तो कहा, महाराज! संसार शरीर भोग...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह तो है न! यह तो उसका स्वरूप है। इस ओर वेग है तो उस ओर वेग नहीं, बस। उसका अर्थ यह है। स्वभावसन्मुख का वेग है तो विकार सन्मुख का वेग नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

भगवान आत्मा की पाट में चढ़ गयी हुई दृष्टि अर्थात् राग के पाट से हट गयी है। आहाहा! यह तो निश्चय है, सत्य है, यह सच्चा चारित्र है, सच्चा मोक्ष का मार्ग है। ऐसा सच्चे मोक्षमार्गसहित राग की मन्दता का भाव व्यवहार होता है, उसे व्यवहारप्रत्याख्यान, व्यवहारचारित्र, व्यवहारत्याग कहा जाता है। दोनों का ज्ञान कराया है न! समझ में आया? जैसा जहाँ हो, वैसा वहाँ जानना चाहिए। खींचतान करे तो वह कहीं वस्तु (नहीं है)। आहाहा!

और भविष्य काल में होनेवाले... यह प्रत्याख्यान है न? **भविष्य काल में होनेवाले समस्त मोह-राग-द्वेषादि विविध विभावों का परिहार, वह परमार्थप्रत्याख्यान है...** देखो, निश्चयप्रत्याख्यान का कारण और यह परमार्थप्रत्याख्यान अस्ति, अकेला लिया। **भविष्य काल में होनेवाले समस्त मोह-राग-द्वेषादि विविध विभावों का परिहार वह परमार्थप्रत्याख्यान है अथवा...** इसी और इसी का विस्तार करते हैं। यह इसमें तीन की बात करते हैं। **अनागत काल में उत्पन्न होनेवाले विविध अन्तर्जल्पों...** पुण्य-पाप के विकल्प, उनका **परित्याग, वह शुद्ध निश्चयप्रत्याख्यान है।** तीन प्रकार लिये। वस्तु तो वह की वह है। निश्चयप्रत्याख्यान कहो, परमार्थप्रत्याख्यान कहो, शुद्ध निश्चयप्रत्याख्यान कहो। अन्तर्जल्प विकल्प उठते हैं न? वृत्ति। यह छोड़ूँ, यह रखूँ—ऐसा विकल्प / राग। उस राग का भी जहाँ अन्दर त्याग और स्वरूप की अन्दर की सत्ता का सावधानरूप से प्रगट होना। आहाहा! मोह के अभावरूप सावधानी। समझ में आया? वह तो मुनिराज ने अधिक स्पष्टीकरण किया। निश्चयप्रत्याख्यान, परमार्थप्रत्याख्यान, शुद्ध निश्चयप्रत्याख्यान (एकार्थ है)। समझ में आया?

श्लोक-१४२

[अब, इस १०५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(हरिणी)

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्र-मतोद्भवं,
परम-यमिना-मेतन्निर्वाणसौख्यकरं परम्।
सहज-समता-देवीसत्कर्णभूषण-मुच्चकैः,
मुनिप शृणु ते दीक्षाकान्तातियौवनकारणम्।।१४२।।

(वीरछन्द)

जिनमत में उत्पन्न हुआ जयवन्त सदा यह प्रत्याख्यान।
परम संयमीजन को करता शिव सुख यह उत्कृष्ट सुजान॥
समतादेवी के कर्णों का यह सुन्दर है आभूषण।
हे मुनिवर! तव दीक्षा-रमणी को अतिशय यौवन कारण॥१४२॥

[श्लोकार्थः] हे मुनिवर! सुन; जिनेन्द्र के मत में उत्पन्न होनेवाला प्रत्याख्यान सतत जयवन्त है। वह प्रत्याख्यान परमसंयमियों को उत्कृष्टरूप से निर्वाणसुख का करनेवाला है, सहज समतादेवी के सुन्दर कर्ण का महा आभूषण है और तेरी दीक्षारूपी प्रिय स्त्री के अतिशय यौवन का कारण है॥१४२॥

श्लोक -१४२ पर प्रवचन

[अब, इस १०५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:] यह टीका थी।

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्र-मतोद्भवं,
परम-यमिना-मेतन्निर्वाणसौख्यकरं परम्।

सहज-समता-देवीसत्कर्णभूषण-मुच्चकैः,
मुनिप शृणु ते दीक्षाकान्तातियौवनकारणम् ।।१४२।।

श्लोकार्थ : **हे मुनिवर! सुन;...** देखो! मुनि, मुनि को कहते हैं। **हे मुनिवर! सुन; जिनेन्द्र के मत में...** जिन्हें सर्वज्ञपना प्रगट हुआ है, जिन्हें तीन काल-तीन लोक जानने में आये हैं और जिन्होंने राग तथा अज्ञान को जीत लिया है, ऐसे जो परमात्मा जिनेन्द्र, उनके मत में। ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर के अभिप्राय में **उत्पन्न होनेवाला प्रत्याख्यान सतत जयवन्त है।** आहाहा! सतत जयवन्त है। आहाहा! देखो! सम्यग्दर्शन जयवन्त वर्तता है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उसकी अन्दर भान में प्रतीति जयवन्त है। ऐसे स्वरूप के आश्रय से हुई स्थिरता वर्तती है, कहते हैं जयवन्त है। आहाहा! समझ में आया? प्रत्याख्यान का अधिकार है न!

वीतराग परमेश्वर, जिनके राग बीता है, जीता है, टल गया है अर्थात् निर्दोष पूर्ण सर्वज्ञ और वीतरागदशा जिन्हें प्रगट हुई है, ऐसा जीव का / आत्मा का स्वरूप है। जैसा स्वरूप है, वैसा प्रगट हुआ। उनके मत में, उन्होंने जाना हुआ, देखा हुआ अभिप्राय में उत्पन्न होनेवाला। आहाहा! अर्थात् वीतराग ने कहा, वैसा आत्मा के स्वरूप का जिन्हें आनन्द के भान में आकर स्वरूप की लीनता प्रगट की, वह प्रत्याख्यान सतत-सतत निरन्तर चारित्र की वीतरागता वर्तती है, कहते हैं। आहाहा! मुनि स्वयं से बात करते हैं। खबर पड़ती है, ऐसा कहते हैं। सम्यग्दर्शन वर्तता है, सम्यग्ज्ञान वर्तता है, सम्यक्चारित्र वर्तता है-ऐसी खबर पड़ती है या केवली जाने? पण्डितजी! अभी कितने ही कहते हैं न?

मुमुक्षु : मिठाई खायेगा तो मुँह मीठा होगा ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : होगा। इसकी खबर नहीं पड़ती उसे? इसकी खबर नहीं पड़ती कि मुँह मीठा हुआ है? या किसी को खबर पड़ती है?

मुनिराज जरा गम्भीरता से बात करते हैं। जंगल में रहनेवाले भावलिंगी सन्त हैं। द्रव्य से नग्नदशा। जंगल में बसनेवाले सच्चे सन्त। आहाहा! जिन्होंने जन्म को सफल किया। जिन्होंने अवतार में अवताररहित दशा प्रगट की। जिनके भव में भव के अभाव की दशा प्रगट की। कहते हैं कि जयवन्त है, ऐसा कहते हैं। हमारे पास यह भाव वर्तता है, भाई! आहाहा! हम पूर्णानन्द के नाथ आत्मा, उसकी अन्तर में रमता, रमणता करते हुए जो

स्थिरता वर्तती है, निश्चयचारित्र की, निश्चय प्रत्याख्यान की (स्थिरता वर्तती है), वह जयवन्त है। समझ में आया? घर में पूँजी कितनी हो, यह इसके लक्ष्य में होती है या नहीं? सेठ! घर में कितनी पूँजी है? पचास-साठ-सत्तर लाख कहे, भले करोड़पति कहे। दोनों सेठों को करोड़पति कहते हैं, वहाँ। क्या कहलाता है तुम्हारा? बुन्देलखण्ड। फिर भले करोड़ न हो, साठ-सत्तर लाख हों, परन्तु ये दोनों व्यक्ति जानें। दूसरा कौन जाने परन्तु बाहर तो ऐसा कहे न? अधिक देखकर।

मुमुक्षु : आपके पास तो सब बात आ जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई कहता है। यहाँ कौन सुनता है। कोई बातें करे। ऐसा कहलाये। इतने पैसे हैं। करोड़पति कहलाते हैं। चाहे जितने कम हों, परन्तु सब करोड़पति (कहते हैं)। पचास लाख से ऊपर वह करोड़पति कहलाता है, ऐसी बातें लोग करते हैं।

मुमुक्षु : लोगों को....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कुछ अनुमान करनेवाले तो कितने ही होते हैं न! सब कहीं पागल होते हैं? सबको उड़ा देगा। समझ में आया? एक बार भाई ने बात नहीं की थी? मोहनभाई की। मोहनभाई घीया। मोहन घीया को कहे-घीयाजी, तुम्हें लोग करोड़पति कहते हैं। बहुत वर्ष की बात है, बहुत वर्ष की। यह मोहनलाल घीया अभी है न? राजकोट में। रतिभाई और वे करोड़पति लोग हैं। करोड़पति हैं न? अस्सी लाख है। मुझे करोड़पति कहते होंगे। यह तो बहुत वर्ष की बात है, हों! पन्द्रह-बीस वर्ष हो गये। यहाँ आये थे। ....लोग ऐसा कुछ सुनकर कहने आवे कि ऐसा कहते थे। ऐसी बात वहाँ चलती थी। यहाँ कहाँ घर में देखने गये थे!

यहाँ कहते हैं... आहाहा! धन्य रे धन्य! मुनिराज को चारित्र वर्तता है, ऐसा उन्हें साक्षात् भान होता है। आहाहा! मुनिपना अर्थात् क्या? मोक्ष का साक्षात् मार्ग। वे तो अन्तर के आनन्द में रमणता में रमते होते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द की (जो) घूँट पीते हैं। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि भी जब किसी-किसी समय ध्यान में अतीन्द्रिय आनन्द विशेष पीता है, तो यह तो मुनि! आहाहा! धन्य रे अवतार! जिन्होंने मोक्ष को निकट किया है। संसार को पीठ दी है। हट गये हैं। इस ओर आ गये हैं। मुक्तस्वरूप भगवान के पक्ष में चढ़ गये हैं। आहाहा! ऐसा कहते हैं। भगवान के मार्ग में वर्तमान में चारित्र वर्तता है,

जयवन्त है-ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, पूनमचन्दजी! यह द्रव्यलिंगी है या भावलिंगी, भगवान जाने या स्वयं जाने?

मुमुक्षु : भावलिंगी हो, वह स्वयं जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु द्रव्यलिंगी को तो भान ही कहाँ है? भाई ने ठीक उतारा है। नहीं जानता। है नहीं और नहीं जानता, इसलिए वह तो ऐसा ही कहे न? वह ऐसा कहते हैं। आहाहा! भाई! अरे!

मुनि सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर ने, जिन्होंने पूर्ण प्रत्यक्ष आत्मा किया है। आहाहा! आत्मा की भविष्य की दशा, समय-समय की केवलज्ञान की होनेवाली थी, वह भी जिन्होंने वर्तमान प्रगट कर डाली। समकिती को त्रिकाल आत्मा का ज्ञान है, तो इसका अर्थ यह कि भविष्य में जो केवलज्ञान होनेवाला है, सादि अनन्त पर्यायें (होनेवाली हैं), उसकी प्रतीति में में आ गया है, पूरा आत्मा प्रतीति करने पर (प्रतीति में आ गयी है)। समझ में आया? यह क्या कहा?

आत्मा माना न? आत्मा त्रिकाली माना न? तो त्रिकाली आत्मा अर्थात् भविष्य में केवलज्ञान तो है, है और है। उस केवलज्ञानसहित की पर्यायवाला जो आत्मा सादि-अनन्त और मोक्षमार्ग की पर्यायवाला सादि-सान्त और अज्ञान से अनादि-अनन्त, ऐसे पूरे आत्मा को जान लिया। समझ में आया?

मुमुक्षु : अनुभव सबको नहीं होता, ज्ञान है इतना।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब। परोक्षप्रमाण भी ज्ञान है न! अनुमान, वह प्रमाणज्ञान है या झूठा ज्ञान है? आहाहा!

यहाँ तो वर्तमान का भव बताते हैं न! उसमें तो त्रिकाल पूरा आत्मा आ गया है। आहाहा! समझ में आया? आत्मा मानना अर्थात्? आत्मा तो त्रिकाली ध्रुव है, परन्तु अब उसकी पर्यायें जो भविष्य की सादि-अनन्त है, केवलज्ञान की पर्याय होनेवाली और सादि-अनन्त होनेवाली है। यह तो अनन्तवें भाग की है। अज्ञानदशा की पर्याय तो अनन्तवें भाग की है। अनादि-अन्त है। यह सादि-अनन्त है। पूरा आत्मा जिसने ध्रुव को प्रतीति में लिया, वह सब पर्याय का पिण्ड उसे प्रतीति में आ गया है। आहाहा! एक आत्मा जानने

पर। वह तो उसमें आता है न? भाई! प्रवचनसार, नहीं? ४८-४९ गाथा। एक आत्मा को जानने पर यह जाने। आत्मा किसे कहना? सब जाने। ४८-४९ प्रवचनसार। यह तो गाथा। भाई बंशीधरजी थे, उस दिन ये गाथा चलती थी। सेठ हुकमचन्दजी थे। बापू! तेरा मार्ग अलग, भाई! आहाहा! सब पर्यायों का पिण्ड, वह गुण और सब गुण का पिण्ड वह द्रव्य। द्रव्य में द्रव्य का ज्ञान होकर प्रतीति हुई, वह क्या नहीं हुई? उसे क्या बाकी रहा? आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार यहाँ मुनिराज कहते हैं, अरे! मुनि! वीतराग परमेश्वर ने जो जाना और देखा तथा उन्होंने कहा, वैसा उनके मत में उत्पन्न, उनके मत में उत्पन्न होनेवाला, ऐसा कहते हैं। आहाहा! शान्ति और स्थिरता तो वीतराग आत्मा है और वीतराग ने कहा, ऐसा है। उसमें यह निश्चयप्रत्याख्यान उत्पन्न होता है। आहाहा! गजब बातें!

वह प्रत्याख्यान परमसंयमियों को उत्कृष्टरूप से निर्वाणसुख का करनेवाला है,... आहाहा! आत्मा शुद्ध सचेतन प्रभु। सचेतन अकेला ज्ञायक का पिण्ड प्रभु। यह तो उसे तीन काल-तीन लोक को जानने की ताकतवाला सब पूरा तत्त्व। ऐसा जिसने वीतरागमार्ग में से जानकर, देखकर भाव निकाला है, वह निश्चयप्रत्याख्यान, **परमसंयमियों को उत्कृष्टरूप से निर्वाणसुख का करनेवाला है,...** यह मोक्ष का करनेवाला है। स्वरूप की अन्तर में रमणता चारित्र की (रमणता), वह मोक्ष का कारण है। बीच में व्यवहार हो, वह तो कहा बीच में। परन्तु वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। आहाहा!

कहते हैं **सहज समतादेवी के सुन्दर कर्ण का महा आभूषण है...** आहाहा! जो वीतरागता, निर्दोषता / समता प्रगट हुई है, उसके सुन्दर कर्ण का महा आभूषण प्रत्याख्यान है। **और तेरी दीक्षारूपी प्रिय स्त्री...** दीक्षा अर्थात् वीतरागता प्रगट हुई वह। दीक्षा और प्रव्रज्या दो नाम साथ में डाले हैं न? नहीं है पीछे? समयसार। दीक्षा, प्रव्रज्या। सब बोल हैं। एक बोल में आता है। दीक्षा कहो या आत्मा की शान्ति की स्थिरता, वह दीक्षा। दीक्षा (अर्थात्) वस्त्र छोड़कर बैठे और हो गयी दीक्षा, (ऐसा नहीं है)।

मुमुक्षु : दो प्रकार से।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह हो जगत को, परन्तु वस्तु यह है।

समतादेवी के सुन्दर कर्ण... सुन्दर कर्ण। कर्ण—कान। ऐसा वापस। उसका आभूषण। **तेरी दीक्षारूपी प्रिय स्त्री के अतिशय यौवन का कारण है।** आहाहा! क्या कहते हैं? जैसे यौवन में शरीर की पुष्टता होती है, वैसे निश्चयप्रत्याख्यान, निश्चय सच्ची वीतराग परिणति, वह दीक्षारूपी प्रिय स्त्री का अतिशय यौवन, युवादशा का कारण है। आहाहा! भाषा भी कैसी है! अतीन्द्रिय आनन्द का जहाँ प्रकाश होकर अतीन्द्रिय आनन्द वर्तता है, ऐसी जो दीक्षा, उसमें राग के अभावरूप और शुद्धता की समतारूपी स्थिरता, वह दीक्षा की यौवनवय की पुष्टि का कारण है। वह अतिशय यौवन का कारण है। आहाहा! यह १०५ गाथा हुई, लो!

मुमुक्षु : .....केवलज्ञान का कारण है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह तो चारित्र की पुष्टि यौवन दशा है, ऐसा। निश्चयप्रत्याख्यान, वह चारित्र की यौवन दशा है। चारित्र की पुष्ट दशा है। हृष्ट-पुष्ट होता है। निश्चयप्रत्याख्यान से चारित्र हृष्ट-पुष्ट होता है। आहाहा! है तो वह का वह भाव परन्तु बताते हैं न! १०६ गाथा, यह प्रत्याख्यान की अन्तिम गाथा है।

गाथा-१०६

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदुं सो संजदो णियमा।।१०६।।

एवं भेदाभ्यासं यः करोति जीवकर्मणोः नित्यम्।
प्रत्याख्यानं शक्तो धर्तुं स संयतो नियमात्।।१०६।।

निश्चयप्रत्याख्यानाध्यायोपसंहारोपन्यासोऽयम्। यः श्रीमदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गत-परमागमार्थविचारक्षमः अशुद्धान्तस्तत्त्वकर्मपुद्गलयोरनादिबन्धनसम्बन्धयोर्भेदं भेदाभ्यासबलेन करोति, स परमसंयमी निश्चयव्यवहारप्रत्याख्यानं स्वीकरोतीति।

यों जीव कर्म विभेद अभ्यासी रहे जो नित्य ही।
है संयमी जीन नियत प्रत्याख्यान-धारण क्षम वही॥१०६॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [यः] जो [नित्यम्] सदा [जीवकर्मणोः] जीव और कर्म के [भेदाभ्यासं] भेद का अभ्यास [करोति] करता है, [सः संयतः] वह संयत [नियमात्] नियम से [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [धर्तुं] धारण करने को [शक्तः] शक्तिमान है।

टीका : यह, निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार के उपसंहार का कथन है।

श्रीमद् अरहन्त के मुखारविन्द से निकले हुए परमागम के अर्थ का विचार करने में समर्थ ऐसा जो परम संयमी अनादि बन्धनरूप सम्बन्धवाले अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्म-पुद्गल का भेद भेदाभ्यास के बल से करता है, वह परम संयमी निश्चयप्रत्याख्यान तथा व्यवहारप्रत्याख्यान को स्वीकृत (-अंगीकृत) करता है।

गाथा - १०६ पर प्रवचन

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदुं सो संजदो णियमा।।१०६।।

ओहोहो!

यों जीव कर्म विभेद अभ्यासी रहे जो नित्य ही।
है संयमी जीन नियत प्रत्याख्यान-धारण क्षम वही॥१०६॥

टीका : यह, निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार के उपसंहार का कथन है। यह पूरा है, यह गाथा... प्रतिक्रमण की व्याख्या आ गयी, प्रत्याख्यान की (आयी), पश्चात् आलोचना। वर्तमान की लेंगे। भविष्य का प्रत्याख्यान है न? विगत काल का प्रतिक्रमण, भविष्य का प्रत्याख्यान, वर्तमान का संवर, आलोचन।

श्रीमद् अरहन्त के मुखारविन्द से निकले हुए... आहाहा! स्वरूप की लक्ष्मीवाले अरिहन्त भगवान, जिन्हें ज्ञान में जगत की कोई चीज़-रहस्य बाकी नहीं हैं। सब रहस्य तीन काल-तीन लोक का ज्ञान स्वरूप की प्रगट दशा में सब भान आ गया है। ऐसे भगवान अरहन्त... अरहन्त... **मुखारविन्द से निकले हुए...** लो, भाषा आयी - मुखारविन्द में से। ओमध्वनि निकलती है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर होते हैं, उन्हें वाणी ऐसी होंठ नहीं बोलते, नहीं हिलते, कण्ठ नहीं काँपता। पूरे शरीर में से ॐ ऐसी ध्वनि उठती है। उसे यहाँ मुखारविन्द में से निकली, ऐसा कहते हैं। मुखरूपी अरविन्द—कमल। दुनिया में व्यवहार है न? इसलिए लिखा है। व्यवहार से बात की है। वरना तो निकलती तो ऐसे (पूरे शरीर में से है)। पूर्णदशा सर्वज्ञ परमेश्वर हुए, परमात्मा आत्मा में से पूर्ण शक्ति प्रगट की। परमात्मा होते हैं, उन्हें ऐसी वाणी नहीं होती, हम बोलते हैं ऐसी।

मुमुक्षु : श्वेताम्बर तो ऐसा ही मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्वेताम्बर तो एक ही मानते हैं, इतना। वह तो सब आता है। यह बात ऐसी है, इसके अतिरिक्त दूसरा समझ लेना। आहाहा! क्या हो?

मुमुक्षु : श्वेताम्बरों की मान्यता विपरीत है। मुँह से निकलती है, (ऐसा कहते हैं)।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरी है। मुँह से बात करे महिलाओं के साथ, ऐसा कहते हैं। एक महिला है, राजा की लड़की। तीर मारा था और भगवान को प्रश्न किया है और सीधा उत्तर दिया है। भगवती में आता है। क्या नाम ? भूल गये। महिला आती है। तीर मारते हैं।

मुमुक्षु : मृगावती।

पूज्य गुरुदेवश्री : मृगावती। महिला का नाम है। भगवती में है। बहुत वर्ष हो गये न, अब उसे पढ़े हुए। महिला ने अठारह प्रश्न किये हैं। भगवान से प्रश्न (किये), भगवान सीधे जवाब देते हैं।

यहाँ तो तीर्थंकर की वाणी, उन्हें सहज ॐध्वनि निकलती है। किसी समय इन्द्र और नरेन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर आदि के प्रश्न होवें तो ॐध्वनि निकलती है। ऐसी सहज दशा भगवान की मुख में से, इसीलिए कहते हैं, मुखारविन्द में से निकली हुई। उस वाणी को परमागम कहते हैं। आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर पूर्ण पवित्र परमात्मदशा। देह में रहे होने पर भी जहाँ अन्तर प्रगट दशा हुई, और वाणी निकली। उसके **अर्थ का विचार करने में समर्थ...** यहाँ तो जरा दूसरा कहना है। एक तो परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ सिद्ध किये, उनकी निकली हुई वाणी को परमागम सिद्ध किया और **ऐसा जो परम संयमी अनादि बन्धनरूप सम्बन्धवाले अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्म-पुद्गल का भेद भेदाभ्यास के बल से करता है,...** उस परमागम में ऐसा कहा है कि राग का स्वभाव से भेद कर। राग से तेरे स्वभाव का भेद कर, ऐसा परमागम में कहा है। समझ में आया ?

एक तो देव सिद्ध किये। परमात्मा कैसे होते हैं, उनकी वाणी कैसी निकलती है और वाणी को परमागम कहने में आता है तथा उस परमागम में ऐसा कहने में आया है कि जितने विकल्प उठते हैं—दया, दान, व्रत, भक्ति या काम, क्रोध, वह कर्म। भगवान आत्मा कर्मरहित अकर्मस्वरूप है, इन दो के बीच में भेद डाल। दो को पृथक् कर, पृथक् (करने का) अभ्यास कर। यह उन्हें भिन्न करने का अभ्यास, यह उसका धर्म। आहाहा! एक तो अनादि से माना है। पुण्य-पाप का राग, विकल्प जो दया, दान, व्रत, वह तो राग है। उसे और आत्मा को एक माना, वह तो मिथ्यात्वभाव है।

परमागम भगवान की वाणी में ऐसा आया कि **परम संयमी अनादि बन्धनरूप सम्बन्धवाले...** देखो भाषा रखी। भेद डालना है, परन्तु सम्बन्ध है, ऐसा कहते हैं। **अनादि**

बन्धनरूप सम्बन्धवाले अशुद्ध अन्तःतत्त्व... विकारी पर्याय, ऐसा। अशुद्ध अन्तःतत्त्व **और कर्म-पुद्गल...** दो है न? इनको-दो को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है न? विकारी पर्याय और कर्म का उदय, दोनों को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। शुद्धता को, ध्रुव को कुछ सम्बन्ध नहीं है। क्या कहा, समझ में आया? कर्म का उदय जड़ और विकारी पर्याय, दो को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। यह अनादि बन्धनरूप सम्बन्धवाला। अशुद्ध तत्त्व अर्थात् विकारी पर्याय और पुद्गल। इनका **भेद भेदाभ्यास के बल से करता है,...** इनका भेद, भेदाभ्यास के बल से (करता है)। ऐसी दो बातें हैं। आहाहा! देखो! यह करने की क्रिया।

भगवान शुद्धस्वरूप पवित्र और पर्याय-अवस्था में अशुद्धता तथा कर्म का उदय, दोनों को जो ऐसे सम्बन्ध है, उसे अब छोड़, कहते हैं। पर से छोड़ अर्थात् अशुद्धता की पर्याय से भी पृथक् पड़ गया। उसके साथ दोनों को सम्बन्ध था। क्या कहा? अशुद्ध अन्तःतत्त्व लिया है न? दो जगह पहले आ गया है, पृष्ठ ८१ और पृष्ठ १५५। अशुद्ध अन्तःतत्त्व। भेद अभ्यास का अधिकार एक जगह, एक जगह अशुद्ध अन्तःतत्त्व। कहना जरा ऐसा है कि भगवान आत्मा तो शुद्ध अन्तःतत्त्व है परन्तु कर्म के उदय का सम्बन्ध अशुद्ध विकार के साथ है। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध इतने को है। त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव के साथ कर्म का यह निमित्त सम्बन्ध नहीं है। उसका भेद भेदाभ्यास के बल से करे। आहाहा! यह राग और निमित्त दो से मेरी चीज़ पृथक् है। ऐसा अन्तर्मुख में पर से हटकर स्वभाव का अभ्यास करना, इसे भेदज्ञान और यह धर्म की दशा प्रगट करने का कारण है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१०२, श्लोक-१४३-१४४, गाथा-१०६, रविवार, भाद्र शुक्ल २, दिनांक २२-०८-१९७१

यह नियमसार, निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार। गाथा १०६। बीच में थोड़ा बाकी है न? **अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्म-पुद्गल का भेद...** देखो! यह क्या कहते हैं? कि पर्याय में जो अशुद्धता आत्मा में है, वह अशुद्ध आत्मा कहलाता है। त्याग का अधिकार है न? प्रत्याख्यान का। मिथ्यात्व का त्याग, राग का त्याग—यह सब एक ही प्रकार है। आत्मा में पर्याय में—वर्तमान हालत में अशुद्धता-मलिनता जो है और कर्म का उदय जो निमित्त है, दोनों को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का व्यवहार है। समझ में आया?

अनादि बन्धनरूप सम्बन्धवाले... विकारी अशुद्धपर्याय और कर्म का निमित्त, इनके सम्बन्धवाले **अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्म-पुद्गल का...** भेद—दोनों की पृथक्ता। कर्म का उदय है, उससे भिन्नता। अतः इसका अर्थ यह हो गया कि उदय में जुड़ान। अशुद्ध विकारी पर्याय है, उससे भिन्नता। समझ में आया?

मुमुक्षु : कौन भिन्न? किससे?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा की विकारी पर्याय और कर्म का निमित्त, ये दोनों आत्मा के स्वभाव से भिन्न-पृथक्।

फिर से—यहाँ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध का वर्णन किया है। परम संयमी धर्मात्मा, अनादि बन्धनरूप सम्बन्ध। किसके साथ? अशुद्ध आत्मा विकारी पर्याय और कर्म का निमित्त इनका इन्हें सम्बन्ध है। कर्म का निमित्त है, इसलिए अशुद्धता है - ऐसा नहीं। परन्तु अशुद्धता और निमित्त को, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। उसे भेद द्वारा। अर्थात् विकारी पर्याय और निमित्त दोनों मुझमें नहीं है। कर्म के निमित्त से लक्ष्य छूटने पर अशुद्धता का लक्ष्य भी साथ ही छूट जाता है, ऐसा कहते हैं। थोड़ा सूक्ष्म है। थोड़ा सूक्ष्म है।

आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति, उसकी वास्तविकता। अब उसकी पर्याय में अशुद्धता है, उसे यहाँ अशुद्ध अन्तःतत्त्व कहा गया है। है वह आस्रव, विकार, राग और रोग। राग का रोग। परन्तु उसे अशुद्ध अन्तःतत्त्व कहा। शुद्ध अन्तःतत्त्व है, वह वस्तु। समझ में आया? शुद्ध अन्तःतत्त्व जो चिदानन्द आनन्दस्वरूप भगवान, वह आत्मा; और

अशुद्ध अन्त:तत्त्व, वह विकारी पर्याय। है तो आस्रव परन्तु उसमें एकता है और इसलिए उसे अशुद्ध अन्त:तत्त्व कहा गया है। एकता मानी है न! नहीं तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमानन्द धाम अन्तर्मुख का विषय, वह तो पूर्ण शुद्ध है। उसमें जो पर्याय में अशुद्धता, विकार, भ्रमणा, राग-द्वेष, वह दु:खरूप है। उसे यहाँ अशुद्ध अन्त:तत्त्व कहा है। उस पर्यायवाले जीव को। समझ में आया? और उसे तथा कर्म को निमित्त को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। नैमित्तिक विकारी पर्याय, निमित्त कर्म का उदय। दो का सम्बन्ध, वह व्यवहार है। उसे मैं आत्मा शुद्ध अन्त:तत्त्व पूर्ण आनन्द, ज्ञान हूँ। उसे अशुद्ध पर्याय और निमित्त, दोनों से भेद करके, भेद अभ्यास के बल से-भिन्न करने के बल से। सेठी! ऐसा भारी सूक्ष्म मार्ग!

कर्म पुद्गल का भेद, भेदाभ्यास के बल से - ऐसी दो बातें। भगवान आत्मा तो शुद्ध आनन्द पवित्र धाम भगवान आत्मा है परन्तु उसकी पर्याय में जो अशुद्धता है, वह निमित्त के सम्बन्ध में हुई है। कर्म का निमित्त, उसके सम्बन्ध से संसार विकार, उदयभाव अन्त:तत्त्व अशुद्ध पर्याय और कर्म का निमित्त। दोनों का भेद - दो का भेद करना। अर्थात् शुद्ध आत्मा परम आनन्द हूँ। उसकी ओर झुकने से वह अशुद्धता और निमित्त का भेद हो जाता है। सेठ! सेठ है न, वह तुम्हारी अपेक्षा बहुत ध्यान रखता है। दोनों भाई हैं न, उसमें से भाग मिल ऐसा? ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह वस्तु स्वयं भगवान आत्मा, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द की कातली है। उसे चूसना चाहिए। उसके अतीन्द्रिय आनन्द में झुकाव से अतीन्द्रिय आनन्द का चूसाव-रस आता है उसके द्वारा, ऐसा जो दोनों का भेदस्वरूप, उसके द्वारा। भेदाभ्यास से। राग और निमित्त से भिन्न। ऐसे अन्तर्मुख के झुकाव से। वीतरागमार्ग ऐसी अलौकिक चीज़ है कि उसे शुद्ध द्रव्यपना बताते हैं, पर्याय में अशुद्धता बताते हैं और उसका निमित्त बताते हैं। ऐसी तीन चीज़ें वीतराग के सिवाय कहीं नहीं होती। सर्वज्ञ परमेश्वर ने वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता। समझ में आया?

कहते हैं कि धर्मात्मा को क्या करना? अनादि बन्धनरूप सम्बन्ध। बन्धनरूप सम्बन्ध, ऐसा अशुद्ध अन्त:तत्त्व। विकारीभाव, उदयभाव, दोषवाला भाव, दु:खरूप भाव, उसे कर्म पुद्गल निमित्त है। उनका भेद दोनों भिन्न हैं। वास्तव में तो इस न्याय से भिन्न हैं।

निमित्त और अशुद्धता ये दोनों भिन्न हैं परन्तु दोनों भिन्न हैं, इनकी एकता मानी है, इसलिए कहते हैं कि यह भेद भेदाभ्यास के बल से करते हैं। अन्तर्मुख स्वभाव चैतन्य की ओर झुकने से, उसके सन्मुख होने से यह राग और निमित्त का भेद हो जाता है और उस प्रकार के भेदाभ्यास के बल से उसका भेद करते हैं। ऐसा कहते हैं न? **भेद भेदाभ्यास के बल से करता है,...** ऐसा कहा। क्या कहा? अशुद्ध अन्तःतत्त्व विकारी दशा अर्थात् अशुद्ध आत्मा। इसलिए ऐसा करके यह सिद्ध करते हैं कि पर्याय में अशुद्धता जीव ने स्वयं की है। थी, उसे भेद करना है, यहाँ तो कहते हैं। की है अनादि की, उससे भेद करके भेदाभ्यास करना है। मुनि को या सम्यग्दृष्टि को। समझ में आया? बहुत धीरज का मार्ग है।

ऐसा अशुद्ध अन्तःतत्त्व। यहाँ तो वस्तुस्थिति बताते हैं। वस्तु शुद्ध अन्तःतत्त्व है और पर्याय में अशुद्ध अन्तःतत्त्व वह स्वयं हुआ है और उसमें निमित्त वह (कर्म) है। इन दो का और इन दो से भिन्न का भेद भेदाभ्यास के बल से करता है। धर्मी उन्हें भेद के बल से भेद करता है। आहाहा! ऐसा पकड़ना कठिन। ऐसी बात सिद्ध की है।

जब प्रत्याख्यान होता है या मिथ्यात्व का त्याग होता है, तब उसका अर्थ यह हुआ कि मिथ्यात्व और राग उसमें था। था या नहीं? पर्याय में-अवस्था में-दशा में-हालत में विकार था, तो विकार का त्याग होता है। पर का तो त्याग है ही। परवस्तु तो कुछ है ही नहीं। पर का लक्ष्य किया है, इतना सम्बन्ध है और लक्ष्य करके पर्याय में जो अशुद्धता उत्पन्न हुई है, वह अशुद्धपर्याय अर्थात् अन्तःतत्त्व और कर्मपुद्गल निमित्त, इनका भेद भेदाभ्यास के बल से करता है। अन्तर के स्वभाव की सन्मुखता करके (करता है)। यह निमित्त और अशुद्ध तो भेद है ही, परन्तु दो में से भी भेद करके... आहाहा! भगवान आत्मा... भाई! यह बड़ा काम है। समझ में आया? इसने कभी किया नहीं। इसे कैसे करना इसकी खबर नहीं।

दोनों की—अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्मपुद्गल। ऐसा शब्द पड़ा है न? इनकी भिन्नता—इनका भेद, भेदाभ्यास के बल से करता है। यह राग और निमित्त वह मैं नहीं। मैं ज्ञायक चिदानन्द आत्मा। सच्चिदानन्द प्रभु-परमात्मा-ईश्वर पूर्ण स्वरूप मैं हूँ - ऐसा पर से भेद करने का अभ्यास करने पर दोनों भिन्न पड़ जाते हैं, ऐसा कहते हैं। जेठालालभाई! आहाहा! भेदज्ञान... भेदज्ञान कहते हैं न? मुझे भेदज्ञान बताओ, ऐसा बेचारा... कभी किया

हुआ नहीं, सुना हुआ न हो। अरे! जीव को... ऐसा आया है इसमें। बेचारे क्या करे? यह बात... आहाहा!

तीन लोक का नाथ अनन्त-अनन्त सिद्धों को रजाई में रखकर बैठा, ऐसा भगवान है। आहाहा! सोढ समझते हो? सोढ। हमारी काठियावाड़ी भाषा है। रजाई ओढ़ते हैं न? रजाई। शॉल ओढ़ते हैं न? शॉल। उसे यहाँ सोढ कहते हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा अनन्त सिद्धों को अपने गर्भ में, सोढ में रखा है। ऐसा भगवान आत्मा, उसे अशुद्धता की पर्याय और कर्म का निमित्त; अब निमित्त तो भिन्न है, दोनों का सम्बन्ध भी व्यवहार से था। वह व्यवहार अभूतार्थ है, झूठा है। समझ में आया? मार्ग तो ऐसा है, भाई! सत्य तो ऐसा है। इसे कठिन कहो, सरल कहो, महँगा कहो, परन्तु है तो यह। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से करने जाएगा तो जन्म-मरण नहीं मिटेंगे और यह भी अपने लिये है न! इसमें कहाँ किसी के लिये यह है। दु:ख भी स्वयं भोगता है। आहाहा! अकेला दु:ख भोगता है। यह आ गया। पहले गाथा। अकेला दु:ख भोगता है। अकेला मरता है और अकेला जन्मता है। आया न भाई पहले? आहाहा! परन्तु कौन, तेरा था कौन कि तुझमें साथ आवे? आहाहा! तुझमें था, तूने माना था कि मिथ्यात्व, राग-द्वेष यह तूने माना था। आहाहा! उससे अब पृथक् पड़ना है। इसका नाम धर्म है। है पृथक् परन्तु इसने (एक) माना है कि यह राग मैं हूँ। वह तत्त्व तो भिन्न तत्त्व है।

राग, दया, दान, व्रत आदि के परिणाम वह तत्त्व आस्रव भिन्न तत्त्व है। कर्म का उदय तो भिन्न तत्त्व है ही, वह तो जड़ की पर्याय है। यहाँ तो दोनों का सम्बन्ध कहकर, अब उससे भिन्न करना है। जिसने सम्बन्ध जोड़ा है, वह सम्बन्ध तोड़े। भाई! यह तो तेरे घर की, हित की बात है। महँगी लगे या न लगे परन्तु यह किये बिना इसका कभी चौरासी के अवतार... अरे! भाई! नहीं मिटेंगे। दुनिया तो दुनिया देखेगी और दुनिया तो बाहर की बात के गुणगान भी करेगी, इससे कहीं तेरा भला हो, ऐसा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं, **सम्बन्धवाले अशुद्ध अन्त:तत्त्व और कर्म-पुद्गल का भेद...** भिन्नता। **भेद भेदाभ्यास के बल से करता है,...** इसका अर्थ यह कि स्वसन्मुखता में आता है, इसलिए राग और निमित्त का भेद पड़ जाता है। आहाहा! ऐसा काम है। समझ में आया? **वह परम संयमी...** परम धर्मात्मा को। **निश्चयप्रत्याख्यान तथा व्यवहारप्रत्याख्यान**

को स्वीकृत (-अंगीकृत) करता है। लो, ऐसे धर्मात्मा को स्वसन्मुख की प्रगट हुई दशा, वह निश्चयप्रत्याख्यान है और जरा विकल्प उठे यह चौबीस घण्टे, अढ़तालीस घण्टे आहार नहीं लूँ, वह व्यवहारप्रत्याख्यान है। परन्तु वह ऐसे धर्मात्मा को निश्चय और व्यवहार होता है। अकेले आत्मा के भान बिना के त्याग और अपवास किये और यह किया, उसे व्यवहार त्याग भी नहीं है। लंघन है। दोनों लिये, हों! अभी साधक की बात है न!

अभी पंच महाव्रत का विकल्प है, वह व्यवहार त्याग कहलाता है। व्यवहारप्रत्याख्यान। अन्तर में राग से भिन्न पड़कर चैतन्य का तल जिसने अन्दर से खोजा है, चैतन्य के तल में तो अनन्त आनन्द और ज्ञान भरा है। ऐसे तल में-तल में अन्तर में जाता है, उस दशा को निश्चयत्याग कहा जाता है। समझ में आया? यह बात साधारण लाखों लोग इकट्ठे हों और हो.. हा... हो, ऐसा यह नहीं है। ऐई! मूलचन्दभाई! लाखों लोग हो.. हा.. हो, ऐसा नहीं है। वह तो व्यवहार में प्रसन्न हो जाए। आहाहा...! आहाहा...! अपवास किया, अट्ठाई की, दशलक्षणी के दस दिवस किये... वाह... वाह...!

मुमुक्षु : अपवास करनेवालों की तो शोभायात्रा निकलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शोभायात्रा निकलती है। मरते हैं, उसकी अर्थी निकलती है या नहीं? वह शोभायात्रा नहीं? स्त्रियाँ और आदमी इकट्ठे होकर निकलते हैं या नहीं? या अकेला मुर्दा जाता है? और यह शोभायात्रा साथ में होती है। वह भी शोभायात्रा ही है न, दूसरा क्या है? बारात में विवाह करने जाते हैं और मरने में जलाने जाते हैं, दूसरा क्या है? बैण्ड बजाते हैं। हमारे पालेज में तो एक भंगी होता है, उसके पास बड़ा भूंगला होता है, भूंगला। मरते हैं, तब वह भूंगला लेकर आता है। बड़ा भूंगला। ऐसा बड़ा भूंगला। भंगी हो, भंगी। भंगी समझते हो न? हरिजन नहीं, हरिजन तो ढेढ़। यह तो भंगी। उससे हल्का कहा जाता है। उनमें भी दो जातियाँ हैं। विष्टा और पाखाना साफ करे, वह भंगी कहलाता है। हरिजन तो उससे वे कहलाते हैं, सूत का काम करे... वह भंगी का घर है वहाँ। दस्त को जाते हैं, वहाँ बाहर घर है। यह मरे तो बड़ा भूंगला लेकर आता है। भूं... भूं... करता हुआ मुर्दे के सामने आगे चलता है। वह बाजा है। विवाह करने जाए, तब वह बैण्डबाजा बजावे। सब एक की एक जाति है, क्या है परन्तु? आहाहा!

यहाँ कहते हैं मुनिराज ने ऐसी शैली ली है कि राग से और निमित्त से... निमित्त से

तो भिन्न है ही परन्तु राग और निमित्त को सम्बन्ध था, वह सम्बन्ध तोड़ा। स्वभाव के साथ सम्बन्ध करने से राग के सम्बन्ध का अन्दर भेद पड़ गया। उस भेद के अभ्यास द्वारा अन्तर्मुख दृष्टि हुई और जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और शान्ति प्रगट हुई, वह तो सत्यस्वरूप सत्य त्याग, सत्य प्रत्याख्यान है। उसमें अभी अधूरा है; इसलिए विकल्प आता है कि त्याग करूँ... यह करूँ... यह करूँ... उस विकल्प को व्यवहार अंगीकार करता है, ऐसा कहा जाता है। व्यवहार से आदरता है, ऐसा।

श्लोक-१४३

[अब, इस निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नौ श्लोक कहते हैं:]

(रथोद्धता)

भाविकालभवभावनिवृत्तः सोऽहमित्यनुदिनं मुनिनाथः।
भावयेदखिलसौख्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ।।१४३।।

(वीरछन्द)

मुनि को 'भावी[१] भव-भावों से मैं हूँ जो निवृत्त सदा।'
इस प्रकार मलमुक्ति हेतु निज पूर्ण सौख्य निधि को भाना॥१४३॥

[श्लोकार्थः] 'जो भावि काल के भव-भावों से (संसारभावों से) निवृत्त है, वह मैं हूँ' इस प्रकार मुनीश्वर को मल से मुक्त होने के लिए परिपूर्ण सौख्य के निधानभूत निर्मल निज स्वरूप को प्रतिदिन भाना चाहिए॥१४३॥

श्लोक -१४३ पर प्रवचन

[अब, इस निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नौ श्लोक कहते हैं:] एक के नौ।

नौ अफर अंक है न। आगे नौ लेंगे। आलोचना में नौ लेंगे। एक ६ लेंगे और एक ९ लेंगे। आहाहा। १४३। ऊपर कलश है न?

भाविकालभवभावनिवृत्तः सोऽहमित्यनुदिनं मुनिनाथः।
भावयेदखिलसौख्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ।।१४३।।

आहाहा! अरे! मुनियों ने तो काम किया है न! गजब किया है! दिगम्बर मुनि, वे तो केवलज्ञान के पथानुगामी, केलवज्ञान को टिकाकर रखा है। केवलज्ञान लूँ, केवलज्ञान लिया या लूँ, ऐसा है। ऐसी दशा है। देखो! क्या कहते हैं?

[श्लोकार्थः] 'जो भावि काल के भव-भावों से...' भविष्य के भव के कारण ऐसे विकारी भाव **'निवृत्त है, वह मैं हूँ'...** आहाहा! सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही है। प्रत्याख्यान है अवश्य न, इसलिए भावि काल लिया है। प्रतिक्रमण (में) भूतकाल लेते हैं। संवर, आलोचना वर्तमान लेते हैं। भावि काल के परन्तु वर्तमान में भावि काल के भव भावों से निवृत्त हूँ। अर्थात् अभी मैं निवृत्त हूँ। आहाहा! मेरे स्वभाव में वह विकारभाव है ही नहीं। भूतकाल के लिये या भविष्य काल के लिये या वर्तमान काल के लिये। आलोचना में वर्तमान आयेगा। अहो! चैतन्यसमुद्र, कैसा पवित्रता का धाम प्रभु! मैं, वह मैं भावि काल के भव के भाव, संसार के भाव, पुण्य-पाप के विकल्प से निवृत्त है, वह आत्मा मैं हूँ। आहाहा! समझ में आया? ऐसे खबर पड़ती होगी यह?

यह कहते हैं, **'निवृत्त है, वह मैं हूँ'...** पर्याय में विकार था और वह विकार भावि काल में भव का कारण था। उससे मैं निवृत्त हूँ, वह मैं हूँ। आहाहा! **इस प्रकार मुनीश्वर को...** धर्मात्मा ने **मल से मुक्त होने के लिए...** देखो! भावि भव का भाव, वह मैल है। चाहे तो सर्वार्थसिद्धि में स्वर्ग में जाने का भाव (होवे), वह भी मैल है। उससे तो निवृत्त है, वह मैं। निवृत्त है, वह मैं। वह है, वह मैं नहीं। शुभाशुभभाव है, वह मैं नहीं। उससे निवृत्त है, वह मैं हूँ। गजब काम, भाई! अन्तर्मुख ढलने पर, स्वभावसन्मुख ढलने पर, झुकने पर वह मैं, वह तो भावि के भव के भाव से रहितवाला, वह मैं हूँ। समझ में आया? भारी कठिन काम। यह सत्य ही ऐसा है। इसे कठिन कहना, वह तो लोक की दुर्लभता बताने के लिये है। कठिन कहने से वह वस्तु इससे कोई दूसरी जाति हो, ऐसा नहीं है। बात तो यह है।

भगवान सत्य का स्वरूप तो यह है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने

ऐसा जाहिर जगत में प्रसिद्ध किया है। समझ में आया? अरे! भावि अर्थात् भविष्य काल, उसके जो भव, उसका भाव। भव के भाव से तो मैं निवृत्त हूँ। अभी मैं निवृत्त हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह तो कोई बात है? वह तो भाव है। वह भाव प्रगट हुए बिना सब बातें व्यर्थ-व्यर्थ है। आहाहा! फिर पूजा करे और भक्ति करे और यात्रा निकाले... दस-दस लाख, बीस लाख खर्च करे और लाख, करोड़, अरब मन्दिर बनावे, सब व्यर्थ है।

मैं अर्थात् आत्मा और यह आगे कहेंगे... अनन्त-अनन्त आनन्द का नाथ भरपूर। ऐसा मैं भावि भव के भाव से निवृत्त है, वह मैं हूँ। आहाहा! वर्तमान में यह भाव करता है कि ऐसा हूँ और भावि के लिये भी मैं ऐसा ही हूँ। आहाहा! भारी कठिन बात! पूरे दिन... यह देखो न! दस दिन आयेंगे। पूजा करना, भक्ति सबेरा हुआ, षोडशकारण भावतां... क्या आता है?

मुमुक्षु : दर्शन विशुद्धि भावना भाय....

पूज्य गुरुदेवश्री : सोलह तीर्थंकर पद पाय। ऐई! प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए सब। आहाहा! षोडशकारण भावना तो विकल्प, राग है। जिस भाव से तीर्थंकर (प्रकृति) बँधती है, वह राग है, अपराध है, नुकसान है। आहाहा! ऐ मूलचन्दभाई!

मुमुक्षु : तीर्थंकर पद को प्राप्त हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीर्थंकर अर्थात् क्या? समवसरण मिले, वह तीर्थंकर? वह तो जड़ का हुआ है। वह तो पुण्य-प्रकृति है और जिस भाव से बँधी है, वह तो अपराध है। पुरुषार्थसिद्धिउपाय में कहा है न? महाराज! समकिती भी जब तीर्थंकरगोत्र बाँधता है तो वह भाव समकिती को ही होता है। तो वह क्या है? समकित से बँधता है? नहीं; वह तो शुभोपयोग का अपराध है। समझ में आया? पहले बताया था। कितनी गाथा? २२०। देखो! **इस लोक में रत्नत्रयरूप धर्म निर्वाण का ही कारण होता है, अन्य गति का नहीं, और जो रत्नत्रय में पुण्य का आस्रव होता है, यह अपराध शुभोपयोग का है।** कहो, समझ में आया? तीर्थंकर की बात है, हों! ऊपर। यह २१८ (गाथा) है।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्।।२१८।।

जिसमें सम्यक्त्व और चारित्र... आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा होने पर भी, उसे **तीर्थंकर और आहारकद्विक (प्रकृति) के बन्ध करनेवाले योग और कषाय होते हैं...** योग और कषाय तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य महाराज दिगम्बर सन्त वनवासी (यह कहते हैं)। पुरुषार्थसिद्धिउपाय, २१८ गाथा। आहाहा! **और नहीं होने पर नहीं होते...** अर्थात् कि योग और कषाय न हो तो तीर्थंकरगोत्र नहीं बँधता। **सम्यक्त्व और चारित्र बिना, बन्ध के कर्त्ता योग और कषाय नहीं होते...** सम्यक्त्व और चारित्र न हो तथा योग, कषाय से कर्म बँधे, ऐसा नहीं होता। इसलिए सम्यक्त्व और चारित्र हो, वहाँ ऐसी कषाय होती है, उससे तीर्थंकरगोत्र बँधता है। तो वह **इस बन्ध में उदासीन हैं।** यह सम्यग्दर्शन और चारित्र, जिस भाव से तीर्थंकरप्रकृति बँधती है, उस भाव से उदास है। तब है क्या वह? ऐसा कहा। वह अपराध है। यह २२० (गाथा) में अपराध कहा है। योग-कषाय, वह अपराध है। आहाहा! ऐ... भीखाभाई! तीर्थंकरप्रकृति भी... कहते हैं न, मूलचन्दभाई (कि) तीर्थंकरप्रकृति बँधती है न, तीर्थंकर होते हैं न! आहाहा! और जिस भाव से तीर्थंकर (प्रकृति) का बंधन हुआ, उस भाव से कहीं केवलज्ञान नहीं होता। वह तो अपराध है। उसका नाश करेगा, तब केवलज्ञान होगा। समझ में आया? ऐसा मार्ग! आहाहा! वीतराग का निर्दोष निष्कलंक मार्ग। आहाहा!

अपना स्वभाव ही अत्यन्त शुद्धस्वभाव पवित्र है। उसके-स्वभाव के भान द्वारा और स्थिरता द्वारा ही मुक्ति होती है। उसमें यह बीच में अपराध आता है। आहाहा! वह प्रसन्न-प्रसन्न होता है। सोलहकारणभावना भाय तीर्थंकर पद पाय... क्या आता है न? क्या कहा बाद में? परम गुरु होय... ऐई...! श्रीचन्दजी! हमारे श्रीचन्दजी बहुत गाते हैं। यह दस दिन आयेंगे न? परम गुरु होय... ऐ... बैठे वहाँ। पहले बहुत गाते थे। अब कम हो गया है। अपवास-वपवास हो। तीर्थंकरपद पाये, परम गुरु होय... परम गुरु होय। तीर्थंकर से परम गुरु होता होगा? प्रकृति से? और जो भाव अपराध है, उससे आत्मा परम गुरु होता होगा? ऐई! सेठ! लोगों की श्रद्धा में ही कुछ भान नहीं होता।

यहाँ तो २२० (गाथा) में कहा '**शुभोपयोगोऽयमपराधः**' मूलचन्दभाई! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव-शुभोपयोग का अपराध है। शुभोपयोग स्वयं अपराध है। आहाहा! कहीं निरपराध से बंधन होगा? पाटनीजी! (संवत्) १९८५ में यह

बात सभा में रखी थी। १९८५। तब सम्प्रदाय में थे न? पौष महीना था, पौष। १९८५, बोटाद। १५+२७=४२ (वर्ष) हुए। वहाँ तो हजारों लोग आते थे। लोगों को हमारे प्रति बहुत प्रेम था न खचाखच सभा। यह तो अभी छोटी है। वह तो बड़ी सभा। तीन सौ-साढ़े तीन सौ घर। हजार-पन्द्रह सौ लोग खचाखच (बैठे हों)। बाहर बैठे। समावे नहीं। लोगों को बहुत मान था न, हमारे प्रति प्रियता बहुत थी। यह मुँहपत्ती बदली, मूर्ति आयी, वहाँ सब बदल गया। तब ऐसा कहा था, हों! सभा में। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह धर्म नहीं है। धर्म से बँधे, वह वस्तु नहीं हो सकती। इसलिए धर्म से विरुद्ध वह पुण्य है। दूसरे प्रकार से कहो तो कहो तो, अधर्म है। खलबलाहट हो गयी। सभा में तो सबको प्रेम था न!

एक वेशधारी बैठा था। जगजीवन। ऐई! हरिभाई! जगजीवन को पहिचाना न? कहाँ गये हरिभाई? जगजीवनजी थे। अकेले बैठे थे। वोसरे... वोसरे... वोसरे... वोसरे अर्थात् यह श्रद्धा हमें नहीं चाहिए। कहाँ है परन्तु मुफ्त के उठ गये सभा में से। सभावालों को कुछ खबर पड़े, क्या बोले। परन्तु मुझे खबर पड़ी। सभा तो एक ही ध्यान से मेरा सुनती हो। वे तो चले गये। व्याख्यान पूरा हुआ, फिर अकेले (थे तब) कहा, परन्तु किसलिए उठे? नहीं जँचता होवे तो बैठे रहना था। किसी ने माना तुम्हें? क्या कहा यह सभा को खबर है? वोसरे... वोसरे करके उठ गये। अपने आता है न वोसरे? नहीं आया? आ गया। प्रत्याख्यान में। त्यागता हूँ, छोड़ता हूँ। वोसरे अर्थात् छोड़ता हूँ। यह श्रद्धा छोड़ता हूँ परन्तु थी कहाँ? व्यर्थ में किसलिए उठ गये? उनके बड़े साधु को अच्छा लगाने के लिये। मूलचन्दजी को। देखो! मैंने उस समय ऐसी सभा में भी (ऐसा बोला)। कोई सभा समझती नहीं कि तुमने क्या कहा। मुझे खबर है कि यह श्रद्धा तुम्हारी वोसरे... वोसरे। १९८५ की बात है, सेठ! १५+२७=४२ वर्ष हुए। सम्प्रदाय में कहा था, हों! आहाहा! मार्ग यह है। मार्ग यह है, कहा। दो बातें की थीं। पंच महाव्रत, वह आस्रव है और तीर्थंकरगोत्र जिस भाव से बँधता है, वह धर्म नहीं है परन्तु अधर्म है। मानो, न मानो परन्तु मार्ग यह है। बालचन्दजी! तुम्हारे सम्प्रदाय में रहकर कहा था। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, ऐसे धर्मात्मा को **मल से मुक्त होने के लिए...** आहाहा! **परिपूर्ण सौख्य के निधानभूत...** आहाहा! परिपूर्ण आनन्द का निधान, ऐसा जो निर्मल निजस्वरूप।

भगवान आत्मा अपना निजस्वरूप, अपना परिपूर्ण आनन्द। आहाहा! परिपूर्ण सुख। अनन्त सुख। परिपूर्ण सुख का निधान। अनन्त सुख। परिपूर्ण सुख का निधान। ऐसी मेरी निज की खान। वह भी **निर्मल निज स्वरूप...** उसे **को प्रतिदिन भाना चाहिए।** धर्मात्मा को प्रतिदिन यह भावना करनी चाहिए। मैं परम आनन्द का धाम, निधान (हूँ), उसकी ओर झुकाव करना, इसका नाम धर्म है। कहो, सेठ!

मुमुक्षु : भावना भाना तो इस प्रकार से।

पूज्य गुरुदेवश्री : भावना का अर्थ यहाँ एकाग्रता है। भावना अर्थात् विकल्प नहीं।

कहते हैं कि धर्मात्मा ने मैं हूँ, ऐसा तो निर्णय स्थिरता में किया है परन्तु मुक्त होने के लिये बारम्बार परिपूर्ण सुख का धाम निधान प्रभु, आहाहा! अल्प सुख नहीं, दुःख तो नहीं ही। भगवान आत्मा में दुःख तो है ही नहीं, विकार तो है ही नहीं। निमित्त तो नहीं परन्तु अल्प सुख भी नहीं। चैतन्य आनन्द का नाथ, जिसका स्वभाव आनन्द, ऐसे परिपूर्ण सुख का निधान, ऐसा निज निर्मल स्वरूप, उसकी ओर झुकाव करना। आहाहा! लो! जेठालालभाई! अभी तो यहाँ जेठालालभाई को वह विवाद, कर्म का होवे तो विकार होता है, कर्म होवे तो विकार होता है। करो, चर्चा। यह कहे, मैं ऐसा नहीं मानता। क्या कहा यह?

जिसे सुखी होना हो तो उसे क्या करना? कि परम परिपूर्ण आनन्द का निधान भगवान आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा ने प्रगट किया और ऐसा आत्मा है। परम आनन्द की मूर्ति प्रभु परिपूर्ण आनन्द। ऐसा जो आत्मा का स्वभाव, निर्मल निजस्वरूप ऐसा जो आत्मा का है, उसमें एकाग्र होना, वह सुख को प्राप्त करने का मार्ग है। बाकी यह सब दुःख को प्राप्त करने के रास्ते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया? १४३ (श्लोक पूरा) हुआ। १४४।

श्लोक-१४४

(स्वागता)

घोरसन्सृतिमहार्णवभास्वद्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः ।
तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः ।।१४४।।

(वीरछन्द)

परमतत्त्व यह घोर भवोदधि की दैदीप्यमान नौका।
जिन कहते हैं अतः मोह को जीत तत्त्वतः मैं भाता॥१४४॥

[श्लोकार्थः] घोर संसारमहार्णव की यह (परम तत्त्व) दैदीप्यमान नौका है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है; इसलिए मैं मोह को जीतकर निरन्तर परम तत्त्व को तत्त्वतः (पारमार्थिक रीति से) भाता हूँ॥१४४॥

श्लोक -१४४ पर प्रवचन

---

१४४ (श्लोक)

घोरसन्सृतिमहार्णवभास्वद्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः ।
तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः ।।१४४।।

श्लोकार्थः आहाहा! **घोर संसारमहार्णव...** विशाल समुद्र चार गति में भटकने का संसार मिथ्यात्वभाव। आहाहा! नरक और निगोद, चींटी और कौवा, कुत्ता और कुंजर, हाथी—ऐसे भव महासंसार घोर संसार। महार्णव-महासमुद्र है, कहते हैं। आहाहा! उसका **यह (परम तत्त्व) दैदीप्यमान नौका है...** चैतन्य भगवान आनन्द का नाथ, वह परम घोर संसार को तरने के लिये नाव समान है। यह आत्मा नाव है। ये बाहर के संयोग तो दुःखदायक का निमित्त है और अन्तर के संकल्प-विकल्प, वह तो दुःख की मूर्ति है। आहाहा! संकल्प और विकल्प, यह करूँ और वह करूँ, यह सब दुःख की खान है। अकेली दुःख की खान है। ऐसा महासमुद्र संसार, उसे तरने के लिये **यह (परम तत्त्व)**

दैदीप्यमान नौका है... यह शोभित नाव है। शृंगारित नाव है। कौन? आत्मा। अनन्त ज्ञान और आनन्द का नाथ प्रभु, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द परिपूर्ण सुख से भरपूर आत्मा है। वह आत्मा संसार के-घोर संसार के भव से तरने के लिये आत्मा नाव है। आहाहा!

'नाव तरे रे मेरी नाव तरे,' - ऐसा श्वेताम्बर में आता है। वह बात सत्य नहीं है परन्तु... एक 'अयवन्तो' राजकुमार था। छोटी उम्र में दीक्षा ले ली थी। श्वेताम्बर में 'भगवती' में आता है। सब बात मिथ्या है परन्तु यह बात ऐसी आती है। सार निकालना है। वह अयवन्तो राजकुमार था, फिर छोटी उम्र में दीक्षा ली थी। बहुत छोटी उम्र। उसमें मुनियों के साथ जंगल-दस्त के लिये बाहर जाते हैं, चलते जाते हैं, वहाँ बरसात बहुत आयी। बरसात समझे? बरसात नहीं समझते? वर्षा कहो या बरसात कहो। इतना शब्द है। पानी बहुत गिरा। उसमें छोटा बालक राजकुमार और दीक्षा हो गयी। वह पानी का प्रवाह चलता है न? बहुत वर्षा, इसलिए स्वयं ऐसे बैठ गया। बैठकर ऐसे प्रवाह चला उसमें धूल की पाल बाँधी। मिट्टी की पाल बाँधी और पात्र हाथ में था। श्वेताम्बर तो ऐसा मानते हैं न? पात्र।

मुमुक्षु : पात्र तो पहले से सिद्ध कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब सिद्ध करना है। एक कंकड़ में सब... सब बातें खोटी। वह पात्र उसमें रखा 'नाव तरे रे मेरी नाव तरे... ऐसे मुनिवर जल क्या खेल करे...' उनकी सज्झाय सब पढ़ी हुई है। यह तो दुकान पर पढ़ी थी। (संवत्) १९६४-६५। चार सज्झायमाला है न? वे तो तब पढ़ी थी। उन दूसरे साधु ने देखा तो कहे, अर..र..! यह क्या? पानी में... 'नाव तरे रे मेरी नाव तरे... मुनिवर जल क्या खेल करे... मोहनीयकर्म कारे ये चाला, मुनिवर दोहे न नारिया रे बाबा...' एक हस्तिमुक्तकुमार और एक गजसुकुमार। दोनों छोटे थे न? उनकी एक बड़ी सज्झाय है। यह तो सब दुकान पर पढ़ी थी। दीक्षा से पहले, हों! (संवत्) १९६४ के वर्ष। धन्धा निवृत्ति का, घर की दुकान थी। बहुत पढ़ा था।

यहाँ ऐसा कहते हैं... वह तो पात्र, पानी और साधु... वह सब बात मिथ्या है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु यह नाव। आहाहा! मेरा भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति। 'नाव तरे रे मेरी नाव तरे... ऐसे निज आनन्द में आतम खेल करे...' निज, कहा न! देखो न! मेरा तिरता आत्मा, वह संसार के समुद्र से नाव समान तिरता है। सम्यग्दृष्टि धर्मी ऐसे अपने निजानन्दस्वरूप भगवान को संसार के समुद्र से तैरती नाव मानता है। आहाहा!

समझ में आया ? राजकुमार... गजसुकुमार हुए न ? श्रीकृष्ण के भाई ! वे छोटी उम्र में... विवाह नहीं किया था और दीक्षा ली थी। उन्हें भी एकदम वैराग्य होकर संसार में ध्यान में थे और उनके ससुर ने नहीं... अपने फोटो है न ? गजसुकुमार का। इन दोनों की बात आती है। दो मुनिवर नाम लिया बाला। एक तो मुनि को पात्र नहीं होता और एक मुनि बालक हों तो भी उन्हें ऐसे मोह के खेल नहीं होते। ऐई ! आहाहा ! ऐसी बातें लगायी है उसमें- भगवतीसूत्र में। राणपुर में यह बात कोई आयी थी। वे भाई थे न ? क्या कहलाते हैं ? राणपुर में छापावाले। गुजर गये, नहीं ? अमृतलालभाई। वे वहाँ व्याख्यान में आये थे। वहाँ था न ? उनका स्थान था न, राणपुर। बाहर छापा में था। हम उनके घर में गये थे। तब व्याख्यान में आये थे और यह बात आती थी। तब यह आयी थी। १९८४ की बात है। १९८४ का चातुर्मास था न ? राणपुर। बेचारों ने कभी सुनी नहीं, इसलिए आहा... क्या कहते हैं यह ? क्योंकि उन्हें वैराग्य... सब आये थे। पर्यूषण में तो आवे न, देखो ! ऐसा है। आत्मा राग से भिन्न और पर से भिन्न, उसका भान किये बिना नाव तिरेगी नहीं, कहा। डूब जाएगी। यह बाहर की शोभा और यह पैसा मिला और अमुक मिला और इज्जत बढ़ी, और पूँछ बढ़ी। भटकने का है, ऐई ! मलूकचन्दभाई तब थे या नहीं ? १९८४। उसका उपाश्रय, कैसा ?

मुमुक्षु : अमृतलाल।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ वह। वह उपाश्रय है न ? वहाँ मंजिल पर पढ़ा था न, तपसी का उपाश्रय। १९८४ में। यह थे न। मनसुख-बनसुख तब सबने प्रौषध किये थे। खबर है ? यह मनसुख तब छोटा था। १९८४। १६+२७, कितने हुए। ४३ वर्ष पहले की बात है। उसने प्रौषध किया था। पूनमभाई ! तुम्हारे पिता ने और इन सबने प्रौषध किया था।

मुमुक्षु : बाजार में यह नहीं खपता होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची है। अब यह दूसरा माल आया। यह तो अब कस्तूरी बंटती है। वह तो सब भूसे का पोटला था। आहाहा !

देखो न ! मुनिराज ने किस प्रकार (बात की है) ! अरे रे ! घोर महार्णव संसार। चौरासी के अवतार के कारण विकारभाव, मिथ्यात्वभाव, पुण्य-पापभाव। ऐसा महासंसार घोर। उसमें दैदीप्यमान मेरी नाव रंगीन है, शोभित नाव है, कहते हैं। ऐसा कहा न ? भाई ! '**भास्व**', '**भास्व**', '**भास्व**' अर्थात् शोभित। समझ में आया ?

एक दृष्टान्त देते थे। एक अन्धा था, उसका पिता मर गया था और उसके पिता को नाव का धन्धा था। नाव टूट गयी, फूट गयी, उसमें कोई पुण्य का दाडो होगा। नर्मदा की नदी में उस किनारे जाना था। अब यह कहे कि भाई! मेरे पास कुछ साधन नहीं है। मैं अन्धा हूँ। फूटी नाव थी, कागज से शृंगार किया। कागज.. कागज.. लपेटकर... क्या किया? कागज नहीं समझते? लाल चित्रामणवाले कागज (लगाये) फूटी नाव। नाव फूटी हुई, छिद्र पड़े हुए। खर्च करे तो हजार रुपया चाहिए। शोभित नाव। फिर नदी के इस किनारे से उस किनारे जाना। लोगों को तीन रुपये, चार रुपये इस किनारे से उस किनारे ले जाने के हैं। यह नाववाला कहे, मुझे तो एक रुपया लेना है। पूरी (नाव) खचाखच भर गयी। नाव चली। चलते हुए जहाँ पानी भरा तो कागज भींगने लगे। अन्दर अधबीच में पानी आया। ऐ.. यह क्या हुआ? भाई! तुम्हें खबर नहीं? चार रुपये का एक रुपया (लिया तो) तुम ठगाये या मैं ठगाया? ....बताया। वह चार रुपया ले तो मैंने एक रुपया लिया। तो कुछ कारण होगा, ऐसा तुम्हें विचार नहीं आया? चश्मा चढ़ाया था हरा, इसलिए दूसरे देखे नहीं। देखो! मैं तो अन्धा हूँ। परन्तु तुम भी अन्धे?

इसी प्रकार यह मोक्ष के मार्ग की सरल बातें सब अन्धों ने कर डाली है। समझ में आया? दया पालो, व्रत करो, तप करो,... मोक्ष होगा। अन्धों ने ऐसा सरल मार्ग किया और वे बिना भान के बैठे इसमें। समझ में आया? जेठाभाई! यह हमारे हीराजी महाराज दृष्टान्त देते थे। गुरु देते थे। उनकी क्रिया तो बहुत कठोर थी न। आहाहा! सस्ता धर्म। अपवास करो, यह करो, अट्ठम करो, यह क्या कहलाता है तुम्हारे? सोलह भत्थु करो... सोल भत्थु नहीं? मास खमण महीना का। श्रावण शुक्ल पूर्णिमा से अपने दिगम्बर में। षोडशकारण भावना के अपवास। जाओ, तुम्हारा कल्याण। धूल में भी नहीं, सुन न! मर जा न कल्याण करके? वह तो राग की क्रिया है। सस्ता बताया अन्धों ने। ऐई! मूलचन्दभाई! नाव फूटी हुई शृंगारित। यह सच्ची शृंगार की हुई। आहाहा!

दैदीप्यमान नौका है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है;... आहाहा! तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र वीतराग परमेश्वर, जिनके सौ इन्द्र तलिया चाटे, ऐसे भगवान त्रिलोकनाथ ने ऐसा कहा है कि संसार से तिरने की नाव, यह तेरा परम आनन्द का धाम आत्मा है। इसकी दृष्टि और अनुभव कर, यह तिरने का उपाय है। बाकी यह क्रियाकाण्ड और रागादि, वह कोई

तिरने का उपाय नहीं है। आहाहा! कठिन तो लगेगा भाई! लोगों को, हों! बहुत वर्षों से सेवन करते हो। मान मिला हो, सामने आकर, लो! यह हमारे घर में चतुर हैं। निकले पागल... ऐई! पोपटभाई! आहाहा!

अरे! घोर संसार को तिरने के लिये यह दैदीप्यमान आत्मा, इसकी दैदीप्यमान नाव है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान की नाव आत्मा, उसका जिसने अन्दर अनुभव किया, वह आत्मा स्वयं संसार को तिरने की नाव है। दूसरा कोई क्रियाकाण्ड आदि संसार को तिरने की नाव नहीं है। अरे! **इसलिए मैं...** जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा। परमात्मा त्रिलोकनाथ ने इन्द्रों के-गणधरों के समक्ष परमात्मा ऐसा फरमाते थे।

मैं मोह को जीतकर निरन्तर परम तत्त्व को तत्त्वतः (पारमार्थिक रीति से) भाता हूँ। आहाहा! ऐसा परम तत्त्व। मोह को जीतकर, मिथ्याभ्रान्ति को टालकर, मेरा भगवान आनन्द का धाम, उस पर मेरी दृष्टि और उसका स्वीकार, वह परम सत्य का स्वीकार है। ऐसे जीव को **निरन्तर परम तत्त्व को तत्त्वतः (पारमार्थिक रीति से)...** विकल्प और चिन्ता से नहीं। आहाहा! अन्तर के भगवान आत्मा में एकाग्र होकर भाता हूँ। उसकी भावना में एकाग्र होता हूँ, वह मुझे मोक्ष का उपाय है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-११७, श्लोक-१४४-१४९, पौष शुक्ल ७, दिनांक २५-१२-१९७९

नियमसार, १०६ गाथा का कलश है। १४४वाँ कलश।

घोरसन्सृतिमहार्णवभास्वद्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः।
तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः ।।१४४।।

मुनि कहते हैं कि **घोर संसारमहार्णव...** संसार चौरासी लाख अवतार घोर महासंसार है। एकेन्द्रिय में, दोइन्द्रिय में, त्रीन्द्रिय में, निगोद में यह महाभव घोर संसार है। ऐसे **घोर संसारमहार्णव...** अर्थात् समुद्र। उसका **यह (परम तत्त्व) दैदीप्यमान नौका है...** नाव है। आत्मा चैतन्यस्वरूप अतीन्द्रिय, आनन्द राग और पुण्य-पाप के राग से भिन्न ऐसा आत्मतत्त्व

है। वह **संसारमहार्णव की यह (परम तत्त्व) दैदीप्यमान नौका...** इस नाव से संसार समुद्र तरते हैं। परम तत्त्व जो आनन्दस्वरूप, उसमें एकाग्र होकर... आहाहा!

शुभ और अशुभभाव, पुण्य और पाप के भाव भी दोनों बन्ध का कारण है। उन्हें छोड़कर जो अपने स्वरूप में **(परम तत्त्व) दैदीप्यमान नौका है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है;...** अब तो यह चारों ओर आया था। आज पत्र आया है। किसका पत्र है? वैष्णव का एक अन्यमति का पत्र है न? पत्र है न? पीठडिया का? रहता है पीठडिया। है लड़का परन्तु यह अपने राजकोटवाले शान्तिभाई हैं न? उन्हें कुछ सम्बन्ध होगा तो पत्र लिखा होगा। परन्तु है अन्यमतिवाला। पढ़कर तो बहुत प्रसन्न हुआ। ओहोहो! ऐसी बात! आत्मा अन्दर में चैतन्यमूर्ति का अवलम्बन लेना और उसमें से आगे बढ़ा जाता है। ऐसा बहुत सरस लिखा है। पत्र आया है।

यहाँ कहते हैं कि यह संसार, घोर संसार चौरासी के अवतार, मनुष्य के अवतार या देव के अवतार, परन्तु वहाँ से नरक और निगोद के अवतार होते हैं। आहाहा! उन्हें तरने का परम तत्त्व, चैतन्यतत्त्व, **दैदीप्यमान नौका है...** चैतन्य चमत्कार चैतन्य से भरपूर भगवान है। आहाहा! चैतन्य और आनन्द से भरपूर आत्मा है। पूर्ण ध्रुवस्वभाव है। उसका अनन्त आनन्द, अखण्ड ज्ञान और अखण्ड वीर्य से भरपूर वह तत्त्व है परन्तु उसे जँचे कैसे? पर्याय में दिखता नहीं, पर्याय अन्दर में जाए नहीं और उसे यह मानना। आहाहा!

अन्तर चीज़ है न? वस्तु है न? आत्मा तत्त्व है या नहीं? तो है तो उसमें कोई स्वभाव है या नहीं? तो उसका स्वभाव अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञानादि स्वभाव है। प्रत्येक आत्मा का अन्दर ऐसा स्वभाव है। उस परम तत्त्व को, संसार के मूल को **दैदीप्यमान नौका है...** तरने के लिये नाव। जैसे नाव से सागर तर जाते हैं, वैसे इससे समुद्र तिरते हैं। **ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है;...** है? आहाहा! कोई व्यवहार से तिरता है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि धर्म से (तिरता है-ऐसा नहीं)। एक घण्टे भगवान की भक्ति-पूजा करे तो मानो हो गया धर्म। उस एक घण्टे सामायिक करे, हो गया धर्म। अब फिर तेईस घण्टे पाप। धर्म कहाँ था अभी? उसमें तो शुभभाव का ठिकाना नहीं।

यहाँ तो कहते हैं। **ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है;...** संसार, घोर संसार... आहाहा!

कहाँ निगोद का जीव और कहाँ एकेन्द्रिय तथा कीड़ी-मकोड़ा का जीव। आहाहा! वहाँ था और वहाँ रहा है। ऐसा घोर महासंसार, उसे तिरने का उपाय दैदीप्यमान एक नाव आत्मा है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप, चिदानन्दस्वरूप है, उसका भान होने से संसार का अन्त और छोर आता है। इसके अतिरिक्त किसी क्रियाकाण्ड से छोर नहीं आता।

इसलिए मैं मोह को जीतकर... मुनिराज स्वयं कहते हैं; **इसलिए मैं मोह को जीतकर निरन्तर परम तत्त्व को...** आहाहा! परसन्मुख की सावधानी के भाव को छोड़कर, स्वतत्त्व की सावधानी के भाव को ग्रहण करके **निरन्तर परम तत्त्व को तत्त्वतः (पारमार्थिक रीति से) भाता हूँ।** लो, ऐसी भाषा। इसमें बाहर का करने का क्या? बाहर का करने का होवे तो ठीक। यह करना, छोड़ना, दिया, लिया। करे क्या? बाहर में क्या करे? अन्दर में अभी अज्ञान, मिथ्यात्वभाव है। राग है, वह मेरा है; पर का कर सकता हूँ; पर से मुझमें बिगाड़-सुधार होता है; मुझसे पर में बिगाड़-सुधार होता है—यह सब मान्यता भ्रम है, अज्ञान है। पर को बचा सकता हूँ, पर को मदद कर सकता हूँ, पर मुझे मदद कर सकता है, यह सब भ्रमणा मिथ्यात्व है। आहाहा!

इस मिथ्यात्व को तजकर। जीतकर कहा न? **निरन्तर परम तत्त्व को...** निरन्तर जो परम तत्त्व भगवान आत्मा अन्दर है, उसे **तत्त्वतः (पारमार्थिक रीति से) भाता हूँ।** परम तत्त्व को तत्त्वतः-परमार्थ से भाता हूँ। आहाहा! अकेला ऐसा कहे, जानपना ऐसा है, ऐसा रखकर नहीं। मैं तो परमार्थ से तत्त्वतः तत्त्व से जानता हूँ, अन्दर में अनुभव से जानता हूँ। आहाहा! यह मुनि की दशा होती है। सम्यग्दर्शन पहले होता है। आहाहा! शुद्धोपयोग हो, तब तो उसे मुनिपना कहा जाता है। यहाँ तो शुद्धोपयोग से इनकार करते हैं कि अभी नहीं होता।

मुमुक्षु : उन्हें नहीं है, इसलिए इनकार ही करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें नहीं, परन्तु समाज में इनकार करते हैं। वापस भरतक्षेत्र में सब साधु शुभभाववाले ही हैं। किसी को ऐसा कि शुभ आगे बढ़ सके, ऐसा है ही नहीं, ऐसा।

यहाँ तो कहते हैं कि मैं तो मिथ्यात्व को **जीतकर निरन्तर परम तत्त्व को तत्त्वतः**

(पारमार्थिक रीति से) भाता हूँ। यह करना है। अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द और शान्ति का सागर, ऐसे तत्त्व की अन्दर में भावना करना, एकाग्रता करना, वह संसार समुद्र के पार का उपाय है। आहाहा! वह इसमें निवृत्त कब हो?

१४४वाँ कलश हुआ।

श्लोक-१४५

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्रमूर्तेः,
भ्रान्तिध्वन्सात्सहजपरमानन्दचिन्निष्ठबुद्धेः।
नास्त्यन्येषामपरसमये योगिनामास्पदानां,
भूयो भूयो भवति भविनां सन्सृतिर्घोररूपा।।१४५।।

(वीरछन्द)

भ्रान्तिनाश से जिनकी बुद्धि सहज परम चेतन में निष्ठ।
ऐसे शुद्ध चरित्रमूर्ति को होता प्रत्याख्यान विशिष्ट॥
जो योगी हैं अन्य-समय में उन्हें न होता प्रत्याख्यान।
उन संसारी जन को होता पुनः पुनः संसरण महान॥१४५॥

[श्लोकार्थः] भ्रान्ति के नाश से जिसकी बुद्धि सहज-परमानन्दयुक्त चेतन में निष्ठित (-लीन, एकाग्र) है, ऐसे शुद्धचारित्रमूर्ति को सतत प्रत्याख्यान है। परसमय में (-अन्य दर्शन में) जिनका स्थान है, ऐसे अन्य योगियों को प्रत्याख्यान नहीं होता; उन संसारियों को पुनः पुनः घोर संसरण (-परिभ्रमण) होता है॥१४५॥

श्लोक -१४५ पर प्रवचन

१४५ वाँ कलश।

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्रमूर्तेः,
भ्रान्तिध्वन्सात्सहजपरमानन्दचिन्निष्ठबुद्धेः।

नास्त्यन्येषामपरसमये योगिनामास्पदानां,
भूयो भूयो भवति भविनां सन्सृतिर्घोररूपा ।।१४५।।

१४५ (कलश)। **भ्रान्ति के नाश से...** यह पहला बोल यह रखा है। भ्रान्ति अर्थात् अन्दर शरीर से मैं काम कर सकूँ, वाणी से मैं कर सकूँ, पुण्य और पापभाव वे मेरे हैं, यह मान्यता सब भ्रान्ति; भ्रान्ति अर्थात् मिथ्यात्व है। आहाहा! मुम्बई मोहनगरी में तो ऐसा बड़ा धन्धा चलता है, बाहर से धन्धा चलता है। धमाल.. धमाल.. धमाल.. अब उसे यह... आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं **भ्रान्ति के नाश से...** मैं तो भगवान शुद्ध चैतन्य हूँ और रागादि मेरी चीज़ नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वह राग है, वह मैं नहीं तो फिर दूसरा मैं नहीं, यह कहाँ से आया? आहाहा! यह तो मेरा धन्धा, मेरा धन्धा मुझे धीकता। क्या कहलाता है धीकता (जोरदार) धन्धा चलता है, ऐसा बनिये बोलते हैं। अभी धन्धा जोरदार चलता है, धोधमार चलता है, आमदनी अच्छी चलती है। चिमनभाई! बहुत लोग पैसेवाले हों, उन्हें दो-पाँच लाख इकट्ठे हुए हों, तो महीने में पच्चीस-पच्चीस हजार की जोरदार आमदनी होती है। ओहो! यह तो साधारण बात करता हूँ, हों! दिन की दस-दस हजार, पन्द्रह-पन्द्रह हजार की आमदनीवाले बनिये अभी हैं। दिन के दस हजार और पन्द्रह हजार की आमदनी। अभी ऐसा व्यापार मुम्बई में है। पावर, मस्तिष्क में पावर चढ़ जाता है। आहाहा! हम कमाते हैं, यह पैसा... आहाहा!

भ्रान्ति के नाश से... यह भ्रमणा छोड़ दे। यह चैतन्यस्वरूप तो किसी का नहीं और कोई तेरा नहीं। यह दया, दान का राग जो विकल्प उठता है, वह भी तेरा नहीं और तू उस विकल्प का नहीं। इस प्रकार **भ्रान्ति के नाश से जिसकी बुद्धि सहज-परमानन्दयुक्त...** आहाहा! जिसे भ्रान्ति का नाश और मिथ्यात्व का नाश होता है, उसकी बुद्धि में स्वभाविक परमानन्द आता है। स्वभाविक परमानन्द ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द आता है। आहाहा! क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है। अतीन्द्रिय आनन्द, हों! यह इन्द्रियों का आनन्द, वह तो जहर है। वह जहर का प्याला, विषय का प्रेम। यह तो आत्मा में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द भरा है।

भ्रान्ति के नाश से जिसकी बुद्धि सहज-परमानन्दयुक्त... आहाहा! देखो न!

कितना स्पष्ट किया है! मिथ्यात्व के नाश से **जिसकी बुद्धि सहज-परमानन्दयुक्त चेतन में निष्ठित (-लीन, एकाग्र) है...** सहज परमानन्दयुक्त चेतन। चेतन आत्मा कैसा है? कि सहज स्वभाविक परमानन्दयुक्त है। आहाहा! वह तो सुख का सागर है, सुख का समुद्र है तथा पुण्य और पाप के भाव, वह तो दु:ख का समुद्र है। दु:ख है दु:ख। यह कैसे जँचे? युवा शरीर हो, उसमें दो-चार-पाँच-दस करोड़ रुपये और हो जाएँ। पैसा उड़ावे... आहाहा! महीने में दस-दस लाख की आमदनी हो। उसे यह जँचे किस प्रकार? भटकने का रास्ता।

भ्रान्ति के नाश से... प्रभु! मिथ्यात्व के नाश से। **जिसकी बुद्धि...** अर्थात् ज्ञान। **सहज-परमानन्दयुक्त चेतन में निष्ठित (-लीन, एकाग्र) है...** आहाहा! **सहज-परमानन्दयुक्त चेतन...** ऐसा आत्मा, उसमें भ्रान्ति के नाश से उसमें लीन होता है, एकाग्रता है। आहाहा! संक्षिप्त शब्द परन्तु भाव बहुत ऊँचे। नये लोगों को लगता है कि यह क्या? परन्तु इसमें क्या करना? यहाँ करने का... करने का... करने का... यह अन्दर स्थिर होने का है। अन्दर तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान आनन्द से भरा है, वहाँ जाकर स्थिर होना, यह एक करना है। बाकी सब शून्य है। आहाहा!

सहज-परमानन्दयुक्त चेतन... आहाहा! स्वभाविक परमानन्द अन्तर, उसके सहित चेतन, अकेला चेतन नहीं। उस परमानन्दयुक्त-सहित चेतन में जिसकी एकाग्रता है। **ऐसे शुद्धचारित्रमूर्ति को...** अब चारित्र लिया। **ऐसे शुद्धचारित्रमूर्ति को...** स्वरूप में रमणता। अतीन्द्रिय आनन्द में रमणता। चारित्रमूर्ति को **सतत प्रत्याख्यान है।** उसे निरन्तर प्रत्याख्यान है। उसके प्रत्याख्यान का यह स्वरूप है। आहाहा! हाथ जोड़कर बैठे, प्रत्याख्यान दूँ, अमुक दूँ। वह कहाँ प्रत्याख्यान था? आहाहा!

सहज-परमानन्दयुक्त चेतन में निष्ठित (-लीन, एकाग्र) है, ऐसे शुद्धचारित्रमूर्ति को सतत प्रत्याख्यान है। आहाहा! उसे प्रत्याख्यान है। बाकी सबको मिथ्यात्वसहित अप्रत्याख्यान है। आहाहा! **परसमय में (-अन्य दर्शन में) जिनका स्थान है...** जिनेन्द्र तीन लोक के नाथ, उनकी जो वाणी और उनका मार्ग, उसमें जो नहीं है और अन्य में जो है। जिनेन्द्र के अतिरिक्त दूसरे मार्ग में जो है, **ऐसे अन्य योगियों को प्रत्याख्यान नहीं होता;...** आहाहा! वीतरागमार्ग के अतिरिक्त, वह भी दिगम्बर सन्तों ने कहा, वह वीतरागमार्ग

है। वह वीतराग ने कहा, वह यह मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्यमत के। इसके अतिरिक्त सब अन्यमत है। कठिन काम है। ३६३ पाखण्ड अन्यमत है। श्वेताम्बर और स्थानकवासी भी अन्यमत है। वह जैनमत नहीं है। आहाहा! कठिन पड़ता है। क्या हो? लोगों को बेचारों को खबर नहीं। जहाँ जन्मे वहीं का वहीं अपना मानते हैं। 'जैसी कुले समुप्पन्ने' जिस कुल में उत्पन्न हुआ और जिसका संग रहा, वह माना। तत्त्व की तो खबर नहीं होती कि तत्त्व क्या है? आहाहा!

अन्य—वीतराग के अतिरिक्त जितने अन्यमार्ग के स्थान हैं। **ऐसे अन्य योगियों को प्रत्याख्यान नहीं होता;...** आहाहा! इसमें श्वेताम्बर भी आये, हों! तुम स्थानकवासी भी आये। स्थानकवासी और श्वेताम्बर में प्रत्याख्यान नहीं होता, ऐसा कहते हैं। उनके साधु को प्रत्याख्यान नहीं होता। प्रत्याख्यान, वह साधु नहीं वह तो अज्ञानी साधु है।

मुमुक्षु : उनके शास्त्रों में दूसरे प्रकार से कहा हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : उनके शास्त्रों में लिखा, वह शास्त्र ही कल्पित है। वे सब शास्त्र कल्पित बनाये हैं।

मुमुक्षु : किसी आचार्य के लिखे हुए नहीं हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आचार्य के, परन्तु वे मिथ्यादृष्टि आचार्य के।

मुमुक्षु : उनमें पहले कहा साधु को आहार दे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; (संसार) परित हो जाता है। मिथ्यादृष्टि होने के बाद... बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! बहुत लम्बा करने जाएँ तो... आहाहा! एक दर्शनसार पुस्तक है न, उसमें तो ऐसा लिखा है कि उनका जो निकालनेवाला है, वह तो नरक में गया है। अनन्तानुबन्धी का सेवन करके। दर्शनसार पुस्तक है। देवसेन आचार्य का है। सूक्ष्म बात है, भाई! यहाँ पक्ष-बक्ष की बातें नहीं है। यहाँ तो वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ क्या कहते हैं, उसकी बात है। बात कठिन तो लगती है, परन्तु दूसरा क्या हो? बापू! यह उसके हित की बात है, भाई! आहाहा!

जिसमें साधुपना नहीं, प्रत्याख्यान नहीं, उसे प्रत्याख्यान मानना, वह तो मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व के कारण अनन्त-अनन्त गर्भाशय में जाना पड़ेगा। आहाहा! वहाँ कोई

सिफारिश काम नहीं आयेगी। भाई! हमें बहुत मानते थे। आहाहा! है स्थान? परसमय अर्थात् अन्यदर्शन। जैनदर्शन के अतिरिक्त सब परसमय है। यह जैनदर्शन अर्थात् दिगम्बर दर्शन, वह जैनदर्शन है। इसके अतिरिक्त **जिनका स्थान है, ऐसे अन्य योगियों...** है। भले वे मुनि नाम धराते हों। उन्हें **प्रत्याख्यान नहीं होता;...** आहाहा!

जहाँ देव-गुरु और शास्त्र की भूल है... कठिन लगता है। क्या हो? बापू! उसका भी कल्याण होओ। भूल मिटाकर कल्याण होओ। वह परमात्मा है, किन्तु वस्तुस्थिति तो यह है। कोई चार गति में भटके, ऐसा भाव धर्मी को होगा? सब भगवान हैं और भगवान होओ। परन्तु इस प्रकार होओ। दूसरे प्रकार से ऐसा नहीं हुआ जाता। आहाहा! जिस-तिस सम्प्रदाय में जन्म कर जो-जो क्रियाकाण्ड करे और उससे धर्म हो, ऐसा नहीं है। यह मुनिराज ने स्पष्ट कर डाला है। आहाहा!

परसमय में (-अन्य दर्शन में) जिनका स्थान है, ऐसे अन्य योगियों को प्रत्याख्यान नहीं होता;... आहाहा! कठिन लगता है। किसी को ऐसा लगे कि यह तो दिगम्बर का एक पक्ष है। पक्ष नहीं है। दिगम्बर का धर्म, वह जैनधर्म सनातन सत्य वस्तु का धर्म है। सनातन सत्य वस्तु की यह बात है। आहाहा! इसका विवाद, झगड़ा... आहाहा! **परसमय में (-अन्य दर्शन में) जिनका स्थान है...** पर में अर्थात् जैनदर्शन के अतिरिक्त। जैनदर्शन एक यह दिगम्बर दर्शन जो कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा वह। इसके अतिरिक्त जितने मार्ग हैं, वे सब प्रत्याख्यानरहित हैं। वे साधु भी अप्रत्याख्यानी हैं। भले महाव्रत लेकर पड़े हों और बोले महाव्रतादि, परन्तु मूल मिथ्यात्व है; इसलिए उन्हें समकित नहीं है और प्रत्याख्यान भी नहीं है। देवीलालजी! ऐसा सब करते थे। पहले उसमें थे।

मुमुक्षु : आपकी कृपा से उद्धार हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले हम भी वहाँ थे या नहीं? आहाहा! मैं तो दुकान में बैठा होऊँ। क्या कहलाता है? गद्दी। बाजार में अपने साधु निकले, कहीं से विहार करके आवे। मैं तो एकदम खड़ा हो जाऊँ, तब दुकान छोड़ दूँ। प्रभु! महाराज आये, महाराज आये। वहाँ हमारे पालेज में आते थे न? साधु बहुत आते थे। मुम्बई का रास्ता था न? मैं तो दुकान की गद्दी पर बैठा होऊँ, वहाँ निकले हों। उनका निवास, आहार-पानी सब मैं करता था। ऐसी कहाँ खबर थी कि यह सब मिथ्या है। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा के सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं कि एक शुद्ध परम दिगम्बर **'णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे।'** बाह्य और अभ्यन्तर एक नग्नपना है, उसे मोक्षमार्ग है। बाकी नग्नपने के अतिरिक्त जितने मार्ग हैं, वे सब उन्मार्ग हैं। यहाँ कहीं गुप्त-गुप्त नहीं रखा कुछ। झांझरीजी! यह मार्ग है। इन्हें- दिगम्बरों को भी खबर नहीं और अभी कुछ क्रियाकाण्ड में यह करे। विवाद करे, विवाद करे। मन्दिर के लिये विवाद करे और करे... अर..र..! तुझे जाना कहाँ है? बापू! कितना काल... आहाहा! तू तो अनादि -अनन्त है। अनादि-अनन्त, परन्तु यहाँ कितना रहना? २५-५०-६०-७० वर्ष। तो तुझे कहाँ जाना है? आहाहा! अनन्त-अनन्त काल भविष्य में घोर संसार पड़ा है, बापू! आहाहा! वहाँ फिर ऐसा काम नहीं आवे कि मुझे खबर नहीं थी... मुझे खबर नहीं थी... आहाहा!

ऐसे अन्य योगियों को प्रत्याख्यान नहीं होता;... आहाहा! **उन संसारियों को...** वे संसारी हैं। आहाहा! साधु नाम धरानेवाले हों या श्रावक नाम धरानेवाले हों। **उन संसारियों को पुनः पुनः घोर संसरण (-परिभ्रमण) होता है।** आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! यह वस्तुस्थिति है। तीन लोक के नाथ यह कहते हैं। जिनेन्द्रदेव के वचन हैं। कुन्दकुन्दाचार्य सीमन्धर भगवान के पास गये थे। आठ दिन रहे थे। दो हजार वर्ष... वहाँ से आकर भगवान का यह सन्देश है, भगवान का यह हुक्म है - ऐसा प्रसिद्ध किया है। आहाहा! जगत को कठिन पड़े, क्या हो?

यह दिगम्बर जैनधर्म जो जैन सत्यधर्म, उससे अन्यमार्ग जो **ऐसे अन्य योगियों को प्रत्याख्यान नहीं होता;...** तब है क्या? **उन संसारियों को पुनः पुनः घोर संसरण (-परिभ्रमण) होता है।** आहाहा! कठिन पड़े, क्या हो? भाई! बापू! आहाहा! अन्यमति के बाबाओं को तो भान भी कहाँ है? जैन में आये, उन्हें भी खबर नहीं होती कि सत्य क्या है? मोक्षमार्ग क्या है? अपने सम्प्रदायरूप से माना है, सामायिक की, प्रौषध किये, प्रतिक्रमण किया। सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण है कहाँ? सब राग की क्रिया है। आहाहा! उसे सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण माना है। आहाहा!

यहाँ तो मुनिराज पक्षपात बिना इकरार करते हैं कि **संसारियों को...** अरे! जिन्हें मिथ्यात्व है और जैनदर्शन की खबर नहीं है, ऐसे जीवों को **पुनः पुनः घोर संसरण (-परिभ्रमण)**

होता है। एक भव में से दूसरा और दूसरे में से तीसरा, ऐसे पुनः-पुनः वहीं के वहीं भी वापस आते हैं। यह भव करते-करते और घूमकर यहाँ आते हैं। आहाहा! ऐसे भव करने का उसके नसीब में है। आहाहा! १४५ श्लोक हुआ।

श्लोक-१४६

(शिखरिणी)

महानन्दानन्दो जगति विदितः शाश्वतमयः,
स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिर्निर्मलगुणे।
अमी विद्वान्सोऽपि स्मरनिशितशस्त्रैरभिहताः,
कथं काङ्क्षन्त्येनं बत कलि-हतास्ते जड-धियः ।।१४६।।

(वीरछन्द)

जग प्रसिद्ध है अतिशय शाश्वत जो आनन्दानन्द महान।
निर्मल गुणवाले सिद्धों में नियतरूप से रहता जान॥
तो भी तीक्ष्ण काम शस्त्रों से अरे अरे घायल विद्वान।
क्लेशित होकर कामेच्छा करते हैं क्यों जड़बुद्धि अजान॥१४६॥

[श्लोकार्थः] जो शाश्वत् महा आनन्दानन्द जगत में प्रसिद्ध है, वह निर्मल गुणवाले सिद्धात्मा में अतिशयरूप से तथा नियतरूप से रहता है। (तो फिर,) अरे रे! यह विद्वान भी काम के तीक्ष्ण शस्त्रों से घायल होते हुए क्लेशपीड़ित होकर उसकी (काम की) इच्छा क्यों करते हैं! वे जड़बुद्धि हैं॥१४६॥

श्लोक -१४६ पर प्रवचन

१४६वाँ (श्लोक)।

महानन्दानन्दो जगति विदितः शाश्वतमयः,
स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिर्निर्मलगुणे।

अमी विद्वान्सोऽपि स्मरनिशितशस्त्रैरभिहता:,
कथं काङ्क्षन्त्येनं बत कलि-हतास्ते जड-धिय: ।।१४६ ।।

आहाहा! **जो शाश्वत् महा आनन्दानन्द जगत में प्रसिद्ध है,...** आत्मा तो प्रसिद्ध है। आत्मा बिना जाना किसने? कि यह है और यह नहीं, यह अमुक। आहाहा! उस आत्मा को निकाल डाला। यह है... यह है... यह है... यह है... यह है... वह तो जड़ है, वह कहीं जानता नहीं है। जाननेवाला तो यहाँ रहा। यह है, वह जाननेवाला ही जाननेरूप है। वह शाश्वत् है। अन्दर ध्रुव आत्मा शाश्वत् नित्य है। **शाश्वत् महा आनन्दानन्द...** महा आनन्दानन्द है। आहाहा! **शाश्वत् महा आनन्दानन्द...** है। आहाहा! आत्मा अतीन्द्रिय का महा आनन्दानन्द है। आहाहा! बात यह कि उस ओर की नजर नहीं की और उस ओर की नजर करना, वह कोई साधारण बात नहीं है। अनन्त पुरुषार्थ है। पर्याय को द्रव्यसन्मुख झुकाना, वह कहीं साधारण बात नहीं है। करना यह है और यह बड़ी बात है। उसे द्रव्य क्या और पर्याय क्या, यह भी खबर नहीं होती। आहाहा! दया, दान का राग एक ओर पड़ा रहा। वह विकार है, वह नहीं। मात्र इसकी जो ज्ञान की पर्याय है, उसमें जो परविषय है, उसे स्वविषय बनाना। आहाहा! वह क्योंकि महा आनन्दानन्द है और **जगत में प्रसिद्ध है,...** है न?

जगत में प्रसिद्ध है,... यह दुनिया (में) आत्मा आनन्दमय है, ऐसा प्रसिद्ध है। आहाहा! अन्यमति भी ऐसा कहते हैं (कि) वह सच्चिदानन्द प्रभु है, आनन्द है। यह जगत में प्रसिद्ध है। **शाश्वत् महा आनन्दानन्द...** दो शब्द प्रयोग किये हैं। देखा? आनन्दानन्द। आहाहा! जिसके आनन्द के समक्ष इन्द्र के सुख की भी तुलना नहीं हो सकती। इन्द्र का इन्द्रिय सुख भी जहर है और इस अतीन्द्रिय सुख की इन दोनों की जाति ही विपरीत अलग-अलग है। आहाहा! इन्द्र, जिसके पास बत्तीस लाख विमान है। उसका इन्द्र है। एक-एक विमान में असंख्य देव हैं। बड़ा बादशाह है। वह तो समकिती है। अभी है, वह वहाँ समकिती है परन्तु दूसरा कोई मिथ्यात्वी जीव हो और असंख्यदेव का स्वामी हो... आहाहा!

वह **शाश्वत् महा आनन्दानन्द जगत में प्रसिद्ध है,...** उसकी खबर नहीं होती। यह बाहर में सब रुक जाता है। आहाहा! वरना तो इसे पकाना, लकड़ियाँ लाना, दियासलाई या बीड़ी पीना ऐसा कुछ वहाँ देव को नहीं है। रोटियाँ बनाना, रोटियाँ करना, चूल्हा, अग्नि,

लकड़ियाँ, दियासलाई वह तो कुछ लाना नहीं है और देना नहीं है, यह सब काम तो उसे है नहीं। आहार की एक हजार वर्ष में डकार आती है तो उसके लिये कुछ चूल्हा सम्हालना, माल सम्हालना वह कुछ नहीं होता। यह सब बहुत निवृत्ति है। परन्तु वह क्या निवृत्ति है? आहाहा! वह भी अन्दर में निवृत्ति नहीं देता, बाहर से निवृत्ति इतनी होने पर भी। आहाहा! उसे नहीं विवाह करना, उसे नहीं विदुर होना, उसे नहीं... आहाहा! वस्त्र सिलना, फिर किसी के पास सिलवाना और पहिनना - ऐसा वहाँ नहीं है। वहाँ तो सब तैयार होता है। आहाहा! वह प्राणी भी दुःखी है।

यह महा आनन्दानन्द ऐसा जो आत्मा, उसकी जिसे खबर नहीं है। **जगत में प्रसिद्ध है,...** आहाहा! दुनिया भी ऐसा कहती है कि आत्मा तो आनन्दस्वरूप है, सच्चिदानन्द है, सच्चिदानन्द है। ऐसी दुनिया बातें करती है। आहाहा! **वह निर्मल गुणवाले सिद्धात्मा में...** वह निर्मल गुणवाले सिद्धात्मा में **अतिशयरूप से तथा नियतरूप से रहता है।** वह धर्मात्मा वहाँ रहता है, ऐसा कहते हैं। **आनन्दानन्द जगत में प्रसिद्ध है, वह निर्मल गुणवाले सिद्धात्मा में अतिशयरूप से तथा नियतरूप से रहता है।** आहाहा! वह आत्मा उसमें रहता है। महा आनन्दानन्द में और सिद्धात्मा में वह रहता है, यह कहते हैं। आहाहा!

(तो फिर,) अरेरे!... भाषा देखो! **अरेरे! यह विद्वान भी...** विद्वान नाम धरावे और वापस राग की क्रिया से धर्म मनावे, वह तो सब काम की बात है। आहाहा! समयसार में आता है, निश्चय-व्यवहार... विद्वान है, निश्चय को तजकर व्यवहार में वर्तता है परन्तु मोक्ष तो निश्चयवाले का है। समयसार में (है)। यह विद्वान ने शास्त्र पढ़-पढ़कर व्यवहार निकाला। जो निश्चय है, वह उसमें से नहीं निकाला। इसलिए निश्चय एक ओर पड़ा रहा और व्यवहार में वर्तन हो गया और उसमें से मान बैठा तो यह संसार है। व्यवहार है, अकेला राग है, क्रियाकाण्ड है, वह संसार है। निश्चय तजकर विद्वान व्यवहार को आचरते हैं। आहाहा! ऐसा तो स्पष्ट कथन है। कठिन काम!

अरेरे! यह विद्वान भी... ऐसा कि साधारण तो ठीक। ऐसा कहते हैं। 'भी' है न? साधारण लोग तो ठीक, न समझते हों, न पढ़ते हों, न जानते हों। **विद्वान भी...** आहाहा! जिन्हें शास्त्र का जानपना है, ऐसे **विद्वान भी काम के तीक्ष्ण शस्त्रों से घायल होते हुए...** अर्थात् कि पर की इच्छा और कामना, उस ओर की इच्छा से **तीक्ष्ण शस्त्रों से घायल होते**

हुए क्लेशपीड़ित होकर... आहाहा! **उसकी (काम की) इच्छा क्यों करते हैं!** काम की-राग की भावना क्यों करते हैं? आहाहा! काम में स्त्री का विषय ही एक नहीं है। सब आठ स्पर्श है। ठण्डा-गर्म-हल्का, इन सबकी इच्छा करे। ठण्डकवाला होवे तो ठीक और गर्म होवे तो ठीक, कोमल होवे तो ठीक, कर्कश होवे तो ठीक। ऐसे आठ स्पर्श। अन्दर की कामना, वह काम है। ऐसी जिसकी कामना है, वह इस क्रिया को कैसे चाहता है? आहाहा! ऐसा भगवान अन्दर अस्पर्शी! स्पर्शरहित अन्तर महाआनन्दस्वरूप है। उसे छोड़कर विद्वान... यह ऐसा कहाँ से निकाला? उसने व्यवहार कहाँ से निकाला?

उसकी (काम की) इच्छा क्यों करते हैं! वे जड़बुद्धि हैं। आहाहा! वे विद्वान नहीं परन्तु जड़बुद्धि हैं। कठिन पड़े! आहाहा! व्यवहार से कुछ होगा... व्यवहार से कुछ होगा... नहीं तो एकान्त होगा, ऐसी उनकी पुकार है। यह एकान्त ही है। स्वरूप के ओर की दृष्टि-ज्ञान और आनन्द है, उसका वेदन करना, वह सम्यक् एकान्त ही है। वे विद्वान अन्दर चरणानुयोग में से, करणानुयोग में से, गणितानुयोग में से व्यवहार निकालते हैं। यह यहाँ व्यवहार आया... यह व्यवहार आया... सब आया। सुन! वह सब जानने के लिये है। आहाहा! आदरणीय तो एक ही चैतन्य महा आनन्द का सागर, वही एक आदरणीय है। आहाहा!

ऐसे जीव **क्लेशपीड़ित होकर उसकी (काम की)...** अर्थात् राग को चाहते हैं। **वे जड़बुद्धि हैं।** आहाहा! काम-भोग-इच्छा- आता है न? काम—राग। मूल तो राग को चाहते हैं न? वे काम को ही चाहते हैं। राग को चाहते हैं, वे तो राग के साधन को चाहते हैं। आहाहा! **वे जड़बुद्धि हैं।** लो, यहाँ तो कहा, ऐसे विद्वान भी जड़बुद्धि हैं। आहाहा! जिसमें से महा आनन्द का आनन्द ऐसा स्वभाव, वह दृष्टि में आवे नहीं और दृष्टि में सब राग, विकल्प और पुण्य तैरता है और उसके कारण उसे लाभ होगा, ऐसा मानते हैं... आहाहा! कठिन काम है। **वे जड़बुद्धि हैं।** आहाहा!

श्लोक-१४७

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानाद्भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं,
सच्चारित्रं दुरघ-तरुसान्द्राटवी-वह्निरूपम् ।
तत्त्वं शीघ्रं कुरु तव मतौ भव्यशार्दूल नित्यं,
यत्किम्भूतं सहज-सुखदं शील-मूलं मुनीनाम् ।।१४७।।

(वीरछन्द)

दुष्ट पापरूपी वृक्षों की अटवी को जो अग्नि समान।
प्रगट शुद्ध सच्चरित करे यह संयमियों को प्रत्याख्यान॥
अतः शीघ्र निज मति में धारो तत्त्व नित्य हे भविशार्दूल।
जो कि सहज सुख देनेवाला, मुनियों को चारित का मूल॥१४७॥

[श्लोकार्थः] जो दुष्ट पापरूपी वृक्षों की घनी अटवी को जलाने के लिए अग्निरूप है, ऐसा प्रगट शुद्ध-शुद्ध सत्चारित्र संयमियों को प्रत्याख्यान से होता है; (इसलिए) हे भव्यशार्दूल! (भव्योत्तम!) तू शीघ्र अपनी मति में तत्त्व को नित्य धारण कर—कि जो तत्त्व सहज सुख का देनेवाला तथा मुनियों के चारित्र का मूल है॥१४७॥

श्लोक -१४७ पर प्रवचन

(श्लोक) १४७।

प्रत्याख्यानाद्भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं,
सच्चारित्रं दुरघ-तरुसान्द्राटवी-वह्निरूपम् ।
तत्त्वं शीघ्रं कुरु तव मतौ भव्यशार्दूल नित्यं,
यत्किम्भूतं सहज-सुखदं शील-मूलं मुनीनाम् ।।१४७।।

आहाहा! **जो दुष्ट पापरूपी वृक्षों की घनी अटवी को जलाने के लिए अग्निरूप है...** आहाहा! **दुष्ट पापरूपी वृक्षों की घनी...** पुण्य और पाप दोनों। जो दुष्ट पुण्य-पापरूपी

वृक्षों की घनी अटवी... घनी अटवी। ऐसी भरपूर वनस्पति। मार्ग नहीं मिले। उस घनी बस्ती में। **अटवी को जलाने के लिए अग्निरूप है, ऐसा प्रगट शुद्ध-शुद्ध सत्चारित्र संयमियों को...** आहाहा! **ऐसा प्रगट शुद्ध-शुद्ध सत्चारित्र संयमियों को प्रत्याख्यान से होता है;...** यह संयम, प्रत्याख्यान से होता है।

श्रीमद् ने कहा न? दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य समझा जा सकता है। यह वस्तु की स्थिति है। कठिन लगे, न जँचे, इससे कहीं सत्य बदल जाएगा? आहाहा! **दुष्ट पापरूपी वृक्षों की घनी अटवी...** लोग नहीं कहते, घनी ऐसे खचाखच भरपूर वनस्पति। आहाहा! कहीं पैर रखने का स्थान न हो, इतनी वनस्पति हो। जंगल में घनी वनस्पति होती है। मुम्बई से पूना जाते हैं न? वहाँ नीचे बहुत आती है। इतनी झाड़ियाँ... इतनी झाड़ियाँ... वहाँ वृक्ष और वनस्पति... वनस्पति... वनस्पति... क्योंकि कोई जा नहीं सकता, इसलिए वनस्पति के ढ़ेर हुए। मुम्बई से पूना जाते हुए रास्ते में आते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **जो दुष्ट पापरूपी वृक्षों की घनी अटवी को जलाने के लिए अग्निरूप है, ऐसा प्रगट...** आत्मा प्रगट है, व्यक्त ही है। **शुद्ध-शुद्ध सत्चारित्र संयमियों को...** ऐसा **शुद्ध-शुद्ध सत्चारित्र संयमियों को प्रत्याख्यान से होता है;...** इस प्रत्याख्यान से ऐसा प्रगट होता है। आहाहा! यह प्रत्याख्यान, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित अन्दर रमणता, रागरहित अन्दर रमणता, उसका नाम प्रत्याख्यान है, उसका नाम पच्चक्खाण है। आहाहा! **(इसलिए) हे भव्यशार्दूल!** आहाहा! **हे भव्यशार्दूल!** हे भव्य सिंह! मुनिराज कहते हैं, देखो! हे भव्य सिंह! तुझमें अनन्त पराक्रम पड़ा है, प्रभु! तुझमें अनन्त बल है परन्तु उसे यदि माने तो न! उसे माने बिना पर्याय में नहीं दिखता। आहाहा! अन्दर अनन्त बल है, अनन्त शान्ति है, अनन्त वीतरागता है, अनन्त स्वच्छता और शान्ति से भरपूर समता को सागर है। आहाहा!

(इसलिए) हे... आहाहा! है? **भव्यशार्दूल! (भव्योत्तम!)...** भव्य में भी उत्तम। **तू शीघ्र अपनी मति में तत्त्व को नित्य धारण कर...** देखो! उसमें वापस शीघ्र आया। वायदा करना नहीं। आहाहा! अभी नहीं... अभी नहीं... अभी लड़कों का विवाह कर दें, लड़कियों को ठिकाने करें। मकान-बकान बनाना है। बाद में (करेंगे) परन्तु बीच में मर जाएगा तो क्या? आहाहा! जवान लोग मर जाते हैं। आहाहा! **(भव्योत्तम!) तू शीघ्र अपनी मति में**

तत्त्व को नित्य धारण कर... यह क्रमबद्ध में आया या नहीं ? क्रमबद्ध में यह आया, जिसने ऐसे नजर की है, उसे शीघ्र तेरी (अपनी) मति में तत्त्व को नित्य धारण करता है। आहाहा!

शीघ्र अपनी मति में... मतिज्ञान में। **तत्त्व को नित्य धारण कर...** मतिज्ञान में आत्मा के तत्त्व को धारण कर। राग को, पुण्य को धारण करके अनादि से मर गया। आहाहा! पुण्य और पाप के परिणाम करके और धारण करके मर गया। जीना हो तो यह, ऐसा कर। तत्त्व से जीना हो तो, तत्त्व को जीवित रखना हो तो ऐसा कर। आहाहा! **कि जो तत्त्व...** कैसा है ? **सहज सुख का देनेवाला...** भगवान आत्मा स्वभाविक आनन्द को देनेवाला है। उसमें जो आनन्द है, वैसा आनन्द कहीं नहीं है। इन्द्र के इन्द्रासन में नहीं है। आहाहा! यह दूधपाक, पूड़ी, भुजिया खावे तो मानो ऐसा... आहाहा! वह जहर है। यह मिठास लगती है, वह जहर की है। यह सुख तो अन्तर का है, कहते हैं। आहाहा! है ?

जो तत्त्व सहज सुख का देनेवाला... जो तत्त्व स्वभाविक सुख का देनेवाला है। देनेवाला अर्थात् तू अन्दर देख तो देनेवाला है, ऐसा कहते हैं। **तथा मुनियों के चारित्र का मूल है।** आहाहा! मुनियों के चारित्र का मूल। यह सूक्ष्म पड़े, इसलिए लोग कुछ न कुछ साधन.. साधन, व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... कहीं किसी समय तो कहो, ऐसा कहते हैं। किसी समय किसलिए ? जब आता है, तब हर समय कहे नहीं कि व्यवहार है ? है परन्तु उससे लाभ नहीं है। व्यवहार तो आता है। आहाहा! परन्तु उससे कल्याण नहीं होता, सम्यग्दर्शन नहीं होता, सम्यग्ज्ञान नहीं होता, सम्यक्चारित्र नहीं होता। आहाहा!

यहाँ तो यह कहा - राग-बाग छोड़कर तेरी मति में तत्त्व को नित्य धारण कर। आहाहा! **कि जो तत्त्व सहज सुख का देनेवाला...** आत्मा स्वभाविक आनन्द का देनेवाला तत्त्व है। आहाहा! उस आनन्द को बाहर में खोजने जाना पड़े, ऐसा नहीं है। अन्तर आनन्द से अन्तर्मुख देख तो आनन्द है। आहाहा! बहिर्मुख देख तो राग और दुःख है। आहाहा! भगवान आत्मा को बहिर्मुख देख, तो वहाँ राग और दुःख है। अन्तर्मुख देख तो रागी को सुख है। वीतरागी सुख है, ऐसा कहना है। आहाहा! ऐसा श्लोक और ऐसे अर्थ! कहो, यह **मुनियों के चारित्र का मूल है।** लो, यह १४७ वाँ (श्लोक) हुआ।

श्लोक-१४८

(मालिनी)

जयति सहज-तत्त्वं तत्त्व-निष्णात-बुद्धेः
हृदय-सरसि-जाताभ्यन्तरे सन्स्थितं यत्।
तदपि सहज-तेजः प्रास्त-मोहान्धकारं,
स्वरसविसरभास्वद्बोधविस्फूर्तिमात्रम् ।।१४८।।

(वीरछन्द)

शुद्ध तत्त्व में निपुण बुद्धिवाले जीवों के अन्तर में।
सुस्थित है वह सहज तत्त्व जयवन्तो नितप्रति जीवन में॥
ऐसे सहज तेज ने जग के मोह तिमिर का किया विनाश।
वह निज रस विस्तार प्रकाशित शुद्धज्ञान का मात्र प्रकाश॥१४८॥

[श्लोकार्थः] तत्त्व में निष्णात बुद्धिवाले जीव के हृदयकमलरूप अभ्यन्तर में जो सुस्थित है, वह सहज तत्त्व जयवन्त है। उस सहज तेज ने मोहान्धकार का नाश किया है और वह (सहज तेज) निज रस के विस्तार से प्रकाशित ज्ञान के प्रकाशनमात्र है॥१४८॥

श्लोक -१४८ पर प्रवचन

श्लोक १४८।

जयति सहज-तत्त्वं तत्त्व-निष्णात-बुद्धेः
हृदय-सरसि-जाताभ्यन्तरे सन्स्थितं यत्।
तदपि सहज-तेजः प्रास्त-मोहान्धकारं,
स्वरसविसरभास्वद्बोधविस्फूर्तिमात्रम् ।।१४८।।

१४७ हुआ न? अब १४८।

तत्त्व में निष्णात बुद्धिवाले जीव के हृदयकमलरूप अभ्यन्तर में जो सुस्थित है,... आहाहा! धर्मी उसे कहते हैं कि जो तत्त्व में निष्णात है। आहाहा! आत्मतत्त्व, वह शुद्ध आनन्द है। रागादि, वह दुःख है; शरीरादि वे पर हैं। स्त्री, परिवार, स्त्री पुत्र तो सब पर हैं। वे इसके थे कब? आहाहा! पति मरकर नरक में जाए और पत्नी मरकर स्वर्ग में जाए। उसके परिणाम पर आधार है न? पति मरकर स्वर्ग में जाए और पत्नी मरकर नरक में जाए। आहाहा! ऐसा स्वतन्त्र स्वरूप है।

इसलिए **तत्त्व में निष्णात बुद्धि...** तत्त्व की स्थिति जो वस्तु है, उसमें निष्णात - निपुण **बुद्धिवाले जीव के हृदयकमलरूप अभ्यन्तर में जो सुस्थित है,...** अन्तर भगवान सुस्थित है। **तत्त्व में निष्णात बुद्धिवाले जीव के हृदयकमलरूप अभ्यन्तर में जो सुस्थित है,...** आहाहा! **वह सहज तत्त्व जयवन्त है।** वह स्वभाविक तत्त्व जयवन्त है। आहाहा! वह स्वभाविक तत्त्व वर्तमान है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रत्यक्ष करके कहते हैं कि जयवन्त है, ऐसा हम कहते हैं। आहाहा! कोई कहे, वैसा मानकर-ऐसा नहीं। **सहज तत्त्व जयवन्त है।** आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भगवान, उसका अनुभव होने पर वह तत्त्व जयवन्त वर्तता है। आहाहा! भाषा सब दूसरी, बातें दूसरी।

उस सहज तेज ने मोहान्धकार का नाश किया है... सहज तेज ने। चैतन्य का तेज जो ज्ञान और आनन्द का तेज। ज्ञान और आनन्द का चमत्कार, उसने मोहान्धकार का नाश किया है। आहाहा! जहाँ प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नहीं होता। जहाँ सूर्य प्रकाशित हो, वहाँ अन्धेरा नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ चैतन्य का प्रकाश हुआ, वहाँ मोहान्धकार नहीं रहता। आहाहा! **उस सहज तेज ने मोहान्धकार का नाश किया है और वह (सहज तेज) निज रस के विस्तार से...** आहाहा! कहते हैं कि विस्तार प्राप्त वह तत्त्व निज रस का विस्तार है। ज्ञान और आनन्द की शक्ति की व्यक्तता बढ़ जाए, वह सब आनन्द का - ज्ञान का - निज तत्त्व का विस्तार है। ज्ञान, आनन्द, शान्ति अन्तर्मुख करने से अन्दर बढ़ जाए, वह सब तत्त्व का विस्तार है। कुछ बाहर से नहीं आता। आहाहा!

निज रस के विस्तार से... अपने अतीन्द्रिय आनन्द के विस्तार से शोभित हो रहा है। आहाहा! **प्रकाशित ज्ञान के प्रकाशनमात्र है।** वह ज्ञान, तत्त्व को प्रकाश करता, आनन्द का प्रकाश होने पर, अनन्त गुण का विकास होने पर वह ज्ञान का ही प्रकाश है और

आत्मा का ही प्रकाश है। आहाहा! अनन्त गुण जो खिलते हैं, तत्त्व में अनन्त गुण हैं और उस तत्त्व को जहाँ अनुभव करता है, उस तत्त्व को पकड़ता है, तब ज्ञानादि आनन्द का विस्तार होता है, वह अन्दर में से आता है। वह तत्त्व में से आता है, कहीं बाहर से नहीं आता। आहाहा! कहो, श्लोक भी सब ऐसे हैं। **वह (सहज तेज) निज रस के विस्तार से...** ज्ञान के प्रकाश का वह तो है। आहाहा!

श्लोक-१४९

(पृथ्वी)

अखण्डित-मनारतं सकल-दोष-दूरं परं,
भवाम्बुनिधि-मग्नजीवततियानपात्रोपमम् ।
अथ प्रबल-दुर्ग-वर्ग-दव-वह्नि-कीलालकं,
नमामि सततं पुनः सहजमेव तत्त्वं मुदा ।।१४९।।

(वीरछन्द)

सहज तत्त्व जो सदा अखण्डित शाश्वत सकल दोष से दूर।
नौका तुल्य उन्हें जो डूबे भवसागर में जीव समूह॥
संकटपुञ्जरूप दावानल-शान्ति हेतु जो नीर समान।
अतिप्रमोद से सतत नमूँ उस सहज तत्त्व को जो गुणखान॥१४९॥

[श्लोकार्थः] और, जो (सहज तत्त्व) अखण्डित है, शाश्वत है, सकल दोष से दूर है, उत्कृष्ट है, भवसागर में डूबे हुए जीवसमूह को नौका समान है तथा प्रबल संकटों के समूहरूपी दावानल को (शान्त करने के लिए) जल समान है, उस सहज तत्त्व को मैं प्रमोद से सतत नमस्कार करता हूँ॥१४९॥

श्लोक -१४९ पर प्रवचन

१४९, ओहो! अभी बहुत हैं।

अखण्डित-मनारतं सकल-दोष-दूरं परं,
भवाम्बुनिधि-मग्नजीवततियानपात्रोपमम्।
अथ प्रबल-दुर्ग-वर्ग-दव-वह्नि-कीलालकं,
नमामि सततं पुनः सहजमेव तत्त्वं मुदा।।१४९।।

और, जो (सहज तत्त्व) अखण्डित है,... जिसमें पर्याय का खण्ड नहीं, ऐसा अखण्ड तत्त्व है। आहाहा! अरूपी है और नजरें रूपी में जाती है। भगवान स्वयं अरूपी है। उस अरूपी की नजरें रूपी में जाती है। परन्तु नजरें जाने पर भी ज्ञात होती है, वह अरूपी की पर्याय और यह मानता है कि वह (रूपी) ज्ञात होता है। उसे स्पर्श भी नहीं करता और ज्ञात कहाँ से हो? आहाहा! अपनी ज्ञानपर्याय में वह सब जानने की शक्ति स्वतन्त्र स्वतः है। **जो (सहज तत्त्व) अखण्डित है,...** पर को जानने पर पर्याय में खण्ड-खण्ड होता है, ऐसा नहीं है। वह अखण्ड है। आहाहा! ज्ञानस्वरूप से अखण्ड है। वे आते हैं न? मति-श्रुत अभिनन्दन अभिनन्दता है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल यह कहीं खण्ड नहीं करता। पर्याय को अभिनन्दता है, पुष्टि करता है। समयसार (गाथा २०४) में आता है। अखण्डित है। आहाहा!

शाश्वत् है... त्रिकाल शाश्वत् है। आदि-अन्तरहित चीज़ है। आदि नहीं, अन्त नहीं, स्वभाव से खाली नहीं। आदि नहीं, अन्त नहीं और वर्तमान स्वभाव से खाली नहीं, ऐसा तत्त्व शाश्वत् वर्तता है। आहाहा! सकल दोष से दूर है। सब दोष विकल्पमात्र जो राग। चाहे तो भगवान के स्मरण के रागादि हों, उनसे भी भिन्न है, दूर है। आहाहा! उस तत्त्व में इस भगवान का स्मरण और राग का भाग नहीं है। उससे तत्त्व अत्यन्त भिन्न है।

उत्कृष्ट है,... चैतन्यतत्त्व उत्कृष्ट है। ऊँचे में ऊँचा तीन लोक का नाथ, ऐसा आत्मा, उसके जैसी कोई चीज़ जगत में नहीं है। आहाहा! **भवसागर में डूबे हुए जीवसमूह को नौका समान है...** भवसागर में डूबे हुए जीवसमूह को... आहाहा! डूबा हुआ किसे कहना, हम लहर करते हैं न? राग और पुण्य-पाप को मेरा माने, वह भवसागर में डूब पड़ा है।

आहाहा! **भवसागर में डूबे हुए जीवसमूह को...** वह तत्त्व सहज है, वह नौका समान है। **तथा प्रबल संकटों के समूहरूपी दावानल को (शान्त करने के लिए) जल समान है,...** प्रबल जो रागादिभाव, उनका नाश करने के लिये जल समान है। आहाहा!

उस सहज तत्त्व को मैं प्रमोद से सतत नमस्कार करता हूँ। मुनिराज ने स्पष्ट किया। **प्रमोद से सतत (निरन्तर) नमस्कार करता हूँ।** ऐसा जो मेरा भगवानस्वरूप तत्त्व, उसे मैं सतत-निरन्तर नमस्कार करता हूँ। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१५०

(पृथ्वी)

जिनप्रभुमुखारविन्दविदितं स्वरूपस्थितं,
मुनीश्वरमनोगृहान्तरसुरत्नदीपप्रभम्।
नमस्यमिह योगिभिर्विजितदृष्टिमोहादिभिः,
नमामि सुख-मन्दिरं सहज-तत्त्वमुच्चैरदः ।।१५०।।

(वीरछन्द)

जिनप्रभु के मुखरूप कमल से जो सुविदित निज में स्थित।
मुनिवर के मनगृह में सुन्दर रत्नदीपवत् है भासित॥
जग में दर्शनमोहजयी योगीजन से जो वन्द्य सदा।
मैं अत्यन्त नमस्कार उस सहज तत्त्व को करूँ सदा॥१५०॥

[श्लोकार्थः] जो जिनप्रभु के मुखारविन्द से विदित (प्रसिद्ध) है, जो स्वरूप में स्थित है, जो मुनीश्वरों के मनोगृह के भीतर सुन्दर रत्नदीप की भाँति प्रकाशित है, जो इस लोक में दर्शनमोहादि पर विजय प्राप्त किये हुए योगियों से नमस्कार करनेयोग्य है तथा जो सुख का मन्दिर है, उस सहज तत्त्व को मैं सदा अत्यन्त नमस्कार करता हूँ॥१५०॥

नियमसार, १५० कलश है। १०६ गाथा का कलश है न? १५०।

जिनप्रभुमुखारविन्दविदितं स्वरूपस्थितं,
मुनीश्वरमनोगृहान्तरसुरत्नदीपप्रभम्।
नमस्यमिह योगिभिर्विजितदृष्टिमोहादिभिः,
नमामि सुख-मन्दिरं सहज-तत्त्वमुच्चैरदः ।।१५०।।

आहाहा! यह प्रत्याख्यान की बात चलती है। सच्चा प्रत्याख्यान किसे कहना? कि **जो जिनप्रभु के मुखारविन्द से विदित (प्रसिद्ध) है,...** आत्मा अन्दर पूर्णानन्द का नाथ, अनन्त गुण का सागर, भण्डार जिनेश्वर के मुखारविन्द से वह प्रसिद्ध है। आहाहा! यह दूसरे को वह खबर नहीं पड़ी। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा, वह कहते हैं। **जिनप्रभु के मुखारविन्द से...** प्रभु की वाणी से वह प्रसिद्ध है। आत्मतत्त्व प्रभु की वाणी से प्रसिद्ध है और आनन्दकन्द प्रभु अन्दर है। यह शरीर, वाणी, मन तो भिन्न है। ये तो उसमें है नहीं परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम भी उसमें नहीं है। वे तो विकार हैं। ऐसा भगवान के **मुखारविन्द से विदित (प्रसिद्ध) है,...** ऐसा कहते हैं।

कोई कहे कि भाई! आत्मा तो बहुत दुर्लभ है। वह कहीं ख्याल में नहीं आता। यहाँ कहते हैं, प्रभु के मुखारविन्द से निकला हुआ - प्रसिद्ध है। आहाहा! अन्दर देह में चैतन्य हीरा निर्मलानन्द प्रभु वीतरागस्वरूप, आनन्दस्वरूप विराजमान है। आहाहा! इसलिए ऐसा कहा कि दूसरों के अतिरिक्त यह नहीं है, ऐसा कहते हैं। जिनवर **जिनप्रभु के मुखारविन्द से विदित...** मुख से तो अपेक्षित कहा है। ओमध्वनि आती है न? परन्तु ऐसे लोग मुख से कहते हैं। फिर पूरे शरीर में से ओमध्वनि उठती है। 'ॐकारध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारै।' भगवान को वीतरागता होती है, केवल (ज्ञान) होता है, तब ओमध्वनि उठती है। होंठ हिलते नहीं, कण्ठ हिलता नहीं। पूरे शरीर में से ओम की ध्वनि उठती है। उसमें सब बारह अंग का स्वरूप आता है। यह कहते हैं कि उस मुखारविन्द में से। उसे मुखरूपी अरविन्द—कमल। व्यवहार में चलता है, इसलिए बोले हैं। उसके कारण प्रसिद्ध है। आहाहा! विदित है। अनजाना नहीं है। आहाहा! चैतन्य हीरा अन्दर, सब

करोड़ों-अरबों के हीरा हैं, उन सबको जाननेवाला तो भगवान आत्मा है। हीरा की कीमत करना उसे आता है? यह करे कि इसकी अपेक्षा उज्ज्वल, इसकी अपेक्षा उज्ज्वल। यह हीरा तो स्वयं यह है। अन्दर चैतन्य हीरा है परन्तु उसका माहात्म्य नहीं आता। परीक्षा करने का समय नहीं रहता; इसलिए आत्मा क्या है, वह कुछ नहीं। दूसरी चीज़ की महिमा का पार नहीं।

यहाँ तो प्रभु के मुख में से निकला हुआ प्रसिद्ध है। आहाहा! पहले देव को लिया। सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ के मुखारविन्द—मुखरूपी अरविन्द—कमल में से निकली हुई वाणी प्रसिद्ध है। आत्मा अन्दर शुद्धतत्त्व है, ऐसा प्रसिद्ध है। पवित्र का पिण्ड है, उसमें राग का कण नहीं है, जिसमें मोह का लेप नहीं है। ऐसा निर्लेप। आहाहा! भगवान के मुख में से निकला हुआ है, वह निर्लेप तत्त्व प्रसिद्ध है। आहाहा!

मुमुक्षु : है तो फिर उपदेश किसलिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, प्रसिद्ध है। परन्तु किसे? जो सुने-समझे, उसे न? समझे उसे प्रसिद्ध है न? न समझे उसे कहाँ? मुखारविन्द से निकला हुआ विदित है - परन्तु किसे? जो इसे ऊपर कहा कि ऐसा है, ऐसा जिसने अन्दर में देखा-जाना, तब उसके लिये प्रसिद्ध है। आहाहा! उसे तो यह आत्मा-आत्मा कहो, इसलिए आत्मा-आत्मा करे परन्तु जगत में आत्मा के अतिरिक्त दूसरी चीज़ ही बड़ी नहीं है। यह आत्मा महाप्रभु है, परमेश्वर है, भगवान है, वीतराग है, सहजानन्द की मूर्ति है। जगत में तीन लोक को, तीन काल को जाननेवाला तत्त्व हो तो यह एक ही आत्मा है। एक ही आत्मा ऐसा है। आहाहा! ऐसे तत्त्व के लिये बहुत गम्भीर पुरुषार्थ चाहिए। भगवान के मुख में से निकला है न, कहते हैं... आहाहा!

यह आत्मा कितना है और कैसा है? यह तीन लोक के नाथ के मुखरूपी कमल में से निकला हुआ है। आहाहा! लोगों को बाहर के धन्धे के कारण दरकार नहीं होती।

मुमुक्षु : बाहर के धन्धे में से ऊँचे नहीं आते।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरे दिन धन्धा। शान्तिभाई कहते हैं। धन्धा, स्त्री, पुत्र के लिये यह करे। ...अपना ... दूसरे का करने में उसका करे। ....किसी का कर्ता-फर्ता नहीं। आहाहा! ऐसा विदित है। एक बात।

दूसरा, **जो स्वरूप में स्थित है,...** उस स्वरूप में आत्मा स्थित है। भगवान से तो प्रसिद्ध है, परन्तु स्वरूप स्वयं स्वरूप में स्थित है। वह स्वरूप कोई राग में, पुण्य में, दया, दान में कहीं नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। प्रभु स्वरूप में स्थित है। चैतन्यस्वरूप अन्दर चैतन्य चमत्कार अनन्त-अनन्त आनन्द और शान्ति का सागर, जिसकी अपार महिमा, गुण की खान-निधान, वह वस्तुस्वरूप में स्थित है। ऐसा कि नहीं और हमें बताना है, ऐसा नहीं है। अन्दर है, स्थित है। आहाहा! तेरी नजर राग और पुण्य के ऊपर से हटती नहीं। पर्याय के ऊपर से हटती नहीं, इसलिए तुझे दिखता नहीं। आहाहा! कहाँ गये? देवीलालजी! आहाहा!

वाह! शैली तो देखो! तीन लोक के नाथ से तो प्रसिद्ध है न, प्रभु! तू अप्रसिद्ध कर, परन्तु प्रभु से तो प्रसिद्ध है। आहाहा! और प्रसिद्ध, वह भी स्वरूप में स्थित ही है। स्वरूप से बाहर नहीं आया। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चौइन्द्रिय चाहे जिस स्थान में हो, परन्तु वह द्रव्य तो द्रव्य में स्थित ही है। आहाहा! वस्तु जो द्रव्य ध्रुव है, वह तो स्वरूप में स्थित है। पर्याय के भेद भले अलग प्रकार के हों। वह पर्याय कोई टिकती वस्तु नहीं है। वह तो एक समय की दशा है अन्दर वस्तु जो है, वह तो अन्दर त्रिकल टिकती स्वरूपस्थित है। है, उसे प्राप्त करना है - ऐसा कहते हैं। भगवान ने कहा है, इसलिए प्रसिद्ध है और है, उसे प्राप्त करना है। आहाहा! अब ऐसा धर्म। यह तो सामायिक करो, प्रतिक्रमण करो वह धर्म। वह धर्म आया। इसे धर्म का भान भी कहाँ है? ऐसी की ऐसी जिन्दगी चली जाती है, बापू! आहाहा! दो, यह दो बातें हुईं।

तीसरी, **मुनीश्वरों के मनोगृह के भीतर...** सच्चे सन्त जो मुनि होते हैं, उनके मनरूपी घर में **भीतर सुन्दर रत्नदीप की भाँति प्रकाशित है,...** आहाहा! छठवें काल के नहीं लिये। उत्कृष्ट प्रकाशित होता है, उसे लिया। **मुनीश्वरों के मनोगृह के भीतर...** अन्तर में-अन्तर में **सुन्दर रत्नदीप की भाँति...** सुन्दर रत्न का दीपक हो, सुन्दर रत्न का दीपक; वैसे सुन्दर ज्ञान का दीपक भीतर प्रकाशित है। आहाहा! एक-एक बोल तो निहाल कर डालता है। पुरानी रूढ़ि जाए, तब यह बात जँचे ऐसी है। आहाहा! अरे रे..! मैं तो अकेला हूँ। मेरा कोई नहीं है। मैं किसके लिये करूँ? कोई मेरा नहीं तो मैं किसके लिये करूँ? आहाहा! और मैं किसी का नहीं तो वह मेरे लिये करे, ऐसा है नहीं। आहाहा!

और यह क्रमबद्ध में तो यह आता है। क्रमसर में यह भगवान रत्नदीपक है, उसका ज्ञान-भान हुआ। अर्थात् मैं किसी का बिगाड़ सकूँ या मैं पर से बिगड़ूँ, ऐसी चीज़ ही नहीं है। आहाहा! समझ में आया? वह तो **सुन्दर रत्नदीप की भाँति प्रकाशित है,...** यह मुनि लिये। तीनों लिये—देव, गुरु अर्थात् स्वरूपस्थित और मुनि। आहाहा! **मुनीश्वरों के मनोगृह के...** उन्हें मुनि कहते हैं, बापू! आहाहा! मुनि किसे कहना। आहाहा! जिनके मनोगृहरूपी घर में, भीतर में **सुन्दर रत्नदीप की भाँति प्रकाशित है,...** उन्हें मुनि कहते हैं। आहाहा! चैतन्य हीरा जिसके हृदय में चमकता है। चमत्कार, चमत्कारिक वस्तु है। आहाहा! अनन्त काल से अज्ञान में और अन्धकार में होने पर भी वह वस्तु तो वस्तुरूप रही है। वह वस्तु तो अपने स्वरूप से स्थित है। है, उसे दृष्टि में लेकर प्रगट करना है। आहाहा!

अब ऐसा क्रियाकाण्ड से कितना होता होगा? क्रियाकाण्ड करके मर जाए। सामायिक की, प्रौषध किये, प्रतिक्रमण किये। वे कहें गिरनार की यात्रा की। यह सब क्रियाएँ राग है। अन्दर भगवान चैतन्य हीरा (है)। यह भाव आते हैं, अशुभ से बचने के लिये भाव आते हैं परन्तु यह भाव शुभ है। यह कोई धर्म नहीं है। आहाहा! धर्म तो आत्मा स्वभाव में त्रिकाली शुद्ध स्थित है। त्रिकाली स्वभाव में, ध्रुव में स्थित है। वह रतन मुनिरूपी गृह में-घर में अन्दर में सुरत्न की भाँति प्रकाशित है। आहाहा! भाषा भी की है, यह मुनि हैं, हों! और मुनि की यह... आहाहा!

जो इस लोक में दर्शनमोहादि पर विजय प्राप्त किये हुए योगियों से नमस्कार करनेयोग्य है... पीछे यह लिया। भगवान से विदित है, स्वरूपस्थित है, मुनिश्वरों के घर के भीतर रत्न की भाँति प्रकाशित है परन्तु जो **लोक में दर्शनमोहादि पर विजय प्राप्त...** है। मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त की है, उन योगियों को नमस्कार करनेयोग्य है। ऐसे योगियों को वह आत्मा नमस्कार करनेयोग्य है। आहाहा! ऐसे योगियों को भगवान नमस्कार करनेयोग्य है, वह तो व्यवहार है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। फिर भाषा क्या लेना? कि इस लोक में दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व आदि पर विजय प्राप्त ऐसे ज्ञानी, ऐसे मुनि, ऐसे धर्मी, ऐसे सन्तों से भी नमस्कार करनेयोग्य वह चीज़ है। आहाहा!

तथा जो सुख का मन्दिर है,... आत्मा सुख का मन्दिर है। आहाहा! जिसके सामने देखना नहीं, कभी नजर करना नहीं। नजर करने का समय मिलता नहीं। आहाहा! वह भव

खो बैठता है। अरे! बाहर में यह किया... यह किया... **जो सुख का मन्दिर है,...** प्रभु तो सुख का घर है और मन्दिर है। मुनि के घर में अन्तरदीप से प्रकाशित है और स्वयं सुख का मन्दिर है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का मन्दिर। अतीन्द्रिय आनन्द की प्रतिमा भगवान आत्मा... आहाहा! ऐसे सुख का मन्दिर है। ऐसा कहकर क्या कहा? कि जिसने दर्शनमोह आदि मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त की है, ऐसे योगियों को नमस्कार करनेयोग्य है, क्योंकि उसे ख्याल में आया है। जिसे ख्याल में नहीं आया, वह नमस्कार क्या करे? जो चीज़ जिसके ख्याल में आयी नहीं, वह नमस्कार क्या करे? आहाहा!

यह चैतन्य हीरा, देह में भगवान चैतन्य हीरा अनन्त-अनन्त चैतन्य के आनन्द के प्रकाश से विराजमान, उसे नमस्कार करनेयोग्य क्यों? उसने पहिचाना, वह नमस्कार कर सकता है, ऐसा सिद्ध करते हैं और **विजय प्राप्त किये हुए योगियों से...** ऐसा। **दर्शनमोहादि पर विजय प्राप्त...** मिथ्यात्व पर (विजय प्राप्त), ऐसे **योगियों से नमस्कार करनेयोग्य है...** आहाहा! श्लोक बहुत ऊँचा है। थोड़े-थोड़े शब्दों में बहुत रखा है। प्रभु सुख का मन्दिर है। अन्दर आत्मतत्त्व अतीन्द्रिय आनन्द का मन्दिर है। जिसमें प्रवेश करने से अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो, ऐसा यह आत्मा है। यह सुख बाहर में कहीं नहीं है। इसके पैसे में, इसकी स्त्री, पुत्र, धूल में, मकान में, इज्जत में, शरीर की जवानी में, माँग पाड़ने में। यह करते हैं न क्या? अभी वापस सब क्या करते हैं? सवेरे उठकर कंघा रखे और सवेरे दर्पण में देखे। छोटा दर्पण होवे तो ऐसा मुँह पूरा... ऐसे-ऐसे किया करे। आहाहा! प्रभु! परन्तु तूने तुझे देखा? वह तो धूल है, वह तो मिट्टी है, वह श्मशान की मिट्टी है। उस देह की श्मशान में मिट्टी होनेवाली है। अन्दर भगवान आत्मा विराजता है। वह तो... आहाहा! **सुख का मन्दिर है,...** अतीन्द्रिय आनन्द का सागर मन्दिर है। आहाहा! कैसे जँचे? बाहर की बातों के कारण यह करना... यह करना... यह करना... आहाहा! फिर एकान्त लगे न? संसार से निवृत्त नहीं होता। एक तो पूरे दिन पाप में पड़ा। उसमें धर्म के नाम से आवे तो उसे ऐसा क्रियाकाण्ड बतावे कि यह व्रत करो, तप करो, अपवास करो। अपवास है, वह तप है; तप है, वह निर्जरा है। निर्जरा है, वह धर्म का कारण है। धर्म जल्दी हुआ। धूल भी नहीं। ऐसे अपवास करके मर जा न! अनन्त अपवास किये हैं, वह तो लंघन है।

अन्दर आनन्द का नाथ सुख का मन्दिर प्रभु! उसे अन्दर में देखे बिना, जाने बिना

तुझे उसका बहुमान कहाँ से आयेगा ? आहाहा ! और पर का बहुमान कब मिटेगा। दया, दान, राग आदि विकार है, उसकी महिमा कब मिटेगी ? आहाहा ! सुख का तो मन्दिर है। प्रभु ! अन्दर सुख का मन्दिर विराजता है। **उस सहज तत्त्व...** अब मुनिराज कहते हैं। ऐसा स्वभाविक तत्त्व है, उसे **मैं सदा अत्यन्त नमस्कार करता हूँ।** आहाहा ! मैं साधक हूँ, इसलिए मैं चैतन्यमूर्ति को अन्दर में एकाग्रता से विशेष बढ़ाता हूँ। अन्दर एकाग्रता से शुद्धि की वृद्धि करता हूँ। सदा अत्यन्त नमता हूँ। आहाहा ! विकल्प में भी नहीं आता। निर्विकल्प में रहता हूँ। आहाहा ! ऐसा धर्म ! यहाँ बाहर में धर्म सीधा सट्ट कर डाला (कि) मूर्तिपूजा करो, गिरनार की यात्रा कर डालो तो हो गया धर्म। धूल में भी धर्म नहीं। इसके पुण्य का भी ठिकाना नहीं। अभी इसके शुभभाव में कैसा है, वह शुभभाव है। शुभभाव तो राग है, जहर है। अरे रे ! भगवान तो आनन्द का मन्दिर है।

ऐसा जो सहज तत्त्व है। अन्दर सहज तत्त्व प्रभु विराजता है। प्रत्येक आत्माा ऐसा ही है परन्तु इसकी उसे खबर नहीं है। ऐसे **सहज तत्त्व को मैं सदा अत्यन्त नमस्कार करता हूँ।** अर्थात् मेरा झुकाव ही अन्दर स्वभाव सन्मुख है सदा निरन्तर। नींद आवे तो भी अन्दर एकाग्रता है। स्वभाव में से हटता नहीं। आहाहा ! **मैं सदा अत्यन्त नमस्कार करता हूँ।** आहाहा ! मुनि है न ? मुनि की दशा तो अन्तर आत्मा के आनन्द का बल विशेष होता है। प्रचुर-प्रचुर स्वसंवेदन। उन्हें आत्मा का बहुत ही वेदन होता है, उन्हें मुनि कहते हैं। ऐसा कहे, यह क्रियाकाण्ड करे, वस्त्र छोड़े वह साधु-वाधु नहीं। जिन्हें अन्तर में आनन्द का प्रचुर रत्न प्रचुररूप से जिन्हें वेदन में आवे, अनुभव में उस अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे। उत्कृष्टरूप से बहुत... उसे यहाँ साधु कहा जाता है। जैनदर्शन में उसे साधु कहा जाता है। दूसरे सबको साधु नहीं कहा जाता। आहाहा ! यह १५०वाँ (कलश हुआ)।

श्लोक-१५१

(पृथ्वी)

प्रनष्ट-दुरितोत्करं प्रहत-पुण्य-कर्मव्रजं,
प्रधूतमदनादिकं प्रबलबोधसौधालयम्।
प्रणामकृततत्त्ववित् प्रकरणप्रणाशात्मकं,
प्रवृद्ध-गुण-मन्दिरं प्रहत-मोह-रात्रिं नुमः ।।१५१।।

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयप्रत्याख्यानाधिकारः षष्ठः श्रुतस्कन्धः।

(वीरछन्द)

पाप राशि को नष्ट किया है पुण्य समूह हना जिसने।
प्रबल ज्ञान का महल अहो कामादिक नष्ट किये जिसने॥
तत्त्वज्ञों से सदा वन्द्य जो कार्यकलाप विनाश स्वरूप।
मोह विनाशक, पुष्ट गुणों का धाम उसे मैं सदा नमूँ॥१५१॥

[श्लोकार्थः] जिसने पाप की राशि को नष्ट किया है, जिसने पुण्यकर्म के समूह को हना है, जिसने मदन (-काम) आदि को खिरा दिया है, जो प्रबल ज्ञान का महल है, जिससे तत्त्ववेत्ता प्रणाम करते हैं, जो प्रकरण के नाशस्वरूप है (अर्थात् जिसे कोई कार्य करना शेष नहीं है—जो कृतकृत्य है), जो पुष्ट गुणों का धाम है तथा जिसने मोहरात्रि का नाश किया है, उसे (-उस सहज तत्त्व को) हम नमस्कार करते हैं॥१५१॥

इस प्रकार, सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में) निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार नाम का छठवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

श्लोक -१५१ पर प्रवचन

१५१ श्लोक है न?

प्रनष्ट-दुरितोत्करं प्रहत-पुण्य-कर्मव्रजं,
प्रधूतमदनादिकं प्रबलबोधसौधालयम्।
प्रणामकृततत्त्ववित् प्रकरणप्रणाशात्मकं,
प्रवृद्ध-गुण-मन्दिरं प्रहत-मोह-रात्रिं नुमः।।१५१।।

जिसने पाप की राशि को नष्ट किया है,... भगवान आत्मा जिसने अन्दर देखा। समकित हुआ और समकित धर्म का पहला सोपान हुआ। उसे कहते हैं कि **पाप की राशि को नष्ट किया है,...** अशुभभाव का तो जिसने नाश किया है। आहाहा! और **पुण्यकर्म के समूह को हना है,...** शुभभाव को भी हन डाला है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव तो पुण्य है। उस पुण्य को भी धर्मी जीव ने हन डाला है। उससे पार अन्दर भगवान विराजता है, वहाँ जिसकी बैठक हुई है। अनादि से अज्ञानी को राग में बैठक थी, वह बैठक बदल गयी है। आहाहा!

जिसने पुण्यकर्म के समूह को हना है, जिसने मदन (-काम) आदि को खिरा दिया है,... काम की इच्छा को तो जिसने खिरा डाला है। ऐसे काम में तो दुःख है। इन्द्रिय के विषय में, इच्छा और भोग, वह तो दुःख है। वहाँ सुख है नहीं। जहर है। इन्द्रिय के विषय में जहर है। यह शुभभाव है, वह जहर है, तो वह इन्द्रिय का विषय तो अशुभ है। आहाहा! ऐसे **मदन (-काम) आदि को खिरा दिया है,...** जिसने वेद की वासना खिरा डाली है, यह स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, ऐसी वासना का जिसने नाश किया है। आहाहा!

जो प्रबल ज्ञान का महल है,... प्रबल ज्ञान का महल है। भीतर जाकर प्रवेश कर तो तुझे महल मिलेगा। आहाहा! मैल को टाल तो महल मिलेगा। मैल अर्थात् शुभ और अशुभराग को टाल तो अन्दर ज्ञानमहल मिलेगा। आहाहा! बड़े महल आते हैं या नहीं? तीन करोड़-साढ़े तीन करोड़ का महल नहीं? कौन सा गाँव? मैसूर। मैसूर में तीन-साढ़े तीन करोड़ का बँगला। राजा को अनुमति दी परन्तु राजा निकल गया है। बड़ा मकान।

मकान खाली पड़ा है। साढ़े तीन करोड़ रुपये का। उस दिन, हों! धूल तो पड़ी है। धूल कहाँ उसके साथ आती है? आहाहा! एक बार वहाँ देखने गये थे। आहाहा!

भगवान **प्रबल ज्ञान का महल है,...** भगवान। यह महल है। इस पर सीढ़ियाँ चढ़। चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ, आठवाँ (गुणस्थान), यह चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ हैं। उस महल में चढ़ने की ये सीढ़ियाँ हैं। आहाहा! कोई शुभ और अशुभ क्रिया, वह उसकी सीढ़ियाँ नहीं हैं। वह तो उसे अटकानेवाल मैल और दुःख है। आहाहा! अब इसे ऐसा करना। एक तो निवृत्ति भी मिलती नहीं। धन्धे के कारण दो घड़ी की निवृत्ति भी नहीं मिलती। अब उसमें ऐसा करना। आहाहा! ग्राहक आवे, उसमें प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है। अब उसमें एक ग्राहक पाँच हजार का माल लेने आया हो और उसमें पाँच सौ की आमदनी हो एक ग्राहक में मानो तो आहाहा! तल्लीन हो जाता है। सवेरे का आहार शाम हो जाता है। अभी नहीं... अभी नहीं... शाम को चार बजे। इतनी लवलीन हो जाता है। बनिया-व्यापारी... आहाहा! परन्तु तू कौन है? कहाँ है? - उसके सामने तो देख।

भगवान अन्दर तीन लोक का नाथ विराजता है। अनन्त चैतन्यरत्न का समुद्र है, उसके सामने देखना... आहाहा! परन्तु वह क्या होगा, कहे। भाई ने पूछा था न कि वह बड़ा चैतन्यस्तम्भ है? चित्त को बाँधा है, ऐसा आया था न? स्तम्भ से बाँधा है। वह स्तम्भ कैसा होगा? चन्दुभाई ने पूछा था। वह ध्रुव है, ध्रुव है। अनादि-अनन्त ध्रुव है। उस ध्रुव के स्तम्भ से पर्याय को बाँधा। आहाहा! ध्रुव वस्तु है, उसमें उत्पाद-व्यय और पर्याय उसका धर्म है, उस उत्पाद-व्यय की पर्याय को ध्रुव के स्तम्भ के साथ बाँधा। वह पर्याय... उसे यहाँ बाँधा। ध्रुव के साथ बाँधा। आहाहा! सब भाषा अलौकिक लगती है। ऐसा उपदेश कहाँ से निकाला! वह सुना सामायिक करो, प्रतिक्रमण करो, यह करो, वह करो, सूर्यास्त से पूर्व भोजन करो। उसमें सूझ तो पड़े। (ऐसा लोग कहते हैं)।

जिसने काम को तो **खिरा दिया है, जो प्रबल ज्ञान का महल है,...** प्रबल ज्ञान का बड़ा महल है। जैसे घुसता जाए, सीढ़ियाँ चढ़ता जाए, वैसे केवलज्ञान पा जाए। ऐसा वह केवलज्ञान का महल है। आहाहा! धीरज से देखे तो खबर पड़े। नहीं तो स्फटिक रत्न का महल हो, स्फटिक रत्न का और उसकी सीढ़ियाँ स्फटिक रत्न की हो तो उसे धीरज से चढ़ना पड़े। वह चढ़े तो वहाँ नीचे दिखे। स्फटिक रत्न का है न? रावण को स्फटिक रत्न

का महल था। रावण को स्फटिक के महल थे। सीढ़ियाँ स्फटिक की, मकान स्फटिक का। फिर ऐसे जहाँ देखे, वहाँ वह दिखा करे। चलना कहाँ? यहाँ तो कहते हैं कि जहाँ देखे वहाँ प्रकाश दिखता है तो फिर वह वहाँ से निकल कैसे सकेगा? आहाहा! ऐसा चैतन्य हीरा अन्दर है।

जिसे तत्त्ववेत्ता प्रणाम करते हैं,... अज्ञानी प्रणाम नहीं करता, ऐसा कहते हैं। अज्ञानी जो प्रणाम करता है, वह तत्त्व को प्रणाम नहीं करता। उसे तत्त्व का भान कहाँ है? आहाहा! समझ में आया? आता है न? समन्तभद्र में स्तुति आती है, समन्तभद्र में। प्रभु! अज्ञानी आपको नहीं मानता, तत्त्वज्ञानी बिना आपको नहीं मानता, अज्ञानी नहीं मानता, ऐसा है। आहाहा! जिसे यह स्वरूप ही जानने में नहीं आया और जिसे इस स्वरूप की महिमा और महत्ता जिसे अभी दिखायी नहीं दी, वह इसे कैसे नमस्कार करे। बड़े को नमस्कार करे। छोटे को नमस्कार करेगा? आहाहा!

तत्त्ववेत्ता प्रणाम करते हैं,... आहाहा! भगवान चैतन्यसूर्य अन्दर विराजता है। शरीर से पार, वाणी से पार, मन के विकल्प से पार अन्दर भिन्न भगवान है, उसे तत्त्ववेत्ता प्रणाम करते हैं। आहाहा! बाहर भगवान आदि को प्रणाम करते हैं, वह व्यवहार है-ऐसा कहते हैं। इसके लिये यह कहा है। वह निश्चय प्रणाम यह है। अपने स्वभाव में अनुभव करके प्रणाम करना, नमस्कार करना, प्रणमना, यह। **जो प्रकरण के नाशस्वरूप है (अर्थात् जिसे कोई कार्य करना शेष नहीं है—जो कृतकृत्य है),...** आहाहा! वस्तु है, वह तो कृतकृत्य है। कार्य करना हो, वह तो पर्याय में है। वस्तु भी कृतकृत्य है। उसकी दृष्टि और स्थिरता करे, तब पर्याय में कृतकृत्यपना आता है। कृतकृत्य वस्तु है। कार्य करना आदि वस्तु है, अनादि-अनन्त तत्त्व का सागर, उसके सन्मुख देखे, तब पर्याय में धीमे-धीमे आगे बढ़ता है। आहाहा!

वह तो **प्रकरण के नाशस्वरूप है...** अर्थात् जिसे कुछ भी करना रहा नहीं। ऐसी वह वस्तु कृतकृत्य है। आहाहा! वह वस्तु कृतकृत्य है, तो उस वस्तु के आश्रय से अनुभव होने पर पर्याय में कृतकृत्य सिद्ध भगवान हो गये। भगवान को कुछ करना नहीं रहता। सिद्ध भगवान हैं, वे कृतकृत्य हैं। तब पर्याय में पूर्ण हो गये। पर्याय में कार्य पूर्ण हो गये। क्योंकि वस्तु तो कृतकृत्य है, उसके आश्रय से प्रगट हुई पर्याय कृतकृत्य है। आहाहा! **जो**

पुष्ट गुणों का धाम है... आहाहा! भगवान आत्मा अन्दर अनन्त-अनन्त गुण के पुष्ट गुणों का धाम है। उसका एक भी गुण कृश और कम नहीं हुआ। सूखता नहीं, कम नहीं होता। विपरीत नहीं होता। आहाहा!

पुष्ट गुणों का धाम परमात्मा स्वयं है। यह आत्मा की बात है, हों! आहाहा! देह-देवल में विराजता भगवान... आहाहा! नर-नारायण होता है। वह अन्दर नारायण स्वरूप है। अन्यमति कहते हैं, वह नारायण नहीं। यह तो परमात्मस्वरूप पावे, वह नारायण है। आहाहा! **जो पुष्ट गुणों का धाम है...** आहाहा! **तथा जिसने मोहरात्रि का नाश किया है,...** मोहरूपी अन्धकार का तो जिसने नाश किया है। आहाहा! मिथ्यात्वरूपी राग से कल्याण होगा, ऐसी जो मिथ्या भ्रान्ति; पुण्य क्रिया करते-करते कल्याण होगा, ऐसी जो मिथ्यात्व की भ्रान्ति; देह की क्रिया करते-करते भी लाभ होगा, ऐसी जो मिथ्यात्व की भ्रान्ति, उस सब मोहराशि का नाश किया है। आहाहा! **उसे (-उस सहज तत्त्व को) हम नमस्कार करते हैं।** आहाहा! ऐसे तत्त्व को हम नमस्कार करते हैं। आहाहा! हमारे नमस्कार करनेयोग्य होवे तो वह भगवान मेरा आत्मा ऐसा है। आहाहा! वाणी है, वह वाणी कैसी है! मुनि की है। जंगल में बसनेवाले मुनि, दिगम्बर मुनि... आहाहा! सच्चे सन्त थे, भावलिंगी थे। आनन्द का प्रचुर वेदन था। वह कहते हैं कि हम ऐसे सहज तत्त्व को, स्वभाविक तत्त्व है उसे। पर्याय है, वह उत्पन्न होती है, नष्ट होती है, उत्पन्न होती है, नष्ट होती है परन्तु तत्त्व वस्तु है, वह तो सत् अनादि है। वह उत्पन्न और व्यय नहीं होता।

(-उस सहज तत्त्व को) हम नमस्कार करते हैं। आहाहा! यह पंचम काल के ९०० वर्ष पहले के मुनि यहाँ ऐसी बात करते हैं। आहाहा! उन्हें ऐसा नहीं कि प्रजा को ऐसी बात जँचेगी या नहीं? यही बात करने और बैठाने की है। दूसरी सब बातें व्यर्थ है। आहाहा! समय चला जाता है। देह की स्थिति पूरी होने का तो निर्णय है। जितना समय जाता है, वह सब मृत्यु के समीप जाता है। यह जानता है कि मैं बड़ा होता हूँ। कहते हैं माँ जानती है बड़ा होता है। भगवान कहते हैं कि वह मृत्यु के समीप जाता है। आहाहा! इसका मृत्यु का समय निश्चित है। जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस संयोग में देह छूटना है, वह छूटेगी। उसमें दूसरा लाख उपाय करे तो कुछ हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

हम नमस्कार करते हैं। लो, यह कलश पूरा हुआ।

इस प्रकार, सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह... है। मुनि है न? मुनि को देह ही होती है। वस्त्र-पात्र नहीं होते। **ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में) निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार नाम का छठवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** निश्चय-प्रत्याख्यान इसे कहना। अन्तर आनन्द में डूबकर आनन्द में रमना। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द में रमना, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं। ऐसे हाथ जोड़कर बाधा का त्याग करना, प्रत्याख्यान किया, वह नहीं। वह तो सब देह की क्रिया है। अन्दर विकल्प उठते हैं, वह राग है।

यहाँ तो रागरहित आत्मा अन्दर आनन्दमूर्ति है, उसमें अन्तर में जम जाना। पहिचानकर, अनुभव करके जमना, स्थिर होना, उसका नाम प्रत्याख्यान है। जैनदर्शन में उसे प्रत्याख्यान कहते हैं। बाकी दूसरे सबको अप्रत्याख्यान कहते हैं। आहाहा! यह अधिकार पूरा हुआ।

— ७ —

परमालोचनाधिकारः

आलोचनाधिकार उच्यते ह्न

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि।।१०७।।

नोकर्मकर्मरहितं विभावगुणपर्ययैर्व्यतिरिक्तम्।
आत्मानं यो ध्यायति श्रमणस्यालोचना भवति।।१०७।।

निश्चयालोचनास्वरूपाख्यानमेतत्। औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि हि नोकर्माणि, ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयवेदनीयायुर्नामगोत्राभिधानानि हि द्रव्यकर्माणि। कर्मोपाधिनिरपेक्षसत्ताग्राहकशुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनयापेक्षया हि एभिर्नोकर्मभिर्द्रव्यकर्मभिश्च निर्मुक्तम्। मतिज्ञानादयो विभावगुणा नरनारकादिव्यञ्जनपर्यायाश्चैव विभावपर्यायाः। सहभुवो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाश्च। एभिः समस्तैः व्यतिरिक्तं, स्वभावगुणपर्यायैः संयुक्तं, त्रिकालनिरावरणनिरञ्जनपरमात्मानं त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिना यः परमश्रमणो नित्यमनुष्ठानसमये वचनरचनाप्रपञ्चपराङ्मुखः सन् ध्यायति, तस्य भावश्रमणस्य सततं निश्चयालोचना भवतीति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(आर्या)

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।

उक्तञ्चोपासकाध्ययने ह्न

(आर्या)

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महा-व्रत-मामरण-स्थायि निःशेषम्।।

तथाहि ह्न

अब, आलोचना अधिकार कहा जाता है।

नोकर्म, कर्म, विभाव, गुण पर्याय विरहित आतमा।
ध्याता उसे, उस श्रमण को होती परम-आलोचना॥१०७॥

अन्वयार्थ : [नोकर्मकर्मरहितं] नोकर्म और कर्म से रहित तथा [विभाव-गुणपर्ययैः व्यतिरिक्तम्] विभावगुणपर्यायों से [१]व्यतिरिक्त [आत्मानं] आत्मा को [यः] जो [ध्यायति] ध्याता है, [श्रमणस्य] उस श्रमण को [आलोचना] आलोचना [भवति] है।

टीका : यह निश्चय-आलोचना के स्वरूप का कथन है।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मणशरीर, वे नोकर्म हैं; ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र नाम के द्रव्यकर्म हैं। [२]कर्मोपाधिनिरपेक्ष सत्ताग्राहक शुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से परमात्मा इन नोकर्मों और द्रव्यकर्मों से रहित है। मतिज्ञानादिक वे विभावगुण हैं और नरनारकादि व्यंजनपर्यायें ही विभावपर्यायें हैं; गुण सहभावी होते हैं और पर्यायें क्रमभाव होती हैं। परमात्मा इन सबसे (-विभावगुणों तथा विभावपर्यायों से) व्यतिरिक्त है। उपरोक्त नोकर्मों और द्रव्यकर्मों से रहित तथा उपरोक्त समस्त विभावगुणपर्यायों से व्यतिरिक्त तथा स्वभावगुणपर्यायों से संयुक्त, त्रिकाल-निरावरण निरंजन परमात्मा को त्रिगुप्ति गुप्त (-तीन गुप्ति द्वारा गुप्त ऐसी) परमसमाधि द्वारा जो परम श्रमण सदा अनुष्ठान समय में वचनरचना के प्रपंच से (-विस्तार से) पराङ्मुख वर्तता हुआ ध्याता है, उस भावश्रमण को सतत निश्चय आलोचना है।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में २२७वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

मोह विलास प्रसारित जो यह कर्म उदय कर आलोचन।
चित्स्वरूप निष्कर्म निजातम में निज से करता वर्तन॥

[श्लोकार्थः] मोह के विलास से फैला हुआ जो यह उदयमान (-उदय में आनेवाला) कर्म, उस समस्त को आलोचकर (-उन सर्व कर्मों की आलोचना करके),

मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (-स्वयं से ही) निरन्तर वर्तता हूँ।

और उपासकाध्ययन में (श्री समन्तभद्रस्वामीकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार में १२५वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

कृत कारित अनुमोदित पापपुञ्ज का निश्छल आलोचन।
करके पूर्ण महाव्रत को तू मरण समय तक कर धारण॥

[श्लोकार्थः] किये हुए, कराये हुए, और अनुमोदन किये हुए सर्व पापों की निष्कपटरूप से आलोचना करके, मरणपर्यन्त रहनेवाला, निःशेष (-परिपूर्ण) महाव्रत धारण करना।

गाथा -१०७ पर प्रवचन

अब, आलोचना, संवर अधिकार। विगत काल का प्रतिक्रमण आता है न ? भविष्य काल का प्रत्याख्यान और वर्तमान का संवर। वह यह आलोचना संवर है। वर्तमान संवर, यह अधिकार है।

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि।।१०७।।

नीचे हरिगीत

नोकर्म, कर्म, विभाव, गुण पर्याय विरहित आतमा।
ध्याता उसे, उस श्रमण को होती परम-आलोचना॥१०७॥

टीका : यह निश्चय-आलोचना के स्वरूप का कथन है। व्यवहार से आलोचना तो अपने को पाप लगा हो तो गुरुदेव के पास कहे। यह सब व्यवहार पुण्य है। वह सब पुण्यभाव है। अपने को पाप लगा हो और गुरु के पास साक्षी रखकर प्रायश्चित्त ले। वह सब पुण्य है। यह निश्चय आलोचना है। वह वास्तव में निश्चय आलोचना नहीं, वह व्यवहार है। आहाहा!

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर वे नोकर्म हैं;... देखा ? पाँचों ही शरीर को नोकर्म कहा। तीन लेना है। नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म। आत्मा तीनों से रहित है। अन्दर आत्मा तीनों से रहित है। पहले नोकर्म से रहित है। नोकर्म कौन ? एक तो यह औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर देव को, आहारकशरीर मुनि को, तैजस और कार्मण सबको। आहाहा! कार्मणशरीर भी नोकर्म में आ गया। कार्मणशरीर, वह नोकर्म है। पाँचों ही शरीर नोकर्म है। वह आत्मा में नहीं है। आत्मा में शरीर-बरीर नहीं। यह तो शरीर में शरीर है। आहाहा! ऐसी मिलावट लगती है। आत्मा बिना मानो शरीर चलता नहीं, आत्मा बिना बोलता नहीं, ऐसा हो जाता है। आत्मा बोलता भी नहीं और आत्मा चलता भी नहीं। आत्मा तो आनन्दमूर्ति त्रिकाली एकरूप स्थित है। आहाहा! ऐसी बात है। यह पाँच शरीर, वह नोकर्म है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र नाम के द्रव्यकर्म हैं। ये आठ कर्म द्रव्यकर्म हैं। वे पाँच शरीर वह नोकर्म है और **कर्मोपाधिनिरपेक्ष सत्ताग्राहक शुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनय की...** दृष्टि से क्या कहते हैं ? जिन्हें कर्म की उपाधि की अपेक्षा नहीं और निज सत्ता, जो चैतन्य की सत्ता निज है, निज अस्तित्व जो है, उसे ग्राहक **शुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से...** शुद्धद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से.. आहाहा। **परमात्मा...** है ? परमात्मा अर्थात् यह आत्मा, हों! परमस्वरूपी, परमात्मा अर्थात् परमस्वरूपी आत्मा। आहाहा! **इन नोकर्मों और द्रव्यकर्मों से रहित है।** आहाहा! भगवान को नोकर्म भी नहीं और जड़ द्रव्यकर्म भी आत्मा को नहीं। आत्मा को कर्म नहीं। कर्म ने घुमाया, कर्म ने भटकाया, कर्म ने आड़ा आंक डाला, ऐसी बातें करते हैं न ? यहाँ तो कहते हैं, कर्म भिन्न चीज़ है, आत्मा भिन्न चीज़ है। कर्म से आत्मा भिन्न चीज़ है। शरीर से तो भिन्न है, परन्तु कर्म से भी भिन्न चीज़ है।

मतिज्ञानादिक वे विभावगुण हैं... मतिज्ञानादि पर्याय है, परन्तु उन्हें विभावगुण कहा गया है। आहाहा! क्योंकि साथ में रहते हैं न ? मति-श्रुतज्ञान साथ में रहते हैं न ? साथ में रहते हैं, इस अपेक्षा से गुण कहा है। सहवर्ती गुण। वैसे तो सहवर्ती त्रिकाल। यहाँ वह नहीं। यहाँ तो मतिज्ञान-श्रुतज्ञान साथ में रहते हैं, इसलिए उन्हें सहवर्ती गुण कहने में आया है। सहवर्ती परन्तु विभावगुण, हों! विभावगुण हैं। आहाहा! मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, वे विभावगुण हैं।

और नरनारकादि व्यंजनपर्यायें ही विभावपर्यायें हैं;... यह नर शरीर, नारकी का शरीर, देव का (शरीर), वह **व्यंजनपर्यायें ही विभावपर्यायें हैं;...** आहाहा! **गुण सहभावी होते हैं...** ये गुण। यह, हों! मतिज्ञानादि विभावगुण। यह मति और श्रुतज्ञान साथ में होते हैं न? इस अपेक्षा से बात ली है। **मतिज्ञानादिक वे विभावगुण हैं और नरनारकादि व्यंजनपर्यायें ही विभावपर्यायें हैं; गुण सहभावी होते हैं और पर्यायें क्रमभाव होती हैं।** नारकादि व्यंजनपर्यायें एक के बाद एक क्रमभावी होती है। वरना तो त्रिकाल गुण जो है, वह सहभावी है सहभावी। वर्तमान पर्याय क्रमभावी है, परन्तु यहाँ अपेक्षा से मतिज्ञानादि एक साथ में हैं, इसलिए उन्हें विभावगुण कहा और सहभावी कहा। आहाहा! कहो, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी विभावगुण है। गुण शब्द से यहाँ पर्याय है। वह पर्याय है परन्तु विभावपर्याय है, सम्यक् नहीं। सम्यक् नहीं। सम्यक्मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय वे सम्यक्ज्ञानी के चार हैं, वे भी विभावगुण में गिनने में आये हैं। आहाहा! क्योंकि वह पर्याय है। पर्याय का लक्ष्य छोड़ने के लिये वे चारों ही विभावगुण—पर्याय कहकर उनका लक्ष्य छुड़ाते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा उनसे रहित है, उसे देख न! विभावगुण से रहित है, वह आत्मा है। आहाहा! और विभावपर्याय... आहाहा!

परमात्मा इन सबसे... आहाहा! परमात्मा अर्थात् यह आत्मा, हों! परमात्मा अर्थात् अरिहन्त और सिद्ध के नहीं। **परमात्मा इन सबसे (-विभावगुणों तथा विभावपर्यायों से) व्यतिरिक्त है।** अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! मतिज्ञान सम्यक्, हों! सम्यक्। श्रुतज्ञान सम्यक्, उससे भी उसे विभावपर्याय गिनकर गुण गिना। भगवान उससे भिन्न है। क्योंकि वह एक समय की पर्याय है और यह वस्तु त्रिकाल स्थित है। द्रव्य त्रिकाल स्थित है, इसलिए आत्मा उस विभावपर्यायरहित है। आहाहा! विभावगुण कहा।

उपरोक्त नोकर्मों और द्रव्यकर्मों से रहित तथा उपरोक्त समस्त विभावगुणपर्यायों से व्यतिरिक्त... विभावगुण मतिज्ञानादि पर्याय से भिन्न **तथा स्वभावगुणपर्यायों से संयुक्त,...** आहाहा! याद रहना कठिन है। कितना (याद रखना)? यह भाषा अलग, भाव अलग। स्वभावगुणपर्याय और विभावगुणपर्याय, यह वहाँ सुनी नहीं होगी। आहाहा! स्वभावगुणपर्याय स्वयं। अपना जो स्वभाव है, उसका गुण और उसकी निर्मल पर्याय से संयुक्त। आहाहा! भले कारणपर्याय ले अन्दर। वह तो गुण के भेदरूपी पर्याय और कारणपर्याय।

स्वभावगुणपर्यायों से संयुक्त,... उनसे सहित आत्मा है। बहुत बोल आये हैं। एक तो मति-ज्ञानादि को विभावगुण कहना। सम्यग्ज्ञान, हों! आहाहा! केवलज्ञान को एक को ही स्वभाव कहा है। यह क्या कहलाता है? आलोचना। नय का अधिकार है न? क्या नाम? गुणधर्मनय, और धर्मगुण... आलापपद्धति, आलापपद्धति। आलापपद्धति में सबको विस्तार से वहाँ लिखा है।

स्वभावगुणपर्यायों से संयुक्त,... है। अपना स्वभावज्ञान, दर्शन और आनन्द तथा उसकी पर्याय कारणपर्याय, उससे वह आत्मा सहित है। आहाहा! मति-ज्ञानादि विभाव से भी रहित है। सम्यक्, हों! मिथ्यादर्शन की बात ही नहीं। यह तो सम्यक् मतिज्ञानादि भी विभावगुणपर्याय है। आहाहा! उससे रहित आत्मा का स्वभाव है। इसमें याद कितना रखना?

त्रिकाल-निरावरण निरंजन परमात्मा को... ऐसा जो यह आत्मा, वह त्रिकाल निरावरण निरंजन आत्मा है। वस्तु जो है, वह त्रिकाल निरावरण है। यह तो पर्याय में राग का सम्बन्ध है। द्रव्य को कोई सम्बन्ध है ही नहीं। आहाहा! भगवान नित्यस्वरूप ध्रुव नित्य है, वह तो त्रिकाल निरावरण है। त्रिकाल निरावरण। कब? अभी। आहाहा! आत्मा अन्दर वस्तु है, देह के मन्दिर में भिन्न चैतन्यरत्न भगवान (विराजता है), वह त्रिकाल निरावरण है। आहाहा! **त्रिकाल-निरावरण निरंजन...** जिसे अंजन—मैल नहीं। मतिज्ञानादि से रहित है तो फिर और मैल-फैल कहाँ से आया? आहाहा! पहले इसमें भी लिया है न? केवलज्ञान, वह स्वभाव है; दूसरे चार विभाव हैं। पहले ध्यान अधिकार में, पहले अधिकार में लिया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन दो स्वभाव हैं। बाकी सब विभाव हैं। उन्हें कर्म के निमित्त की अपेक्षा आती है न? आहाहा! क्षयोपशमभाव भी विभाव है। आहाहा!

परम **त्रिकाल-निरावरण निरंजन परमात्मा को...** परमात्मा अर्थात् इस आत्मा को। परमात्मा क्यों कहा? परमस्वरूप आत्मा अर्थात् स्वरूप। परमस्वरूप को **त्रिकाल-निरावरण निरंजन परमात्मा को त्रिगुप्ति गुप्त (-तीन गुप्ति द्वारा गुप्त ऐसी)...** मन, वचन और काया से रहित होकर। तीन गुप्त से गुप्त अन्दर। आहाहा! मन, वचन और काया से वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। दया, दान और व्रत के परिणाम से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। वह तो त्रिकाल त्रिगुप्ति से गुप्त है। है? **त्रिगुप्ति गुप्त (-तीन गुप्ति द्वारा गुप्त)...** आहाहा!

ऐसी **परमसमाधि द्वारा...** यह अन्यमति के बाबा समाधि करते हैं, वह नहीं। अन्तर की शान्ति... शान्ति... शान्ति... अकषाय, वीतरागी अकषाय शान्ति। लोगस्स में आता है न? '**समाहिवरमुत्तमं दिंतु।**' लोगस्स में आता है। '**समाहिवरमुत्तमं दिंतु।**' समाधि अर्थात् यह शान्ति। पुण्य-पापरहित आत्मा की शान्तदशा, वह समाधि है। वे बाबा समाधि करते हैं, वह समाधि नहीं। आहाहा! **परमसमाधि...** वापस। **परमसमाधि द्वारा जो परम श्रमण...** आहाहा! परम शब्द बहुत प्रयोग करते हैं। **परमसमाधि द्वारा जो परम श्रमण सदा अनुष्ठान समय में...** सदा अपने आचरण के समय में **वचनरचना के प्रपंच से (-विस्तार से) पराङ्मुख...** रहित। आहाहा! प्रतिक्रमण के वचन बोलना, उनसे पराङ्मुख है, कहते हैं। आहाहा! प्रतिक्रमण बँधा हुआ है और उसके वचन हैं, बोलने में जो शुभराग है, उसके प्रपंच से रहित। आहाहा! **वचनरचना के प्रपंच से (-विस्तार से) पराङ्मुख..** जिसमें यह वचन की रचना ही नहीं है। जिसमें राग-दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत का अनुकम्पा का भी विकल्प जिसमें नहीं है, ऐसा जो भगवान अन्दर आत्मा।

वह **परम श्रमण सदा अनुष्ठान समय में वचनरचना के प्रपंच से (-विस्तार से) पराङ्मुख वर्तता हुआ...** वचन विस्तार छोड़कर अन्दर में आनन्द में स्थिर होता हुआ। आहाहा! तब उसे आलोचना होती है, तब संवर होता है। धर्म का उपाय संवर तब होता है। आहाहा! **वर्तता हुआ ध्याता है,...** पर से पराङ्मुख होकर अन्तर में ध्याता है, ध्यान करता है। आहाहा! आनन्द को चूसता है। पिलाते हैं न? बालक को पिलाते हैं न दूध; उसी प्रकार यह आनन्द को पीता है। अन्तर के अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भगवान है, उसे वह पीता है। उसे ध्यान में ध्याता है।

उस भावश्रमण को... उसका नाम भावसाधु। आहाहा! **सतत निश्चय आलोचना है।** उसे निरन्तर सतत् आलोचना वर्तती है। आहाहा! निरन्तर आलोचना है। सवेरे या शाम प्रतिक्रमण करना और उस समय संवर, आलोचना है... आहाहा! वह तो व्यवहार है। व्यवहार आता अवश्य है। व्यवहार होता है परन्तु यह है। **भावश्रमण को सतत निश्चय आलोचना है।**

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में २२७वें श्लोक द्वारा)... विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव।)

प्रवचन-११९, श्लोक-१५२-१५३, गाथा-१०८-१०९ गुरुवार, पौष शुक्ल ९,
दिनांक २७-१२-१९७९

नियमसार, नीचे अमृतचन्द्राचार्य का श्लोक है...

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।

आलोचना का अधिकार है। आलोचना अर्थात् जानना, देखना। देखने में रहना, वह आलोचना। ज्ञान में रहना, इसका नाम आलोचना अर्थात् संवर है। भूतकाल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल का संवर और आगामी काल का प्रत्याख्यान। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान गये, अब यह वर्तमान बात है।

मोह के उदय से **मोह के विलास से...** आहाहा! **फैला हुआ जो यह उदयमान (-उदय में आनेवाला) कर्म...** मोहकर्म के उदय से फैला हुआ जो रागादि कर्म, **उस समस्त को आलोचकर (-उन सर्व कर्मों की आलोचना करके),...** आलोचकर अर्थात् उसे छोड़कर, आहाहा। एक ओर भगवान कर्मरहित, रागरहित ऐसे आत्मा में अन्तर आश्रय करके, कर्म से फैले हुए विकार को छोड़कर **मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में...** आहाहा! यह अमृतचन्द्राचार्य का समयसार में श्लोक है। चैतन्यमात्र **चैतन्यस्वरूप आत्मा में...** उसमें कहीं शुभभाव-अशुभभाव नहीं आया। शुभ-अशुभभाव, वह सब मोहकर्म का विस्तार है। वह आत्मा का फैलाव नहीं है, वह कर्म का फैलाव है। पुण्य-पाप, दया, दान आदि असंख्य प्रकार के विकार शुभ और असंख्य प्रकार के अशुभ, वह कर्म का विस्तार है। वह सब कर्म की प्रजा है। आहाहा! उसे आलोचकर - उसे देखकर, उसे जानकर मैं मेरे आत्मस्वरूप में, कि जो स्वरूप चैतन्यस्वरूप आत्मा है, (उसमें वर्तता हूँ)। चैतन्यस्वरूप आत्मा है। कोई विकल्परूप या राग या दया, दान, व्रतादिरूप भगवान की भक्ति, उसरूप आत्मा है ही नहीं।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही... जो स्वभाव है, उस स्वभाव की परिणति से ही। जो चैतन्यस्वरूप है, उसकी परिणति से। जो उसमें नहीं है, उसके कारण ज्ञात नहीं होता। उसमें जो चैतन्य ज्ञानदर्शनस्वभाव है। उस चैतन्य आत्मा से आत्मा को.. आहाहा!

आत्मा में आत्मा से ही (-स्वयं से ही) निरन्तर वर्तता हूँ। आहाहा! आत्मा चैतन्यस्वरूप, विकार के विस्तार से रहित और अपने ज्ञानादिक के विस्तार से सहित, ऐसा जो विस्तार होता है, उसमें मैं रमता हूँ, कहते हैं। आहाहा! वह शक्तिरूप ज्ञान-दर्शन और आनन्द है, उसकी प्रतीति और रमणता द्वारा जो अन्दर विकास होता है, वह चैतन्यद्रव्य का विकास है। चैतन्यद्रव्य का वह विस्तार है। उस विस्तार में मैं रमता हूँ, कहते हैं। है?

आत्मा से ही (-स्वयं से ही) निरन्तर वर्तता हूँ। आहाहा! लो, यह पंचम काल के साधु। ऐसी बात कठिन पड़ती है। साधु किसे कहना? अभी पहले सम्यग्दर्शन क्या है, इसकी खबर नहीं है। यह तो सम्यग्दर्शन, राग से रहित निर्विकल्प चैतन्य के अनुभव में प्रतीति और पश्चात् उसमें स्थिरता, इसका नाम चारित्र है। कहते हैं, उस चारित्र में मैं निरन्तर वर्तता हूँ। आहाहा! लिखने के समय यह कहते हैं कि मैं निरन्तर वर्तता हूँ, बोलते समय कहते हैं कि मैं निरन्तर वर्तता हूँ। आधे पौन सेकेण्ड थोड़ी नींद में हो, उस समय मैं तो मेरे निवृत्त में (स्वद्रव्य में वर्तता) हूँ। आहाहा! जिस स्वरूप को जानकर और उसमें रमणता हुई, वह रमणता चौबीस घण्टे निरन्तर रहती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

निरन्तर वर्तता हूँ। इसलिए कहा कि कर्म के कारण वर्तता हूँ, कर्म जरा क्षयोपशम मार्ग दिया, इसलिए मैं वर्तता हूँ - ऐसा नहीं है। आहाहा! मेरे पुरुषार्थ से ही, मेरे आत्मा के स्वभाव से, मेरा जो त्रिकाल स्वभाव है, उस स्वभाव की परिणति से मैं आत्मा में वर्तता हूँ। आहाहा! भाव ही अलौकिक है! व्यवहार के रसिक को कठिन पड़ जाए ऐसा है। इसमें कुछ व्यवहार करने का नहीं आता। व्यवहार करे तो हो, ऐसा तो आता नहीं। व्यवहार होता है। यहाँ तो निषेध करके निश्चय की स्थिरता, वह आलोचना बतलानी है। मैं तो निरन्तर इसमें वर्तता हूँ, कहते हैं। आहाहा! यह तो ९०० वर्ष पहले साधु हुए। वे स्वयं कहते हैं निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा में, आत्मा से, आत्मा से, स्वभाव में स्वभाव से, स्वभाव जो ज्ञान और आनन्दस्वभाव, उसके आनन्द और ज्ञानस्वभाव से वर्तता हूँ। आहाहा! लो, इसका नाम आलोचना, इसका नाम संवर, इसका नाम संवर-संवर। आहाहा!

दूसरा श्लोक। **और उपासकाध्ययन में (श्री समन्तभद्रस्वामीकृत रत्नकरण्ड -श्रावकाचार में १२५वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—**

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महा-व्रत-मामरण-स्थायि निःशेषम्।।

जो कुछ मैंने **किये...** विकारी भाव, **कराये हुए, और अनुमोदन किये...** आहाहा! मेरे आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त जितने विकल्प परद्रव्य सम्बन्धी होते हैं, वे सब किये हों, कराये हों, अनुमोदन किये हों, उस **सर्व पापों की निष्कपटरूप से...** शुद्धस्वभाव है, अनन्त अनाकुल आनन्द का सागर है, उसे मैं कपटरहित अर्थात् है, उस प्रकार उसमें जाता हूँ। है, उस प्रकार उसमें रहता हूँ। **निष्कपटरूप से आलोचना करके,...** कपटरहितरूप से देखकर, जानकर। **मरणपर्यन्त रहनेवाला,...** आहाहा! देह छूटे, तब तक रहनेवाला। क्षणिक भी नहीं। तब तक रहनेवाला यह। **निःशेष (-परिपूर्ण) महाव्रत धारण करना।** इसका नाम महाव्रत है। यह महाव्रत हो, वहाँ स्थिरता होती है, ऐसा कहते हैं। महाव्रत उसे होता है कि जिसे स्थिरता होती है। महाव्रत तो विकल्प है। निश्चय महाव्रत है, वह आत्मा की स्वरूप स्थिरता है। व्यवहार महाव्रत है, वह स्थिरतासहित की भूमिका में शुभविकल्प है, परन्तु वह शुभविकल्प भी किसे होता है ? कहते हैं। अन्तर में निश्चय दर्शन-ज्ञान हुआ हो और स्वरूप की स्थिरता भी हुई हो, अन्तर में जमा हो, उसे शुभविकल्प का महाव्रत होता है, वह पुण्यबन्ध का कारण है। निश्चयव्रत है, वह स्वरूप में स्थिर होना। वह निश्चयव्रत, वह संवर का कारण है। आहाहा!

निष्कपटरूप से आलोचना करके,... आहाहा! क्या कहते हैं ? साधुपने का दिखाव करना और अन्दर में रागरहित दशा (होवे) नहीं, वह कपटसहित है, कहते हैं। आहाहा! यह तो कपटरहित जैसा है, वैसा। आहाहा! **आलोचना करके, मरणपर्यन्त रहनेवाला,..** देह छूटे, तब तक रहनेवाला। आहाहा! **निःशेष (-परिपूर्ण) महाव्रत धारण करना।** यह परिपूर्ण महाव्रत धारण करता हूँ, ऐसा वापस। आहाहा! निश्चय से महाव्रत स्थिरतारूप है। व्यवहार से महाव्रत विकल्परूप है।

श्लोक-१५२

और (इस १०७ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):—

(मन्दाक्रान्ताः)

आलोच्यालोच्य सुकृतमसुकृतंघोरसन्सारमूलं,
शुद्धात्मानं निरुपधि-गुणं चात्मनैवावलम्बे।
पश्चादुच्चैः प्रकृति-मखिलां द्रव्य-कर्म-स्वरूपां,
नीत्वा नाशं सहज-विलसद्बोध-लक्ष्मीं व्रजामि।।१५२।।

(वीरछन्द)

जो भवमूल शुभाशुभ उनका बार-बार कर आलोचन।
निरुपाधिक गुणमय शुद्धातम का आतम से अवलम्बन॥
द्रव्यकर्म की सभी प्रकृतियों का अत्यन्त विनाश करूँ।
सहज विलसती ज्ञानलक्ष्मी को मैं सत्वर प्राप्त करूँ॥१५२॥

[श्लोकार्थः] घोर संसार के मूल ऐसे सुकृत और दुष्कृत को सदा आलोच-आलोचकर मैं निरुपाधिक (-स्वाभाविक) गुणवाले शुद्ध आत्मा को आत्मा से ही अवलम्बता हूँ। फिर द्रव्यकर्मस्वरूप समस्त प्रकृति को अत्यन्त नष्ट करके सहज-विलसती ज्ञानलक्ष्मी को मैं प्राप्त करूँगा॥१५२॥

श्लोक -१५२ पर प्रवचन

और (इस १०७ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):—

आलोच्यालोच्य सुकृतमसुकृतंघोरसन्सारमूलं,
शुद्धात्मानं निरुपधि-गुणं चात्मनैवावलम्बे।

पश्चादुच्चैः प्रकृति-मखिलां द्रव्य-कर्म-स्वरूपां,
नीत्वा नाशं सहज-विलसद्बोध-लक्ष्मीं व्रजामि ।।१५२।।

[श्लोकार्थः] घोर संसार के मूल... आहाहा! **घोर संसार के मूल...** पुण्य और पाप के भाव, शुभभाव और अशुभभाव घोर संसार का मूल है। आहाहा! है? **सुकृत और दुष्कृत को...** सुकृत हो—भक्ति, वन्दना, मन्दिर स्थापना, उसकी प्रतिष्ठा उसका इत्यादि... लाखों लोग इकट्ठे हों, उनमें भगवान की स्तुति हो, स्तुति हो, वन्दन हो, वह सब शुभभाव सुकृत है। आहाहा!

मुमुक्षु : घोर संसार का मूल तो शुभाशुभ में रुचि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बीज ही संसार है। शुभभाव ही संसार है, स्वयं संसार है। यह कठिन बात है।

जैनधर्म—जैनधर्म, वह वीतरागभाव से उत्पन्न होता है। जैनपना, वह वीतरागभाव है। आत्मा वीतरागस्वभाव ही है। जैनधर्म, वह कोई नयी चीज़ नहीं है। वह वस्तुस्वभाव ही वीतराग है। आत्मा आत्मा से, ऐसा आया था न? वीतरागस्वभाव है, वह वीतरागभाव से स्वयं अपने को जाने, राग से या विकल्प से वह ज्ञात नहीं होता। आहाहा! बहुत धीरज चाहिए, बहुत प्रयत्न की गरज चाहिए। आहाहा! ऐसा अवसर कब आयेगा? इसे विशिष्टता लगनी चाहिए। आहाहा! अनन्त काल में कहाँ फिरते थे? कहाँ भटकते थे? कहाँ से आकर उत्पन्न हुए? इसका इसे भव का भय होना चाहिए, भव के भय का डर होना चाहिए। वह यह विचार करता है। शुभ और अशुभ दोनों। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भी शुभभाव है। वह संसार का मूल है, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति बँधती है। वहाँ प्रकृति बँधती है। स्वभाव एकत्व नहीं होता। स्वभाव की एकाग्रता वहाँ नहीं है। वहाँ तो प्रकृति का बन्ध पड़ता है। जिस भाव से बन्ध पड़ता है, वह धर्म कैसे होगा? आहाहा! सहन करना कठिन पड़ता है।

मुमुक्षु : इसमें तो स्पष्ट लिखा हुआ है, परन्तु अन्तिम दो सौ वर्ष में कोई ऐसा स्पष्ट नहीं कह सका।

पूज्य गुरुदेवश्री : सबने स्पष्ट कर डाला। इन्होंने स्पष्ट कर डाला। यह तो नियमसार है न? समयसार है, पंचास्तिकाय है, अष्टपाहुड़ है। सर्वत्र स्पष्ट कर डाला है। व्यवहार का

जहाँ अधिकार हो, वहाँ व्यवहार का वर्णन आवे परन्तु वह सब जानने के लिये है। उस भूमिका में ऐसा होता है, ऐसा जानने के लिये व्यवहार से व्यवहार आदरणीय भी कहलाता है। व्यवहार से व्यवहार, व्यवहारनय से व्यवहार से पूज्य भी कहलाता है। व्यवहार से व्यवहार पूज्य; निश्चय से नहीं। आहाहा! पद्मनन्दि (आचार्य) हैं। व्यवहारनय को व्यवहार से पूज्य कहा जाता है। निश्चय से तो है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों में से सत्य बात कौन सी है?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों सत्य है। है, उसमें ऐसी सत्य है। है, परन्तु उससे होता है, यह बात मिथ्या है। निश्चय भी है और अधूरा हो, तब व्यवहार भी है। है, वह दोनों सत्य है। है, उसमें इतना। है, अपेक्षा से सत्य है, परन्तु व्यवहार से निश्चय होता है, यह बात मिथ्या है। आहाहा! ऐसी बात है।

इसलिए यहाँ कहा। पाठ में पाठ है न? देखो न! **सुकृत और दुष्कृत...** ऐसा पाठ है। सुकृत और असुकृत। शुभभाव और अशुभभाव। आहाहा! भगवान की माला गिने, वह सब शुभभाव है, धर्म नहीं। वह शुभ हो या अशुभ हो, दोनों घोर संसार का मूल है। आहाहा! शुभभाव से पुण्य बाँधकर कहाँ जाएगा? वहाँ फिर पाप बाँधकर कहाँ जाएगा? आहाहा! नरक और निगोद में... आहाहा! फिर तो कहीं पता नहीं खायेगा। मनुष्यपने में इसे सुनने को मिले, विचार करने को मिले। वहाँ तो फिर चार गति में भटकना है। आहाहा! तिर्यंच का अवतार, सिंह का, बाघ का (अवतार), मरकर वापस नरक में जाए। आहाहा! दुनिया की सिफारिश वहाँ काम नहीं आती कि हमें बहुत मानते थे और गुणगान करते थे, इसलिए हम कुछ अच्छे हैं। ऐसा काम नहीं आता। आहाहा!

सुकृत और दुष्कृत... शुभभाव और अशुभभाव दोनों घोर संसार का मूल है। संसार में भटकने का मूल। शरीर संसार है, राग संसार है और वह शुभभाव मेरा है—ऐसा मिथ्यात्व, वह संसार है। आहाहा! उसकी बात है न? यहाँ यह बात करनी है। **सुकृत और दुष्कृत को सदा आलोच-आलोचकर...** आहाहा! सुकृत और दुष्कृत को देखकर, जानकर... आहाहा! कि यह सुकृत-शुभ है और यह अशुभ है। उन दोनों को जानकर **मैं निरुपाधिक...** मैं तो उन शुभ-अशुभरहित निरुपाधिक हूँ। शुभ और अशुभभाव तो उपाधि है, मैल है, बन्ध का कारण है। आहाहा!

मैं निरुपाधिक (-स्वाभाविक) गुणवाले शुद्ध आत्मा को... निरुपाधिक गुणवाला शुद्ध आत्मा, अन्दर पवित्र प्रभु पुण्य और पाप के परिणाम से रहित (मौजूद है)। आहाहा! कैसे जँचे ? अभी तो शरीर से भिन्न है या नहीं, यह बात भी जँचना कठिन पड़ती है। शरीर और आत्मा एक होकर बैठा है अन्दर। शरीर चले तो आत्मा चलता है, शरीर बोले तो आत्मा बोले, शरीर में दुःख हो तो मुझे होता है, शरीर में रोग हो तो मुझे रोग होता है। इस शरीर की दशा को जो आत्मा मानता है, अब उसे रागरहित आत्मा (कैसे जँचे) ? आहाहा! उसे बहुत अवसर चाहिए। पुरुषार्थ का-निवृत्ति का (बहुत चाहिए)। आहाहा!

मैं निरुपाधिक (-स्वाभाविक)... निरुपाधिक की व्याख्या की। **(-स्वाभाविक) गुणवाले...** वे शुभ और अशुभभाव वे स्वाभाविक नहीं हैं; वे विभाविक हैं। शुभ और अशुभभाव, वह विभाविक। यह **(-स्वाभाविक) गुणवाले शुद्ध आत्मा को आत्मा से ही अवलम्बता हूँ।** शुद्ध आत्मा को... आहाहा! पवित्र आत्मा आनन्द का नाथ महाप्रभु आनन्द का अतीन्द्रिय सागर भरा है। उसे-अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ को, अतीन्द्रिय आनन्द से... आहाहा! **आत्मा से ही अवलम्बता हूँ। शुद्ध आत्मा को आत्मा से ही अवलम्बता हूँ।** राग से आत्मा का अवलम्बन नहीं होता और दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से आत्मा का अवलम्बन नहीं लिया जाता। वह तो विकार है। आहाहा! अभी तो शुभभाव, बस। शुभभाव... शुभभाव... शुभभाव... धमाल-धमाल बड़ी। यहाँ तो कहते हैं, अन्दर में समा जाने की बात है। बाहर में जितने विकल्प उठें, वे सब बन्ध के कारण हैं। आहाहा! चाहे तो मन्दिर बनावे, लाख, पचास लाख, करोड़ खर्च करे, उसमें राग की मन्दता होवे तो शुभ है, पुण्य है; धर्म-बर्म नहीं। उससे धर्म नहीं होता। आहाहा! कठिन बात है। फिर...

आत्मा को आत्मा से ही अवलम्बता हूँ। आत्मा को आत्मा से अर्थात् वीतरागभाव से, ऐसा। रागभाव से नहीं। वीतरागस्वरूप को वीतरागभाव से अवलम्बता हूँ। आहाहा! आत्मा वीतरागमूर्ति प्रभु है। त्रिकाली वीतराग चैतन्य प्रतिमा है, उसे मैं वीतरागभाव से नमता हूँ। आहाहा! उसे अवलम्बन करता हूँ। वीतरागभाव को वीतरागभाव से अवलम्बन करता हूँ। आहाहा! वीतरागभाव को राग से अवलम्बन हो, ऐसा नहीं होता। आहाहा! ऐसा कठिन काम। अभी तो शुभ के लिये निवृत्ति नहीं मिलती, उसके बदले यहाँ कहते हैं कि

शुभ करे वह संसार है। वह आत्मा नहीं। वह तो उपाधि है। उपाधि अर्थात् स्वभाव नहीं। आहाहा! इसलिए आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, वीतरागमूर्ति निर्विकल्पस्वरूप है, मैं उसका अवलम्बन करता हूँ। **आत्मा को आत्मा से ही...** स्वयं वीतरागभाव को वीतरागभाव से ही। देखो! **से ही...** है। एकान्त है। कथंचित् राग से भी आत्मा को अवलम्बता है और कथंचित् वीतरागभाव से आत्मा को अवलम्बता है, ऐसा कथंचित् नहीं है। बहुत समय से यह चलता है न! कथंचित् राग से भी होता है, कथंचित् वीतरागता से होता है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा को आत्मा से ही। आहाहा!

फिर द्रव्यकर्मस्वरूप समस्त प्रकृति को अत्यन्त नष्ट करके... द्रव्यकर्म और भावकर्म को नष्ट करके। **फिर द्रव्यकर्मस्वरूप समस्त प्रकृति...** १४८ (प्रकृति) **अत्यन्त नष्ट करके...** फिर से प्रकृति आवे नहीं, बँधे नहीं, इस प्रकार से। **सहज-विलसती ज्ञानलक्ष्मी को मैं प्राप्त करूँगा।** आहाहा! आत्मा को आत्मा से अवलम्बन करते हुए... आहाहा! द्रव्यकर्म का नाश करके मैं सहज ज्ञानविलसती ज्ञानलक्ष्मी आत्मा के अन्दर भरी है। ज्ञान ज्ञानस्वरूप अन्दर पूर्ण भरा है। उस **ज्ञानलक्ष्मी को मैं प्राप्त करूँगा।** ऐसा निश्चय किया है। मैं प्राप्त करूँगा। मुनि छद्मस्थ हैं, पंचम काल के हैं। आहाहा! आत्मा अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द, उस अतीन्द्रिय आनन्द की दशा से अतीन्द्रिय आनन्द ज्ञात हो, ऐसा है। इन्द्रिय के विषय और राग से वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसलिए कहते हैं, मैं तो द्रव्यकर्म का नाश करके, समस्त प्रकृतियों का अत्यन्त नाश (करके) वापस अत्यन्त नाश, (ऐसा कहा है)। सभी प्रकृतियों का और अत्यन्त नाश करके, मूल में से उखाड़ डालकर **सहज-विलसती ज्ञानलक्ष्मी को...** सहज स्वरूप ज्ञान और आनन्द लक्ष्मी भगवान में भरी है, उसे **मैं प्राप्त करूँगा...** यह आलोचना। आहाहा! अन्दर में निधान भरा है। आत्मा अर्थात् अन्तर आनन्द और ज्ञान का निधान है। उस निधान पर नजर जाने से स्थिरता होती है, उसमें मैं रहूँगा। आहाहा! ऐसा कहते हैं। जो रागादि होते हैं, उन्हें मैं छोड़ देता हूँ।

गाथा-१०८

आलोयणमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए।।१०८।।

आलोचनमालुञ्छनमविकृतिकरणं च भावशुद्धिश्च।
चतुर्विधमिह परिकथितं आलोचन-लक्षणं समये।।१०८।।

आलोचनालक्षणभेदकथनमेतत्। भगवदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसकलजनताश्रुतिसुभग-सुन्दरानन्दनिष्यन्द्यनक्षरात्मकदिव्यध्वनिपरिज्ञानकुशलचतुर्थज्ञानधरगौतममहर्षिमुखकमल-विनिर्गतचतुरसन्दर्भगर्भीकृतराद्धान्तादिसमस्तशास्त्रार्थसार्थसारसर्वस्वीभूतशुद्धनिश्चयपरमा-लोचनायाश्चत्वारो विकल्पा भवन्ति। ते वक्ष्यमाणसूत्रचतुष्टये निगद्यन्त इति।

है शास्त्र में वर्णित चतुर्विधरूप में आलोचना।
आलोचना, अविकृतिकरण, अरु शुद्धता, आलुंछना॥१०८॥

अन्वयार्थ : [इह] अब, [आलोचनलक्षणं] आलोचना का स्वरूप [आलोचनम्] [१]आलोचन, [आलुंछनम्] [२]आलुंछन, [अविकृतिकरणम्] [३]अविकृतिकरण [च] और [भावशुद्धिः च] [४]भावशुद्धि [चतुर्विधं] ऐसे चार प्रकार का [समये] शास्त्र में [परिकथितम्] कहा है।

टीका : यह, आलोचना के स्वरूप के भेदों का कथन है।

भगवान अरहन्त के मुखारविन्द से निकली हुई, (श्रवण के लिए आयी हुई)

---

१. स्वयं अपने दोषों को सूक्ष्मता से देख लेना अथवा गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना सो व्यवहार-आलोचन है। निश्चय-आलोचन का स्वरूप १०९ वीं गाथा में कहा जाएगा।
२. आलुंछन=(दोषों का) आलुंचन अर्थात् उखाड़ देना वह।
३. अविकृतिकरण=विकाररहितता करना वह।
४. भावशुद्धि=भावों को शुद्ध करना वह।

सकल जनता को श्रवण का सौभाग्य प्राप्त हो ऐसी, सुन्दर-आनन्दस्यन्दी (सुन्दर-आनन्द झरती), अनक्षरात्मक जो दिव्यध्वनि, उसके परिज्ञान में कुशल चतुर्थज्ञानधर (मनःपर्ययज्ञानधारी) गौतम महर्षि के मुखकमल से निकली हुई जो चतुर वचन रचना, उसके गर्भ में विद्यमान राद्धान्तादि (-सिद्धान्तादि) समस्त शास्त्रों के अर्थसमूह के सार-सर्वस्वरूप शुद्ध-निश्चय-परम-आलोचना के चार भेद हैं। वे भेद अब आगे कहे जानेवाले चार सूत्रों में कहे जाएँगे।

गाथा -१०८ पर प्रवचन

गाथा १०८।

आलोयणमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए।।१०८।।

है शास्त्र में वर्णित चतुर्विधरूप में आलोचना।
आलोचना, अविकृतिकरण, अरु शुद्धता, आलुंछना॥१०८॥

टीका : यह, आलोचना के स्वरूप के भेदों का कथन है। आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु कैसी है, उसे देखना, जानना। वह अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर, दूसरी चीज़ को वह जाने-देखे। उसमें रहे नहीं, स्थिर न हो। स्थिर आत्मा में हो, उसका नाम यहाँ आलोचना है, उसका नाम संवर है। यह **आलोचना के स्वरूप के भेदों का कथन है।**

भगवान अरहन्त के मुखारविन्द से निकली हुई,... आहाहा! मुनिराज स्वयं कहते हैं। **भगवान अरहन्त के मुखारविन्द...** मुखरूपी अरविन्द-कमल। भगवान अरिहन्त के मुखरूपी कमल से **निकली हुई, (श्रवण के लिए आयी हुई)...** आहाहा! **सकल जनता को श्रवण का सौभाग्य प्राप्त हो ऐसी,...** आहाहा! सर्वज्ञ की वाणी होती है, वह सौभाग्य प्राणी हो, उन्हें मिलती है। आहाहा! भाग्यवन्त को मिलती है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की जो वाणी—ॐध्वनि-दिव्यध्वनि, वह तो भाग्यवान को मिलती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

ऐसा जो **सौभाग्य प्राप्त हो ऐसी, सुन्दर-आनन्दस्यन्दी (सुन्दर-आनन्द झरती), अनक्षरात्मक जो दिव्यध्वनि,...** आहाहा! सुन्दर आनन्द झरती... वाणी, हों! दिव्यध्वनि।

आनन्द में आनन्द का कथन आता है। आनन्द का कथन आता है न? इसलिए **(सुन्दर-आनन्द झरती), अनक्षरात्मक...** जिसमें अक्षर नहीं। अपने जो भाषा बोली जाती है, वह नहीं। वहाँ ओमध्वनि है 'ॐकारध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारै, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारै।' पूरे शरीर में से ॐ छूटता है, ॐ। होंठ बन्द होते हैं, कण्ठ हिलता नहीं। ॐ ऐसी आवाज (निकलती है)। कैसा है ओम? अनक्षरात्मक। अक्षर स्वरूप नहीं। ओम है, वह अनक्षर है। ऐसी **दिव्यध्वनि,...** ऐसी भगवान की दिव्यध्वनि... आहाहा! साक्षात् तीर्थंकर त्रिलोकनाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि - आवाज। आहाहा!

मुखारविन्द से निकली हुई, (श्रवण के लिए आयी हुई) सकल जनता को श्रवण का सौभाग्य... जनता को सुनने के लिये मिलता हो, वह सौभाग्य है, कहते हैं। आहाहा! **प्राप्त हो ऐसी, सुन्दर-आनन्दस्यन्दी (सुन्दर-आनन्द झरती), अनक्षरात्मक जो दिव्यध्वनि,...** आहाहा! अनक्षर ध्वनि में आनन्द का स्वरूप आता है, ऐसा कहते हैं। दिव्यध्वनि में। और श्रोता को भी इस प्रकार से अतीन्द्रिय आनन्द आत्मा की बात करते हैं। मुख्यरूप से आनन्द की ध्वनि है। दिव्यध्वनि, वह मुख्य आनन्द की ध्वनि है और सुननेवाला भी उसमें से छाँटकर आनन्द को छाँटता है। भगवान अतीन्द्रिय आनन्द कराना चाहते हैं। आहाहा! दूसरी सब बातें निकाल डालीं।

सुन्दर-आनन्दस्यन्दी (सुन्दर-आनन्द झरती), अनक्षरात्मक जो दिव्यध्वनि,... आहाहा! ऐसी जो वाणी, उस वाणी को यहाँ आनन्दस्यन्दी कहा। क्योंकि वह तो निमित्त है, परन्तु सुननेवाले को अतीन्द्रिय आनन्द स्वयं से प्रगट होता है, इसलिए निमित्त को भी अनन्त आनन्दस्यन्दी, ऐसा है। वह अनन्त आनन्द देनेवाली वाणी है, ऐसा कहा। आहाहा! और उसके सुननेवाले का सौभाग्य है। वह आत्मा की वाणी सुनना, यह तो सौभाग्यवन्त को मिलता है, कहते हैं। आहाहा!

सुन्दर-आनन्दस्यन्दी, अनक्षरात्मक... भगवान को ऐसी (हमारी जैसी) वाणी नहीं होती। केवल (ज्ञान) होवे तो होंठ बन्द होते हैं, कण्ठ नहीं हिलता, पूरे शरीर में से ॐध्वनि निकलती है। ॐध्वनि शरीर में से निकलती है। उसे यहाँ अनक्षरात्मक कहा है। वह दिव्यध्वनि।

उसके परिज्ञान में कुशल... दिव्यध्वनि के परि अर्थात् समस्त प्रकार से ज्ञान में

कुशल। आहाहा! ऐसे ज्ञान में कुशल। **चतुर्थज्ञानधर...** चार ज्ञान के धारक। **(मनःपर्ययज्ञानधारी)...** मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान (इन) चार ज्ञान के धारक। **गौतम महर्षि के मुखकमल से निकली हुई...** आहाहा! गौतम महर्षि सन्त-मुनि के मुखकमल से निकली हुई **जो चतुर वचन रचना,...** गौतम ने रचना की है न? ॐध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारै रचि आगम उपदेश.... वाणी में से आगम रचते हैं, वे आगम सुनकर 'भव्य जीव संशय निवारै।' आहाहा! ऐसे जो **गौतम महर्षि के मुखकमल से निकली हुई जो चतुर वचन रचना, उसके गर्भ में विद्यमान राद्धान्तादि (-सिद्धान्तादि)...** उनकी वाणी में रहे हुए सिद्धान्त। आहाहा! द्रव्यानुयोग आदि के सिद्धान्त उनकी वाणी में रहे हैं। जो वस्तु सिद्ध हो गयी है, सिद्ध है, सत्य है, बराबर है—ऐसे सिद्धान्त उनकी वाणी में निकलते हैं।

समस्त शास्त्रों के अर्थसमूह के सार... आहाहा! चारों अनुयोग के शास्त्रों के अर्थसमूह। उनके अर्थ का सब समूह। उसका **सार-सर्वस्वरूप शुद्ध-निश्चय-परम-आलोचना के...** आहाहा! शुद्ध निश्चय आत्मा का आलोचन। अन्तर्मुख प्रभु को देखने के लिये का और राग को भिन्न करने का आलोचन। धर्मी को **शुद्ध-निश्चय-परम-आलोचना के चार भेद हैं।** भगवान के मुख से निकले हुए हैं और गौतम ने यह रचा है। आलोचना के चार प्रकार। **वे भेद अब आगे कहे जानेवाले चार सूत्रों में कहे जाएँगे।** आहाहा!

नीचे है न? **स्वयं अपने दोषों को सूक्ष्मता से देख लेना अथवा गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना, सो व्यवहार-आलोचन है।** वह विकल्प है और शुभभाव है। आहाहा! अपने दोषों का गुरु के निकट प्रायश्चित्त लेना, आलोचना करना, वह व्यवहार है। **निश्चय-आलोचन का स्वरूप १०९ वीं गाथा में कहा जाएगा।** अन्दर आगे आयेगा, १०८ के बाद। निश्चय-आलोचन तो अन्दर का स्वरूप है। बात यह है कि सार में सार चैतन्यतत्त्व है। उस तत्त्व की जिसे महिमा नहीं, उसे यह पुण्य और पाप की महिमा तथा उसके फल की, बाहर की सामग्री की महिमा है। उसमें वह रच-पच गया है। अन्दर की बात एक ओर रह गयी। आत्मा स्वयं जो महाप्रभु अन्दर है, उसकी प्रभुता अन्दर रह गयी और महिमा दी है पर में, या पुण्य में या पाप में, या पुण्यफल में। यह महाराजा है, महारानी है, सेठ है, सेठ की बहू है—ऐसे सब भिखारियों को माहात्म्य दिया

और बादशाह को भिखारी माना। आहाहा! पैसेवाला हो, इज्जतवाला हो तो ओहोहो! गजब इज्जत! गजब पैसेवाला है!

यह तो **समस्त शास्त्रों के अर्थसमूह के सार-सर्वस्वरूप शुद्ध-निश्चय-परम-आलोचना के चार भेद हैं। वे भेद अब आगे कहे जानेवाले चार सूत्रों में कहे जाएँगे।** कलश है। कलश है न?

श्लोक-१५३

[अब, इस १०८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(इन्द्रवज्रा)

आलोचना-भेद-ममुं विदित्वा मुक्त्यङ्गना-सङ्गम-हेतुभूतम्।
स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीव: तस्मै नम: स्वात्मनि निष्ठिताय।।१५३।।

(वीरछन्द)

मुक्ति अंगना-संगम हेतु आलोचन भेदों को जान।
भव्य निजातम में थिर होते स्वात्मनिष्ठ को करूँ प्रणाम॥१५३॥

[श्लोकार्थ:] मुक्तिरूपी रमणी के संगम के हेतुभूत ऐसे इन आलोचना के भेदों को जानकर जो भव्य जीव वास्तव में निज आत्मा में स्थिति प्राप्त करता है, उस स्वात्मनिष्ठित को (-उस निजात्मा में लीन भव्य जीव को) नमस्कार हो॥१५३॥

श्लोक -१५३ पर प्रवचन

आलोचना-भेद-ममुं विदित्वा मुक्त्यङ्गना-सङ्गम-हेतुभूतम्।
स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीव: तस्मै नम: स्वात्मनि निष्ठिताय।।१५३।।

आहाहा! **मुक्तिरूपी रमणी के संगम के हेतुभूत...** आहाहा! मोक्ष अर्थात् आत्मा की निर्मल आनन्ददशा। निर्मल अतीन्द्रिय आनन्द की दशा, वह मोक्ष। वह मोक्ष, वह

मुक्तिरूपी स्त्री। मोक्षरूपी स्त्री। कहाँ से आया? प्रकाश आया? ऊपर का आया। धूप का आया। धूप का प्रकाश दिखता है... प्रकृति का धूप। बहुत स्पष्ट दिखता है।

मुक्तिरूपी रमणी के संगम के हेतुभूत... अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ वह मोक्ष। अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द आत्मा का स्वभाव, उस अतीन्द्रिय आनन्द की व्यक्तता-प्रगटता का लाभ, वह मोक्ष है। ऐसे मोक्ष के-मोक्षरूपी स्त्री का संगम अर्थात् संयोग, उसके हेतुभूत। उसका-मोक्षलक्ष्मी का सम्बन्ध होना, उसका **हेतुभूत ऐसे इन आलोचना के भेदों को जानकर जो भव्य जीव वास्तव में निज आत्मा में स्थिति प्राप्त करता है,...** वास्तव में निज आत्मा में स्थिति पाता है। सब जानकर वापस यह करना है। अन्तर चैतन्य हीरा, चैतन्यरूपी महामाणिक है। आहाहा! ऐसे चैतन्य हीरा पर स्थिति करके... आहाहा! स्थिति पाता है।

जो भव्य जीव वास्तव में निज आत्मा में स्थिति प्राप्त करता है, उस स्वात्मनिष्ठित को... निजात्मा में लीन भव्य जीव को - निष्ठित को। **स्वात्मनिष्ठित को (-उस निजात्मा में लीन भव्य जीव को) नमस्कार हो।** यह मुनिराज को भी प्रमोद आया है। अहो! जो कोई अन्तर आत्मा आनन्दस्वरूप में जो स्थिति को प्राप्त है। आहाहा! और उसके हेतुभूत आलोचना करके निज आत्मा में स्थिति पाता है, उसे हमारा नमस्कार! आहाहा! अलौकिक बात है। आहाहा! यहाँ शुभ की तो इसमें बात भी नहीं है। बात है, वह ऐसी कि सुकृत है, वह संसार का कारण है। कितने ही पण्डित यह कहते हैं कि जरा शुभ करो। चरणानुयोग में उसे करने का आता है। वह करने का कहा है, वह तो अन्दर आता है, वह जानने के लिये, व्यवहार से जानने के लिये कहा है। आहाहा! भगवान परमानन्द की मूर्ति अन्दर, उसे तो व्यवहार स्पर्श भी नहीं करता। व्यवहार को निश्चय स्पर्श भी नहीं करता। निश्चय में तो व्यवहार का अभाव है। जिस चीज़ का अभाव है, उसके भाव से आत्मा को क्या होगा? जिस भाव का आत्मा में अभाव है, उस भाव से आत्मा को क्या लाभ होगा? जिस भाव का भाव अन्तर में है, उस भाव से आत्मा को लाभ होगा। आत्मा का यह वीतरागभाव है, आनन्दभाव है। यह कहा न? आनन्द कहा न? अनन्त आनन्द निष्ठित को। आहाहा!

स्वात्मनिष्ठित को (-उस निजात्मा में लीन भव्य जीव को) नमस्कार हो। आहाहा! ऐसे मुनिराज को हम नमस्कार करते हैं। पहले आया था न? सुन्दर आनन्दस्यन्दि।

सुन्दर आनन्दस्यन्दि। सुन्दर आनन्द झरता। ओहोहो! जैसे पर्वत में से पानी झरता है, वैसे भगवान पर दृष्टि देने से आनन्द झरता है, ऐसा कहते हैं। आत्मा तीन लोक का नाथ अन्दर स्वयं भगवान है। उस पर नजर देने से आनन्द झरता है। पर्वत पर पानी पड़ने से पानी झरता है। यह भगवान आत्मा भी अतीन्द्रिय आनन्द का पर्वत है। अरे रे..! आहाहा!

अरे..! इसकी दशा एक काई में जाए, काई में जाए। नीम के एक टुकड़े में असंख्य शरीर, एक शरीर में अनन्त जीव। परन्तु वह भले अवगाहना छोटी हो परन्तु वह तत्त्व आत्मा है या नहीं? फूल या लहसुन या प्याज का एक राई जितना टुकड़ा लो, उसमें असंख्य तो शरीर हैं; एक-एक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव हैं। एक-एक जीव को कार्मण और तैजस शरीर दो हैं। उस जीव की अनन्त शक्ति है। क्षेत्र से छोटा है। स्वभाव को क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। स्वभाव को भाव की सामर्थ्यता की आवश्यकता है। आहाहा! एकेन्द्रिय जीव भी अनन्त सामर्थ्यवाले हैं। यह तो आ गया न? सर्वत्र आत्मा ही है। पर्याय छोड़ दे तो सर्वत्र आत्मद्रव्य तो ऐसा का ऐसा त्रिकाल रहा है। भले काई में गया हो या एक चींटी में गया हो और कसाईखाने में गया हो। हजारों भैंसें काटनेवाले कारखाने में (गया हो)। वह सब पर्याय में है। द्रव्य तो त्रिकाल निरावरण अन्दर पूरा पड़ा है। आहाहा! किस प्रकार से बात बैठाना? एक समय की पर्याय, उसमें यह सब पाप और पुण्य है न, सब है। वस्तु है, वह तो अत्यन्त पाप और पुण्य से निराली चैतन्यधातु मुख्य वस्तु है। आहाहा!

गाथा-१०९

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह परम-जिणंदस्स उवएसं।।१०९।।

यः पश्यत्यात्मानं समभावे सन्स्थाप्य परिणामम्।
आलोचनमिति जानीहि परमजिनेन्द्रस्योपदेशम्।।१०९।।

इहालोचनास्वीकारमात्रेण परमसमताभावनोक्ता। यः सहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथडिण्डीर-पिण्डपरिपाण्डुरमण्डनमण्डलीप्रवृद्धिहेतुभूतराकानिशीथिनीनाथः सदान्तर्मुखाकारमत्यपूर्वं निरञ्जननिजबोधनिलयं कारणपरमात्मानं निरवशेषेणान्तर्मुखस्वस्वभावनिरतसहजावलोकनेन निरन्तरं पश्यति; किं कृत्वा ? पूर्वं निजपरिणामं समतावलम्बनं कृत्वा परमसंयमीभूत्वा तिष्ठति; तदेवालोचनास्वरूपमिति हे शिष्य त्वं जानीहि परमजिननाथस्योपदेशात् इत्यालोचनाविकल्पेषु प्रथमविकल्पोऽयमिति।

समभाव में परिणाम स्थापे और देखे आतमा।
जिनवर वृषभ उपदेश में वह जीव है आलोचना॥१०९॥

अन्वयार्थ : [यः] जो (जीव) [परिणामम्] परिणाम को [समभावे] समभाव में [संस्थाप्य] स्थापकर [आत्मानं] (निज) आत्मा को [पश्यति] देखता है, [आलोचनम्] वह आलोचन है [इति] ऐसा [परमजिनेन्द्रस्य] परम जिनेन्द्र का [उपदेशम्] उपदेश [जानीहि] जान।

टीका : यहाँ आलोचना के स्वीकारमात्र से परमसमताभावना कही गयी है।

सहज वैराग्यरूपी अमृतसागर के फेन-समूह के श्वेत शोभामण्डल की वृद्धि के हेतुभूत पूर्ण चन्द्र समान (अर्थात् सहज वैराग्य में ज्वार लाकर उसकी उज्ज्वलता बढ़ानेवाला) जो जीव सदा अन्तर्मुखाकार (-सदा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसे), अति अपूर्व, निरंजन निजबोध के स्थानभूत कारणपरमात्मा को निरवशेषरूप

से अन्तर्मुख निज स्वभावनिरत सहज-अवलोकन द्वारा निरन्तर देखता है (अर्थात् जो जीव कारणपरमात्मा को सर्वथा अन्तर्मुख ऐसा जो निज स्वभाव में लीन सहज-अवलोकन उसके द्वारा निरन्तर देखता है—अनुभवता है); क्या करके देखता है ? पहले निज परिणाम को समतावलम्बी करके, परसंयमीभूतरूप से रहकर देखता है; वही आलोचना का स्वरूप है ऐसा, हे शिष्य! तू परम जिननाथ के उपदेश द्वारा जान।—ऐसा यह, आलोचना के भेदों में प्रथम हुआ।

गाथा -१०९ पर प्रवचन

गाथा १०९।

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह परम-जिणंदस्स उवएसं।।१०९।।

समभाव में परिणाम स्थापे और देखे आतमा।
जिनवर वृषभ उपदेश में वह जीव है आलोचना॥१०९॥

जिनवरवृषभ का यह उपदेश है। आहाहा! मुनियों को भी ऐसा लिखना पड़ता है। कुन्दकुन्दाचार्य को। मुनि स्वयं कहे, वह सत्य है परन्तु दुनिया को आस्था कराने के लिये (कहते हैं), **'परम-जिणंदस्स उवएसं'** यह उपदेश परम जिनेन्द्र का है। तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ का यह उपदेश है। आहाहा! अभ्यास नहीं, इसलिए इसे कठिन लगता है, तो भी कहते हैं, उपदेश तो जिनवर का है। यह कहीं साधारण छद्मस्थ का नहीं। आहाहा!

यहाँ आलोचना के स्वीकारमात्र से... आलोचना अर्थात् अन्दर आत्मा का आनन्दस्वरूप और राग का दुःखस्वरूप, दो की आलोचना करने पर – दो को भिन्न करने पर। आहाहा! **आलोचना के स्वीकारमात्र से परमसमताभावना कही गयी है।** परमसमताभाव। आहाहा! राग के विकल्प से भिन्न ऐसी समता। राग तो विषम है। उससे भिन्न अन्तर परमात्मा को, स्वयं परमात्मा है, उसका अवलोकन करने से समताभाव प्रगट होता है। तो वह समताभावना कहने में आती है। आलोचना में समताभाव कहा जाता है। यहाँ समता शुद्ध उपयोगरूप है। आहाहा! समझ में आया ? वह समता साम्यरूप है। समता

स्वास्थ्यरूप है। आत्मा का स्वास्थ्य / निरोगता। रागादि तो आत्मा का रोग है। आहाहा! स्वास्थ्य। राग के रोगरहित अन्दर भगवान आत्मा स्वास्थ्य है। स्वस्थ—अपने में रहनेवाला स्वरूप है। और शुद्ध उपयोगी है। आहाहा!

सहज वैराग्यरूपी अमृतसागर के फेन-समूह के श्वेत शोभामण्डल की वृद्धि के हेतुभूत... आहाहा! भाषा (देखो)! **पूर्ण चन्द्र समान (अर्थात् सहज वैराग्य में ज्वार लाकर उसकी उज्ज्वलता बढ़ानेवाला) जो जीव सदा अन्तर्मुखाकार (-सदा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसे), अति अपूर्व, निरंजन निजबोध के स्थानभूत कारणपरमात्मा को...** यहाँ है मूल। यहाँ सबको ले जाना है। **सहज वैराग्यरूपी अमृतसागर के फेन...** जैसे समुद्र में फेन होता है न? क्या कहते हैं? क्या कहा जाता है उसे? अम्बर... अम्बर... अम्बर... अम्बर कहा जाता है। ४०-५०-६० रुपये का तोला। पूरा चार मण नहीं दे तो एक थेलियाँ दे तो देता। वाडीभाई! वाडीभाई! नथुभाई पोरबन्दरवाला। वह जाये रास्ते में, वे मिले अम्बरवाले। मण, दो मण लावे। उसे थैलियाँ दे। खजूर की थैलियाँ। प्रसन्न-प्रसन्न हो। ५०-६० रुपये का एक तोला। ऐसी एक थैली चार मण की हो। उसकी कीमत। दो मण-चार मण फेन ले आवे और वे देते थे। वह देनेवाला प्रसन्न होता। ओहो! सेठ ने बहुत अच्छा दिया। कीमत नहीं होती कि यह क्या चीज़ है? अम्बर चीज़ है। अम्बर कहा जाता है उसे। वह फेन अम्बर होता है। आहाहा!

इसी प्रकार यहाँ **सहज वैराग्यरूपी अमृतसागर के फेन...** आहाहा! **सहज वैराग्यरूपी...** अर्थात् सहज वैराग्य क्यों कहा? - कि स्त्री-पुत्र छोड़कर साधु हो, इसलिए वैरागी है, ऐसा नहीं है। ऐसा तो अनन्त बार किया। पुण्य और पाप के दो भावों को छोड़कर रक्त होकर विरक्त हो, उसे वैरागी कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? सहज स्वाभाविक वैराग्य, ऐसा कहा न? वह तो कृत्रिम वैराग्य है - श्मशान वैराग्य कहते हैं न? श्मशान वैराग्य। लोग (मुर्दे को) जलावें, तब ऐसा हो जाता है कि आहाहा! श्मशान है। घर में वापस लहर करता हो। और भूल जाता है। आहाहा!

सहज वैराग्य। अन्दर से पुण्य और पाप के भाव से विरक्त और स्वरूप में रक्त, उसे यहाँ वैराग्य कहने में आता है। आहाहा! शुभ और अशुभभाव से रहित, विरक्त अनन्त आनन्दस्वरूप भगवान में रक्त, उसे यहाँ वैराग्य कहने में आता है। ऐसे **सहज वैराग्यरूपी**

अमृतसागर के फेन... आहाहा! अमृतसागर के फेन। समुद्र में फेन होता है उसे... क्या कहा वह? अम्बर। यह **फेन-समूह के श्वेत शोभामण्डल की वृद्धि...** आहाहा! उस फेन का समूह वह श्वेत-सफेद **शोभामण्डल की वृद्धि के हेतुभूत पूर्ण चन्द्र समान...** आहाहा! भाषा कम पड़ जाती है न! अन्दर कहते हैं कि कैसा है भगवान? कि जहाँ भाषा काम करती नहीं, जहाँ विकल्प काम करता नहीं। आहाहा! ऐसा प्रभु निर्विकल्प अन्दर पड़ा है। उसे **अमृतसागर के फेन-समूह के श्वेत शोभामण्डल की वृद्धि...** क्षण-क्षण में उसकी शोभा की वृद्धि होती है। उसके **हेतुभूत पूर्ण चन्द्र समान (अर्थात् सहज वैराग्य में ज्वार लाकर उसकी उज्ज्वलता बढ़ानेवाला)...** ऐसा कहा न? **जो जीव सदा अन्तर्मुखाकार...** आहाहा! अन्तर्मुखाकार। अन्तर्मुख भगवान है। अन्तर्मुख देखने पर भगवान है। बहिर्मुख देखने पर राग और पर्याय बाहर है। यह अन्तर्मुख देखने पर अन्दर... आहाहा!

अन्तर्मुखाकार (-सदा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसे), अति अपूर्व, निरंजन... अति अपूर्व—अनन्त काल में कभी हाथ आया नहीं। **अति अपूर्व, निरंजन निजबोध के स्थानभूत...** निरंजन अर्थात् मैलरहित **निजबोध के स्थानभूत...** ज्ञान अपना है, उसका स्थान। सम्यग्ज्ञान का स्थान / धाम। 'स्वयं ज्योति सुखधाम'—श्रीमद् में आता है न? **निरंजन निजबोध के स्थानभूत कारणपरमात्मा को...** आहाहा! यह कारणपरमात्मा। ऐसा जो कारणपरमात्मा नित्यानन्द प्रभु—ध्रुव, जिसमें पर्याय का भी भाव नहीं, ऐसा जो कारणपरमात्मा नित्यानन्द वस्तु है। सत्ता है, सत्ता है, सत्त्व है, सत् तत्त्व का सत् है, उसे यहाँ कारणपरमात्मा कहा जाता है। आहाहा! कारणपरमात्मा कौन? यह आत्मा, हों!

त्रिकाली वस्तु को, रागरहित स्वभाव को, त्रिकाली को कारणपरमात्मा कहा जाता है। निरवशेष रूप से—ऐसे कारणपरमात्मा को कुछ बाकी रखे बिना। अन्तर्मुख—जरा कोई विकल्प की अपेक्षा रखे, उसे छोड़कर। समस्त प्रकार से **अन्तर्मुख निज स्वभावनिरत...** अपने स्वभाव में लीन **सहज-अवलोकन द्वारा...** स्वाभाविक ज्ञान को ज्ञान से अवलोकन से। आहाहा! भाषा गजब! क्रियाकाण्डियों को तो यह कठिन लगता है। क्रियाकाण्ड का तो इसमें (कुछ नहीं आता)। क्रियाकाण्डवालों को इसमें थप्पड़ लगती है। घोर संसार है। आहाहा!

अन्तर्मुख निज स्वभावनिरत सहज-अवलोकन द्वारा निरन्तर देखता है (अर्थात्

जो जीव कारणपरमात्मा को सर्वथा अन्तर्मुख ऐसा जो निज स्वभाव में लीन सहज-अवलोकन उसके द्वारा निरन्तर देखता है);... सहज अवलोकन द्वारा निरन्तर देखता है, - अनुभवता है। आत्मा को **(अनुभवता है);...** आहाहा! **क्या करके देखता है ? पहले निज परिणाम को समतावलम्बी करके,...** निज परिणाम को राग से रहित करके, समता परिणाम करके। आहाहा! **परमसंयमीभूतरूप...** परमसंयम अन्दर में रमणता। **रहकर देखता है;...** उस समतारूप रहकर देखता है, वीतरागभावरूप रहकर देखता है। **वही आलोचना का स्वरूप है ऐसा, हे शिष्य! तू परम जिननाथ के उपदेश द्वारा...** परम जिननाथ का यह उपदेश है, उसके **द्वारा जान।—ऐसा यह, आलोचना के भेदों में प्रथम हुआ।** चार भेद हैं, उसमें पहला भेद है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१५४

[अब इस १०९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज छह श्लोक कहते हैं:]

(स्रग्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयं चात्मना पश्यतीत्थं।
यो मुक्तिश्रीविलासानतनुसुखमयान् स्तोककालेन याति।
सोऽयं वन्द्यः सुरेशैर्यमधर-ततिभिः खेचरैर्भूचरैर्वा
तं वन्दे सर्ववन्द्यं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम्।।१५४।।

(वीरछन्द)

जो निज को निज से निज में अविचल निवासवाला देखे।
वह अनंग सुखमय शिवरमणी के विलास को त्वरित वरे॥
खेचर भूचर और सुरेन्द्रों संयमियों से है वह वन्द्य।
सर्ववन्द्य उस गुणनिधि को गुण प्राप्ति हेतु मैं करूँ नमन॥१५४॥

[श्लोकार्थः] इस प्रकार जो आत्मा, आत्मा को, आत्मा द्वारा, आत्मा में अविचल निवासवाला देखता है, वह अनंग-सुखमय (अतीन्द्रिय आनन्दमय) ऐसे मुक्तिलक्ष्मी के विलासों को अल्प काल में प्राप्त करता है। वह आत्मा सुरेशों से, संयमधरों की पंक्तियों से, खेचरों से (-विद्याधरों से) तथा भूचरों से (-भूमिगोचरियों से) वंद्य है। मैं उस सर्ववन्द्य सकलगुणनिधि को (-सर्व से वन्द्य ऐसे समस्त गुणों के भण्डार को) उसके गुणों की अपेक्षा से (-अभिलाषा से) वन्दन करता हूँ॥१५४॥

प्रवचन-१२०, श्लोक-१५४-१५७, शुक्रवार, पौष शुक्ल १०, दिनांक २८-१२-१९७९

नियमसार, गाथा १०९ का कलश है। १५४।

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयं चात्मना पश्यतीत्थं।
यो मुक्तिश्रीविलासानतनुसुखमयान् स्तोककालेन याति।
सोऽयं वन्द्यः सुरेशैर्यमधर-ततिभिः खेचरैर्भूचरैर्वा
तं वन्दे सर्ववन्द्यं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम्।।१५४।।

[श्लोकार्थः] इस प्रकार जो आत्मा, आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा में... आहाहा! आत्मा है, वह वीतरागस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है तो वह वीतराग और आनन्दस्वभाव द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है। जो इसका स्वभाव है, वह उसकी पर्याय में प्रगट होने पर उससे ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा! **आत्मा आत्मा को आत्मा द्वारा...** करण। आत्मा में—आधार। **अविचल निवासवाला देखता है,...** आहाहा! ध्रुवस्वरूप चैतन्य पर्याय आत्मा की, उसे देखती है कि यह तो अविचल है। ध्रुव, वह कभी चलित नहीं होता ऐसा पर्याय उसे देखती है।

वह अनंग-सुखमय (अतीन्द्रिय आनन्दमय) ऐसे मुक्तिलक्ष्मी के विलासों को अल्प काल में प्राप्त करता है। आत्मा के आनन्द को वीतरागस्वभाव द्वारा, उसके द्वारा जो आत्मा को जानता है, वह अल्प काल में मुक्ति को पाता है। जैसा उसका स्वभाव मुक्त है, मुक्तस्वभाव के अवलम्बन से मुक्तिपने की पर्याय प्रगट करता है। आश्रय लेकर अर्थात् उसका परिणाम अन्ततः मुक्तदशा आती है। राग, पुण्य और व्यवहार को तो यहाँ याद भी नहीं किया। आहाहा!

यह तो चार बोल लिये हैं। **आत्मा...** कर्ता; **आत्मा को...** कर्म; **आत्मा द्वारा...** करण; **आत्मा में...** आधार **अविचल निवासवाला...** चलित नहीं, ऐसा स्थान है। यह स्थायी स्थान है। निर्जरा अधिकार में आता है न? निर्जरा अधिकार में। स्थायी स्थान है। रहनेवाले का रहने का स्थान है। आहाहा! रहना हो, उसे रहने का स्थान है। ऐसे जिसे स्थिर होना हो तो स्थिर होने का वह स्थान है। आहाहा! ऐसा मार्ग।

(अतीन्द्रिय आनन्दमय) ऐसे मुक्तिलक्ष्मी के विलासों को (वह जीव) अल्प काल में प्राप्त करता है। दूज उगी तो पूर्णिमा होगी ही; इसी प्रकार आत्मज्ञान हो तो केवलज्ञान होगा ही। यह बात यहाँ ली है। आत्मज्ञान हो, वह वस्तु का ज्ञान। पूर्ण... पूर्ण स्वरूप। राग और पर्याय की क्रिया से भिन्न है, ऐसा जो पूर्ण स्वरूप, उसे अनुभव करने से अल्प काल में मुक्ति को पाता है। यह मुक्ति का मार्ग है।

वह आत्मा सुरेशों से,... सुर अर्थात् देवों के इन्द्रों से। सुरेश अर्थात् सुर अर्थात् देव, उनके ईश अर्थात् इन्द्र। उन सुरेन्द्रों से पूजनीय है। इन्द्र भी उसे पूजते हैं। जिसे बत्तीस लाख विमान और सामग्री का पार नहीं, ऐसे देव भी जिसे पूजते हैं, ऐसा कहते हैं। **संयमधरों की पंक्तियों से,...** आहाहा! और संयमधारक साधु की पंक्ति की श्रेणी से... आहाहा! पूजते हैं। साधु की पंक्ति। आहाहा! उस समय सच्चे साधु न माने। साधु की पंक्ति है, वह भगवान को नमन करती है। पहले देव लिये, पश्चात् संयमधरों की पंक्ति ली, पश्चात् **खेचरों से (-विद्याधरों से)...** खेचर-आकाश में चलनेवाले। **(-विद्याधरों से) तथा भूचरों से...** ये जमीन पर चलनेवाले **(-भूमिगोचरियों से) वंद्य है।** आहाहा! ऐसे वन्दनीक पुरुष ऐसे वन्दनीय है। भूचरों, खेचरों, मनुष्यों और सुरेश-देवों के भी जो इन्द्रों उनसे वे पूजते हैं।

मैं उस सर्ववन्द्य... मुनिराज कहते हैं **मैं उस सर्ववन्द्य...** सर्व को वन्दन करनेयोग्य। **सकलगुणनिधि...** सकलगुण की निधि / सागर / निधान। आहाहा! **सकलगुणनिधि...** वह निधान है। अनन्त गुण का वह निधान है। उस आत्मा को... आहाहा! **(-सर्व से वन्द्य ऐसे समस्त गुणों के भण्डार को)...** अर्थ किया। **सर्ववन्द्य सकलगुणनिधि को (-सर्व से वन्द्य ऐसे समस्त गुणों के भण्डार को)...** आहाहा! **उसके गुणों की अपेक्षा से...** '**तद्गुणलब्धये**' (तत्त्वार्थसूत्र में) आता है न? उनके गुणों की अपेक्षा रखकर वन्दन

करता हूँ। मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिए। आहाहा! वह वन्दन करते हैं, इसलिए गुण होते हैं—ऐसा प्रश्न नहीं है। मात्र मेरा विकल्प उत्पन्न हुआ है, परन्तु मेरी आशा उनके जो गुण हैं, वे गुण मुझे चाहिए। इस वन्दन से वे गुण प्रगट होते हैं, ऐसा नहीं है परन्तु वन्दन में मेरा भाव, जैसे उनके केवलज्ञानादि गुण हैं, वे गुण मुझे प्रगट हों, यह मेरे वन्दन के फल का भाव है। आहाहा!

यह प्रश्न चलता था न? '**तद्गुणलब्धये**' इस ओर से प्रश्न आया था कि देखो, '**तद्गुणलब्धये**' कहा है। उनके गुणों की प्राप्ति के लिये वन्दन करता हूँ। उनकी स्तुति वन्दन करे तो उनके गुण प्राप्त होते हैं। '**तद्गुणलब्धये**' नहीं? क्या श्लोक है वह?

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

श्लोक आता है। इसका अर्थ वे लोग निमित्त का करते थे कि देखो! भगवान को वन्दन करने से मोक्ष मिलता है और भगवान को वन्दन करने से मोक्ष की भावना है और गुण की भावना है। भगवान को वन्दन करना, उसमें और विकल्प क्या आया? यह बड़ी चर्चा है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, उनके गुणों को मैं वन्दन करता हूँ। जो उनके गुण हैं, वे मुझे प्रगट हों, मुझमें है, इस अपेक्षा से मैं वन्दन करता हूँ। आहाहा! शब्द के अर्थ में अन्तर करे। वे कहते हैं, उनके गुण को वन्दन करने से उनके जो गुण हैं, वैसे गुण अपने में प्रगट होते हैं। तो तुम कहते हो वन्दन करते हुए, वह तो विकल्प है। परद्रव्य को वन्दन करना, वह विकल्प है, इसलिए यह बात ऐसी नहीं है, (ऐसा वे) कहते हैं। तद्गुण-उनकी गुण की प्राप्ति के लिये ऐसा कहते थे। ऐसी बात है। यहाँ तो कहते हैं, उनके गुण की प्राप्ति के लिये मैं वन्दन करता हूँ। गुण की प्राप्ति मेरे लिये मुझमें होती है, उसके लिये मैं अपेक्षा से पर को वन्दन करता हूँ। आहाहा!

श्लोक-१५५

(मंदाक्रांता)

आत्मा स्पष्टः परम-यमिनां चित्त-पङ्केज-मध्ये
ज्ञान-ज्योतिःप्रहत-दुरित-ध्वान्त-पुञ्जः पुराणः।
सोऽतिक्रान्तो भवति भविनां वाङ्मनोमार्गमस्मि-
न्नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः।।१५५।।

एवमनेन पद्येन व्यवहारालोचनाप्रपंञ्चमुपहसति किल परमजिनयोगीश्वरः।

(वीरछन्द)

जिसने ज्ञान ज्योति के द्वारा पाप तिमिरघन किया विनाश।
परम यमी के चित्तकमल में वह पुराण आत्मा स्पष्ट॥
संसारी जीवों के वचन तथा मन से है वह अतिक्रान्त।
परम निकट इस परम पुरुष में विधि-निषेध की कैसी भ्रान्ति ?॥१५५॥

[श्लोकार्थः] जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापतिमिर के पुंज का नाश किया है और जो पुराण (-सनातन) है, ऐसा आत्मा परमसंयमियों के चित्तकमल में स्पष्ट है। वह आत्मा संसारी जीवों के वचन-मनोमार्ग से अतिक्रान्त (-वचन तथा मन के मार्ग से अगोचर) है। इस निकट परमपुरुष में विधि क्या और निषेध क्या ?॥१५५॥

इस प्रकार इस पद्य द्वारा परम जिनयोगीश्वर ने वास्तव में व्यवहार-आलोचना के प्रपंच का [१]उपहास किया है।

श्लोक -१५५ पर प्रवचन

---

१५५ (श्लोक)।

आत्मा स्पष्टः परम-यमिनां चित्त-पङ्केज-मध्ये
ज्ञान-ज्योतिःप्रहत-दुरित-ध्वान्त-पुञ्जः पुराणः।

१. उपहास=हँसी; मजाक; तिरस्कार; खिल्ली।

सोऽतिक्रान्तो भवति भविनां वाङ्मनोमार्गमस्मि–
न्नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः ।।१५५।।

आहाहा! **[श्लोकार्थः] जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापतिमिर के पुंज का नाश किया है...** पाप शब्द से यह पुण्य और पाप दोनों। आहाहा! परन्तु ज्ञानज्योति द्वारा – चैतन्य की ज्योति, जलहल ज्योति सत्ता, उसके द्वारा पापतिमिर का नाश किया है। भाषा से समझाना हो तो ऐसा ही आवे न? नहीं तो एक जगह ३४-३५ गाथा में ऐसा आता है कि राग का नाश कर्ता, वह नाममात्र है, परमार्थ से कर्ता नहीं है। किस अपेक्षा से (कहा) है? जिस समय जो समझ में संक्षिप्त भाषा में कहना हो, तो लम्बा-लम्बा करे। उसे वन्दन में जो विकल्प है, वह नहीं परन्तु उसके स्वयं को... ऐसा लम्बा-लम्बा कहने की अपेक्षा, उनके वन्दन से हमें लाभ होता है, ऐसी भाषा बोलते हैं। आहाहा! वहाँ ऐसा कहा है, राग और विकार का नाश कर्ता, वह भी आत्मा में नाममात्र कथन है। क्योंकि परमार्थ से भगवान आत्मा रागरूप हुआ ही नहीं न! द्रव्यस्वभाव, वस्तुस्वभाव, चैतन्यतत्त्व उस रागरूप हुआ नहीं। हुआ नहीं तो वह रागरूप का नाश किस प्रकार करे? आहाहा! समझ में आया? नाममात्र कथन है, परन्तु यहाँ समझाना है, तब यह बात ले तो कठिनाई पड़ती है।

ज्ञानज्योति द्वारा पापतिमिर के पुंज का नाश किया है और जो पुराण (सनातन) है ऐसा आत्मा... सनातन है। आहाहा! द्रव्य और गुण जैसे सत् है, सत् है, सत्ता है, वैसे उस काल की उनकी पर्याय भी सत् है, सत्ता है, उसका वह काल है। आहाहा! जैसे द्रव्य-गुण को अपेक्षा नहीं, वैसे पर्याय को अपेक्षा नहीं। समझ में आया? **ऐसा आत्मा परमसंयमियों के चित्तकमल में स्पष्ट है।** पुराण सनातन है, ऐसा आत्मा। सनातन ध्रुव। परमसंयमियों, परम। इन्द्रिय का दमन, अतीन्द्रिय में स्थित है, ऐसे **परमसंयमियों के चित्तकमल में स्पष्ट है।** अन्दर। आहाहा!

वह आत्मा संसारी जीवों के वचन-मनोमार्ग से अतिक्रान्त (-वचन तथा मन के मार्ग से अगोचर) है। लो! **वह आत्मा संसारी जीवों के वचन-मनोमार्ग से अतिक्रान्त...** पर को वन्दन करना, वह विकल्प है, पुण्य है। आहाहा! भाषा क्या कही जाए? **मनोमार्ग से अतिक्रान्त है...** आहाहा! **संसारी जीवों के वचन-मनोमार्ग से अतिक्रान्त (-वचन तथा मन के मार्ग से अगोचर) है।** मन से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! **इस निकट**

परमपुरुष में... उस निकट परमपुरुष में **विधि क्या और निषेध क्या ?** आचार्य ने आश्चर्य किया है कि ऐसा है और ऐसा नहीं, यह दो उसमें क्या ? वह है ही। आहाहा! जैसे द्रव्य-गुण सनातन हैं। उन्हें कोई अपेक्षा नहीं है। बस, उनकी पर्याय वर्तमान है, वह तो वह त्रिकाल सत् है, यह तो वर्तमान सत् है। दोनों सत् हैं। उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसे आत्मा में विधि अर्थात् यह है और यह नहीं - यह क्या ? पर से नहीं, ऐसा तो उसमें अपना भाव है। स्व से है, ऐसा भी अपना भाव है। अपने से है, ऐसा भी एक भाव है; पर से नहीं, ऐसा भी अपना अपने कारण से भाव है। समझ में आया ? आहाहा! ऐसे निज परमात्मा में, **निकट परमपुरुष में...** आहाहा! **विधि क्या और निषेध क्या ?** यह करना और यह छोड़ना, यह दो उसे कहाँ लागू पड़ते हैं ? आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा में दो धर्म नहीं या दो विकल्प नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दो विकल्प नहीं हैं। विकल्प नहीं है और जहाँ बन्ध तथा मोक्ष भी नहीं है वहाँ। आत्मा में बन्ध और मोक्ष तो पर्याय है। वह पर्याय वस्तु में कहाँ है ? यहाँ तो विधि अर्थात् यह विधि - इस प्रकार से करना और इस प्रकार से नहीं करना, ऐसा उसमें कहाँ है ? आहाहा! अर्थकार करते हैं।

इस प्रकार इस पद्य द्वारा परम जिनयोगीश्वर ने... परम जिनयोगीश्वर ने **वास्तव में व्यवहार-आलोचना के प्रपंच का उपहास किया है।** देखा ? व्यवहार आलोचना की मशकरी की है। है ? आहाहा! प्रायश्चित्त लेना, आलोचना करना और यह करना और वह करना... यह सब विकल्प है। उस व्यवहार आलोचना की तो मशकरी की है, ऐसा कहते हैं। मजाक की है, हँसी, तिरस्कार। व्यवहार का तिरस्कार, व्यवहार की हँसी, मशकरी। आहाहा! अन्तर वस्तु की अपेक्षा से उसमें विधि-निषेध क्या ? इसलिए आलोचना नहीं, विकार नहीं और आत्मा का है, ऐसा भी विधि-निषेध का विकल्प उसमें कहाँ है ? आहाहा! पर को आलोचकर देखना और फिर उससे निवृत्तना, ऐसा विधि-निषेध स्वरूप में कहाँ है ? स्वरूप तो एकरूप त्रिकाल है। आहाहा!

कहा न ? **विधि क्या और निषेध क्या ?** इसका अर्थ, व्यवहार आलोचना, यह व्यवहार आलोचना, व्यवहार आचरण, व्यवहार पुण्य, व्यवहार दया, दान, व्रत, व्यवहार... आहाहा! जितना व्यवहार है, उस सबका उपहास किया है। व्यवहार आलोचना को प्रपंच

गिना है। व्यवहार आलोचना का विकल्प आता है। आहाहा! पाप लगा है तो प्रायश्चित्त ले लो। गुरु को बुलाकर (प्रायश्चित्त ले लो)। वह तो सब विकल्प का प्रपंच उठा है। आहाहा! वस्तुस्वरूप में उस चंचलता का विकल्प है कहाँ, वह उसे छेदे, उसका नाश करे? आहाहा! आलोचना अर्थात् देखे, परन्तु देखे, उसमें है नहीं और क्या देखकर टाले। राग को देखकर टाले परन्तु उसमें नहीं, फिर देखकर क्या टाले? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : एकरूपपना है, आत्मा में तो एकरूपपने देखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकरूप ही है। वह तो एक ही है परन्तु इस प्रकार से व्यवहार की आलोचना है, वह विकल्प है। ऐसा पाप लगा हो तो आलोचना करना, प्रायश्चित्त लेना, वह सब व्यवहार का प्रपंच है, कहते हैं। आता है, होता है (परन्तु) है प्रपंच। आहाहा! एक भगवान आत्मा पूर्णानन्द का स्वरूप ही त्रिकाल है। उसमें दृष्टि देने से विधि-निषेध कुछ नहीं होता। आहाहा! अनाकुल आनन्द, उसका जो भण्डार भगवान है, उसमें दृष्टि देने से उसे आलोचना से यह प्रायश्चित्त लेना और उसके दोष लगाये, इसलिए ऐसा लेना, ऐसा प्रपंच उसमें नहीं है। आहाहा! बात कठिन पड़ती है या नहीं? व्यवहार आलोचना को उड़ा दिया। सब व्यवहार को उड़ाया। पूरा व्यवहार प्रपंच है। आहाहा!

इस प्रकार इस पद्य द्वारा परम जिनयोगीश्वर ने वास्तव में... वापस। **व्यवहार-आलोचना के प्रपंच का उपहास किया है।** वास्तव में मशकरी की है। बहुत क्या व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... यह व्यवहार कर-करके। विकल्प आ जाता है परन्तु उसमें बहुत रचा-पचा रहे कि आलोचना ली, पश्चात् प्रायश्चित्त हुआ और उसके कारण शुद्ध हुआ, ऐसा कहाँ अन्दर है? विकल्प आया और उसमें प्रायश्चित्त लिया तो शुद्ध हुआ, ऐसा अन्दर कहाँ है? कठिन बात है, भाई! आहाहा! एक ओर व्यवहार प्रायश्चित्त के बड़े ग्रन्थ होते हैं। प्रायश्चित्त के शास्त्र। वे मुनियों ने बनाये हुए; और एक ओर यहाँ कहते हैं कि सब व्यवहार प्रपंच है। यहाँ निश्चय की बात है। वह (व्यवहार) जानने के लिये आता है, उसे व्यवहार से कहते हैं। जानने के लिये आता है और व्यवहार से कहते हैं। आहाहा!

श्लोक-१५६

(पृथ्वी)

जयत्यनघ-चिन्मयं सहज-तत्त्व-मुच्चैरिदं,
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजातकोलाहलम् ।
नयानय-निकाय-दूर-मपि योगिनां गोचरं,
सदा शिवमयं परं परम-दूर-मज्ञानिनाम् ।।१५६।।

(वीरछन्द)

जो इन्द्रिय-समूह से होनेवाले कोलाहल से मुक्त।
दूर रहे नय-नय पुञ्ज से किन्तु योगियों द्वारा गम्य॥
जो उत्कृष्ट, सदा शिवमय है, अज्ञानी जन को अति दूर।
है जयवन्त अनघ चिन्मय यह सहज तत्त्व निज रस भरपूर॥१५६॥

[श्लोकार्थः] जो सकल इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न होनेवाले कोलाहल से विमुक्त है, जो नय और अनय के समूह से दूर होने पर भी योगियों को गोचर है, जो सदा शिवमय है, उत्कृष्ट है और जो अज्ञानियों को परम दूर है, ऐसा यह [१]अनघ-चैतन्यमय सहजतत्त्व अत्यन्त जयवन्त है॥१५६॥

श्लोक -१५६ पर प्रवचन

१५६ श्लोक।

जयत्यनघ-चिन्मयं सहज-तत्त्व-मुच्चैरिदं,
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजातकोलाहलम् ।
नयानय-निकाय-दूर-मपि योगिनां गोचरं,
सदा शिवमयं परं परम-दूर-मज्ञानिनाम् ।।१५६।।

१. अनघ=निर्दोष; मलरहित; शुद्ध।

आहाहा ! [**श्लोकार्थः] जो सकल इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न होनेवाले कोलाहल से विमुक्त है,...** भगवान आत्मा उसे कहते हैं कि पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों की ओर का झुकाव, उसका जो विकल्प-कोलाहल है, उसकी ओर जाते हुए, इन्द्रियों की ओर जाते हुए विकल्प उत्पन्न होता है, उस कोलाहल से तो वह रहित है। आहाहा ! **सकल इन्द्रियों के समूह से...** सब इन्द्रियों के समूह से जो विकल्प उठते हैं। **उत्पन्न होनेवाले कोलाहल से...** वह कोलाहल है। शान्त वीतरागस्वभाव में विकल्प, वह कोलाहल है। आहाहा ! शान्त वीतराग शुद्धस्वभाव की मूर्ति के पास शुभ आदि विकल्प शुभ का वह सब... आहाहा ! कोलाहल है। लोग नहीं कहते कि ऐ... ! कोलाहल क्या करता है ? यहाँ ऐसा कहते हैं कि कोलाहल क्या करता है ? चैतन्यतत्त्व के अन्दर में न जाकर विकल्प को उठाकर कोलाहल करता है। आहाहा ! ऐसी बात है। दिगम्बर सन्तों की वाणी अन्तर में गहरे ले जाने की है। बाहर से वर्ते, ऐसा नहीं है। आहाहा ! है न ?

नय और अनय के समूह से दूर होने पर भी... यह नय से ज्ञात हो और यह कुनय है और यह नय है। नय का अधिकार पहले आता है न ? बद्ध है और अबद्ध है, ऐसे नय से भी रहित है। ऐसे नय के **समूह से दूर होने पर भी...** वह नय विकल्पवाला कहना है। निर्विकल्पनय है, वह तो 'निश्चयनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की।' वह निर्विकल्पनय है। आहाहा ! विद्वान व्यवहार तजकर निश्चय में वर्ते, तो वह तो धर्म है, परन्तु निश्चय छोड़कर व्यवहार में वर्ते तो वह राग है, विकल्प है। आहाहा !

इस प्रकार यह **नय और अनय...** नय में विकल्प उठावे तो नय कहलाये विकल्प के साथ। विकल्परहित नय है, वह तो मुक्ति का कारण है, निश्चय। **नय और अनय के समूह से...** ओहोहो ! यह पहले आया था। प्रभु ! तुम षट्कारक से भिन्न हो। पर्याय के षट्कारक से भिन्न हो, नय के समूह से भिन्न हो। है न ? और ध्यानावली से भी भिन्न हो। आहाहा ! तीन बोल आये थे। नय से भिन्न हो, षट्कारक से भिन्न हो और ध्यानावली अन्तर आत्मा की ओर के ध्यान की पर्याय में शुद्धि... शुद्धि... शुद्धि... शुद्धि... शुद्धि... ऐसे बढ़े, ऐसी पर्याय से भी आप भिन्न हो। आहाहा !

प्रभु ! आपका नय तो इन्द्रजाल जैसा है, ऐसा कहा है। इन्द्रजाल जैसा है। एक ओर नय से विकल्प कहे तथा एक ओर नय से मोक्ष कहे। अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, यह विकल्पसहित

की नय, वह बन्ध का कारण है। एक ओर ऐसा कहे २७२ (गाथा समयसार में) कि 'निश्चयनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की।' यह वस्तु। फिर विकल्प नहीं। निश्चयनय का विषय जो आत्मा, उसके आश्रय से मुक्ति होती है। विकल्प-विकल्प नहीं। नय और प्रमाण दोनों विकल्पसहित भी होते हैं, विकल्परहित भी होते हैं। यहाँ विकल्पसहित की बात है।

नय और अनय के समूह से दूर होने पर भी। कहते हैं, भले **नय और अनय के समूह से दूर होने पर भी योगियों को गोचर है,...** अन्तर्दृष्टि करे, ऐसे योगी। योग अर्थात् जुड़ान। चैतन्यस्वरूप में जुड़ान करनेवाले को वह गम्य है। चैतन्यस्वरूप जो ज्ञायकस्वभाव अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव, उसमें जो अपनी पर्याय को जोड़े तो वह गम्य है। गम्य हो सकता है। जो पर्याय ऐसे (पर की ओर) झुकी हुई है, वह पर्याय वहाँ रखकर दूसरी पर्याय-नयी पर्याय हुई, उसे अन्दर झुकाये। आहाहा! समझ में आया? वह योगियों को गोचर है।

आत्मा अन्दर ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध ब्रह्मस्वरूप नय और अनय से विरुद्ध है, दूर है, तथापि ज्ञानी को गम्य है। ज्ञानी को गम्य है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! है? समूह कहा है न? समूह अर्थात् सब नय। व्यवहार और निश्चय, सद्भूत और असद्भूत, उपचार और अनुपचार, ये सब नयों के प्रकार हैं न? ये सब नय होने पर भी योगियों को गम्य है, वह तो नय से पार है। आहाहा! यहाँ तो अभी बाहर में शुभराग से, दया, दान, व्रत से पार है, यह बात बैठना कठिन पड़ती है और यह तो अन्दर के नय के विकल्प, अन्दर के विकल्प। आँख बन्द करके बैठे, कान से सुने नहीं और अन्दर में विकल्प करे कि यह अन्दर अबद्ध है, तथापि कहते हैं कि वह नय का समूह है, उससे अगम्य है; उससे गम्य नहीं। आहाहा! योगियों को गम्य है।

जो सदा शिवमय है,... क्योंकि प्रभु स्वयं सदा निरुपद्रव है। शिव—कल्याणस्वरूप ही है। आत्मा तो कल्याणस्वरूप है। आहाहा! **सदा शिवमय है,...** सदा शिवमय। शिव अर्थात् यह शंकर नहीं, हों! वह तो नमोत्थुणं में आता था न? नमोत्थुणं में नहीं आता? 'सिवमलयमरुयमणंत' तुम्हारे नहीं आता होगा। स्थानकवासी में आता है। नमोत्थुणं। 'सिवमलयमरुयमणंत' नमोत्थुणं, अरिहन्ताणं, भगवन्ताणं, आईगराणं, तित्थराणं...

'सिवमलयमरुयमणंत' शिवम् अचलं अरुअमं, ऐसा उसका अर्थ है। स्थानकवासी में सामायिक बोलते हैं। परिपूर्ण करे उसमें बोलते हैं। शिव अर्थात् कल्याणपना। शिव अर्थात् शंकर नहीं। कल्याणस्वरूप है। आहाहा! वह सदा कल्याणस्वरूप है।

और **उत्कृष्ट है...** उससे - भगवान आत्मा के अतिरिक्त कोई उत्कृष्ट है नहीं। आहाहा! उसके - आत्मा के लिये तो उसका आत्मा ही उत्कृष्ट है, बस! उससे कोई उत्कृष्ट नहीं है। **और जो अज्ञानियों को परम दूर है,...** वस्तु के स्वरूप को नहीं जाननेवालों को अति दूर है। आहाहा! योगियों को गम्य है। योग—अन्दर जुड़ान करनेवालों को गम्य है, जानने में आता है परन्तु अज्ञानियों को वह अगम्य है। आहाहा! **परम दूर है,...** राग और पुण्य में वर्तनेवाले, विकल्प में वर्तनेवाले; जो द्रव्य में नहीं है, ऐसी वृत्तियों में वर्तनेवाले को दूर है। विकल्प से दूर है, इसलिए उसका पता नहीं लगता। विकल्पों से दूर है, इसलिए उसका पता नहीं लगता। आहाहा!

ऐसा यह अनघ-चैतन्यमय... आहाहा! अनघ अर्थात् निर्दोष। अघ अर्थात् दोष, अनघ अर्थात् निर्दोष। निर्दोष चैतन्यमय मलरहित; शुद्ध। आहाहा! अकेले आत्मा के गीत गाये हैं। चैतन्यमय **सहजतत्त्व...** ऐसा जो सहजतत्त्व। स्वाभाविक चीज़ है। करायी हुई नहीं, की हुई नहीं, करे तो रहे - ऐसा नहीं। स्वाभाविक चीज़ अनादि की है। सहजतत्त्व ऐसा आत्मा... आहाहा! **अत्यन्त जयवन्त है।** आहाहा! दृष्टि में ज्ञात होता है, इसलिए अत्यन्त जयवन्त है। यह तत्त्व-वस्तु अत्यन्त जयवन्त है। जिन्हें-जिन्हें अनुभव हुआ, जिन्हें जिसका ज्ञान और प्रतीति हुई, वह वस्तु जयवन्त है, ऐसा कहते हैं। जिसे ज्ञात नहीं हुआ, उसे तो है कहाँ? है, ऐसा तो कब होता है? कि उसे चीज़ ज्ञात हुई हो, तब वह चीज़ है। नहीं ज्ञात हुई उसे... आहाहा! गधे के सींग जैसा है। अठारहवीं गाथा में आया न? जाना नहीं, उसे गधे के सींग जैसा है। जैसे गधे के सींग नहीं होते; इसी प्रकार उसे भी वस्तु नहीं है। वस्तु क्या है, इसका ज्ञान ही नहीं, इसकी प्रतीति नहीं, उस ओर झुकाव नहीं, वह क्या है—ऐसा जाना नहीं तो उसे किसमें रमना? किसमें स्थिर होना? कहाँ से हटकर कहाँ जाना? आहाहा!

ऐसा **अनघ-चैतन्यमय सहजतत्त्व अत्यन्त जयवन्त है।** मुनिराज कहते हैं कि वह अत्यन्त जयवन्त है। जयवन्त रहेगा, ऐसा नहीं। अत्यन्त जयवन्त रहेगा, ऐसा नहीं;

जयवन्त है ही। हमारी दृष्टि में वह जयवन्त वर्तता ही है। आहाहा! भगवान ऐसा महानिर्विकल्प, राग से नहीं पकड़ में आये ऐसा, तथापि हमारे ज्ञानगम्य है, इससे वह जयवन्त वर्तता है। ऐसा तत्त्व जयवन्त है। दृष्टि में आया और अनुभव हुआ, वह वस्तु जयवन्त वर्तती है। आहाहा! जिसे दृष्टि में आया नहीं, उसे जयवन्त वर्तती है, वह जयवन्त वर्तती है, यह श्रद्धा कहाँ से की? त्रिकाल नित्य है, ध्रुव है, ऐसी त्रिकाली सत्ता के अनुभव बिना सहजतत्त्व सनातन है, अत्यन्त जयवन्त है, यह कहाँ से आया? कहते हैं। आहाहा! वाणी, वह वाणी है न!

अत्यन्त जयवन्त वर्तता है। कहते हैं कि यह आत्मा हमें रागरहित, नय-निक्षेप के विकल्प रहित आत्मा अत्यन्त निर्मल और अत्यन्त जयवन्त वर्तता है। जयवन्त वर्तता है, ऐसा भी नहीं कहा। जयवन्त है। भले चाहे जितनी बात की है कि नय से नहीं ज्ञात होता, अमुक से नहीं ज्ञात होता परन्तु हम कहते हैं कि जयवन्त है। आहाहा! चिदानन्द भगवान पूर्णानन्द से भरपूर प्रभु है। है, उसकी यह व्याख्या होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! है, वह अनुभव में आ गया है। उसकी सनातन सत्ता दृष्टि में और ज्ञान में आ गयी है, इसलिए कहते हैं कि वह तो जयवन्त वर्तता है। ध्रुवसत्ता, वह तो जयवन्त अनादि-अनन्त है। यहाँ पर्याय में खबर नहीं थी। वह-वस्तु तो अनादि-अनन्त वर्तता है। आहाहा! पर्याय में चाहे जितनी गड़बड़ करे, परन्तु यहाँ तो पर्याय को अन्दर झुकाया, वहाँ वह जयवन्त वर्तता है, ऐसा दिखायी देता है। आहाहा! यह १५६ श्लोक (पूरा) हुआ।

श्लोक-१५७

(मंदाक्रांता)

शुद्धात्मानं निज-सुखसुधा-वार्धि-मज्जन्त-मेनं,
बुद्ध्वा भव्यः परम-गुरुतः शाश्वतं शं प्रयाति।
तस्मा-दुच्चै-रह-मपि सदा भावयाम्यत्यपूर्वं,
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम् ।।१५७।।

(वीरछन्द)

निज सुखरूप सुधासागर में डूबे निज शुद्धातम को।
जान भव्य जन परम गुरु से प्राप्त करें शाश्वत सुख को॥
अतः अभेद दृष्टि की सिद्धि से उत्पन्न सौख्य से शुद्ध।
भाऊँ सदा अपूर्व रीति से सहज तत्त्व कोई अद्भुत॥१५७॥

[श्लोकार्थः] निज सुखरूपी सुधा के सागर में डूबते हुए इस शुद्धात्मा को जानकर भव्य जीव परमगुरु द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं; इसलिए, भेद के अभाव की दृष्टि से जो सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य द्वारा शुद्ध है, ऐसे किसी (अद्भुत) सहजतत्त्व को मैं भी सदा अति-अपूर्व रीति से अत्यन्त भाता हूँ॥१५७॥

श्लोक -१५७ पर प्रवचन

१५७वाँ (श्लोक)।

शुद्धात्मानं निज-सुखसुधा-वार्धि-मज्जन्त-मेनं,
बुद्ध्वा भव्यः परम-गुरुतः शाश्वतं शं प्रयाति।
तस्मा-दुच्चै-रह-मपि सदा भावयाम्यत्यपूर्वं,
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम् ।।१५७।।

[श्लोकार्थः] निज सुखरूपी सुधा के सागर में डूबते हुए... आहाहा! निज

आनन्दरूपी सुधा अर्थात् अमृत। निज सुख का अमृतरूपी सागर। अपने सुखरूपी अमृत के सागर में डूबते हुए। **इस शुद्धात्मा को जानकर...** आहाहा! यह शुद्धात्मा। **भव्य जीव परमगुरु द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं;...** ऐसा कहकर यह कहते हैं कि गुरु ऐसा उपदेश देते हैं। आत्मा का वीतरागभाव का ही उपदेश देते हैं, बस। है न? **गुरु द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं;...** इसका अर्थ कि गुरु ने यही कहा था कि अन्तर त्रिकाली चीज़ आनन्दकन्द है, उस ओर जा। वहाँ तुझे आनन्द होगा। वह सुख का सागर है, अमृत से भरपूर है। ऐसा गुरु ने कहा। गुरु ऐसे होते हैं, यह कहते हैं। इस प्रकार दो बातें की हैं।

इस शुद्धात्मा को जानकर भव्य जीव परमगुरु द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं;... आहाहा! परमगुरु द्वारा का अर्थ यह है कि गुरु ने उसे ऐसा ही उपदेश दिया था। आत्मा के ध्येय को पकड़े ऐसा। आत्मा के त्रिकाली सनातन को पकड़े ऐसा, शाश्वत् सत्ता को सम्हाले ऐसा। ऐसे उपदेश से उन्हें आत्मतत्त्व मिला। उसके द्वारा **शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं;...** उसके द्वारा आत्मा शाश्वत् सुख को पाता है। लो। परमगुरु द्वारा आया। निमित्त द्वारा।

मुमुक्षु : सच्चा लिखते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : किस अपेक्षा से? उन्होंने ऐसा ही उपदेश किया था, यह बताते हैं। उन्होंने यह उपदेश किया था कि तेरा आत्मा अन्दर भिन्न है। मेरे सन्मुख देखना छोड़ दे और विकल्प छोड़ दे। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा लिखा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुरु द्वारा... का अर्थ यह हुआ क्योंकि **गुरु द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं;...** कहा न? तब गुरु ने कहा होगा, तब शाश्वत् सुख को प्राप्त हुआ न? आहाहा! **सुधा के सागर में डूबते हुए इस शुद्धात्मा को जानकर भव्य जीव परमगुरु द्वारा...** आहाहा! परमगुरु ने हमें यह उपदेश किया कि तू भगवान है, परिपूर्ण है। आहाहा! तेरी सत्ता को कोई अड़चन या आड़ आयी नहीं है। ऐसी विघ्नरहित सनातन चीज़ है। वह चीज़ नित्य शाश्वत्, टंकोत्कीर्ण शाश्वत् पड़ी है। ऐसा गुरु ने कहा। उसके द्वारा शाश्वत्

सुख को प्राप्त हुआ। यह कहा था, वह अन्दर प्राप्त हुआ। उन्होंने यह कहा था। क्योंकि गुरु ने कुछ कहा हो और सुख को प्राप्त करे, ऐसा होगा? आहाहा!

मुमुक्षु : अपना आत्मा ही सद्गुरु है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग। अभी वह काम नहीं। यहाँ तो गुरु का उपदेश मिला, उन गुरु का उपदेश कैसा? आत्मावलोकन में गाथा आती है कि मुनिराज हैं, वे वीतरागभाव की ही बात करते हैं। वीतराग मुहू... मुहू... वीतराग ऐसा पाठ है। मुहू... मुहू... अर्थात् बारम्बार। वीतराग... वीतराग... वीतराग... वीतराग... द्रव्य में वीतराग, गुण में वीतराग, पर्याय में वीतराग... आहाहा! वही तेरा स्वरूप है। वीतराग के अतिरिक्त राग से लाभ माने और राग करनेयोग्य है—ऐसा कहे, वे गुरु नहीं हैं। कठिन बात है। वे गुरु नहीं हैं। जो गुरु व्यवहार से लाभ मानें-मनावे, वे गुरु नहीं हैं।

यह तो **परमगुरु द्वारा...** कैसा आत्मा? कि **निज सुखरूपी सुधा के सागर में डूबते हुए इस शुद्धात्मा को जानकर...** आहाहा! निज सुखरूपी सुधा-अमृत, उसके सागर में डूबता - अन्दर प्रविष्ट हो जाता हुआ। आहाहा! ऐसे **शुद्धात्मा को जानकर भव्य जीव...** भव्य जीव **परमगुरु द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं;...** आहाहा! जैन गुरु का ऐसा उपदेश होता है। जिससे मुक्ति मिलती है और मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ऐसा उपदेश है। दूसरा उपदेश उनका नहीं होता। दूसरा उपदेश आवे, वह जानने के लिये है। आदरणीय यही उपदेश है। व्रत का आवे, चरणानुयोग में। यह तो आ गया न? निर्यापक आचार्य प्रतिक्रमण की रचना की, वह मुनि प्रतिक्रमण करे, परन्तु उसका सफलपना कब? उसमें से निकलकर निर्विकल्प होवे तब। यह आ गया है। आहाहा! सन्तों-निर्यापकों ने व्यवहार का प्रतिक्रमण रचा है। वह व्यवहार प्रतिक्रमण करे, तथापि उस व्यवहार का सफलपना कब? अर्थात् कि उसे छोड़कर अन्दर निश्चय में जाए तो (सफलपना है)। अकेले व्यवहार में रहे तो संसार और बन्धन है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रतिक्रमण को सब छोड़ देना?

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ देना, विकल्प को छोड़ देना, ऐसी बात है। उसमें कहाँ जरा भी विकल्प है? यह मेरा है या ये मेरे... स्वयं ही अपना गुरु है, स्वयं ही अपना देव है, स्वयं अपना धर्म है। देव, गुरु और धर्म तीनों आत्मा में है। आहाहा!

परमगुरु द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं; इसलिए, भेद के अभाव की दृष्टि से जो सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य द्वारा शुद्ध है... भेद के अभाव के कारण, भेद नहीं। आहाहा! भेद के अभाव के कारण। भेद के अभाव की दृष्टि अर्थात् अभेददृष्टि। अभेददृष्टि—आत्मा पूर्णानन्द है, ऐसी अभेददृष्टि। **जो सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य द्वारा शुद्ध है...** जिससे मुक्ति उत्पन्न होती है, उस सुख द्वारा शुद्ध है। वह **भेद के अभाव की दृष्टि से जो सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य द्वारा शुद्ध है...** वह दृष्टि शुद्ध है। आहाहा! जो निर्मल परमात्मस्वरूप स्वयं अन्दर है, उसकी दृष्टि से शुद्ध है। क्यों? कि वह **सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य द्वारा शुद्ध है...** आहाहा! उसने भेद के अभाव की दृष्टि की है। भेद की बात नहीं। आहाहा! भेद के अभाव की दृष्टि से जो सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य द्वारा शुद्ध है। आहाहा! सुख की व्याख्या की है। शुद्ध सुख को प्राप्त करता है, ऐसा कहा न? शाश्वत् सुख को प्राप्त करता है।

इसलिए, भेद के अभाव की दृष्टि से... आहाहा! गुणगुणी का और पर्याय-पर्यायवान का भी भेद जहाँ नहीं है। भले पर्याय स्वयं सम्हालती है, परन्तु सम्हालती है वह अभेद को। स्वयं भेद है, परन्तु अभेद को सम्हालती है। पर्याय ऐसा कहती है कि यह अभेद है, वह मैं हूँ। आहाहा! पर्याय तो सदा होती ही है। पर्याय न हो तो द्रव्य ही न रहे। साधक को निर्मल पर्याय भी सदा होती है। आहाहा! वह पर्याय द्रव्य की ओर जाती है, इसलिए कहते हैं कि वहाँ भेद का अभाव हुआ न? भेदज्ञान किया, वहाँ भेद का अभाव हुआ। भेद नहीं, अब अभेद हुआ। आहाहा!

ऐसी **दृष्टि से जो सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य द्वारा शुद्ध है...** कौन सा? वह सुख। **परमगुरु द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं;...** वह सुख। आहाहा! **इस शुद्धात्मा को जानकर...** ऐसा कहा है न? **भव्य जीव परमगुरु द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं; इसलिए, भेद के अभाव की दृष्टि से जो सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य द्वारा शुद्ध है...** अतीन्द्रिय आनन्द द्वारा उत्पन्न हुआ, वह शुद्ध है। आहाहा! अकेला उसमें आत्मा जाना और दूसरा कुछ साथ में नहीं आया। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद साथ में आया। अतीन्द्रिय वीर्य आदि अनन्त गुणों की पर्याय आंशिक व्यक्त हो गयी, वह उनके द्वारा शुद्ध सुख है। सिद्ध का सुख शुद्ध है। परमात्मा हुए हैं, उनका सुख शुद्ध है। शुद्ध क्यों है? कि

भेद के अभाव के कारण। **सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य द्वारा शुद्ध है ऐसे किसी (अद्भुत) सहजतत्त्व को...** आहाहा! वहाँ ऐसा कहते हैं। ऐसे अर्थात् क्या कहते हैं? वाणी में क्या आवे?

ऐसे किसी (अद्भुत) सहजतत्त्व को मैं भी सदा अति-अपूर्व रीति से... मैं भी। ज्ञायकतत्त्व को, ध्रुवतत्त्व को मैं भी... दूसरे भले आदर करें परन्तु **मैं भी सदा अति-अपूर्व रीति से...** सदा अति-अपूर्व रीति से। ऐसा। आहाहा! यह मुनिदशा। अन्तर के आनन्दस्वरूप को सदा **अति-अपूर्व रीति से अत्यन्त भाता हूँ।** वह भी अत्यन्त भाता हूँ। अकेला भाता-भाता हूँ—ऐसा नहीं। आहाहा! मुनि है न! इसलिए अपूर्व रीति से और अत्यन्त (ऐसा कहा है)। आहाहा! अति अपूर्व सदा, जिसमें एक समय का अन्तर नहीं। आहाहा! वह ध्रुव प्रगट हुआ, वह ध्रुव नित्य है, उसकी ओर का स्वाद है, वह नित्य है। कायम है। है भले पर्याय। ऐसे संसार के सुख नहीं परन्तु **सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य...** ऐसा। है न? सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सुख, उन द्वारा शुद्ध है।

ऐसे किसी (अद्भुत) सहजतत्त्व को मैं भी सदा अति-अपूर्व रीति से... आहाहा! इन्हें शब्द कम पड़ते हैं। **मैं भी सदा अति-अपूर्व रीति से...** पूर्व में नहीं की हुई रीति से। आहाहा! ऐसा कहने पर समय-समय की वृद्धि होती है, ऐसा कहते हैं। अपूर्व अर्थात् भले शुद्धि पहले हुई थी, वह भी अति अपूर्व रीति से, पूर्व में नहीं हुई उस रीति से। अर्थात् कि शुद्धि हुई है, उससे शुद्धि बढ़ती है। अर्थात् पहले ऐसे बढ़ती है, वह पहले पूर्व में नहीं थी, ऐसी अपूर्व रीति से। आहाहा! समझ में आया? अध्यात्म की वाणी बहुत सूक्ष्म। परिचय करना चाहिए। ऐसे का ऐसा... बाहर का क्रियाकाण्ड कर-करके मर गया सब। कहीं चले गये। आहाहा! **मैं भी सदा अति-अपूर्व रीति से...** आहाहा! समय-समय में अपूर्व रीति से, ऐसा कहते हैं। समय-समय में जो पर्याय हुई, उससे दूसरी अपूर्व है। वह पहले नहीं थी। आहाहा!

मुमुक्षु : उसमें ज्ञान बढ़ता है या मग्नता बढ़ती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्थिरता बढ़ती है। ज्ञान बढ़े, न बढ़े-ऐसा नहीं है। स्थिरता बढ़ने की बात है। ज्ञान तो थोड़ा ही हो। पाँच समिति, तीन गुप्ति का ज्ञान। वीतरागता बारहवें गुणस्थान में हो जाए। पाँच समिति, तीन गुप्ति का ज्ञान। स्व-पर के भेदज्ञान का ज्ञान होता

है। शिवभूति अनगार नहीं? शिवभूति अनगार। मा-तुष और मा-रुष, ऐसे शब्द याद नहीं रहे। बहुत मस्तिष्कवाले हैं, इसलिए यह बात बैठ जाए, ऐसी कहीं यह बात नहीं है। अन्दर रुचि और अन्तर्दृष्टिवाले चाहिए। आहाहा! मा-रुष और मा-तुष। गुरु ने कहा। अर्थात् किसी पर सन्तोष नहीं और किसी पर द्वेष नहीं, वीतरागता रखना - ऐसा कहा। याद नहीं रहा। इतने शब्द याद नहीं रहे। भाव था। भाव मुनिपना था, सच्चे मुनि सन्त थे। शब्द याद नहीं थे, इससे क्या है? आहाहा!

मुमुक्षु : अन्तर में ज्ञान की स्पष्टता होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान की स्पष्टता थोड़ी भले हो, अन्दर स्थिरता अधिक होती है। ज्ञान तो जो हो वह हो। यहाँ स्थिरता की बात है। चार ज्ञान और चौदह पूर्वधर हों, तथापि छठवें गुणस्थान में हों। पाँच समिति और तीन गुप्ति का ज्ञान हो, तथापि बारहवें (गुणस्थान में) हों। आहाहा! बात तो ऐसी है, भाई! अन्तर्दृष्टि और स्थिरता, दो की बात है। सम्यग्ज्ञान तो है, वह बीच में है। भले वहाँ थोड़ा हो। यह तो कहा न? मा-रुष और मा-तुष इतना याद नहीं रहा। आहाहा!

मुमुक्षु : अनुभूति में मग्नता हो, तब आत्मा स्पष्ट अधिक होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो आत्मा अनुभव में आता है। उसमें कुछ ज्ञान बढ़ता नहीं। मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है। मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। अनुभव के समय ज्ञान बढ़ता नहीं। वह तो है न? लेख है न! ज्ञान तो इतना का इतना होता है, परन्तु अन्दर स्थिरता और आनन्द बढ़ता है। स्थिरता और आनन्द, वह बढ़ता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में तो बहुत अधिक बोलों का विस्तार किया है। सत्य को बहुत सादी भाषा में (रखा) है। सातवें अध्याय में है। आहाहा!

अति-अपूर्व रीति से... गजब है! सदा। किसी समय मेरा ध्यान आत्मा में और किसी समय आर्तध्यान में जाए, ऐसा नहीं - ऐसा कहते हैं। आहाहा! **सदा अति-अपूर्व रीति से...** पहली पर्याय से दूसरी पर्याय (होती है) परन्तु अपूर्व रीति से। **अत्यन्त भाता हूँ।** यह मोक्ष का मार्ग है। बाकी मोक्ष का मार्ग दूसरा है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१५८

(वसंततिलका)

निर्मुक्त-सङ्ग-निकरं परमात्म-तत्त्वं,
निर्मोहरूप-मनघं परभाव-मुक्तम् ।
सम्भावयाम्यहमिदं प्रणमामि नित्यं,
निर्वाण-योषिद-तनूद्भवसम्मदाय ।।१५८।।

(वीरछन्द)

सर्वसंग से रहित, मोहबिन, अनघ और परभाव विमुक्त।
ऐसे इस परमात्म तत्त्व को सम्यक् भाता हूँ मैं नित्य॥
मुक्तिरूप स्त्री के द्वारा जो अनंग सुख हो उत्पन्न।
उसे प्राप्त करने हेतु परमात्म तत्त्व को करूँ नमन॥१५८॥

[श्लोकार्थः] सर्व संग से निर्मुक्त, निर्मोहरूप, अनघ और परभाव से मुक्त ऐसे इस परमात्मतत्त्व को मैं निर्वाणरूपी स्त्री से उत्पन्न होनेवाले अनंग सुख के लिये नित्य संभाता हूँ (-सम्यक्रूप से भाता हूँ) और नमन करता हूँ॥१५८॥

प्रवचन-१२१, श्लोक-१५८-१५९, गाथा-११० शुक्रवार, माघ कृष्ण १, दिनांक ०१-०२-१९८०

नियमसार, कलश-१५८। आलोचना है। आलोचना का अधिकार है। आलोचना अर्थात्? जो शुद्ध त्रिकाली द्रव्यस्वभाव है, उसे देखना, उसे आलोचना, उसमें एकाग्र होना, उसे यहाँ आलोचना कहते हैं। निश्चय आलोचना है। निश्चय देखना। स्वरूप जो त्रिकाली अनन्त गुण का समुदाय ऐसा जो प्रभु, उसे देखना, उसे आलोचना अर्थात् उसे देखना और उसमें एकाग्र होना, वह आलोचना है।

[श्लोकार्थः] सर्व संग से निर्मुक्त,... जो आलोचना करनेयोग्य जीव है, वह जीव कैसा है? कि सर्व संग से निर्मुक्त। जिसे कुछ संग ही नहीं। विकल्प का संग नहीं। आहा! **निर्मोहरूप,...** है। सर्व संग से निर्मुक्त है और निर्मोह (अर्थात्) पर में सावधानी का

बिल्कुल अभाव है। मोह अर्थात् राग। पर मे सावधानी से बिल्कुल रहित है, ऐसा जिसका त्रिकाली शुद्ध सकल निरावरण अखण्ड एक स्वरूप ऐसा जो **अनघ...** दोषरहित। अघ अर्थात् पुण्य और पाप, ऐसा जो अघ, उससे रहित **और परभाव से मुक्त...** भाषा एक की एक है। अनघ अर्थात् निर्दोष है और परभाव से मुक्त है। वस्तु जो है, वह तो त्रिकाल निरावरण है। दृष्टि का विषय है, वह त्रिकाल निरावरण निर्मोह है। परसन्मुख के पर्याय के झुकाववाला भी उसका स्वरूप नहीं है। अपना पूर्ण जो अन्तरस्वरूप, पर्याय के पीछे अन्तर रहा हुआ तत्त्व, पर्याय के अन्तर रहा हुआ तत्त्व, वह अत्यन्त निर्मुक्त और परभाव से भिन्न है।

ऐसे इस परमात्मतत्त्व को... ऐसा यह परमात्मतत्त्व। आहाहा! **मैं...** पृथक् करते हैं। सब एक-ऐसा नहीं। सब आत्मा एक हैं, ऐसा नहीं परन्तु **मैं...** मेरा अस्तित्व सबके अस्तित्व से भिन्न है, इसलिए **मैं निर्वाणरूपी स्त्री से उत्पन्न होनेवाले...** निर्वाण अर्थात् मोक्षरूपी परिणति से **उत्पन्न होनेवाले अनंग सुख...** अंगरहित सुख, आत्मा का सुख। अनंग सुख अर्थात् आत्मा का सुख। **अनंग सुख के लिए नित्य संभाता हूँ...** आहाहा! पूर्णानन्द को प्रगट करने के लिये, पूर्ण आनन्द के अनुभव के लिये मैं नित्य संभाता हूँ। सम्यक् प्रकार से उसे ही मैं भाता हूँ। आहाहा! ऐसा निश्चय लोगों को कठिन लगता है। निश्चय... निश्चय... निश्चय... बस। व्यवहार, जिसमें पर्याय भी नहीं। आहाहा!

द्रव्य जो है, वह तो सकल निरावरण अखण्ड एक स्वरूप है। उसे मैं यहाँ भाता हूँ, ऐसा कहते हैं। **इस परमात्मतत्त्व को मैं निर्वाणरूपी स्त्री से उत्पन्न होनेवाले अनंग सुख...** आहाहा! निर्वाणरूपी परिणति से उत्पन्न होनेवाला आनन्द, उसके लिये मैं सम्यक् प्रकार से भाता हूँ। यह आलोचना। आहाहा! जिसमें विकल्प का भी अवकाश नहीं। निर्विकल्परूप से आत्मा को देखना, निर्विकल्परूप से आत्मा की भावना में रहना, यह निर्वाणरूपी स्त्री के सुख को उत्पन्न करने का भाव है। आहाहा!

संभाता हूँ... उसके साथ मैं **नमन करता हूँ।** उसे ही मैं नमन करता हूँ। मेरा झुकाव ही, परिणमन ही परिणमता हूँ, मेरे शुद्धस्वरूप में ही मैं परिणमता हूँ, यही आलोचना है। आहाहा! यह निश्चय बात जरा लोगों को कठिन पड़ती है, इसलिए एकान्त-एकान्त करके निकाल डालते हैं। यही अनेकान्त है। स्वसन्मुख का सम्यक् एकान्त (जो)

निश्चयनय का विषय है, वह सम्यक् एकान्त ही है। सम्यक् एकान्त में जो अनुभवना (होता है) और पर्याय प्रगट होती है, उसे देखना, उसका नाम अनेकान्त प्रमाण है। सम्यक् एकान्त के आश्रय से जो दशा प्रगट हो, उसके देखना, उसे प्रमाण कहा जाता है। आहाहा! **नमन करता हूँ।** उसकी सम्यक् प्रकार से भावना भाता हूँ। और उसे ही मैं नमता हूँ, नमन करता हूँ। उसे ही मैं प्रणाम करता हूँ। आहाहा! देव-शास्त्र-गुरु को नमन करता हूँ, यह तो विकल्प है। यह तो नित्यानन्द प्रभु, विकल्प के स्पर्शरहित त्रिकाली ज्ञायकभाव की भावना भाता हूँ और उसे ही मैं नमन करता हूँ। इसका नाम आलोचना कहो या धर्म कहो या मुक्ति का मार्ग कहो। आहाहा! यह १५८ (श्लोक पूरा हुआ)। उस दिन थोड़ा चला था, थोड़ा बाकी था।

श्लोक-१५९

(वसंततिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं,
चिन्मात्रमेक-ममलं परिभावयामि।
सन्सार-सागर-समुत्तरणाय नित्यं,
निर्मुक्तिमार्गमपि नौम्यविभेदमुक्तम्।।१५९।।

(वीरछन्द)

निज से भिन्न विभाव त्याग चिन्मात्र भाव को भाता हूँ।
भवदधि तरने हेतु अभेदरूप शिवपथ को नमन करूँ॥१५९॥

[श्लोकार्थः] निज भाव से भिन्न ऐसे सकल विभाव को छोड़कर एक निर्मल चिन्मात्र को मैं भाता हूँ। संसारसागर को तर जाने के लिये, अभेद कहु हुए (-जिसे जिनेन्द्रों ने भेदरहित कहा है ऐसे) मुक्ति के मार्ग को भी मैं नित्य नमन करता हूँ॥१५९॥

श्लोक -१५९ पर प्रवचन

१५९ (श्लोक)।

त्यक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं,
चिन्मात्रमेक-ममलं परिभावयामि।
सन्सार-सागर-समुत्तरणाय नित्यं,
निर्मुक्तिमार्गमपि नौम्यविभेदमुक्तम् ।।१५९।।

[श्लोकार्थः] निज भाव से भिन्न ऐसे सकल विभाव को छोड़कर... आहाहा! यह पंचम काल के साधु पंचम काल के शिष्य को कहते हैं। कोई ऐसा कहे कि ऐसी बात चौथे काल की है। कहनेवाले तो पंचम काल के साधु हैं और सुनाते हैं पंचम काल के जीव को। उसे काल-बाल लागू नहीं पड़ता। आहाहा! कि ऐसी बड़ी बात ऐसे पंचम काल में कैसे कही जाए? यहाँ तो कहते हैं, प्रत्येक गाथा में हम यह बात करते हैं। आहाहा!

नित्य वस्तु निरावरण अन्दर पड़ी है। उसकी महासत्ता अनन्त-अनन्त सुख का सागर है, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके भाव से भिन्न **ऐसे सकल विभाव को छोड़कर...** आहाहा! भगवान तो ऐसा कहते हैं कि हमारी भक्ति के भाव को भी छोड़कर। आहाहा! सकल विभाव को छोड़कर कहा न? तीर्थंकरदेव और सर्वज्ञदेव परमात्मा की ओर का जो भाव और परिणमन, नमस्कार, उस भाव से भी वस्तु भिन्न है। आहाहा! देशनालब्धि आती है न? देशनालब्धि बिना तो होगा नहीं, ऐसा आता है। यह तो एक (बात) बतलायी है। देशनालब्धि होती है परन्तु देशनालब्धि के लक्ष्य से जो ज्ञान हुआ, उससे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता। समझ में आया? यह भी अभी परलक्ष्यी ज्ञान है। देशनालब्धि होती है, तथापि वह भी परलक्ष्यी है। यहाँ तो पर से अत्यन्त भिन्न। है न?

सकल विभाव को छोड़कर एक निर्मल चिन्मात्र को मैं भाता हूँ। ज्ञान की तो प्रधानता वर्णन की है, बाकी पूरा आत्मा, ज्ञान अर्थात् पूरा आत्मा। अनन्त गुण की राशि- ऐसा जो आत्मा, उसे यहाँ ज्ञान कहकर उसे भाता हूँ, ऐसा कहते हैं। ऐसे चिन्मात्र को... भाषा तो चिन्मात्र ली है। ज्ञानमात्र। परन्तु मात्र क्यों लिया? कि दूसरे रागादि की जिसे

अपेक्षा नहीं। चिन्मात्र-अकेला ज्ञायकस्वभाव। आहाहा! उसे मैं भाता हूँ। उसकी भावना में मैं हूँ।

संसारसागर को तर जाने के लिये,... आहाहा! देह छूटकर आत्मा तो रहेगा। देह का नाश होगा परन्तु आत्मा तो अनादि-अनन्त है। तो कहते हैं कि मैं संसारसागर - यह अवतार जो है, उसे तर जाने के लिये है। आहाहा! मुझमें अवतार और अवतार का बीज ही नहीं है। अवतार के कारण का और अवतार का दोनों का मुझमें अभाव है। आहाहा! ऐसे **संसारसागर को तर जाने के लिये,...** इस ओर भाता हूँ तथा इस ओर संसारसागर तर जाने के लिये, यह अपेक्षा से कथन किया है। पर्याय में संसार है, इतना जरा बतलाया है। परन्तु उससे तरने के लिये, संसारसागर से तरने के लिये **अभेद कहे हुए...** भगवान ने जो मोक्ष का मार्ग अभेद कहा है। वस्तु तो अभेद की दृष्टि से ली है परन्तु अब यहाँ अभेद मोक्षमार्ग कहा। जिस मोक्षमार्ग में भेद नहीं। व्यवहार का विकल्प भी जिसमें नहीं।

ऐसा जो **अभेद कहे हुए (-जिसे जिनेन्द्रों ने भेदरहित कहा है ऐसे) मुक्ति के मार्ग...** यहाँ अभेद (अर्थात्) दृष्टि के विषय की बात नहीं है। यहाँ अभेद मोक्षमार्ग की बात है। पर्याय में भेद नहीं। अकेला अभेदस्वरूप अभेद का ध्यान, अभेद के मार्ग से अभेद का ध्यान। आहाहा! उसे देखने का यह है। अभेद दृष्टि से अभेद को देखना, यह निश्चय-सत्य आलोचना है। आहाहा! परन्तु उसमें करना क्या? यह करना कुछ नहीं आता। विकल्प करना, यह करना या यह करना। करने का तो आता नहीं। वहाँ से छूटकर स्थिर होने की बात है। आहाहा!

प्रभु ने अभेद कहा हुआ है, मुक्ति का मार्ग अभेद कहा है। वस्तु तो अभेद है, परन्तु वह मोक्ष का मार्ग है, वह अभेद है। भेद-व्यवहार नहीं। व्यवहारमोक्षमार्ग, वह मोक्षमार्ग नहीं है। **अभेद कहे हुए (-जिसे जिनेन्द्रों ने भेदरहित कहा है ऐसे) मुक्ति के मार्ग को भी...** यह क्या कहा? उसे 'भी' किसलिए लिया?—कि **निर्मल चिन्मात्र को मैं भाता हूँ।** और **मुक्ति के मार्ग को भी मैं नित्य नमन करता हूँ।** इसलिए 'भी' लिया है। आहाहा! समझ में आया? **एक निर्मल चिन्मात्र को मैं भाता हूँ।** और **अभेद कहे हुए मुक्ति के मार्ग को भी...** वह भी है और यह भी है, ऐसा। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य को भी नमन करता हूँ और पर्याय को भी नमन करता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय भी अभेद। अभेद पर्याय से अभेद को देखते हुए उसे भाता हूँ। अभेद को भाता हूँ, ऐसे इस अभेद मोक्षमार्ग को भी भाता हूँ अर्थात् इससे ही अभेद दृष्टि होती है। भाता हूँ का अर्थ यह है। अभेद से अभेद की दृष्टि होती है। अभेद मोक्षमार्ग से अभेद की दृष्टि होती है। भेद मोक्षमार्ग से अभेद की दृष्टि नहीं होती। आहाहा! कठिन काम है। एक-एक श्लोक... आचार्य स्वयं कहते हैं कि यह मैंने तो मेरे लिये बनाया है। यह टीका तो है भले पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि की, परन्तु श्लोक जो हैं, वे तो आचार्य कहते हैं, मैंने तो मेरी भावना के लिये बनाया है। किसी को समझाने के लिये, समझने के लिये नहीं; मेरी भावना के लिये है। आहाहा! उसमें समझना हो, वह समझ लो।

मुमुक्षु : द्रव्य की भावना भाता है और पर्याय की भावना भाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय उस ओर ढलती है न? इसलिए भावना भाता है, ऐसा। भेद का व्यवहार नहीं है। अभेद की पर्याय व्यवहार है, इसलिए उसे भाता हूँ, ऐसा कहते हैं। द्रव्य की अपेक्षा से वह है तो व्यवहार।

मुमुक्षु : ऐसी भावना भावे, उसे अभेद होवे ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे ही वह।

मुमुक्षु : प्रमाण ज्ञान से हो जाए?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ अभेद दृष्टि त्रिकाल पर है, इसलिए निश्चयनय का विषय है। अभेद में पर्याय होती है, उसे जानने जाए, वहाँ प्रमाण हो जाता है। आहाहा! यह तो अकेली अभेद चीज़ है, मोक्षमार्ग जो भगवान ने कहा और जो अभेद चीज़ भगवान ने कही, उसे भाता हूँ और अभेद मोक्षमार्ग को ही भाता हूँ। दो बात ले ली। आहाहा!

मुमुक्षु : एक समय में दोनों?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक समय में दो इकट्ठे हैं। अभेद की दृष्टि ही अभेद के ऊपर है, इसलिए अभेद की भावना हुई - यह अभेद वस्तु की भावना हुई और अभेद मोक्षमार्ग की भावना हुई। दोनों एक साथ इकट्ठी हुई। भेद नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें गुरुदेव! २१वाँ बोल इसके साथ आ जाए तो अच्छा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो आया था। २१ बोल की व्याख्या अपने नहीं दी?

मुमुक्षु : कल रात्रि में आपने कहा, तब लालूभाई नहीं थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहिनश्री के (वचनामृत के) २१वें बोल में आता है। वहीं किसी का पृष्ठ पड़ा है। किसी ने चिह्न रखा है। आहाहा!

चैतन्य को चैतन्य में से परिणमित... चैतन्यस्वरूप जो त्रिकाली भगवान, उसके **चैतन्य में से परिणमित भावना...** अर्थात् अभेद मोक्षमार्ग जो यहाँ कहा वह। **अर्थात् राग-द्वेष में से नहीं उदित हुई भावना — ऐसी यथार्थ भावना हो तो वह भावना फलती ही है।** आहाहा! वह **यदि नहीं फले तो जगत को — चौदह ब्रह्माण्ड को शून्य होना पड़े...** अर्थात् क्या कहा? आहाहा! शुद्ध चैतन्य की भावना-परिणति, उसका फल पूर्ण स्वरूप न आवे, द्रव्य पूर्णरूप न परिणमे तो द्रव्य शून्य हो जाए। आहाहा! एक द्रव्य शून्य होने पर, प्रत्येक परिणति का फल शून्य होने पर जगत शून्य हो जाए। आहाहा! समझ में आया? वहाँ तो अफ्रीका में बात की थी। शुरुआत में पहली। लोग सुनते थे। अन्तिम आठ दिन पश्चात् थोड़ा... पहले अठारह दिन लोग ठीक रहे।

क्या कहते हैं? कि राग-द्वेषरहित चैतन्य की भावना... आहाहा! वह **फलती ही है।** वह भावना होकर सिद्धपद होता ही है। न हो, **यदि नहीं फले तो जगत को — चौदह ब्रह्माण्ड को शून्य होना पड़े...** यह परिणाम जो चैतन्य के, मोक्षमार्ग के उसका मोक्ष जो द्रव्य है, मोक्ष ऐसी जो जीव की पर्याय है, वह द्रव्य की पर्याय है, वह चैतन्य के परिणमन से वह पर्याय यदि न आवे तो उस द्रव्य को शून्य होना पड़े अर्थात् द्रव्यमय परिणमन है, उसका परिणाम आता ही है। आवे तो चैतन्यद्रव्य टिका रहे। इसी प्रकार चार गति के जो परिणाम राग-द्वेषवाले हैं, उनका परिणाम भी गति न आवे तो वह गति शून्य हो जाए। ऐसा होकर पाँचों ही गति शून्य हो जाए, पाँचों ही गति शून्य होने पर जगत शून्य हो जाए। जगत शून्य होने पर द्रव्य शून्य हो जाए-शून्य हो जाए। आहाहा! समझ में आया?

राग-द्वेषरहित चैतन्य की भावना की जो परिणति उसका फल सिद्ध पद, पूर्ण पद वह फलता ही है। नहीं फले, उस परिणाम का फल न आवे तो सिद्धगति ही न रहे, मोक्षगति ही न रहे। मोक्षगति न रहे तो द्रव्य की पर्याय न रहे तो द्रव्य ही न रहे। आहाहा! जगत को शून्य होना पड़े। आहाहा! समझ में आया? बात तो चैतन्य के परिणमन की की है। परन्तु उसमें पूरा जगत शून्य हो जाता है, ऐसा कहा उसका अर्थ कि जो-जो परिणाम

है, उसका फल पर्याय में नहीं आवे तो वह द्रव्य नहीं रहे। द्रव्य न रहे तो जगत शून्य हो जाए। अनन्त द्रव्य का परिणमन है, उस परिणमन का परिणाम-फल पूर्ण है, वह न आवे अशुद्धता का फल गति, शुद्धता का फल सिद्धगति, वह न आवे तो चारों गति और सिद्ध गति का भी नाश हो जाए। आहाहा! समझ में आया इसमें?

यदि नहीं फले तो जगत को — चौदह ब्रह्माण्ड को शून्य होना पड़े अथवा तो इस द्रव्य का नाश हो जाए। उस पर्याय का फल न आवे तो द्रव्य ही न रहे। आहाहा! चैतन्य के परिणमन का फल, चैतन्य की मुक्ति की पर्याय न आवे, गति न आवे, पूर्ण गति न हो तो उस द्रव्य का नाश हो जाए। समझ में आया? जरा सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : पर्याय न परिणमे, उसमें द्रव्य का नाश किसलिए होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय का फल है गति पूर्ण है। पर्याय का फल है... यहाँ तो चेतन का लेना है। उसका फल है, वह पूर्ण गति है और उसका फल पूर्ण न आवे तो वह पर्यायरहित द्रव्य हो जाए। पर्यायरहित द्रव्य हो जाए तो द्रव्य का नाश हो जाए। एक द्रव्य का नाश होने पर सर्व द्रव्य का नाश हो जाए। सर्व द्रव्य का नाश होने पर जगत शून्य हो जाए। लालचन्दभाई! आहाहा!

यह बात तो वहाँ अफ्रीका में विस्तार से हुई थी। वहाँ सुननेवाले हैं। तीस वर्ष से वहाँ का चलता है न? क्या कहलाता है? यह टेपरिकार्डिंग चलता है, व्याख्यान चलता है। झवेरचन्दभाई हैं, एक बेलजीभाई हैं। बेलजीभाई वहाँ रह गये हैं नहीं? बहुत पढ़नेवाले। साधारण नौकर हैं। यह झवेरचन्दभाई और ये सब पैसेवाले लाखोंपति बहुत बड़े यह है परन्तु फिर भी वह व्यक्ति बहुत सन्तोषी है। बहुत मधुर वांचन देता है। यहाँ की शैली की बात बहुत मीठी देता है। सुननेवाले धर्मशीभाई के यहाँ हम उतरे थे, वह तो बहुत प्रसन्न होता था। बेलजीभाई पढ़ते हैं तो ऐसा आनन्द आता है। जवान व्यक्ति हैं। यहाँ आये थे। आहाहा!

यहाँ तो बात चैतन्य के परिणमन से परिणाम उसका पूर्ण स्वरूप न हो तो यह गति ही न रहे। गति न रहे तो यह द्रव्य ही नाश हो जाए। द्रव्य का परिपूर्ण स्वरूप है, वह पर्याय हुई। वह सिद्धगति हुई, तो उस चैतन्य के परिणाम का वह पूर्ण स्वरूप न हो तो वह द्रव्य

ही न रहे, द्रव्य न रहे तो एक द्रव्य न रहे तो दूसरे द्रव्य भी उसके परिणाम के फलरूप उसकी गति न हो तो वह द्रव्य भी नाश हो जाए। द्रव्य नाश होने पर जगत की शून्यता हो जाए। आहाहा! कहो, देवीलालजी! आहाहा!

अथवा तो इस द्रव्य का नाश हो जाए। पर्याय की पूर्णता न रहे; यहाँ साधन हुआ और साध्य न हो तो साधन का करनेवाला द्रव्य का भी नाश हो जाए। आहाहा! **परन्तु ऐसा होता ही नहीं। चैतन्य के परिणाम के साथ...** अर्थात् साधक के परिणाम के साथ **कुदरत बँधी हुई है...** चैतन्य के परिणाम हुए हैं, उसे मुक्ति होगी ही। वह होती ही है। उसमें कुदरत उसके साथ बँधी हुई है। यह द्रव्य का स्वभाव ही ऐसा है। समझ में आया? चैतन्य के परिणाम जो निर्मल हैं, उनका निर्मलपना पूर्ण न आवे... आहाहा! ऐसा होता ही नहीं। परिणाम हों, वह सिद्ध होता ही है। ऐसी **कुदरत बँधी हुई है...** कुदरत अर्थात्? द्रव्य का स्वभाव ही इस प्रकार बँधा हुआ है। आहाहा!

मुमुक्षु : कुदरत अर्थात् बाह्य द्रव्य का संयोग नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे की-बाह्य की बात (नहीं है)। कुदरत अर्थात् उस द्रव्य के राग-द्वेषरहित परिणाम हुए और पूर्णता न हो, यह तो वस्तु का स्वरूप रहे नहीं, वस्तु का स्वरूप ही रहे नहीं। आहाहा! अभेद मोक्षमार्ग हो और मोक्ष न हो तो वह द्रव्य ही नहीं रहे। वह परिपूर्ण गति, गति ही न रहे। गति के न रहने पर द्रव्य न रहे; द्रव्य न रहने पर द्रव्य का नाश हो जाए। समझ में आया? आहाहा! वहाँ तो बेचारे सब सुनते थे। वहाँ तो बहुत वर्ष से वाँचन है न? २५-३० वर्ष से वाँचन है।

चैतन्य के परिणाम के साथ कुदरत बँधी हुई है... अर्थात्? निर्मल परिणाम के साथ सिद्धपद होता ही है, ऐसा द्रव्य का स्वभाव ही है। आहाहा! साधक परिणाम निर्मल हुए और साध्य न हो, (ऐसा) तीन काल में नहीं होता। आहाहा! ये साधक परिणाम हुए और उसे सिद्धपद न हो, उसे संसार / भव रहे - ऐसा तीन काल में नहीं होता। संसार / भव रहता ही नहीं। सिद्धगति ही होती है। सिद्धगति न हो तो परिणाम का फल नहीं आया। परिणाम का फल नहीं आया तो परिणाम ही निरर्थक गये। परिणाम निरर्थक गये तो परिणाम का धारक आत्मा, उसका भी नाश हुआ। आहाहा! ऐसा है। उस दिन पहले ऐसा अर्थ नहीं

हुआ था, यह वाँचन हो गया तब। यह तो आवे तब आवे न! कहीं धार रखा है? वहाँ एकदम अन्दर से आया। क्या कहते हैं यह?

साधक परिणाम, चैतन्य के परिणाम हुए और परिणाम का फल मुक्तदशा, यह द्रव्य की दशा परिपूर्ण न हो तो उस द्रव्य का नाश हो जाए, द्रव्य ही रहे नहीं। एक द्रव्य न रहे, दूसरे द्रव्य के भी जो परिणाम हैं, उनका फल भी न आवे तो वह भी फल बिना की, गति बिना का और उसके कारण बिना का द्रव्य हो जाए; इसलिए द्रव्य का भी नाश हो जाएगा। पाँचों ही गतियों का नाश हो जाएगा। पाँचों गतियों का नाश होने पर पाँचों ही गतियों का कारण जो द्रव्य, उसका नाश हो जाएगा। द्रव्य नहीं रहेगा। आहाहा! है?

ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। आहाहा! **यह अनन्त तीर्थङ्करों की कही हुई बात है।** आहाहा! समझ में आया? अनन्त तीर्थंकरों ने कही हुई यह बात है। जिसके परिणाम राग-द्वेषरहित हुए, उसके परिणाम का फल सिद्धपद न हो, केवल (ज्ञान) न हो, ऐसा तीन काल में नहीं बनता। ऐसा न होवे तो द्रव्य का स्वभाव परिपूर्ण है, उसका अभाव होगा, परिपूर्ण का अभाव होने पर उसके कारण के परिणाम का अभाव होगा; कारण के परिणाम का अभाव होने पर द्रव्य का भी अभाव हो जाएगा। आहाहा! समझ में आया? जरा सूक्ष्म है।

यह अनन्त तीर्थङ्करों की कही हुई बात है। क्योंकि जो द्रव्य है, उसके जो परिणाम हैं, उन चैतन्य के परिणाम का फल चैतन्य पूर्ण हुए बिना रहेगा ही नहीं। ऐसा ही उसका - द्रव्य का स्वभाव है, ऐसा अनन्त तीर्थंकरों ने कहा हुआ है। इस प्रकार परिणाम का फल यदि गतिरूप से, पूर्णरूप से एक का न हो तो दूसरे का नहीं होगा, तो दूसरी गतियों के परिणाम का फल गति भी वह नहीं होगी। यदि गति ही नहीं होगी तो गति का धारक द्रव्य भी नहीं रहेगा। अनन्त तीर्थंकरों ने ऐसा कहा है। आहाहा! यह २१वाँ बोल है।

वस्तु नित्यानन्द के परिणाम हों और नित्यानन्दरूपी पर्याय की दशा पूर्ण न हो तो वह द्रव्य ही नहीं रह सकता। आहाहा! परिणाम के फलवाला द्रव्य ही नहीं रह सकता। फल न आवे और अकेले परिणाम रहे (तो) उस परिणाम का करनेवाला द्रव्य भी रहा नहीं। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है। यह बहिन के वचन हैं। यह वस्तु का स्वरूप है। वस्तुस्वरूप से निकली हुई यह बात है।

मुमुक्षु : पहले इसका अर्थ क्या करते थे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, ऐसा कि नाश होगा, इतनी साधारण बात। इसका बहुत विस्तार नहीं था। नाश होगा तो क्या होगा ? और अनन्त तीर्थंकरों ने कहा कि यह नाश होगा तो जगत शून्य होगा, इतनी सब विस्तार से बात नहीं थी। समझ में आया ? आहाहा !

राग-द्वेषरहित परिणाम हों और उन परिणाम की पूर्णता ऐसी सिद्धगति न हो तो सिद्धगति न रहे। गति न रहे तो गति के कारण के परिणाम शून्य हो जाए और उन परिणाम का धारक द्रव्य भी नहीं रहे। इस प्रकार तीनों काल के द्रव्य के शून्यपने का प्रसंग आवे। आहाहा ! समझ में आया ?

अस्तित्व तत्त्व है, परिपूर्ण भरपूर निरावरण है। उसके आश्रय से हुए परिणाम, उनकी परिपूर्णता न हो तो उस परिणाम की भी शून्यता हो जाए, परिणाम का भी अभाव हो जाए। परिणाम का अभाव होने पर, जिसके आश्रय से परिणाम हुए, उस द्रव्य का अभाव हो जाए। आहाहा ! जरा सूक्ष्म है। वहाँ अफ्रीका में चला था। उस समय तो बहुत लोग थे। फिर बाद के आठ दिन थोड़े लोग थे। पहले अठारह दिन। बाद से फिर दुकान में धन्धे के कारण लड़के नहीं आ सकते थे। बड़े-बड़े आदमी आवे। आठ दिन में से एक दिन तो मौम्बासा गये थे न। वापस आठ दिन में से एक दिन ऐसा वह... क्या दूसरा गाँव ? 'टीकाबा'। मोहनलाल थे वहाँ गये। वहाँ भी लोग बहुत आते थे। मौम्बासा में भाई को ऐसा था कि मैं अकेला हूँ, क्या करूँगा ? कैसे होगा ? कहा, कुछ ज्यादा लोगों की अपने को आवश्यकता नहीं है। रोने लगे। वहाँ नैरोबी में। रोने लगे कि यहाँ महाराज आये और मेरा गाँव यहाँ तीन सौ मील दूर। यहाँ (भारत) से तीन हजार मील दूर। वहाँ से तीन सौ मील दूर। वहाँ आवे नहीं। मैं वहाँ कायम रहनेवाला। आहाहा ! रोने लगे। उलझो नहीं, अपने लोगों की आवश्यकता नहीं है। जो कोई पाँच-पच्चीस लोग बैठे होंगे, उसमें अपन पढ़ेंगे, कहेंगे। वहाँ तो खचाखच लोग भर गये। इतना बड़ा हॉल। पैसे भी बहुत खर्च किये। इकतालीस हजार रुपये खर्च किये। एक दिन इतने में इकतालीस हजार रुपये दिये। आहाहा !

इस परिणाम का परिणामी फल पूर्ण न आवे तो वह द्रव्य ही न रहे। द्रव्य का स्वभाव ही ऐसा है कि द्रव्य के परिणाम हुए, उसे पूर्ण परिणति होती ही है। दूज उगी, पूर्णिमा हुए बिना नहीं रहेगी। नहीं तो वह दूज उगी ही नहीं और दूज का चन्द्रमा भी नहीं है। आहाहा !

पूर्णिमा न हो तो वह दूज ही नहीं है। दूज नहीं तो चन्द्र नहीं, चन्द्र नहीं तो उसका परिणाम पूर्ण आया नहीं। आहाहा! हिम्मतभाई! आहाहा! जिसकी सत्ता पूर्ण पड़ी है... आहाहा! उसके भाव के परिणाम प्रगट हुए और उसकी पर्याय में पूर्णता न हो, जगत शून्य हो जाए। ऐसा तीन काल में नहीं बनता। आहाहा! **यह अनन्त तीर्थंकरों की कही हुई बात है।** क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही यह है। यह अनन्त तीर्थंकरों ने कहा हुआ है। किसी ने इसमें पृष्ठ रखा था। लो, यह बात हुई न? लालचन्दभाई ने सुनी नहीं थी, इसलिए फिर से कहलवायी। आहाहा!

द्रव्य, साधकपरिणाम और साध्यपरिणाम तीन का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में कहीं टूट पड़े तो द्रव्य का नाश हो जाए। समझ में आया? आहाहा! द्रव्य, वस्तु वह त्रिकाली सत्ता का सत्त्व है और उसके परिणाम वर्तमान पर्याय के सत्त्व का सत्त्व है। अपने तो १४वीं गाथा में ऐसा आया नहीं था?—कि अशुद्धपना, वह भी जीव का सत्त्व है। अशुद्धपना है ही नहीं, ऐसा कोई कहे, तब तो वह द्रव्य ही स्वयं नहीं रहता। अशुद्धपने का अंश है, उससे द्रव्य पूरा होता है। अनन्त गुणों का पिण्ड, वह द्रव्य होता है। अशुद्धपने का अंश तो अनादि-सान्त है, उसे न माने तो द्रव्य ही नहीं रहेगा। वह अशुद्धपना भी द्रव्य का सत्त्व है। वस्तु की पर्याय भी आंशिक सत्त्व है परन्तु आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आश्रय करनेयोग्य नहीं, इसलिए सत्त्व नहीं है - ऐसा नहीं है।

दूसरे ऐसा ही कहते हैं न कि एक ही आत्मा सर्व व्यापक है। मलिनता-फलिनता आत्मा में है ही नहीं। पर्याय में मलिनता नहीं है—ऐसा माने, वह वस्तु को, द्रव्य को मानता नहीं है क्योंकि मलिनता के अंश और निर्मलता के अंश यह अनादि-अनन्त पर्याय का पिण्ड वह गुण है और ऐसे अनन्त गुण वह द्रव्य है तो वह जो अनादि-सान्त अशुद्धता न माने, उसने गुण ही माना नहीं और गुण माना नहीं, इसलिए अनन्त गुण का पिण्ड द्रव्य भी जाना नहीं। समझ में आया? आहाहा! ऐसा है।

यहाँ भी यह कहते हैं, देखो! **चिन्मात्र को मैं भाता हूँ। संसारसागर को तर जाने के लिये, अभेद कहे हुए...** भगवान ने मोक्ष का मार्ग जो अभेद कहा, उस **मुक्ति के मार्ग को भी मैं नित्य नमन करता हूँ।** उसे मैं प्रणाम करता हूँ, क्योंकि उससे मुझे मुक्ति होनेवाली है। अभेद मोक्ष के मार्ग से मुक्ति की पर्याय अस्तित्वरूप से (होनेवाली है)। इस अस्तित्व

से वह अस्तित्व होनेवाला है। मोक्ष के मार्ग की अपूर्ण शुद्धता से पूर्ण शुद्धता होनेवाली है। यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। उसमें से कुछ भी कम, अधिक, विपरीत फेरफार करे तो द्रव्य का नाश हो जाएगा। अर्थात् उसकी सत्ता में, श्रद्धा में सत्य नहीं रहेगा। सत्य जैसा है, जितना है, जितना है वैसा उसकी श्रद्धा में नहीं रहेगा... उसे तो द्रव्य, द्रव्य के परिणाम और उसका फल दृष्टि में आया ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : अपूर्णता से पूर्णता हो, यह क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : होती ही है। दूज उगे, उसकी पूर्णिमा होती ही है। दूज उगे और पूर्णिमा न हो तो वह चन्द्रमा रह नहीं सकता। भले अपूर्ण है और उससे पूर्ण हुआ, परन्तु फल उसका उसकी जाति का है। अभेद मोक्षमार्ग, वह पूर्ण मोक्ष की पर्याय की जाति का मार्ग है। वह कुजाति नहीं है। आहाहा! यह प्रगट दशा हुई और मोक्ष न हो... आहाहा! तत्त्व नहीं रहेगा। पर्याय की साधकदशा प्रगट हुई, कुदरत बँधी हुई है कि वहाँ साध्य सिद्धपद होगा ही। न हो (तो) द्रव्य का नाश हो जाएगा। अनन्त तीर्थंकरों ने ऐसा कहा है। समझ में आया? अरे! ऐसी बातें हैं।

यहाँ यह कहा, **चिन्मात्र को मैं भाता हूँ।** भाता हूँ, यह तो पर्याय है। **संसारसागर को तर जाने के लिये,...** इस अशुद्धता के अभाव के लिये **अभेद कहे हुए (-जिसे जिनेन्द्रों ने भेदरहित कहा है ऐसे)...** आहाहा! ऐसे **मुक्ति के मार्ग को भी...** भी अर्थात्? **निज भाव से भिन्न ऐसे सकल विभाव को छोड़कर एक निर्मल चिन्मात्र को मैं भाता हूँ।** तथा मुक्तिमार्ग को भी मैं नित्य भाता हूँ। भी शब्द लिया है। भाता हूँ अर्थात् मुझमें होता है। मोक्ष का मार्ग होता ही है। आहाहा!

यह सन्तों की वाणी है। दिगम्बर सन्तों की यह वाणी है। अप्रतिबुद्ध को कहते हैं। (समयसार) ३८ गाथा में ऐसा आया है न? अप्रतिबुद्ध शिष्य को कहते हैं कि पंचम काल के सन्त, पंचम काल के अप्रतिबुद्ध जीव को कहते हैं और वह पंचम काल का अप्रतिबुद्ध जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करता है। परिपूर्ण करता है। वहाँ ३८ गाथा में आया है और वह... आहाहा! बदले नहीं वह बात। प्रगट दशा हुई, वह गिरेगी नहीं—ऐसा अप्रतिबुद्ध श्रोता, गुरु के पास सुनकर उसकी अपनी योग्यता से दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट किये, उस पंचम काल के प्राणी की पर्याय भी गिरनेवाली नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

अप्रतिहत भाव का पुकार किया है। अप्रतिहत भाव का ढिंढ़ोरा पीटा है। गिरूँगा... गिरूँगा... द्रव्य का नाश होवे तो गिरूँगा शंका तुझे होगी। आहाहा! गिरने की यहाँ बात नहीं है, चढ़ने की बात है। आहाहा! छूटने से-पूर्ण होने से ही (छुटकारा है)। क्षयोपशम है, उसका क्षायिक होगा ही और वह केवलज्ञान लेगा ही। पंचम काल का क्षयोपशम ज्ञान, क्षयोपशम समकित, क्षायिक समकित का कारण है। क्षायिक होकर ही रहेगा और उसमें से केवलज्ञान होगा ही। आहाहा!

मुमुक्षु : नहीं तो ब्रह्माण्ड का नाश हो जाएगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। नहीं तो वस्तु नहीं रहेगी। परिणाम और परिणाम का फल, दोनों नहीं रहे तो परिणाम और परिणाम के फल का धारक तो रहे नहीं। आहाहा! यह तो बहिन की भाषा आयी है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : पूज्य बहिनश्री को इतना अधिक कहना है इस बोल में?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर में भाव में है। वह कहीं रटना नहीं पड़ता। भाव ऐसा ही आया है और ऐसा ही है। कहीं रटकर, याद करके वहाँ कहना नहीं पड़ता। आहाहा!

मुक्ति के मार्ग को भी मैं नित्य नमन करता हूँ। यह १०९ गाथा (पूरी) हुई।

गाथा-११०

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।
साहीणो सम-भावो आलुंछण-मिदि समुद्दिट्ठं।।११०।।

कर्ममहीरुह-मूलच्छेदसमर्थः स्वकीय-परिणामः।
स्वाधीनः समभावः आलुञ्छन-मिति समुद्दिष्टम्।।११०।।

परमभावस्वरूपाख्यानमेतत्। भव्यस्य पारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभावः औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावानामगोचरः स पञ्चमभावः। अत एवोदयोदीरणक्षय-क्षयोपशमविविधविकारविवर्जितः। अतः कारणादस्यैकस्य परमत्वं इतरेषां चतुर्णां विभावानामपरमत्वम्।

निखिलकर्मविषवृक्षमूलनिर्मूलनसमर्थः त्रिकालनिरावरणनिजकारणपरमात्मस्वरूप-श्रद्धानप्रतिपक्षतीव्रमिथ्यात्वकर्मोदयबलेन कुदृष्टेरयं परमभावः सदा निश्चयतो विद्यमानोऽप्य-विद्यमान एव।

नित्यनिगोदक्षेत्रज्ञानामपि शुद्धनिश्चयनयेन स परमभावः अभव्यत्वपारिणामिक इत्यनेनाभिधानेन न सम्भवति। यथा मेरोरधोभागस्थितसुवर्णराशेरपि सुवर्णत्वं, अभव्यानामपि तथा परमस्वभावत्वं; वस्तुनिष्ठं, न व्यवहारयोग्यम्।

सुदृशामत्यासन्नभव्यजीवानां सफलीभूतोऽयं परमभावः सदा निरञ्जनत्वात्; यतः सकल-कर्मविषमविषद्रुमपृथुमूलनिर्मूलनसमर्थत्वात् निश्चयपरमालोचनाविकल्पसम्भवालुञ्छनाभि-धानं अनेन परमपञ्चमभावेन अत्यासन्नभव्यजीवस्य सिध्यतीति।

जो कर्म-तरु-जड़ नाश के सामर्थ्यरूप स्वभाव है।
स्वाधीन निज समभाव आलुंछन वही परिणाम है॥११०॥

अन्वयार्थ : [कर्ममहीरुहमूलछेदसमर्थः] कर्मरूपी वृक्ष का मूल छेदने में समर्थ ऐसा जो [समभावः] समभावरूप [स्वाधीनः] स्वाधीन [स्वकीयपरिणामः] निज परिणाम [आलुंछनम् इति समुद्दिष्टम्] उसे आलुंछन कहा है।

टीका : यह, परमभाव के स्वरूप का कथन है।

भव्य को पारिणामिकभावरूप स्वभाव होने के कारण परमस्वभाव है। वह पंचम भाव औदयिकादि चार विभावस्वभावों को अगोचर है। इसीलिए वह पंचम भाव उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम ऐसे विविध विकारों से रहित है। इस कारण से इस एक को परमपना है, शेष चार विभावों को अपरमपना है। समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष के मूल को उखाड़ देने में समर्थ ऐसा यह परमभाव, त्रिकाल निरावरण निज कारणपरमात्मा के स्वरूप की श्रद्धा से प्रतिपक्ष तीव्र मिथ्यात्वकर्म के उदय के कारण कुदृष्टि को, सदा निश्चय से विद्यमान होने पर भी, अविद्यमान ही है (कारण कि मिथ्यादृष्टि को उस परमभाव के विद्यमानपने की श्रद्धा नहीं है)।

नित्यनिगोद के जीवों को भी शुद्धनिश्चयनय से वह परमभाव 'अभव्यत्व-पारिणामिक' ऐसे नाम सहित नहीं है (परन्तु शुद्धरूप से ही है)। जिस प्रकार मेरु के अधोभाग में स्थित सुवर्णराशि को भी सुवर्णपना है, उसी प्रकार अभव्यों को भी परमस्वभावपना है; वह वस्तुनिष्ठ है, व्यवहारयोग्य नहीं है (अर्थात् जिस प्रकार मेरु के नीचे स्थित सुवर्णराशि का सुवर्णपना सुवर्णराशि में विद्यमान है किन्तु वह उपयोग में नहीं आता, उसी प्रकार अभव्यों का परमस्वभावपना आत्मवस्तु में विद्यमान है किन्तु वह काम में नहीं आता क्योंकि अभव्य जीव परमस्वभाव का आश्रय करने में अयोग्य हैं)। सुदृष्टियों को—अति आसन्न भव्य जीवों को—यह परमभाव सदा निरंजनपने के कारण (अर्थात् सदा निरंजनरूप से प्रतिभासित होने के कारण) सफल हुआ है; जिससे, इस परम पंचमभाव द्वारा अति-आसन्न भव्य जीव को निश्चय-परम-आलोचना के भेदरूप से उत्पन्न होनेवाला 'आलुंछन' नाम सिद्ध होता है, कारण कि वह परमभाव समस्त कर्मरूपी विषम-विषवृक्ष के विशाल मूल को उखाड़ देने में समर्थ है।

गाथा - ११० पर प्रवचन

गाथा ११०। आहाहा! क्या अस्तित्व का पुकार है! तीर्थंकरों का पुकार है। पूर्ण सत्ता का स्वीकार... आहाहा! पूर्ण प्रभु का स्वीकार, वह पूर्ण होगा ही। जैसा अन्दर में है,

वैसा पूर्ण पर्याय में आयेगा ही। नहीं तो द्रव्य नहीं रह सकेगा, जगत नहीं रह सकेगा। सत्ता की असत्ता हो जाएगी। ऐसा कभी तीन काल में नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

११० (गाथा)।

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।
साहीणो सम-भावो आलुंछण-मिदि समुद्दिट्ठं।।११०।।

सकीयपरिणामो शब्द पड़ा है उसे पारिणामिकभाव कहेंगे। अर्थ में पारिणामिकभाव कहेंगे।

जो कर्म-तरु-जड़ नाश के सामर्थ्यरूप स्वभाव है।
स्वाधीन निज समभाव आलुंछन वही परिणाम है॥११०॥

टीका : भव्य को पारिणामिकभावरूप स्वभाव होने के कारण... आहाहा! भव्य को प्रगट हुआ है, इस अपेक्षा से बात है। पारिणामिकभाव तो अभव्य को भी है, परन्तु उसे प्रगट होनेवाला नहीं है, इसलिए है, वह नहीं है। **भव्य को पारिणामिकभावरूप...** पारिणामिकभावरूप, ऐसा शब्द है।....पारिणामिकभाव... आहाहा! ऐसा **स्वभाव होने के कारण परमस्वभाव है।** परम स्व-भाव है। भव्य जीव को पारिणामिकभावस्वरूप स्वभाव होने से परम स्व-भाव अपना स्वयं स्वभाव है। स्व अर्थात् अपना ही वह भाव है। पूर्ण पारिणामिकभाव, वह भाववान, ऐसा आत्मा, उसका ही वह स्वभाव है। स्वभाववान का ही वह स्वभाव है। आहाहा!

भव्य को... अभव्य को भी स्वभाव तो पूर्ण शुद्ध है, पर्याय में प्रगट नहीं होता। आहाहा! **पंचम भाव औदयिकादि चार विभावस्वभावों को अगोचर है।** आहाहा! (पंचम) भाव, द्रव्यस्वभाव, त्रिकाली स्वभाव अस्तित्व, वह **औदयिकादि चार विभावस्वभावों को अगोचर है।** क्षायिकभाव को भी अगोचर कहा। इसका अर्थ कि क्षायिक के आश्रय से (गोचर) नहीं होता, ऐसा कहते हैं। यहाँ तो चारों ही भाव के अगोचर कहा। इसका अर्थ (यह कि) उनके आश्रय से प्रगट नहीं होता। परमपारिणामिकभाव के आश्रय से प्रगट होता है। इसलिए **औदयिकादि चार विभावस्वभावों को अगोचर है।** अगम्य है। अर्थात् कि क्षायिकभाव के आश्रय से अगम्य है। क्षयोपशमभाव के आश्रय से

अगम्य है। क्षयोपशमभाव से ज्ञात होता है, उपशमभाव से ज्ञात होता है, क्षायिकभाव से ज्ञात होता है, तथापि उससे अगोचर है। उनके आश्रय होने पर अगोचर है। क्षायिकभाव का-पर्याय का आश्रय करने जाए तो अगम्य है। आहाहा! समझ में आया? शब्द तो ऐसा है।

औदयिकादि चार विभावस्वभावों को अगोचर है। आत्मा क्षायिकभाव को भी अगम्य है। इसका अर्थ (यह कि) क्षायिकभाव की पर्याय के लक्ष्य से अगम्य है। पर्याय के ऊपर लक्ष्य करने पर वह अगम्य है। द्रव्य के ऊपर लक्ष्य करने पर वह गम्य हो सकता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म! फिर बहुत से कहते हैं न? कि एकान्त है, एकान्त है।

क्रमबद्ध की व्याख्या भाई ने अच्छी रखी है। क्रमबद्ध की पुस्तक आयी है न? पुस्तक आयी है। मुझे कुछ खबर नहीं थी, तब से मेरी दिशा पलटी... क्रमबद्ध है, तब से मेरा दिल फिर गया। और उसे सुनकर कितनों को नियतवाद और... पुरुषार्थ की हीनता देखकर... क्रमबद्ध में भी क्रमबद्ध में ही पुरुषार्थ है।... उसका निर्णय द्रव्य के आश्रय से होता है। ज्ञायकभाव के आश्रय से निर्णय (होता है)। इसलिए वह पुरुषार्थ है। पारिणामिक शुद्धभाव है, उसका पुरुषार्थ हुआ, वह तो... होनेवाली थी, काललब्धि भी उस समय में थी, उस समय निमित्त या निमित्त का अभाव जो है, उस समय... एक समय में पाँचों समवाय एक साथ ही होते हैं। समझ में आया? मार्ग ऐसा सूक्ष्म। बाहर की प्रवृत्ति में चढ़ा दिये न, इसलिए अन्तर में दृष्टि करना इसे मुश्किल पड़ जाती है। वस्तु तो...

जहाँ दृष्टि करनी है, ऐसा स्वरूप त्रिकाल विद्यमान है। है, उसकी दृष्टि करनी है। लो, ठीक। नहीं है, उसकी दृष्टि करनी हो तो दृष्टि में विपरीतता आवे। परन्तु है। भगवान है... परन्तु परमात्मा है। आहाहा! ऐसा जो चार भाव... अभाव स्वभाव। क्षायिक को, वह केवलज्ञान और क्षायिकभाव के भी अगम्य है अर्थात् पर्याय के लक्ष्य से (गम्य) नहीं होता। इसलिए चार भाव को अगम्य है। बाकी तो क्षयोपशम, क्षायिक और उपशमभाव के गम्य है। ....किस प्रकार होगा? आहाहा! अगम्य कहा, वह इस अपेक्षा से कहा है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

नियमसार ११० गाथा।

भव्य को... (अभव्य को) है परन्तु प्रगट नहीं होता। इसीलिए है, वह नहीं। अभव्य को भी पारिणामिक भाव है। इसलिए उसे है जो वह नहीं जैसा है। भव्य को प्रगट होता है। पाठ में तो '**सकीयपरिणामो**' है परन्तु परिणाम का अर्थ स्वभाव लेना है। परिणाम अर्थात् पर्याय नहीं। **भव्य को पारिणामिकभावरूप स्वभाव होने के कारण...** उसे तो सहज स्वभाव **पारिणामिकभावरूप स्वभाव होने के कारण परमस्वभाव है। वह पंचम भाव...** क्रमबद्ध में भी मूल तो पंचम भाव का ही आश्रय है। क्रमबद्ध में क्रमबद्ध का आश्रय नहीं। क्रमबद्ध में भी पंचम भाव अर्थात् ज्ञायकभाव का आश्रय है। तब उसे क्रमबद्ध का निर्णय होता है।

इसलिए कहते हैं **वह पंचम भाव औदयिकादि चार विभावस्वभावों को अगोचर है।** क्षायिकभाव को अगम्य है। क्षयोपशम, उपशम और क्षायिकभाव में ही वह ज्ञात होता है परन्तु क्षायिकभाव के आश्रय से ज्ञात नहीं होता। इसलिए उसे कहा कि चार विभाव स्वभाव है... आहाहा! उन्हें अगम्य है। उनके आश्रय से वह गम्य नहीं है। परमस्वभावभाव जो सत्त्व है, तत्त्व है, उसके आश्रय से गम्य होता है, ज्ञात होता है। इसलिए **चार विभावस्वभावों को अगोचर है।**

इसीलिए वह पंचम भाव... आहाहा! **उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम ऐसे विविध विकारों से रहित है।** विकार अर्थात् विशेष भाव। चार जो विशेष भाव हैं, उनसे रहित है। त्रिकाली पंचम परमभाव, पंचम पारिणामिकस्वभावभाव, वह चार भाव— विकाररहित है। विकार अर्थात् विशेषभाव। विकाररहित सामान्य है। आहाहा! ऐसा... है। चार विभाव को अगम्य तो कहा परन्तु चार विभाव को... है। विशेष भाव है। विशेष भाव के आश्रय से सामान्य भाव, पंचम भाव ज्ञात नहीं होता। स्वभाव के आश्रय से पंचम भाव ज्ञात होता है। ज्ञात होता है क्षयोपशम, क्षायिक में। परन्तु वह त्रिकाली वस्तु परम सत् वस्तु त्रिकाली एक स्वभावरूप, पूरा चैतन्य तत्त्व, उसके आश्रय से ज्ञात होता है। आहाहा! क्षायिकभाव के अगम्य कहा और चार भाव विकारवाले कहा। दो... कहे। चार भावों से अगम्य है अर्थात् आत्मा त्रिकाली परम पंचम भाव... और पर्यायें विशेष प्रकार से है,

....विकारभाव कहा। है न ? उदय, उदीरणा—उदय में लाने की उदीरणा है। आहाहा! **ऐसे विविध विकारों से रहित है।**

इस कारण से इस एक को परमपना है,... त्रिकाली जो ध्रुवस्वभाव, त्रिकाली सकल निरावरण अखण्ड एक स्वभाव... **इस एक को परमपना है,...** आहाहा! त्रिकाली स्वभावभाव एकरूप भाव... पंचम भाव... चार को परमपना नहीं। आहाहा! क्षायिकभाव-केवलज्ञान, मोक्ष को परमपना नहीं। वह... नहीं। आहाहा! वह... है यह पर्याय की अपेक्षा से वह नहीं। स्वकीय परिणाम अर्थात् स्वकीय पारिणामिकभाव - ऐसे अर्थ में शब्द प्रयोग किया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं अपने भाव के लिये... आहाहा! यह सब कठिन पड़े।.... उसका आश्रय नहीं। प्रगटे पर्याय में परन्तु... पर्याय का आश्रय लेने जाता है तो विकल्प होते हैं। क्षायिक समकित का आश्रय भी जिसे नहीं। विकार भाव अर्थात् विशेष भाव, (उसके) अगम्य है। परमस्वभावभाव के आश्रय से अगम्य है। आहाहा! यह बाहर की धमाधम चले, उसमें यह जँचना (कठिन पड़ता है)। चार भाव को गम्य नहीं है। चार भाव विकारवाले हैं। उन्हें गम्य नहीं, ऐसा कहा और वह विकार—विशेष भाव है, इसलिए उस विशेष भाव के आश्रय से... आहाहा!

इस कारण से इस एक को... स्वकीय परिणाम 'पंचास्तिकाय' में बोल लिया है। ५६वीं गाथा में। वहाँ पारिणामिकभाव... वह पारिणामिकस्वभाव त्रिकाल। ऐसा संस्कृत टीका में है। त्रिकाली पारिणामिकभाव... आहाहा! पारिणामिकभाव अर्थात् पारिणामिक अर्थात् स्वपारिणामिक। त्रिकाली त्रिकाल पारिणामिकभाव। वह गम्य है। उसका आश्रय करे तो ज्ञात हो, ऐसा है। पर्याय का आश्रय करे तो (ज्ञात हो, ऐसा नहीं है)। आहाहा! गजब बात है। इतना सब... कथानुयोग का कहाँ गया ? कहीं गया नहीं। सब है।....

पलटता नहीं, जिसकी आदि नहीं, जिसका अन्त नहीं, जिसकी एकरूपता मिटती नहीं, कभी अनेकरूप होता नहीं। आहाहा! ऐसा जो त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव परमपारिणामिक स्वभावभाव, वह एक ही परमभाव है। क्षायिकभाव भी परमभाव नहीं है। आहाहा! क्षायिकभाव को अगम्य कहा अर्थात् कि उसके आश्रय से लक्ष्य नहीं होता। विकारवाला कहा अर्थात् विशेष कहा। इसलिए विशेष के आश्रय से सामान्य ज्ञात नहीं होता और इसलिए उस भाव को अपरमभाव कहा जाता है। आहाहा! है ?

शेष चार विभावों को अपरमपना है। तीन प्रकार प्रयोग किये। कौन से तीन प्रकार ?—कि चार भाव हैं, वे विभावभाव हैं, उनसे अगम्य है। वे विकारवाले हैं अर्थात् विशेषवाले हैं, उनके आश्रय से अगम्य है। वह विशेषभाव है, इसलिए वे अपरमभाव हैं। तीन प्रकार कहकर उनका निषेध कर दिया और पहले में चार भाव को अगम्य (कहा), तब पारिणामिकस्वभाव को गम्य है (ऐसा कहा)। पारिणामिकस्वभाव विशेषरहित है। पारिणामिकस्वभाव, वह एक परमभावस्वरूप है। आहाहा! जहाँ पूर्ण परमात्मा विराजता है, वहाँ इसे ढलना है। बाकी सब बातें हैं।

चारों अनुयोगों में साररूप से तात्पर्यरूप से अनुयोग में पंचास्तिकाय में १७२ गाथा में वीतरागभाव, यह चारों ही अनुयोग का सार है। कोई कहे कि चरणानुयोग में अमुक है, अमुक है। उन सबका सार वीतरागभाव है और वीतरागभाव की पर्याय, वह वीतरागभाव की पर्याय के आश्रय से प्रगट नहीं होती। आहाहा! वीतरागभाव की पर्याय वीतरागभाव जो एक परम है, चार से अगम्य है, चार के विशेष से भिन्न है, जिसे एक ही परमपना है। बाकी दूसरा अपरमपना है। आहाहा! कहो, समझ में आया ? ऐसी बातें।

अब उसमें तो एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिया, चौइन्द्रियापंचेन्द्रिया,... मिच्छामि दुक्कड्म हो गया। सामायिक हो गयी। इच्छामि पडिक्कमणा तत्सूत्री करणेणम्। आहाहा! वह तो सब विकल्प की बातें हैं। वह कहीं मोक्षमार्ग की बातें नहीं है। आहाहा! क्योंकि आत्मा मुक्तस्वरूप है। अबन्धस्वरूप कहो या मुक्तस्वरूप कहो; मुक्तस्वरूप कहो या एक परमभावस्वरूप कहो। १४-१५ गाथा में जो अबन्ध कहा है, उसका अर्थ मुक्तस्वरूप। अबन्ध नास्ति से कहा है। अस्ति से वह मुक्तस्वरूप ही प्रभु है। वह चार भाव को स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! गजब बात!

पंचम एक परमभाव; चार जो अपरमभाव है, उनमें नहीं आता, इसलिए स्पर्श नहीं करता, इसलिए उन्हें स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसा स्वरूप है, फिर सोनगढ़वालों का एकान्त कहे नहीं ? यह कहे और वह कहे। आहाहा! बाहर में ऐसी धमाधम चलती हो, शिक्षणशिविर और हजारों लोग इकट्ठे हों। हो... हा... हो... हा... उसमें पाँच-पचास हजार, लाख-दो लाख दे, उसे तो ऐसे धर्म धुरन्धर भारी धर्मी कहा जाता है। लो।

यहाँ तो कहते हैं कि क्षायिकभाव के आश्रय से भी परमभाव प्रगट नहीं होता, ले!

तेरे रुपये-फुपये तो कहीं रह गये। आहाहा! क्षायिकभाव प्रगट होता है, वह परमपारिणामिकभाव के आश्रय से प्रगट होता है। उसके (क्षायिकभाव के) आश्रय से वह प्रगट नहीं होता अर्थात् कि पहले क्षायिक समकित आदि हुआ हो, उसके आश्रय से क्षायिक केवलज्ञान नहीं होता। आहाहा! चौथे (गुणस्थान में) क्षायिक समकित हुआ हो परन्तु उसके आश्रय से क्षायिक केवलज्ञान नहीं होता।

एक ओर कहना कि मोक्ष का मार्ग है, उससे मोक्ष होता है। यह व्यवहार का कथन है। मोक्षमार्ग, उसका फल वह मोक्ष। अधूरी / अपूर्ण शुद्धदशा, वह पूर्ण शुद्धदशा का कारण है, वह यहाँ नहीं। पूर्ण शुद्धदशा के आश्रय से भी पूर्ण दशा नहीं रहती, उत्पन्न नहीं होती, टिकती नहीं, बढ़ती नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। फिर लोग न कहे कि यह सब पूरे दिन फिर यह करना... यह करना... यह करना... बस, करना कुछ नहीं। कर्म-कर्ता। अरे! यहाँ तो कहते हैं कि क्षायिकभाव का कर्ता भी नहीं है। सुन न! पर के कर्ता की बात भी कहाँ करनी? आहाहा!

ऐसा द्रव्य दृष्टि में आये बिना... द्रव्य के आश्रय से ही क्षायिकभाव प्रगट होता है। केवलज्ञान भी द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है। केवलज्ञान, मोक्षमार्ग के आश्रय से प्रगट होता है - ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। मोक्षमार्ग से मोक्ष होता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। आहाहा! यहाँ तो क्षायिकभाव की मोक्ष की पर्याय भी परमपारिणामिक एक स्वभावभाव के आश्रय से होती है। इसलिए **शेष चार विभावों को अपरमपना है।** आहाहा! गजब है न! क्षायिकभाव, केवलज्ञान, अनन्त आनन्द प्रगटे, वह भी अपरमभाव है; परमभाव नहीं। कायम टिकते तत्त्व का रसकन्द, अनन्त आनन्द का कन्द, रसकन्द, ध्रुवकन्द के आश्रय से क्षायिकभाव प्रगट होता है। क्षायिकभाव के आश्रय से क्षायिकभाव प्रगट नहीं होता, इसलिए इस नियमसार की ५०वीं गाथा में कहा है कि पर्याय है, वह परद्रव्य है। क्षायिक पर्याय जो है... आहाहा! क्षायिक समकित है, क्षायिक यथाख्यातचारित्र है, वह परद्रव्य है, क्योंकि उसके आश्रय से कोई दशा प्रगट नहीं होती। आहाहा! पंचम भाव जो भगवान आत्मा, उसके अवलम्बन से क्रमबद्ध का निर्णय, उसके अवलम्बन से क्षायिकभाव की पर्याय की प्रगटता, उसके अवलम्बन से मोक्षमार्ग की पर्याय की उत्पत्ति और उसके अवलम्बन से मोक्ष की उत्पत्ति (होती है)। मोक्षमार्ग के कारण मोक्ष की

उत्पत्ति (होती है), यह (बात) भी नहीं है। **समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष के मूल को उखाड़ देने में...** अर्थात् कि... यह पर्याय की बात नहीं है। **समस्त...** पाठ है न? '**कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो**' त्रिकाली भाव। '**कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो**'... '**सकीयपरिणामो**' अर्थात् त्रिकाली स्वभाव। आहाहा! है इसमें? है या नहीं? यह **समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष के मूल को उखाड़ देने में...** आहाहा! तीर्थंकरगोत्र, वह कर्मरूपी विषवृक्ष का फल। आहाहा! तीर्थंकरप्रकृति, आहारकशरीर, आहारक अंगोपांग का बन्धन, वह सब कर्मरूपी विष-जहर का वृक्ष। आहाहा! यह अमृत काा सागर उस जहर के वृक्ष को उखाड़ने में समर्थ है। अर्थात् कि इसमें वह है नहीं। है? **मूल को उखाड़ देने में समर्थ ऐसा यह परमभाव,...** और परमभाव में वह है नहीं और उखाड़ डाले कहाँ से? भाषा ऐसी ली है। वह परमभाव कर्म के जहर के वृक्ष को नाश करने के लिये समर्थ है अर्थात् उसमें यह है नहीं। है नहीं अर्थात् वह नाश करने को समर्थ है—ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : नाश करने में निमित्त है, ऐसा कहा जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त-फिमित्त की यहाँ बात नहीं है।

यहाँ तो परमपारिणामिकभाव ही कर्म को उखाड़ डालने में (समर्थ है) अर्थात् कि कर्म का भाव उसमें है ही नहीं। इसलिए उखाड़ना कहना, वह तो एक अपेक्षा से बात है। आहाहा! परमभाव में अपरमभाव नहीं है। उसमें कर्मभाव तो है ही नहीं, तथापि उसे उखाड़ डालना कहना, वह कथन है। यह (समयसार की) ३४ गाथा में आ गया है। आत्मा राग का नाश करता है, यह नाममात्र कथन है। राग का, हों! यह तो कर्म का लिया है। आत्मा राग का नाश करे, यह नाम कथन है क्योंकि जहाँ स्वभाव का आश्रय होता है, वहाँ राग उत्पन्न नहीं होता, उसे यह नाश करता है—ऐसा कहने में आता है। नाम कथन है। परमार्थ से तो नाश करनेवाला भी नहीं है। आहाहा!

समस्त कर्मरूपी... इसमें सब आ गया न? तीर्थंकरगोत्र की प्रकृति भी आ गयी। १४८ कर्म की प्रकृति में तीर्थंकरगोत्र की प्रकृति आ गयी। वह पंचम भाव उस प्रकृति - जहर के वृक्ष को उखाड़ने में अर्थात् उसमें है ही नहीं। उसमें है ही नहीं अर्थात् उसे उखाड़ने में समर्थ है, ऐसा आरोप से कथन है। आहाहा! ऐसा यह परमभाव **विषवृक्ष के**

मूल को उखाड़ देने में समर्थ ऐसा यह परमभाव,... और पहले कहा कि यह परमभाव विभावस्वभाव के अगोचर है। विभाव स्वभाव है, वह विकारवाला है विशेष है। विकार अर्थात् विशेष है। विशेष को सामान्य करता ही नहीं परन्तु यहाँ इस अपेक्षा से ऐसा लिया है। एक सामान्य का जहाँ आश्रय होता है, वहाँ विशेष उत्पन्न होते ही नहीं। विशेष निर्मलदशा उत्पन्न होती है, वह सामान्य के आश्रय से होती है। पूर्व जो निर्मल परिणाम थे, उसके आश्रय से दूसरी निर्मल पर्याय हुई, ऐसा नहीं है। पूर्व में परिणाम निर्मल थे, इसलिए बाद के परिणाम निर्मल हुए, ऐसा नहीं है क्योंकि उस पर्याय का तो अभाव होता है। तब भावरूप क्या है? अभावभाव तो करता नहीं। अभाव—व्यय, वह भाव को करता नहीं, तो करता कौन है? इतना बतलाने के लिये पंचम पारिणामिकभाव उखाड़ डालता है, ऐसा कहा है। बाकी तो वह उखाड़ता भी नहीं। पंचम भाव की दृष्टि हुई, इसलिए दूसरा भाव उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! ऐसा कठिन है!

ध्येय क्या है, उसकी एक ही बात है। पश्चात् साध्य तो प्रगटता ही है। साध्य है, वह क्षायिकभाव है परन्तु ध्येय के आश्रय से प्रगट होता है। आहाहा! ध्यान के आश्रय से भी वह प्रगट नहीं होता। ध्यान पूर्व की पर्याय है और बाद की पर्याय उसका फल, वह भी यहाँ नहीं। त्रिकाली ज्ञायकभाव भगवान, पंचम परमभाव कर्म के मूल को उखाड़ डालने में समर्थ है। अर्थात् उसमें कर्म है ही नहीं। आहाहा! परमभाव कर्म को स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! उसे उखेड़ डालने को समर्थ है, ऐसा आरोप से कथन व्यवहार से है। आहाहा! इस प्रकार बहुत बात इसमें आती है। परमभाव ऐसा करे और परमभाव... परमभाव क्या करे? परमभाव तो परमभाव है ही। आहाहा!

त्रिकाली ध्रुवस्वभाव, नित्य स्वभाव, आनन्द का दल, त्रिकाली आनन्द दल परमभाव के आश्रय से क्षायिकभाव प्रगट होता है, इसलिए कर्म को उखाड़ डालने में समर्थ है, ऐसा उसे आरोप दिया जाता है। बाकी वह तो उखाड़ता भी नहीं, टालता भी नहीं और रखता भी नहीं। उसमें वह है ही नहीं। जिसमें नहीं है, उसे उखाड़ता है, ऐसा कहना... आहाहा! समझ में आया? पर्याय में है और पर्याय में नाश होता है, यह तो बराबर है परन्तु पारिणामिकभाव में तो वह है नहीं। और वह पारिणामिकभाव उसे उखाड़ने में समर्थ है, यह व्यवहार के कथन से परमभाव की महिमा बतायी है। आहाहा!

बारम्बार इसे परमभाव पर दृष्टि करनी है। 'लाख बात की बात निज आतम उर ध्याओ।' पर्याय को भी नहीं। आतम ध्याओ। आहाहा! यह एकान्त नहीं होता? अनेकान्त मार्ग है। वह अनेकान्त है कि इससे होता है और दूसरे से नहीं होता। आहाहा! क्षायिकभाव से क्षायिकभाव नहीं होता। वह तो परमपारिणामिकभाव से होता है। आहाहा! यह भी व्यवहार कहने में आता है। बाकी तो पर्याय, पर्याय से होती है। परमभाव से भी वह पर्याय नहीं होती। आहाहा! गाथा सूक्ष्म आयी है। सवेरे का सूक्ष्म था। अब यह गाथा सूक्ष्म आयी।

ऐसा **समस्त कर्मरूपी...** आहाहा! तीर्थंकरप्रकृति का बन्धन है परन्तु वह भी प्रकृति है, विषवृक्ष है। उस **समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष के मूल को उखाड़ देने में समर्थ ऐसा यह परमभाव,...** है। ऐसा यह परमभाव। आहाहा! आचार्यों को शब्द थोड़े पड़ते हैं। किस प्रकार परमभाव कहना, इसलिए उखाड़ डालने में समर्थ कहकर समझाया है। बाकी कहाँ उसमें है, उसे उखाड़े? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! वीतरागमार्ग अलौकिक है। लौकिक के व्यवहार के साथ कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं है। लौकिक से विरुद्ध लगे, एकान्त लगे ऐसा है। जिस समय जो होता है, वह होता है, वह भी द्रव्य के कारण से नहीं। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, द्रव्य उसे-चार भाव को उखाड़ डालता है। आहाहा! अर्थात् कि उसमें वह पर्याय है नहीं, ऐसा कहना है। उसमें यह उखाड़ना, वह स्वरूप में नहीं है। इसलिए उखाड़ डालता है, ऐसा वहाँ कथन करने में आया है। आहाहा!

यह परमभाव, त्रिकाल निरावरण... त्रिकाल-निरावरण है। आवरण है नहीं, इस आवरण को उखाड़ता है, ऐसा कहकर वापस और (कहते हैं), त्रिकाल निरावरण है। आहाहा! भगवान स्वयं भगवत्स्वरूप प्रभु, विशेष पर्यायरहित, वह त्रिकाल निरावरण है। त्रिकाल निरावरण। निगोद में भी वह त्रिकाल निरावरण ही है। आहाहा! पर्याय में अक्षर का अनन्तवाँ भाग निगोद को विकास रह गया परन्तु द्रव्य तो त्रिकाल निरावरण ही पड़ा है। भगवान तो उसमें भी ऐसा का ऐसा ही पड़ा है। आहाहा! एक शरीर में अनन्त आत्माएँ, एक शरीर अंगुल के असंख्यवें भाग में अनन्त आत्माएँ (रहते हैं)। वे अनन्त आत्माएँ परमात्मस्वरूप ही स्थित हैं। उनकी अक्षर के अनन्तवें भाग की पर्याय या क्षायिक पर्याय, उसे वह पारिणामिकभाव स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा!

त्रिकाल निरावरण। त्रिकाल निरावरण हुआ तो फिर उसे आवरण उखाड़ डालता

है - (यह) कहाँ आया ? त्रिकाल निरावरण है न ? तो इसके पहले ऐसा कहा कि उखाड़ डालता है। आवरण को उखाड़ डालता है। भाषा, व्यभिचारी भाषा है। वस्तु भिन्न, भाषा भिन्न। भाषा से कितना कहना ? कैसे कहना उसे ? आहाहा ! एक ओर कहा कि उखाड़ने में समर्थ है और एक ओर कहना कि त्रिकाल निरावरण है।

ऐसे **निज कारणपरमात्मा के स्वरूप की श्रद्धा से प्रतिपक्ष...** त्रिकाल निरावरण ऐसा निज कारणपरमात्मा। निज कारण, ऐसा वापस लिया। ऐसा नहीं कि त्रिकाल निरावरण परमात्मा। कारणपरमात्मा नहीं, निज कारणपरमात्मा, यह कारणपरमात्मा। **त्रिकाल निरावरण निज कारणपरमात्मा के स्वरूप की श्रद्धा से प्रतिपक्ष तीव्र मिथ्यात्वकर्म के उदय के कारण...** तीव्र मिथ्यात्वकर्म के प्रगटपने के कारण। **कुदृष्टि को,...** आहाहा ! **सदा निश्चय से विद्यमान होने पर भी,...** जिसकी दृष्टि में वह चीज़ आयी नहीं, उसे वह है ही नहीं। आहाहा ! धारणा में—ज्ञान में आवे, तो भी उसे वह है। वस्तु है नहीं उसे। वस्तु जो त्रिकाल है, वह अनुभव में आती है, उसे वह है। अनुभव में नहीं आती, उसे वह नहीं है। है, वह नहीं है। आहाहा !

मिथ्यात्वकर्म के उदय के कारण कुदृष्टि को, सदा निश्चय से विद्यमान होने पर भी,... देखो ! सदा निश्चय से अस्ति धराता होने पर भी। भगवान आत्मा परमस्वभावभाव त्रिकाल सदा अस्ति धराता होने पर भी, अस्ति, उसकी सत्ता होने पर भी। **अविद्यमान ही है...** दृष्टि में आया नहीं, इसलिए उसे तो नहीं है। भले वस्तु हो। परन्तु वस्तु जहाँ दृष्टि में आयी नहीं, ज्ञान में आयी नहीं, उसे तो है ही नहीं। ज्ञान में वह चीज़ आयी नहीं, उसे तो वह नहीं है। समझ में आया ?

विद्यमान होने पर भी,... ऐसा कहा न ? **विद्यमान होने पर भी,...** निश्चय से अस्ति-सत्ताधारक होने पर भी **अविद्यमान ही है...** पर्याय में दृष्टि होने से, उस वस्तु की दृष्टि नहीं होने से, उसे विद्यमान भी अविद्यमान ही है। क्या चीज़ है, वह दृष्टि में आयी नहीं। उसके ज्ञान में वह ज्ञेय आया नहीं, इसलिए वह ज्ञेय उसे आया नहीं, इसलिए वह ज्ञेय विद्यमान होने पर भी ज्ञान में आया नहीं, इसलिए उसे अविद्यमान है। ऐसी तो टीका है। आहाहा !

विद्यमान होने पर भी,... आहाहा ! सत्ता ही पड़ी है। भले मिथ्याश्रद्धा हो, भले

पर्याय में कुदृष्टि हो परन्तु वस्तु तो वस्तु पड़ी ही है। त्रिकाल निरावरण ही है। आहाहा! पर्याय में चाहे जो माने, इससे वस्तु तो विद्यमान ही है परन्तु उसे लक्ष्य में नहीं आयी, इसलिए होने पर भी उसे नहीं है। उसे तो वह पर्याय है, वह है। वस्तु उसे विद्यमान है, वह उसे नहीं है। पर्याय की विद्यमानता है। द्रव्य की विद्यमानता होने पर भी उसे अविद्यमान है। आहाहा! पूरी गाथा ऐसी कठिन है। आहाहा!

विद्यमान त्रिकाल प्रभु विराजमान है। ऐसा का ऐसा त्रिकाल सकल निरावरण अखण्ड एक प्रतिभासमय प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य त्रिकाल निरावरण है। त्रिकाल निरावरण वस्तु है। उसे राग का भी सम्बन्ध नहीं है। पर्याय के अंश में राग का सम्बन्ध है। द्रव्य में-वस्तु में तो राग का सम्बन्ध भी नहीं है। आहाहा! अब इसमें व्यवहार के रसिक जीवों को कठिन पड़ता है। यह करो... यह करो... मदद करो... दूसरे का संग करो। यहाँ कहते हैं कि यहाँ तो संग करने की भी ना है। असंग को संग क्या? असंग को संग क्या? वस्तु असंग है। आहाहा! वह संग करने जाए, वहाँ राग उत्पन्न होगा। आहाहा! असंग में वह राग नहीं है। वह तो त्रिकाल निरावरण असंग तत्त्व है। भगवान आत्मा सबका आत्मा पर्याय के लक्ष्य बिना देखो तो, पर्यायदृष्टि छूटी है, उस लक्ष्य से देखो तो सब आत्मा विद्यमान परमात्मस्वरूप विराजमान ही है। उसे आवरण भी नहीं और उसे अल्पता भी नहीं तथा उसे विपरीतता भी नहीं। आहाहा! यह घोषणा है।

परमस्वभावभाव... आहाहा! जिसे विद्यमान होने पर भी कुदृष्टि को, दृष्टि की विपरीतता को। (अर्थात्) पर का कर्तापना माननेवाला, राग का कर्तापना माननेवाला पर्यायबुद्धिवन्त को द्रव्यपना विद्यमान होने पर भी पर्यायबुद्धिवान को वह वस्तु नहीं है। एक समय की पर्याय की बुद्धिवाले को (वह वस्तु नहीं है)। वह मिथ्यादृष्टि है। पर्याय मूढा परसमया। आहाहा! एक समय की अवस्था की दृष्टि को मूढ़ दृष्टि को वह है, तथापि उसे नहीं है। उसके ख्याल में आये बिना 'वह है' ऐसा कैसे कहना? आहाहा! है, ऐसा भगवान अन्दर... आहाहा! परमभाव जानने में आया, उसे है। जानने में न आया, उसे है, वह ख्याल में आये बिना वह 'है' वह किस प्रकार से माने? आहाहा!

यह तो १७-१८ गाथा में यही कहा न? पर्याय में द्रव्य ज्ञात होता है। समयसार की

१७-१८ गाथा। पर्याय में... ज्ञान की पर्याय है, उसका स्वतः स्वयं स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। स्वतः स्वभाव है, इसलिए वह स्व को प्रकाशित करता है। आहाहा! परन्तु उसकी नजर वहाँ नहीं है, इसलिए इसे प्रकाशित नहीं करता। आहाहा! पर्याय में स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य होने से, द्रव्य-गुण के कारण नहीं, पर्याय में स्व-परप्रकाशक जानने का सामर्थ्य होने से द्रव्य को जानता ही है, तथापि उस सामर्थ्य की ओर इसका लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य पर्याय के ऊपर होने से और पर्याय से आगे जाए तो राग के ऊपर लक्ष्य होने से, इसे विद्यमान है, (तथापि) इसे अविद्यमान है। आहाहा! ऐसा उपदेश है। इसमें झुण्ड एकत्रित हों, लाखों लोग इकट्ठे हों और यह जँचे नहीं। बात सुनने पर उन्हें (ऐसा लगता है) एकान्त है... एकान्त है... शोर मचाते हैं। सुन, भाई! भगवान! एकान्त ही है।

निश्चयनय सम्यक् एकान्त है। अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त है। पर्याय और रागादि का ज्ञान होने पर भी... आहाहा! सम्यक् एकान्त, वह निश्चयनय है, वह सम्यक् एकान्त वह निश्चयनय वह सत्य है। उसकी अपेक्षा से तो यह पर्याय है नहीं। आहाहा! सम्यक् एकान्त है। यह अनेकान्त है। सम्यक् एकान्त अर्थात् यह है (और) यह नहीं। ऐसा सम्यक् एकान्त, वह अनेकान्त है। अनेकान्त भी अनेकान्त है। अनेकान्त भी अनेकान्त ही है, ऐसा नहीं। अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे नय की अपेक्षा से... आहाहा! सम्यक् एकान्त है। पर्याय में अभाव होने पर भी निश्चयनय के सम्यक् एकान्त की अपेक्षा से, परमभाव की दृष्टि की अपेक्षा से वह भाव है ही नहीं। उसमें वह है ही नहीं। यह सम्यक् एकान्त निश्चय है। आहाहा! सम्यक् एकान्त का ज्ञान हुआ, वह फिर पर्याय है, उसे जानता है, वह व्यवहारज्ञान, प्रमाणज्ञान हुआ परन्तु सम्यक् एकान्त हुआ, उसे वह प्रमाणज्ञान होता है। जिसे सम्यक् एकान्त नहीं हुआ, उसे प्रमाणज्ञान नहीं हो सकता। आहाहा! ऐसा है। वहाँ कहीं ऐसा सुना था? स्थानकवासी में?

मुमुक्षु : दिगम्बर में नहीं तो स्थानकवासी में....

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन है। दिगम्बर में बहुत कठिन। अरे रे! कोई प्राणी दुःखी हो, वस्तु की स्थिति से विपरीत मान्यता से वर्तमान दुःखी हो, भविष्य में दुःखी हो, ऐसी किसकी भावना होगी! आहाहा! इसलिए द्रव्यसंग्रह में (धर्मध्यान के भेद) अवाय में कहा न? मैं भी पूर्ण होऊँ और सब पूर्ण होओ। प्रभु! तुम दुःखी न होओ। आहाहा! यह

दु:ख, वह वस्तु ही नहीं है; अवस्तु है। वस्तु तो महा आनन्दमय है। अवस्तु है तो टल सकती है; वस्तु हो, वह टल नहीं सकती। आहाहा! भगवान ऐसा कहकर कहते हैं, हों! द्रव्यसंग्रह में धर्मध्यान का बोल लिया है। जहाँ अवाय (का) बोल लिया है। उस अवाय में धर्मी ऐसा विचार करता है... आहाहा! मैं तो भगवान हूँ, शक्ति से प्रगट होनेवाला ही हूँ। सब परमात्मा शक्ति से हैं। प्रगट पर्याय में परमात्मा होओ। कोई दु:खी न होओ। आहाहा! ऐसा धर्मध्यान का अवाय का बोल है। द्रव्यसंग्रह। द्रव्यसंग्रह है न? उसमें है। आहाहा! सब द्रव्य साधर्मी द्रव्य हैं। जैसा मैं भगवान परमभाव हूँ, वैसे ही सब परमभाव स्वभाव से भरपूर ही है। आहाहा! वह प्रगट होओ, हमारे भी प्रगट होनेवाला है ही। तुम्हें भी प्रगट होओ। कोई दु:खी न होओ, भाई! आहाहा! ऐसी भावना करते हैं।

(समयसार) ३८वीं गाथा में भी आया न? लोकालोक यहाँ आओ, समा जाओ। समयसार की ३८वीं गाथा। यह तो द्रव्यसंग्रह की। आहाहा! यहाँ सब लोकालोक समा जाओ, ज्ञात हो जाओ। पूरे सब जीव सब आत्मा में समा जाओ। आहाहा! विशाल दृष्टि! द्रव्यदृष्टि हुई, वहाँ विशाल दृष्टि हुई। विशाल दृष्टि होने पर सबको भगवानरूप से (देखता है)। बहिन की पुस्तक में आता है, हम तो सर्व को सिद्ध समान देखते हैं, चैतन्यस्वरूप देखते हैं। वे चाहे जैसे माने। आता है न? भाई! आहाहा! वे चाहे जैसा माने। आहाहा! भगवान! तेरा आत्मा भी परमस्वभावरूप है। तू चाहे जैसा मान, ऐसा कहकर वह तो पर्याय की व्याख्या है। वस्तु तो परमात्मा ही है, भाई! और है, वैसा हो जा। आहाहा! प्राप्त की प्राप्ति कर ले। आहाहा! यहाँ कहेंगे कि अभव्य को यह नहीं जँचेगा।

(कारण कि मिथ्यादृष्टि को उस परमभाव के विद्यमानपने की श्रद्धा नहीं है)। जो वस्तु ख्याल में ही आयी नहीं, इतनी और यह ऐसी है, ऐसा जो ज्ञान में ही नहीं आया, उसे यह इतना है, यह किस प्रकार बैठे (जँचे)? उसे किस प्रकार बैठे? उसे तो वह है, वह नहीं है। आहाहा! **(कारण कि मिथ्यादृष्टि को उस परमभाव के विद्यमानपने की श्रद्धा नहीं है)।** आहाहा! पूर्ण परमात्मा, पूर्ण आनन्दस्वरूप हूँ। पूर्ण निरावरण त्रिकाल निरावरणस्वरूप हूँ, ऐसी जिसे श्रद्धा नहीं अर्थात् श्रद्धा में, ख्याल में वस्तु आयी नहीं। ज्ञान में यह ज्ञेय इतना और इतना है। यह ज्ञान में ज्ञेय इतना आया नहीं, इसलिए उसे तो है ही नहीं। उसे तो जितना ज्ञान में आया, उतना वह है। आहाहा! समझ में आया? वस्तु अन्दर

परिपूर्ण भरी है, वह ज्ञान में आवे नहीं, उसके लिये तो विद्यमान होने पर भी अविद्यमान है। वह भले अविद्यमान माने, परन्तु वस्तु तो विद्यमान है ही। जिसे विद्यमान का ज्ञान हुआ है, वह भले अविद्यमान माने, परन्तु उसकी चीज़ विद्यमान है, ऐसा तो उसे भी दृष्टि में है। महा भगवान विराजता है। आहाहा!

नित्यनिगोद के जीवों को भी... देखा? निगोद में से कभी निकलते नहीं। आहाहा! एक शरीर के अनन्तवें भाग में से निकले। ऐसे तो निगोद के असंख्य शरीर हैं। एक शरीर को अनन्तवें भाग के जीव बाहर आते हैं। आहाहा! ओहोहो! जैसी वस्तु विद्यमान त्रिकाल है, उसी प्रकार से पर्याय में **नित्यनिगोद के जीवों को भी...** आहाहा! **शुद्धनिश्चयनय से वह परमभाव 'अभव्यत्व-पारिणामिक' ऐसे नाम सहित नहीं है...** वह अन्दर विद्यमान है, वह नहीं है—ऐसा नहीं है, ऐसा। **'अभव्यत्व-पारिणामिक' ऐसे नाम सहित नहीं है...** अभव्य को तो परिणति होती नहीं, ऐसा यह नहीं है। आहाहा! है?

नित्यनिगोद के जीवों को भी शुद्धनिश्चयनय से वह परमभाव 'अभव्यत्व-पारिणामिक' ऐसे नाम सहित नहीं है... उसका त्रिकाल स्वभाव, वह अभव्यत्व पारिणामिक जैसा नहीं है। 'अभव्यत्वपारिणामिक' को तो पर्याय में कभी आता ही नहीं और इसे तो पर्याय में आता है, इस प्रकार से है। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? अभव्य जीव को विद्यमान तो है, परन्तु ख्याल में आता नहीं, इसलिए उसे नहीं है। उसी प्रकार दूसरे सबको नहीं है। आहाहा! ख्याल में आवे, ऐसा उस प्रकार से अन्दर है। आहाहा! देखा? **'अभव्यत्व-पारिणामिक' ऐसे नाम सहित नहीं है (परन्तु शुद्धरूप से ही है)।** यह वस्तु तो उसकी शुद्धरूप ही है। वह पर्याय में भले चाहे जैसा माने। वस्तु शुद्ध (है, ऐसा) अपने को पर्यायदृष्टि गयी है, तो उस पर्यायदृष्टि से सामनेवाले को न देखकर शुद्ध वस्तु है, परमस्वभावभाव से भरपूर है, ऐसा (देखता है)। उसका दृष्टान्त देंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

नियमसार, ११० गाथा। यहाँ तक आया है। **नित्यनिगोद के जीवों को भी....**क्या कहते हैं ? यह आत्मा का जो पंचम परमभाव वस्तुरूप से-सत्तारूप से-अस्तित्वरूप से जो सत् है, वह **नित्यनिगोद के जीवों को भी शुद्धनिश्चयनय से वह परमभाव 'अभव्यत्व-पारिणामिक' ऐसे नाम सहित नहीं है...** अर्थात् उनका परिणाम न परिणम सके—शुद्धस्वभाव को न परिणम सके—ऐसा उसे नहीं है। अभव्य जीव को वस्तु है, परन्तु उसे आश्रय नहीं; इसलिए वह उसके योग्य नहीं। ऐसे यहाँ निगोद के जीव को योग्य नहीं, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। निगोद के जीव में भी... आहाहा! यह लहसुन और प्याज का एक राई जितना टुकड़ा लो तो (उसमें) असंख्य तो शरीर है और एक-एक जीव को तैजस, कार्मण शरीर है। ऐसे एक अंगुल के असंख्य भाग में अनन्त आत्मायें (रहते हैं), परन्तु उस आत्मा का जो सत्व-दल है, वह तो नित्य निगोद के जीव को भी शुद्ध ही है। आहाहा!

नित्यनिगोद के जीवों को भी... ऐसा। प्रगट हुआ है, उसे तो ठीक परन्तु **नित्यनिगोद के जीवों को भी शुद्धनिश्चयनय से वह परमभाव 'अभव्यत्व-पारिणामिक' ऐसे नाम सहित नहीं है...** शुद्ध है। आहाहा! यह आनन्द और परमात्मस्वरूप से शुद्ध ही है और उस परमात्मस्वरूप से परिणमन सकता है, ऐसा है। नित्य निगोद के जीव में भी ऐसी शक्ति है। वह अभव्य परिणम नहीं सकता, वैसा यह नहीं है—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

वस्तु है न ? अन्तर में चैतन्य सत् का सत्त्व, ऐसा तत्त्व जो है, वह तो ज्ञायकपने का अनन्त गुण का पूर्ण रूप है। वह स्वयं स्वत:पने स्वयं अन्तर में स्वभावरूप से परिणम सकने को नित्य निगोद के जीव में भी ताकत है। आहाहा! भले इस समय न कर सके, परन्तु उसमें ताकत है। नित्य निगोद का जीव (वहाँ से) निकलकर भी मनुष्य होकर परम पारिणामिकस्वभाव का अनुभव करके अन्तर्मुहूर्त में मुक्ति को पाये। आहाहा!

'अभव्यत्वपारिणामिक' ऐसे नाम सहित नहीं है... आहाहा! इससे ऐसा कहा, अभव्य जीव का तो जीव शुद्धरूप वस्तु है, परन्तु वह परिणमने के योग्य नहीं है; पूर्ण जैसा स्वरूप है, वैसा होने के योग्य वह नहीं है, ऐसा नित्य निगोद में नहीं है। आहाहा! भले नित्य निगोद में (से) अभी तक त्रस हुआ नहीं, परन्तु उस जीव में ऐसी ताकत है कि परिणम

सके-ऐसी ताकत है। वस्तु तो है, परन्तु वह शुद्ध परिणम सके-ऐसी योग्यतावाले निगोद के-नित्य निगोद के जीव भी हैं। आहाहा! है?

शुद्धरूप से ही है। आहाहा! जिसका सत्त्व चैतन्य, वह शुद्ध ही है। भले नित्य निगोद में हो, त्रसपना पाया भी न हो, परन्तु उसकी वस्तु तो शुद्ध पवित्र आनन्दकन्द और परिणमने के योग्य है। आहाहा! वहाँ से निकलकर अन्तर्मुहूर्त में मनुष्य हो, निगोद से (निकल कर) भले एकाध भव करे; फिर मनुष्य हो। वह आठ वर्ष में शुद्धस्वरूप का परिणमन करके मुक्ति भी पाये। आहाहा! ऐसी उसमें ताकत है। नित्य निगोद, जिसमें त्रसपना अभी पाया नहीं-ऐसे जीवों में भी ऐसी ताकत है कि वह मनुष्य,... एकाधभव बीच में करे और मनुष्य होवे तो आठ वर्ष में... आहाहा! निगोद का अनादि-सान्त भाव करके और सिद्ध का सादि-अनन्त भाव प्रगट कर सकता है। आहाहा!

वहाँ भाषा काम नहीं करे, वहाँ भाव को सामर्थ्य की बलिहारी है। यह बात अन्दर बैठनी (चाहिए)। आहाहा! ज्ञान में यह बात आये बिना बैठती नहीं। यहाँ तो निगोद के जीव की ताकत ऐसी है, इतनी बात करते हैं, परन्तु यह (बात) बैठे किसे? जिसे यह चैतन्यमूर्ति भगवान परमेश्वरस्वरूप से बिराजमान है, उसकी अन्दर की दृष्टि हुई, सत् के सत्त्व का अनुभव किया, अनुभव में आया कि यह तो पूर्ण आनन्द का घन है, उस जीव को परिणमने की जैसे ताकत है; वैसे निगोद के जीव को भी उस प्रकार से परिणमने की ताकत है। आहाहा!

जैसे... (कहकर) दृष्टान्त देते हैं। ये पंचम काल के मुनि, पंचम काल के जीव को सम्बोधन करते हैं। आहाहा! इतनी बड़ी बात पंचम काल में की जा सके या नहीं? की जा सके क्या, कर सकता है। पंचम काल का जीव भी निगोद से निकलकर अन्तर्मुहूर्त में आठ वर्ष में अन्तर्मुहूर्त में आत्मज्ञान पाकर सर्वज्ञ हो सकता है। भरोसा चाहिए न! विश्वास से जहाज चलते हैं न?

विश्वास, रुचि-दृष्टि परिणमन में इसे बैठना चाहिए कि यह तो प्रभु पूरा शुद्ध सत्व है, पूर्ण आनन्द है। उसमें अशुद्धता तो नहीं, परन्तु अपूर्णता नहीं! अशुद्धता तो नहीं, परन्तु अपूर्णता भी नहीं! ऐसे निगोद के-नित्य निगोद के जीव हैं। आहाहा! तो फिर तू वहाँ से निकलकर यहाँ आया है न! ऐसा कहते हैं। आहा...! तू यहाँ तक आया। मोक्षमार्गप्रकाशक

में तो ऐसा कहा है कि 'सब अवसर आ गया है।' आया है न? मनुष्यपना पाया, जैनवाणी पंचम परमभाव की तुझे कान में पड़ी और क्रमबद्ध (अर्थात्) द्रव्य का पर्यायस्वभाव क्रमबद्ध है, उसका निर्णय होने का-ज्ञायकभाव की ओर का आश्रय होने की योग्यता तुझमें है। यह पंचम काल इसे कहीं रोकता नहीं है। आहाहा!

जिस प्रकार मेरु के अधोभाग में स्थित सुवर्णराशि को भी... मेरुपर्वत के नीचे अकेला सोना भरा हुआ है। आहाहा! लाख योजन का मेरुपर्वत है, उसके नीचे अनादि से अकेला सोना भरा है। मेरुपर्वत का जो अन्दर निचला भाग (है वह) अकेला सोने से भरा है। अनादि से, हों! आहा! उस मेरुपर्वत के अधोभाग में रही हुई सुवर्णराशि (अर्थात्) शुद्ध सुवर्ण के ढेर को **भी सुवर्णपना है,...** उसे भी **सुवर्णपना है, उसी प्रकार अभव्यों को भी परमस्वभावपना है;...** अभव्य को परमस्वभावपना तो है। **वह वस्तुनिष्ठ है,...** उस वस्तु में रही हुई ही उसकी योग्यता है। मेरुपर्वत का सोना बाहर लाकर व्यापार में काम आवे या उपयोग में काम आवे—ऐसा नहीं है। नीचे सोने का ढेर पड़ा है। मेरुपर्वत लाख योजन का ऊँचा है, उसके प्रमाण उसकी चौड़ाई कितनी? वहाँ तो नीचे अकेला सोना भरा है। आहाहा!

श्रोता को ऐसा कहते हैं कि तू परिणम सकता है। अभव्य जीव जैसा तू नहीं है। आहाहा! वे तो ऐसे कोई अल्प जीव ही होते हैं। तू यहाँ आया, यहाँ सुनता है, सुनने आया। यह कोई एकेन्द्रिय को नहीं कहते। हैं? आहाहा! भले अप्रतिबुद्ध हो, परन्तु है तो भगवान! और भगवान होने के-परिणमन के योग्य ही है! भगवानपना परिणमन के योग्य ही है! आहाहा! (अभव्य को भी) भगवानपना है, परन्तु भगवानपना परिणमने के योग्य नहीं। अन्तर डालकर बात करते हैं।

मैं तुझे सुनाता हूँ, वह तुझे मैं ऐसा कहता हूँ कि नित्य निगोद के जीव भी अभव्य जैसे नहीं हैं। आहाहा! तो प्रभु! तू तो यहाँ आया, यहाँ तक आया, सुना, वीतरागस्वरूप की बात तुझे कान में पड़ी—वाणी तुझे कान में पड़ी तो कहते हैं कि तेरा आत्मा शुद्धरूप परिणमने के योग्य है! आहाहा! परमात्मा होने के योग्य है! आहा! परमात्मपना है, ऐसा परमात्मपना प्रतीति में आवे-ऐसा तू है। आहाहा!

मुमुक्षु : मंगल आशीर्वाद दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात ही की है, अन्य बात ही नहीं। ये पंचम काल के साधु हैं और पंचम काल के रोता को सुनाते हैं। आहा! तू निरुत्साहित न हो। अभव्य जैसे परिणम नहीं सकता, वैसे तू नहीं परिणम सकता-ऐसा है नहीं। तू यहाँ तक आया, वह सुन! आहाहा! ऐसा कहते हैं। मुनिराज ऐसा कहते हैं। भगवान को अनुसरणकर मुनिराज कहते हैं, भगवान की वाणी भी ऐसा कहती हैं। उसे अनुसरण कर वे स्वयं कहते हैं। अनुसरकर परिणमे हैं, अनुसरकर तू परिणमेगा-ऐसा तू है। आहाहा! पंचम काल और ऐसा हल्का / कम पुण्य और हलकी जगह अवतार हो गया.... (ऐसा लेना) नहीं। आहाहा!

पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द अतीन्द्रिय आनन्दरूप से परिणम सके—ऐसा तू है। (समयसार की) ३८ वीं गाथा में तो यह कहा है न? (अप्रतिबुद्ध जीव को) गुरु ने बारम्बार कहा, वहाँ तो ऐसा लिखा है कि 'निरन्तर समझाने पर।' निरनतर समझाने को तो गुरु कहाँ निवृत थे? (इसका अर्थ) निरन्तर घोलन करने पर। दर्शन-ज्ञान-चारित्र को (प्राप्त हुआ) और वह भी प्राप्त हुआ कैसा?-न गिरे ऐसा। अप्रतिबुद्ध था, वह भी प्रतिबुद्ध पाया और (मोह का अंकुर अब उत्पन्न होनेवाला) है ही नहीं। आहाहा! (यह) पंचम काल के प्राणी की पुकार है। कहनेवाले की तो है, परन्तु श्रोता है, जिसने सुना है, उसकी यह पुकार है। आहाहा! समझ में आया? कहनेवाले तो कहते हैं, परन्तु तू वैसा हो सके ऐसा है। काल की राह और बाट देखनी नहीं है। आहाहा! ऐसा तुझे भगवान पूर्णाननद का नाथ कान में पड़ा प्रभु! वह परमात्मा होने के योग्य ही है। अभव्य के जैसा तू नहीं है। आहाहा! इतना अधिक कह दिया-अभव्य जैसा तू नहीं है। वे नित्य निगोद के जीव भी अभव्य जैसे नहीं हैं। आहाहा!

'तारी नजर के आलसे रे नयणे न निरख्या हरि...' हरि—ऐसा जो अज्ञान और राग-द्वेष हरनेवाला प्रभु। तेरी नजर के आलस से निधान रह गया। निधान पड़ा ही है और वह परिणमने के योग्य तू है। आहाहा! गजब बात करते हैं! दिगम्बर सन्तों की बात! श्रीमद् कहते हैं—'दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य कुछ समझा जा सकता है। श्वेताम्बर की शिथिलता के कारण रस शिथिल होता गया।' उनके रस की ऐसी पुकार है—दिगम्बर सन्तों की पुकार है। आहाहा! तू परिणमने के योग्य है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु! तुम सर्वा नहीं न? हम अभव्य हैं या नहीं—यह तुम्हें खबर नहीं (और) तुम एकदम ऐसी

पुकार करते हो ? आहाहा ! योग्य हो ! परिणमने के योग्य हो ! परिणम सकते हो ! आहाहा ! है ?

अभव्य जीव परमस्वभाव का आश्रय करने के लिये अयोग्य अयोग्य हैं। सुदृष्टियों को... आहाहा ! जिसने दृश्टि में गुलांट खायी है, पर्यायदृष्टि छूटी और क्रमबद्ध में निर्णय करने पर ज्ञायक का निर्णय का अनुभव हुआ है। क्रमबद्ध का निर्णय करन इस ज्ञायकभाव का अनुभव हुआ है। आहाहा ! ऐसे **सुदृष्टियों को—अति आसन्नभव्य जीवों को...** लाईन करके सुदृष्टि की व्याख्या की है। सुदृष्टि अर्थात् अति आसन्न भव्य जीव। उसे अल्पकाल में मुक्ति है। आहाहा ! मोक्ष तो उसे अब (निकट में ही) दिखता है—ऐसा कहते हैं। उसे मोक्ष तो दिखता है, अल्प काल में मोक्ष होगा -ऐसी पुकार है।

श्रीमद् ने कहा है न ? वे तो गृहस्थाश्रम में थे, लाखों का व्यापार था। अन्तर्दृष्टि में से आया है। 'अशेष कर्मनो भोग छे, भोगवओ अवशेष रे।' अभी एक राग बाकी लगता है। 'पण तेथी देह एक धारिने जाशुं स्वरूप स्वदेश।' हम एकाध देह धारण करके हमारे देश में चले जायेंगे। राग के परदेश में अब हम नहीं रहेंगे। आहाहा ! राग के परदेश में (अब नहीं रहेंगे) यह वाणी आयी न ? बहिन में (बहिनश्री चम्पाबेन के वचनामृत में) भी आया और यह (आया)। 'जाशुं स्वरूप स्वदेश' इसका अर्थ आया कि पुण्य-पाप है वह परदेश है, विभाव है, स्वभाव नहीं; इसका-आत्मा का वह परिवार नहीं। आहाहा ! आत्मा का परिवार तो आनन्द, शान्ति, स्वच्छता और प्रभुता और पूर्णता, वह प्रभु की सामग्री अथवा परिवार है। एकाध देह धारण करके उस स्वदेश में (जाकर) हम पूर्ण होनेवाले हैं। आहाहा ! समझ में आया ? सर्वज्ञ को मिले नहीं। कुन्दकुन्दाचार्य को सर्वज्ञ को मिले हैं।

इस आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव है। सर्वज्ञस्वरूप ही आत्मा है। जिसे आत्मज्ञ कहा, आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव है, वह आत्मज्ञ है। सर्व को जानना, वह तो अपेक्षित बात हुई। आहाहा ! आत्मा की पर्याय में पूर्णरूप से जानना, वह आत्मज्ञपना वही सर्वज्ञपना है-ऐसा अल्पकाल में सर्वज्ञपना होगा, वह हमारा स्वदेश है, उसमें हम जायेंगे; परदेश में से हटकर जायेंगे, हमारा वह वतन है। आहाहा ! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, वह हमारा वतन है, वह हमारा स्वदेश है। वह हमें रहने का स्थान है। आहाहा ! 'जाशुं स्वरूप स्वदेश।'

मुनिराज ऐसा कहते हैं, तू अल्प काल में मुक्त होगा, (स्वदेश में) जायेगा - ऐसा तू है। आहाहा ! अभव्य (जीवराशि) जैसा नहीं—ऐसा कहा न ? निगोद के जीव को भी,

ऐसा कहा परन्तु सुनानेवाले को तो पंचेन्द्रियपना है। आहाहा! सुननेवाले को तो पंचेन्द्रियपना है। आहाहा! हीनता का आश्रय न कर, हीन रहूँगा—ऐसा न मान; पूर्ण हो जाऊँगा—ऐसा मान। आहाहा! (तू) पूर्ण है और पूर्ण (होने के योग्य है); अभव्य पूर्ण है, परन्तु पूर्ण हो सकने के योग्य नहीं है परन्तु तुझे कहते हैं कि तू पूर्ण है और पूर्ण हो सकने के योग्य है। आहाहा! ऐसी बात है।

मुनि के हृदयों में यह पुकार है। स्वयं प्राप्त हुए हैं, इसलिए कहते हैं—तू प्राप्त करेगा ही और तू प्राप्त करने के योग्य ही है! आहाहा! अभव्य जीव की तरह नहीं! नित्य निगोद के जीव भी अभव्य जीव की तरह नहीं, प्रभु! तब फिर तू तो यहाँ पंचेन्द्रियरूप से जैनवाणी सुनने के लिये आया। आहाहा! (अब) अल्प काल में परिणमित होगा। यह जैसी जितनी प्रभुता पड़ी है जो सत्व में प्रभुता है, वैसी ही पर्याय में सत्व प्रभुता प्रगट हो जायेगी—ऐसा लायक तू है। आहाहा! विश्वास कहाँ से लाना? कहते हैं। इसका विश्वास (आना चाहिए)। विश्वास से जहाज चलते हैं, वैसे चैतन्य के ऐसे विश्वास से उसकी परिणति पूर्ण हो जाती है। आहाहा!

भाषा देखी? नित्य निगोद के जीव भी अभव्य की तरह नहीं हैं। यह प्रभु क्या कहते हैं? आहा! नित्यनिगोद के जीव ऐसे नहीं हैं। आहाहा! तो प्रभु! तू तो मनुष्य हुआ और यह परमात्मा की वाणी सुनने के लिये आया, सुनता है, परिणमित होने के योग्य ही है। सन्देह न कर। आहाहा!

मुमुक्षु : आज का (आपका) सम्बोधन बहुत मीठा लगता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात मुनि स्वयं कहते हैं। नित्य निगोद के जीव में भी अभव्य तो पड़े हैं परन्तु फिर भी अभव्य के योग्य वह परिणमन नहीं है, ऐसा तो हम इनकार करते हैं। आहाहा! उसमें भी ऐसे जीव हैं कि केवलज्ञानरूप से परिणम जायेंगे। भले वहाँ से निकलकर (परिणमेंगे)। और तू तो निकलकर बाहर आया है, आहाहा! और कान में परमात्मा की वाणी पड़ती है। यह तीन लोक के नाथ की वाणी है। आहा! आहाहा!

यह अन्तर क्या किया कि नित्यनिगोद के जीव भी परिणम सकते हैं। अभव्य जीव ऐसे नहीं हैं। गजब बात की है! प्रभु! तुम तो छद्मस्थ मनुष्य हो! पंचम काल-फाल के हम मुनि नहीं। आहाहा! हम तो जो हैं वह हैं। हैं वह हैं, त्रिकाल हैं, वही हम हैं। आहाहा! और

तू भी वह हो सकेगा। विश्वास ला, सन्देह छोड़, नि:सन्देह कर! हम तुझसे कहते हैं कि तू परिणमित हो सकेगा, फिर तुझे नि:सन्देह क्यों नहीं होता!! आहाहा! लालचन्दभाई! आहाहा! क्या सन्तों की वाणी! यह दिगम्बर (के) तीव्र वचनों के कारण रहस्य समझा जा सकता है। आहाहा! फाट... फाट... प्याला अन्दर है। दिगम्बर सन्तों की वाणी, तीर्थंकर की जिनवाणी दिव्यध्वनि है, वह वाणी है। आहाहा!

प्रभु! तू पामररूप से मानता हो तो छोड़ देना। हम भव्य होंगे या नहीं? अरे रे! प्रभु! यह क्या करता है तू? एक ज्ञानमति आर्यिका है न? बहुत प्रसिद्ध है। पच्चीस लाख का जम्बूद्वीप (बनाया है) बहुत प्रसिद्ध हो गयी है। वह ऐसा कहती है कि हम भव्य हैं या अभव्य? काललब्धि पकी है या नहीं पकी, वह तो सर्वज्ञ जाने। अर र र..! यह समाचार पत्र में आया है। ज्ञानमति है न? बहुत बोलनेवाली है, लोग बहुत इकट्ठे होते हैं। वस्तु की प्रतीति का ठिकाना नहीं होता। आहा! ऐसा वहाँ तक लिखा है कि हम भव्य हैं या अभव्य? काललब्धि पकी है या नहीं पकी, वह तो सर्वज्ञ जाने। अररर र!

यहाँ कहते हैं कि तुझे (काललब्धि और भव्यता) पकी है—ऐसा हम कहते हैं! आहाहा! और दुनिया फिर प्रशंसा करे, चारों अनुयोगों के जानकारी के बोल बोले 'स्याद्वाद अवलोकन' पुस्तक का नाम दिया है। 'स्याद्वाद सूर्य से अलोकित' चार अनयोग का ज्ञान है। ऐसा कहे और ऐसा फिर लिखे कि हम भव्य हैं या अभव्य? यह भगवान जाने। अरे प्रभु! क्या करता है तू यह? आहाहा!

यहाँ मुनिराज तो पुकारते हैं कि नित्य निगोद के जीव भी अभव्य जैसे नहीं हैं, हम ऐसा कहते हैं। आहाहा! अभव्य जीव प्राप्त नहीं कर सकता, वैसे नहीं हैं। नित्य निगोद में ऐसे जीव हैं। ऐसा कहा न इसमें? भाई! आहाहा! गजब काम किया है! आहाहा! रहने दे, आड़ की आड़ छोड़ दे। आड़ रहने दे। पूर्ण प्रभु है, प्रभु! आहाहा! भले कोई रागादि हो परन्तु वह तुझे अवरोधक नहीं है, वह तो ज्ञान के ज्ञेयरूप से विषय हैं। आहाहा!

सर्वविशुद्धज्ञान (अधिकार में) नहीं आता? दीपक, घट-पट को प्रकाशित करता है-ऐसा नहीं; दीपक, दीपक के प्रकाश को-द्विरूपता को प्रकाशित करता है। दीपक, दीपक को प्रकाशित करता है और दीपक घट-पट का ज्ञान (प्रकाश) जो है, उसे (प्रकाशित करता है), ज्ञान अर्थात् प्रकाश, उसे प्रकाशित करता है। इसी प्रकार आत्मा पर

को प्रकाशित नहीं करता। उसकी स्व को और पर को जानने का जो प्रकाश अपना है, उस द्विरूपता को प्रकाशित करता है, पर को नहीं। आहाहा! वाणी तो देखो! दीपक घट-पट को प्रकाशित नहीं करता, दीपक की प्रकाश की द्विरूपता को प्रकाशित करता है। दीपक, दीपक को प्रकाशित करता है और उसका जो स्वरूप है, उसे दीपक प्रकाशित करता है, इसे (घट-पट को नहीं)।

इसी प्रकार भगवान आत्मा, पर को जानने में पर को प्रकाशित करता है-ऐसा नहीं है। स्व और पर को प्रकाशित करती द्विरूपता को प्रकाशित करता है। ज्ञान की द्विरूपता को प्रकाशित करता है, पर को नहीं, लोकालोक को नहीं। आहाहा! है न पीछे। आहाहा! प्याला फाट अन्दर से, कहते हैं। भगवान भरा है। उस भगवान भरे हुए को देख! भरा हुआ है, पूर्ण है और पूर्ण हो सकने योग्य है—ऐसा तुझे कहते हैं। सन्देह न कर! आहाहा! वह यही पुकार करते हैं। बैठना तो इसे स्वयं को है न? मुनिराज तो बैठाते हैं, मुनिराज तो कहते हैं। नित्य निगोद में भी, अभव्य जैसे परिणम नहीं सकते, वैसी बात है नहीं। आहाहा! वह तो कोई अल्प (जीव) है। ढेर तो यह पड़े हैं बड़े, जीव के-आत्मा के। परिणमित होने के योग्य हैं, उनके ढेर पड़े हैं। आहाहा! नहीं परिणमने के योग्य ऐसे जीव तो कोई अल्प और अल्प अनन्तवें भाग हैं, उनकी बात रहने दे, उस बात को भूल जा, वे हैं नहीं, तू वह है नहीं, आहाहा! टीका करके गजब किया है! गजब टीका है!!

मुमुक्षु : टीका की भी टीका कैसी है!

पूज्य गुरुदेवश्री : गजब टीका है। **सुदृष्टियों को-अतिआसन्न भव्य जीवों को...** तैयारी है मुक्ति की, तैयारी है मुक्ति की। आहाहा! जिसमें अजंपा जाप नहीं परन्तु जंपा जाप हो गया है। मुक्ति का जाप हो गया है। आहाहा! ऐसे आसन्न भव्य जीव को... आसन्न अर्थात् नजदीक, मुक्ति जिसको नजदीक है, जिसके संसार का अन्त आ गया है। आहाहा! उस बात को लक्ष्य में ले! संसार का अन्त आ गया है, अन्त आया है और मुक्ति की निकटता है—ऐसे **अतिआसन्न भव्य जीवों को यह परमभाव...** यह परमभाव-त्रिकाली परमस्वभाव सत्व **सदा निरंजनपने के कारण...** आहाहा! सदा निरंजनपने के कारण। अंजन-फंजन-मेल उसे है ही नहीं। वह तो निरंजन है। आहाहा!

(यह परम) आलोचना का अधिकार है। आज ऐसी आलोचना कर, ऐसे अन्दर

आलोचना कर (ऐसा) कहते हैं। आहाहा! वह है, ऐसा इस प्रकार से आलोचना और देखने के योग्य ही तू है। सन्देह रहने दे। 'भगवान ने हमें अभव्य देखा होगा तो?' अरे! सुन न! भगवान की प्रतीति हुई उसके भव भगवान ने देखे ही नहीं। यह (संवत्) १९७२ के साल में कहा था। प्रश्न उठा था, बड़ा प्रश्न उठा था। भगवान ने देखे उतने भव होंगे। इसलिए अपन क्या करें? भगवान एक समय का ज्ञान तीन काल-तीन लोक को जानें ऐसी एक ही पर्याय। अनन्त दूसरी पर्याय अलग रही। एक समय की एक पर्याय, एक गुण की एक पर्याय। आहाहा! लोकालोक को जानें अपने पूर्ण द्रव्य, गुण को जानें ऐसी पर्याय की सत्ता का स्वीकार जिसे है उसे भगवान ने देखा इसका सच्चा निर्णय है, उसे इस सत्ता का स्वीकार हुआ, उसे सर्वज्ञ सत्ता मेरी है, उसका स्वीकार हुआ उसे भव नहीं हो सकते, भगवान ने उसके भव नहीं देखे। (संवत्) १९७२ में कहा था। भगवान ने भव नहीं देखे। जिसे भगवान जँचे, भगवान इस जगत में है, एक समय की स्थिति की सत्तावाले और एक समय तीन काल-तीन लोक को जानें ऐसा सत्व इस जगत में है। आहाहा! उसका जिसे स्वीकार है, भगवान ने उसके भव नहीं देखे और एकाध-दो भव हों तो ज्ञेयरूप से हैं, छूटकर ही रहेगा, भगवान ने देखा है ऐसा करके (बात नहीं कर)। वैसे तो ऐसा भी कहा न? 'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसि वीरा' परन्तु किसे? जिसे भगवान की प्रतीति हुई है उसे। जो जो वीतराग ने देखी... 'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसि वीरा' परन्तु वीतराग जगत में हैं, उन्होंने देखा (यह) प्रश्न बाद में। वीतराग का अस्तित्व जगत में है। एक समय का, वीतराग का अस्तित्व! आहाहा! पूर्ण वीतरागता जगत में है, एक समय की पर्याय पूर्ण है ऐसी सत्ता का जिसे स्वीकार है उसे भगवान ने भव देखे नहीं, भगवान को उसका भगवान होना दिखा है, वह तो अल्प काल में भगवान होनेवाला ही है। आहाहा! ऐसी बात है, आहाहा!

आसन्न भव्य जीव को... आहाहा! आसन्न, अतिआसन्न भव्य... भव्य आसन्न और अतिआसन्न। आहाहा! **अतिआसन्न भव्य जीवों को यह परमभाव सदा निरंजनपने के कारण...** आहाहा! यह परमभाव निरंजन है, जिसमें अंजन की गन्ध, राग की गन्ध नहीं, उदय को स्पर्शती नहीं ऐसा जो परम स्वभावभाव परमात्मा पड़ा है, आहाहा! वह परमात्मा होने के योग्य है, परमात्मा होने के योग्य नहीं - यह बात यहाँ सुनने जैसी नहीं है। आहाहा!

ऐसा कहते हैं। इससे श्रीमद् ने कहा न! दिगम्बर के तीव्र वचन, उनके तीव्र वचन... सन्तों के तीव्र वचनों के कारण रहस्य समझा जा सकता है कि ये क्या कहना चाहते हैं अन्दर। ऐसा शब्द है न? श्वेताम्बर की शिथिलता के कारण, विपरीतता के कारण (रस) शिथिल होता गया। यह तो तीव्र वचन का पुकार है।

अतिआसन्न भव्य जीवों को यह परमभाव सदा निरंजनपने के कारण... सदा निरंजनपने, निरंजनपने के कारण **अर्थात् सदा निरंजनपने प्रतिभासित होने के कारण...** निरंजनपना है परन्तु 'है' ऐसा भासित हुए बिना 'है' ऐसा कहाँ से आया? ज्ञान में ज्ञेय भासित हुए बिना 'यह है' यह कहाँ से आया? आहाहा! गजब टीका करते हैं!

पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं, आचार्य नहीं हैं। मुनि तो तीर्थंकर होनेवाले हैं-ऐसा आया है। ऐसी ध्वनि लगती है। तीर्थंकर होनेवाले हैं, तीर्थंकर होकर मोक्ष जायेंगे। आहाहा! एक बार यह बताया था। नहीं? सर्वज्ञ की बात आयी, वहाँ सर्वज्ञपना नहीं रखा, तीर्थंकरपना रखा, यह बताया था भाई को। हिम्मतभाई! जहाँ सर्वज्ञ की व्याख्या आयी है, वहाँ सर्वज्ञपना न रखकर तीर्थंकर को रखा है। तीर्थंकर ऐसे सर्व भाववाले हैं, उनकी ध्वनि में, मस्तिष्क में ऐसा आता था कि ये तीर्थंकर होनेवाले हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! वह है न कहीं?

देखो, २१२ कलश। देखो, यह आया। देखा? दृष्टि की बात करते हैं-**जो शुद्धदृष्टिवन्त (सम्यग्दृष्टि) जीव ऐसा समझता है कि परम मुनि को तप में, नियम में, संयम में और सत्चारित्र में सदा आत्मा ऊर्ध्व रहता है (अर्थात् प्रत्येक कार्य में निरन्तर शुद्धात्मद्रव्य ही मुख्य रहता है) तो (ऐसा सिद्ध हुआ कि) राग के नाश के कारण अभिराम ऐसे उस भवभयहर...** सर्वज्ञ नहीं लिया परन्तु **भवभयहर भावि तीर्थाधिनाथ...** है? नहीं तो यहाँ सर्वज्ञ लेना चाहिए। भावि सर्वज्ञ (नहीं कहा) परन्तु तीर्थाधिनाथ सर्वज्ञ लिया है। यह स्वयं की अन्दर की ध्वनि है। है? चन्दुभाई! **अभिराम ऐसे उस भवभयहर...** यहाँ सर्वज्ञ शब्द चाहिए। आहाहा! **भावि तीर्थाधिनाथ को यह साक्षात् सहज-समता अवश्य है।** सर्वज्ञ शब्द प्रयोग न करके भावि तीर्थंकरनाथ शब्द प्रयोग किया है। यह स्वयं की अन्तर की ध्वनि है। आहाहा! दिगम्बर मुनियों की तो बलिहारी है! आहाहा! साक्षात् तीर्थंकर का काम करते हैं। उनकी वाणी और उनके भाव, तीर्थंकर की उपस्थिति बताते हैं। आहाहा!

(यहाँ) कहते हैं कि अतिआसन्न भव्य (जीव) **निरंजनपने के कारण (अर्थात् सदा निरंजनरूप से प्रतिभासित होने के कारण)...** वह भले निरंजन है परन्तु है—ऐसा प्रतिभास (आये) बिना निरंजन है, ऐसा कहाँ से आया ? क्या कहा यह ? भगवान आत्मा निरंजन है, शुद्ध चैतन्यमूर्ति, परन्तु वह भासित हुए बिना, ज्ञान में वह भासित हुए बिना 'यह परम निरंजन है'—ऐसा कहाँ से आया ? भासित हुआ, तब लगा कि यह परम निरंजन है। आहाहा! उसमें भी परम निरंजन नाथ भासित हुआ है। है इतना, ऐसा नहीं। वह परम स्वभाव निरंजन है, ऐसा नहीं; वह है—ऐसा भासित हुआ है, इसलिए है। भासित हुए बिना 'है'—ऐसा इसे कहाँ से आवे ? आहाहा! समझ में आया ?

(सदा निरंजनरूप से प्रतिभासित होने के कारण)... प्रतिभासित हुआ अर्थात् ज्ञान की पर्याय में भासित होने के कारण। आहाहा! **सफल हुआ है...** कि निरंजन है परन्तु प्रतिभासित हुआ है तो वह सफल हुआ है। प्रतिभासित हो नहीं, वहाँ है वह सफल कहाँ हुआ ? क्या कहा ? भगवान सदा निरंजन है परन्तु भासित हुए बिना-ज्ञान में भासित हुए बिना प्रतिभास (हुए बिना) सदा निरंजन है, वह जाने कौन ? जाना किसने ? वह प्रतिभासित हुआ है, उसने जाना है, वह कहता है कि आहा! उसे सदा निरंजन जो भाव प्रतिभासित हुआ है; इसलिए वह निरंजन भाव सफल हुआ है। निरंजन भाव है तो सही, परन्तु आसन्न भव्य जीव को सफल हुआ है। आहाहा! पर्याय में-दृष्टि में भासित हुआ है। इससे वह है, वह भासित हुआ है; इसलिए उसे वह सफल हुआ है। है, वैसा भान हो गया है; है, वैसी प्रतीति और ज्ञान में ज्ञेय आ गया है। पूरा परमात्मा ज्ञान की पर्याय में ख्याल में आया है। पर्याय में द्रव्य आता नहीं, परन्तु प्रतिभास है। है न ? प्रतिभासित हुआ है। पर्याय में पूरा निरंजन निराकार भगवान प्रतिभासित हुआ है; इसलिए वह **सफल हुआ है...** निरंजन सदा है परन्तु प्रतिभासित हुआ, इसलिए सफल हुआ है। प्रतिभासित हुए बिना 'वह है' (ऐसा कहे) तो क्या ? आहाहा! यह ऐसी बात है। आहा!

सदा निरंजनपने के कारण सफल हुआ है। सफल हुआ है, इसलिए उसने अर्थ निकाला 'सदा निरंजनपना है' ऐसा भासित हुआ है, इसलिए सफल हुआ है। समझ में आया ? आहाहा! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञस्वभावी प्रभु निरंजन निराकार होने पर भी प्रतिभासित हुआ, तब उसे होना है—ऐसा जँचा; इसलिए उसे सफल हुआ है। प्रतिभासित हुआ है;

इसलिए उसे सफल हुआ है। प्रतिभासित नहीं होता, उसे सफल कहाँ से होगा? आहाहा! जिसके ज्ञान में, पूर्ण स्वरूप है—ऐसा भास हुआ और भान हुआ है, उसे वह सदा निरंजनपना सफल है, उसका फल उसे आया कि सफल है। जिसे वह मानने में आया नहीं, अनुभव में आया नहीं, दृष्टि में आया नहीं, ज्ञेयरूप से ज्ञान में ज्ञात हुआ नहीं, उसे तो सफल नहीं। आहाहा! परन्तु जितना वह ज्ञेय है, उतना ज्ञान में आया है; इसलिए वह सदा निरंजनपना सफल हो गया है। आहाहा! गजब बात की है न!

जिससे, इस परम पंचमभाव द्वारा अति-आसन्नभव्य जीव को निश्चय-परम-आलोचना के भेदरूप से उत्पन्न होनेवाला 'आलुंछन' नाम सिद्ध होता है,... प्रतिभासित हुआ है, इसलिए आलुंछन सिद्ध होता है। आहाहा! ज्ञान में त्रिकाली निरंजन सदा प्रतिभासित हुआ अर्थात् ज्ञान में भासित हुआ है, पर्याय में प्रतिभासित हुआ; है, ऐसा भासित हुआ, प्रतिभास हुआ है; इसलिए वह उसका सफलपना हुआ है। सफलपना हुआ है, इसलिए **परम-आलोचना के भेदरूप से उत्पन्न होनेवाला 'आलुंछन' नाम सिद्ध होता है,...** यह सफलपना हुआ, यही आलुंछन है, यह आलुंछन है। आहाहा! **कारण कि वह परमभाव समस्त कर्मरूपी विषम-विषवृक्ष के विशाल मूल को उखाड़ देने में समर्थ है।** अर्थात् उसमें है नहीं। **परमभाव समस्त कर्मरूपी विषम-विषवृक्ष के विशाल मूल को उखाड़ देने में समर्थ है।** अर्थात् कि उसमें है ही नहीं। सफल हुआ है और उसमें वे हैं ही नहीं; इसलिए उखाड़ डाला है—ऐसा व्यवहारनय से कहने में आता है। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१६०

[अब, इस ११०वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

एको भावः स जयति सदा पञ्चमः शुद्धशुद्धः,
कर्मारातिस्फुटितसहजावस्थया सन्स्थितो यः।
मूलं मुक्तेर्निखिल-यमिना-मात्मनिष्ठा-पराणां,
एकाकारः स्वरस-विसरापूर्ण-पुण्यः पुराणः।।१६०।।

(वीरछन्द)

जो कर्मों से दूर अतः सहजावस्था पूर्वक है व्यक्त।
आत्मनिष्ठ रहने वाले मुनियों को शिवपथ करे प्रशस्त॥
एकाकार तथा निज रस विस्तार पूर है परम पवित्र।
शुद्ध शुद्ध जो एक सनातन पञ्चम भाव सदा जयवन्त॥१६०॥

[श्लोकार्थः] जो कर्म की दूरी के कारण प्रगट सहजावस्थापूर्वक विद्यमान है, जो आत्मनिष्ठापरायण (आत्मस्थित) समस्त मुनियों को मुक्ति का मूल है, जो एकाकार है (अर्थात् सदा एकरूप है), जो निज रस के विस्तार से भरपूर होने के कारण पवित्र है और जो पुराण (सनातन) है, वह शुद्ध-शुद्ध एक पंचम भाव सदा जयवन्त है॥१६०॥

प्रवचन-१२४, श्लोक-१६०-१६१, गाथा-१११ सोमवार, माघ कृष्ण ४, दिनांक ०४-०२-१९८०

नियमसार। है न? नियमसार, ११० गाथा। उसकी टीका, दो श्लोक। टीका हो गयी है।

एको भावः स जयति सदा पञ्चमः शुद्धशुद्धः,
कर्मारातिस्फुटितसहजावस्थया सन्स्थितो यः।

मूलं मुक्तेर्निखिल-यमिना-मात्मनिष्ठा-पराणां,
एकाकारः स्वरस-विसरापूर्ण-पुण्यः पुराणः ।।१६०।।

यह पंचम भाव, द्रव्यभाव, शुद्ध शुद्धभाव, द्रव्य से भी शुद्ध और पर्याय से भी शुद्ध है और त्रिकाल शुद्ध है। ऐसा **जो कर्म की दूरी के कारण...** पंचम भाव जो सम्यग्दर्शन का विषय, जो ध्रुवभाव नित्यानन्द प्रभु, वह **कर्म की दूरी के कारण...** कर्म से तो दूर वस्तु है। कर्म का उस द्रव्य-वस्तु को सम्बन्ध नहीं है। पर्याय में राग का, एक समय की पर्याय में राग का सम्बन्ध है। द्रव्य को सम्बन्ध नहीं है। द्रव्य तो **कर्म की दूरी के कारण...** आहाहा! वस्तु जो है, प्रभु! (वह) कर्मपने की दूरी के कारण **प्रगट सहजावस्थापूर्वक विद्यमान है,...** प्रगट सहज अवस्था अर्थात् सहजस्वरूप। अव अर्थात् निश्चय, स्थ—अवस्था (अर्थात्) पर्याय, ऐसा नहीं। भाषा सहजावस्था है परन्तु सहज अवस्थ (अर्थात्) सहजरूप से रहा हुआ, निश्चय से रहा हुआ है। जिसे कर्म की गन्ध नहीं, कर्म का सम्बन्ध नहीं, ऐसा सहज अवस्थ, स्वभाविक निश्चयस्थ रहा हुआ, अपने स्वरूप की शुद्धता के स्वभाव में सहज पंचमभाव रहा हुआ है।

जो आत्मनिष्ठापरायण (आत्मस्थित)... मुनियों को, ऐसे आत्मा में निष्ठ, ऐसे आत्मा में स्थित... आहाहा! **समस्त मुनियों को मुक्ति का मूल है,...** वह पंचम भाव, वह मुक्ति का मूल है। मोक्ष का मार्ग, वह भी नहीं कहा क्योंकि मार्ग का तो व्यय होता है, तब मुक्तदशा का उत्पाद होता है। उसका भाव उत्पन्न हुआ, उस भाव में से भाव (हुआ), उस पंचम भाव में से मुक्त अवस्था आती है। पंचम भाव के आश्रय से मुक्ति का मूल है। आहाहा! किसे? **आत्मनिष्ठापरायण...** आत्मा में प्रेम में ही जो तत्पर अन्दर हैं। स्वभाव जो शुद्ध त्रिकाल है, सनातन सत्य (है), वह कर्म की दूरी के कारण प्रगट अवस्था स्वरूप ही वस्तु है। सत् सत्ता है, सत्ता है, अस्तिरूप वस्तु है, वह त्रिकाल है। उसमें जो परायण है। उसमें ही निष्ठा अर्थात् परायण है। आहाहा!

समस्त मुनियों को... समस्त मुनियों को वह मुक्ति का मूल है। व्यवहारमोक्षमार्ग निकाल दिया; निश्चयमोक्षमार्ग निकाल दिया। पर्याय है। पर्याय में से पर्याय नहीं आती। इसलिए त्रिकाल जो सत् सत्ता पूर्ण, दूर से भिन्न, कर्म दूर से भिन्न... आहाहा! ऐसा जो सत् वह **मुनियों को मुक्ति का मूल है,...** मुनियों को मुक्ति का मूल तो वह है। आहाहा! व्यवहार

निकाल दिया तो निश्चय भी निकाल दिया यहाँ तो। और अभी तो यह चलता है कि व्यवहार करने से निश्चय होगा। आहाहा! शुभराग हो, शुभराग की क्रिया हो तो शुद्धता होती है, ऐसा आजकल तो चलता है। आहाहा!

यहाँ तो **समस्त मुनियों को...** आहाहा! किसी भी काल के और किसी भी भाववाले मुनि यह हैं। पंचम काल के मुनि और चौथे काल के मुनि को अन्तर है, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! **समस्त मुनियों को...** इस कर्म से दूर सहजावस्थास्वरूप। अवस्थ अर्थात् निश्चय। अवस्था नहीं। अव अर्थात् निश्चयरूप रहा हुआ, स्थ-टिका हुआ। वह **समस्त मुनियों को मुक्ति का मूल है,...** आहाहा! **जो एकाकार है...** जो एक ही स्वरूप है। द्रव्य और पर्याय, ऐसे दो भेद उसमें नहीं है। द्रव्य है, वह एक स्वरूप ही है। पंचम भाव ऐसा पारिणामिकस्वभाव, ऐसा ज्ञायकभाव एकरूप है।

एकाकार है (अर्थात् सदा एकरूप है), जो निज रस के विस्तार से भरपूर होने के कारण... आहाहा! अपने निज आनन्द और ज्ञानरस के विस्तार से अन्दर भरपूर होने के कारण। त्रिकाली, हों! आहाहा! त्रिकाली चीज़ निजरस के फैलाव से, अपना निजरस है, वही अन्दर पंचम भाव में विस्तार प्राप्त है। जो आनन्दरस है, परम पंचम रस है, ज्ञायक रस है, उसमें उस **रस के विस्तार से भरपूर होने के कारण...** पंचम भाव निज रस के विस्तार के फैलाव से, विस्तार के फैलाव से भरपूर है। आहाहा!

वह **भरपूर होने के कारण पवित्र है...** आहाहा! सब निकाल दिया। पर्याय और राग, निमित्त और संयोग और कर्म से भी दूर वर्तता है। दूर है। अन्दर कर्म से भगवान दूर है। आहाहा! अब यहाँ (अज्ञानी) कहते हैं कि कर्म बाधक है। कर्म का उदय विघ्नकर्ता है। यहाँ कहते हैं कि कर्म के उदय से तो वस्तु दूर है। उसे और इसे कुछ स्पर्श नहीं है। आहाहा! निजसत्ता ऐसा जो स्वरूप, सहज अवस्थ, सहज अवस्थ। निश्चय सहज दशा में शक्तिरूप रहा हुआ, स्वभावरूप भरपूर। आहाहा! **निज रस के विस्तार से भरपूर...** निश्चय त्रिकाली, हों! उसके कारण पवित्र त्रिकाल है। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन का विषय है। सम्यग्दर्शन, वह भी दर्शन का विषय नहीं है। सम्यग्दर्शन भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली, कर्म से दूर, अपने स्वभाव से भरपूर विस्तरित, रहा

हुआ वह आत्मा पवित्र है। त्रिकाल पवित्र है। त्रिकाल शुद्ध आनन्द... आहाहा! ऐसा जो चैतन्य का सत्त्व है, सत्ता त्रिकाल **और जो पुराण (सनातन) है,...** अनादि है। सनातन है। पुराण है... पुराण है... सनातन है, अनादि है। उसकी कोई आदि है या उत्पन्न हुआ है, ऐसा नहीं है। सदा पुराण है, सदा सनातन है। आहाहा! मुनि को शब्द कम पड़ते हैं। उसे किस प्रकार कहना? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

ऐसा जो भगवान अन्दर आत्मा एक समय में कर्म से दूर, स्वभाव से भरपूर। कर्म से दूर, स्वभाव से भरपूर, अपने स्वभाव से विस्ताररूप से पवित्र, आहाहा! और जो सनातन—अनादि है। आहाहा! ऐसी दृष्टि करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। बाकी सब बातें हैं। आहाहा! ऐसी चीज़ है, वह पवित्र है, सनातन है, अपने स्वभाव से विस्तार फैली हुई है। आहाहा! कर्म से दूर है। ऐसा सनातन है।

वह शुद्ध-शुद्ध... दो बार कहा है। वह वस्तु शुद्ध है, शुद्ध है। वह द्रव्य से शुद्ध है, वस्तु से शुद्ध है, गुण से शुद्ध है। शुद्ध ही है। अशुद्धता की बात-गन्ध उसमें नहीं है। आहाहा! ऐसा एकान्त लगता है। उसमें यह बाहर की धमाधम, प्रवृत्ति में रचा-पचा, उसे यह निवृत्तिरूप तत्त्व ऐसा बैठना उसको कठिन पड़ जाता है। प्रवृत्ति में पड़े हुए, निवृत्तस्वरूप तत्त्व पूरा, अत्यन्त निवृत्त है, त्रिकाल निवृत्त है। आहाहा! शुद्ध है... शुद्ध है। यह बहुत बार श्लोक में आ गया है। २२२, २५६ में आ गया है। दो बार शुद्ध क्यों कहा है? अर्थात् वस्तु से शुद्ध है, कर्म से रहित शुद्ध है, स्वयं शुद्ध है। आहाहा! द्रव्य से शुद्ध है, भाव से शुद्ध है। द्रव्य से शुद्ध है, गुण से शुद्ध है, वह शुद्ध-शुद्ध है। आहाहा! ऐसा यह पंचम भाव... आहाहा!

शुद्ध-शुद्ध एक पंचम भाव... एक पंचम भाव। चार भाव निकाल दिये। उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक जिसमें नहीं। जिसमें ये चार भाव नहीं। वह तो **एक पंचम भाव सदा जयवन्त वर्तता है।** सदा जयवन्त वर्तता है, सदा जयवन्त वर्त रहा है। प्रगट जयवन्तरूप वर्त रहा है। आहाहा! परन्तु पर की प्रवृत्ति की दृष्टि की आड़ में, उतावल के कारण, धीर जो तत्त्व है, धीरजवाला, वह उतावलिया को हाथ नहीं आता-ऐसा कहते हैं। उतावल करने जाए अर्थात् ऐसा कर दूँ... ऐसा कर दूँ... ऐसा कर दूँ... बाहर में ऐसा करूँ, अमुक ऐसा करूँ। आहाहा! ऐसा भगवान पंचम भाव सदा जयवन्त है, ऐसा पर्याय में भान

हुआ है, वह कहता है। पर्याय में उस सनातन सत्य का भान हुआ है, वह ऐसा कहता है कि वह तो सदा जयवन्त है। आहाहा! समझ में आया?

सदा जयवन्त है। किसे? जिसे पर्याय में भासित हुआ है उसे। है, तथापि भासित नहीं हुआ, उसे क्या है? आहाहा! इसलिए मुनियों को मुक्ति का मूल है, ऐसा कहा न? आहाहा! उसे तो सदा शुद्ध-शुद्ध जयवन्त वर्तता है। आहाहा! क्या मांगलिक! क्या सनातन जैनदर्शन का तत्त्व! सनातन आत्मतत्त्व, सनातन शुद्ध जीवतत्त्व। आहाहा! वह जयवन्त वर्तता है। ऐसा कहकर पर्याय में हमें वह जयवन्त वर्तता है, ऐसा भासित हुआ है, ऐसा कहते हैं। है, वह है - ऐसा शास्त्र में कहा है और वह ले लिया, धारणा की है, उसमें जयवन्त वर्तता है, उसे नहीं। आहाहा! समझ में आया? जिसकी पर्याय में मुक्ति का मूल जो है, वह भासित हुआ है, इसलिए उसे जयवन्त वर्तता है। आहाहा!

ऐसा मार्ग व्यवहार रुचिवाले को तो कठिन लगता है। व्यवहार क्रियाकाण्ड यह करो, तप करो, अपवास करो, भक्ति करो, मन्दिर बनाओ। आहाहा! करोड़ का मन्दिर, पाँच करोड़ का मन्दिर भले बनावे, कहते हैं। बीस लाख की मोटर अभी वापस आयी है, कहते हैं। वहाँ मुम्बई, पूनमचन्द की। और ख्रिस्ती के गुरु को तो पाँच करोड़ की मोटर। मोटर पाँच करोड़ की, हों! इसलिए मानो बड़े (हो गये)। पाँच करोड़ की मोटर में बैठे, वह तो बड़ा ही होवे न! कहते हैं कि वह (बड़ा) नहीं है। इस मोटर में बैठे, वह बड़ा। आहाहा! ऐसा सनातन सत्य जो है, वह जयवन्त वर्तता है, ऐसा हमें पर्याय में भासित हुआ कहते हैं कि वह जयवन्त वर्तता है। आहाहा! यह हमारी मोटर अनन्त-अनन्त अरब रुपये में भी मिलती नहीं। अनन्त-अनन्त क्रियाकाण्ड से मिलती नहीं। आहाहा! इसका अनन्त पुरुषार्थ स्वसन्मुख हो, क्रमबद्ध का निर्णय करने पर उसका स्व का पुरुषार्थ हो, उसे वह जयवन्त वर्तता है। आहाहा! अकेला निश्चय लगता है, परन्तु निश्चय अर्थात् परम सत्य। पश्चात् अशुद्धनय से, व्यवहावर से चाहे जो बात करे, वह सब भेद भले हों परन्तु वे कोई आश्रय करनेयोग्य नहीं है। वह कोई चीज़ नहीं है। आहाहा!

शुद्ध-शुद्ध... दो शब्द प्रयोग किये हैं। ऐसा यह पंचम भाव। आहाहा! द्रव्य से शुद्ध है, गुण से शुद्ध है, पर्याय से शुद्ध है। यह पर्याय में भासित हुआ है, इससे पर्याय भी शुद्ध है। आहाहा! द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है। सदा जयवन्त वर्तता है, उसमें ऐसा कहना है।

जयवन्त वर्तता है, वह पर्याय में शुद्ध में यह भान हुआ है। पर्याय भी शुद्ध हुई है, इसलिए पूरा ज्ञात हुआ है कि यह जयवन्त वर्तता है। आहाहा! अब ऐसा मार्ग। फिर लोग एकान्त कहे न? सम्यक् एकान्त है। निश्चयनय सम्यक् एकान्त है। नय है न? सम्यक् एकान्त है।

प्रभु सनातन जयवन्त वर्तता है। उसका अनुभव, वह मुक्ति का मूल है। उसका अनुभव, वह मोक्ष का मूल है। आहाहा! मुनि को शब्द कम पड़ते हैं। कितना इसे निकालना? आहाहा! ऐसा जो भगवान त्रिकाली एक समय में वर्तता जयवन्त वर्तता है— ऐसा कहते हैं, कहते हैं। वह पर्याय में भासित हुआ है, इसलिए जयवन्त वर्तता है - ऐसा कहते हैं। ऐसा कहते हैं। पर्याय में ऐसे सनातन सत्य शुद्ध का अनुभव हुआ है, इसलिए कहते हैं कि जयवन्त वर्तता है। आहाहा! अब बाहर की क्रियाकाण्डवालों को यह जँचना कठिन पड़ता है। आहाहा! कुछ करें... कुछ करें... यहाँ तो कहते हैं मुक्ति का मूल है, उसमें स्थिर हों। उसमें स्थिर हों, वह उसकी पर्याय है। आहाहा!

पद्मप्रभमलधारि मुनि ने पंचम भाव के कारणपरमात्मा का बहुत ही महिमा गायी है। आहाहा! कारणपरमात्मा सनातन पंचम भाव, है वैसा कहा है। महिमापूर्वक कथन किया है, इसका अर्थ है उससे अधिक महिमा की है, ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा ही वह स्वरूप है। शुद्ध, शुद्ध और सनातन जयवन्त वर्तता है। पर्याय की पुकार है कि वह दृष्टि में आया है, वह पर्याय पुकारती है कि जयवन्त वर्तता है। आहाहा! यह १६० श्लोक (पूरा) हुआ। शुद्ध-शुद्ध शब्द अन्यत्र बहुत जगह आता है। समयसार में २२२, २५६ में समयसार में शुद्ध-शुद्ध दो शब्द एक साथ आते हैं। १६० श्लोक पूरा हुआ। आहाहा!

श्लोक-१६१

(मंदाक्रांता)

आसन्सारादखिल-जनता-तीव्रमोहोदयात्सा,
मत्ता नित्यं स्मरवशगता स्वात्मकार्यप्रमुग्धा।
ज्ञानज्योतिर्धवलितककुभ्मण्डलं शुद्धभावं,
मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्थमेषा प्रयाति।।१६१।।

(वीरछन्द)

है अनादि से जन समूह को तीव्र मोह से मत्त सदा।
ज्ञान-ज्योति यह कामाधीन निजात्मकार्य में मूढ़ सदा॥
ज्ञान-ज्योति वह मोह विलय से शुद्धभाव को प्राप्त करे।
दिग्मंडल को निर्मल करती, सहज अवस्था प्रगट करे॥१६१॥

[श्लोकार्थः] अनादि संसार से समस्त जनता को (-जनसमूह को) तीव्र मोह के उदय के कारण ज्ञानज्योति सदा मत्त है, काम के वश है और निज आत्मकार्य में मूढ़ है। मोह के अभाव से यह ज्ञानज्योति शुद्धभाव को प्राप्त करती है—कि जिस शुद्धभाव ने दिशामण्डल को धवलित (-उज्ज्वल) किया है तथा सहज अवस्था प्रगट की है॥१६१॥

श्लोक -१६१ पर प्रवचन

१६१ (श्लोक)।

आसन्सारादखिल-जनता-तीव्रमोहोदयात्सा,
मत्ता नित्यं स्मरवशगता स्वात्मकार्यप्रमुग्धा।
ज्ञानज्योतिर्धवलितककुभ्मण्डलं शुद्धभावं,
मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्थमेषा प्रयाति।।१६१।।

[श्लोकार्थः] अनादि संसार से समस्त जनता को... आहाहा! समस्त

(-जनसमूह को) तीव्र मोह के उदय के कारण... मोह अर्थात् परसन्मुख की सावधानी के झुकाव के कारण, अनादि संसारी प्राणी को परसन्मुख के झुकाव के कारण... आहाहा! **ज्ञानज्योति सदा मत्त है,...** यह ज्ञानज्योति सदा मत्त-गहल हो गयी है। आहाहा! मोह में मत्त है। **मोह के उदय के कारण...** पर्याय में मत्त है। **काम के वश है...** आहाहा! किसी भी वृत्ति की इच्छा के वश है। इसलिए वह हाथ नहीं आता। अपने सनातन सत् के सिवाय कोई भी बाह्य की चीज़ छोटी-बड़ी, दूसरे द्रव्य-गुण-पर्याय... आहाहा! भगवान हो या भगवान की वाणी हो, उस परसन्मुख के मोह के भाव के कारण... आहाहा! **सदा मत्त है,...** पागल है, दशा पागल हो गयी है। आहाहा! जैसा सनातन पवित्र है, वैसी सनातन यहाँ अनादि की पर्याय में अपवित्रता हो गयी है, कहते हैं। आहाहा!

काम के वश है... काम शब्द से इच्छा। किसी भी पदार्थ की परसन्मुख की इच्छा की उत्साह, वीर्य की वृत्ति, वीर्य का उत्साह, परसन्मुख में किसी भी प्रकार का उत्साह... आहाहा! उसके वश हो गया है। अन्तर (में) देखने का समय नहीं मिलता। काम के वश में मत्त है। आहाहा! अपनी... उसका अवलम्बन, ... है। आहाहा! .... आहाहा! पहले महिमा की न? कर्म से दूर है। परन्तु कर्म के समीप में स्वयं वर्तता है। ऐसे नहीं वर्तता, ऐसे वर्तता है।

काम के वश है और निज आत्मकार्य में मूढ़ है। ....करने का कुछ है ही नहीं। ऐसा जो आत्मा निज कार्य... ऐसा जो निज आत्मा का कार्य... परन्तु वही **मोह के अभाव से यह ज्ञानज्योति शुद्धभाव को प्राप्त करती है...** भले अशुद्धपने में मत्त हुई हो परन्तु उस मोह के अभाव के कारण... आहाहा! अपने पुरुषार्थ के मोह के अभाव के कारण... आहाहा! क्रमबद्ध में यह आया। जहाँ क्रमबद्ध का निर्णय करने जाता है, वहाँ ज्ञायकभाव का निर्णय होता है। वहाँ मोह का अभाव होता है। आहाहा! क्रमबद्ध का निर्णय करने जाता है, वहाँ इसकी दृष्टि पर्याय से उठ जाती है। आहाहा! और निज कार्य में सन्मुख हो जाती है। इस क्रमबद्ध का फल अकर्तापना है। वह राग का भी कर्ता नहीं और पर्याय को करूँ, ऐसा विकल्प भी नहीं, और करूँ, ऐसा भाव भी नहीं। आहाहा!

निज आत्मकार्य में मूढ़ है। मोह के अभाव से यह ज्ञानज्योति शुद्धभाव को प्राप्त करती है... पहले मोह का भाव कहा-बतलाया, तो भी उसके अभाव से यह ज्ञानज्योति

शुद्धभाव को प्राप्त होती है। दूसरा कोई इसका कारण नहीं है कि यह राग मन्द करके क्रिया की, इतना किया, अमुक किया। बहुत पढ़ा, बहुत जाना, इसलिए इसके मोह का अभाव होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! स्वभाव में सन्मुख होने पर मोह के अभाव से यह ज्ञानज्योति भगवान अपने शुद्धभाव को प्राप्त करती है। आहाहा! शुद्धभाव-ध्रुवभाव को वह प्राप्त करती है। प्राप्त करती है, वह पर्याय में ज्ञात होता है परन्तु ज्ञात होता है ध्रुव। सनातन सत्य, कर्म से दूर, पूर्ण स्वभाव से विस्तृत, ऐसा सत्त्व, ऐसा जो सत्, वह उसे जानने में आता है, उसे प्राप्त होता है।

कि जिस शुद्धभाव ने... आहाहा! **दिशामण्डल को धवलित (-उज्ज्वल) किया है...** अर्थात् शुद्धभाव में उज्ज्वलता ऐसी आयी है कि तीन काल-तीन लोक को जो जानता है। दिशामण्डल अर्थात् सब जगत—तीन काल-तीन लोक, उसको उज्ज्वल किया। उज्ज्वल किया अर्थात् जानने में आया। आहाहा! आत्मकार्य जानने में आया और ऐसा सब जानने में आ गया। निर्मलानन्द की पर्याय में सब जानने में आया है। एक समय की पर्याय त्रिलोक के नाथ को जाने, वह पर्याय लोकालोक को जाने, उस पर्याय का ऐसा द्विरूप सामर्थ्य जो है... आहाहा! वह धवलित अर्थात् उज्ज्वल किया है, प्रगट हुआ है। आहाहा! अर्थात् कि अकेले आत्मा को प्राप्त होती है, ऐसा नहीं, परन्तु उसकी पर्याय में जैसा आत्मा है, वैसा ज्ञात हुआ। वैसा ही लोकालोक है, वह अन्दर ज्ञान की पर्याय में, उसकी -पर की अस्ति के कारण से नहीं परन्तु इसके अपने स्वभाव के स्व-परप्रकाशक के सामर्थ्य से दिशा को उज्ज्वल कर दिया है अर्थात् सब को जान लिया है। आहाहा! ऐसी भाषा है।

दिशामण्डल को धवलित (-उज्ज्वल) किया है... अर्थात् छहों दिशाओं को जान लिया। लोकालोक ज्ञात हो गया। आहाहा! जिसके प्रकाश में जीव का प्रकाश हुआ, वहाँ सब ज्ञात हो गया। स्व ज्ञात हुआ, वहाँ पर जानने का सामर्थ्य भी उसमें साथ आ गया, ऐसा कहते हैं। जहाँ स्व जानने में आया, उसका स्वभाव ही ऐसा स्व-परप्रकाशक है, इसलिए वह सब लोकालोक के दिशामण्डल को धवल कर दिया, उज्ज्वल कर दिया। स्वयं उज्ज्वल हुआ, इसलिए लोकालोक को जानने में उज्ज्वल हुआ। आहाहा! **तथा सहज अवस्था प्रगट की है।** स्वाभाविक अवस्था-दशा निर्मल, उसे जिसने प्रगट किया है। ऐसा यह आत्मा, वह मोक्ष का मूल प्रगट करके मुक्ति को प्राप्त होता है। आहाहा! बीच में देवलोक, गति अमुक और अमुक कुछ नहीं मिलता।

धीरज का भण्डार, धीरज से काम लेनेवाला, अपनी ओर के स्वभाव के सन्मुख होनेवाला, उसके प्रकाश में स्व और परप्रकाश पूर्ण प्रकाशित होता है। आहाहा! ऐसी सहज अवस्था को प्राप्त किया है। सहज अवस्था है। स्व को जहाँ प्राप्त किया, वहाँ लोकालोक जानने में आया, वह तो सहज स्वभाव स्वयं का है। यह सहज अवस्था हुई है, उसमें ज्ञात हो गया है। आहाहा! लोकालोक का जानना है, ऐसा नहीं। वह अवस्था का स्वभाव ही ऐसा है कि स्व को जहाँ जानने में आया, वहाँ पर का जानने का सहज स्वभाव में प्रगट हो गया है। स्वयं के कारण से वह प्रगट हो गया है, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! मुनि पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि के ये कलश हैं। ये अमृत से भरपूर कलश हैं। आहाहा! एक-एक पद में बहुत ही भरा है। बहुत ही गम्भीरता है। गहरा-गहरा रहस्य है।

तेरा चैतन्यतत्त्व जो प्रभु है, पूर्णानन्द का नाथ, उसे मोह का अभाव करके जाना, उसमें सब ज्ञात हो गया, कहते हैं। **शुद्धभाव ने दिशामण्डल को धवलित (-उज्ज्वल) किया है...** अर्थात् चारों ओर की दिशा का ज्ञान अपने में अपने कारण से हो गया है। आहाहा! ऐसा ही उसका स्वभाव है। यह ११० (गाथा पूरी) हुई। गाथा १११। यह अध्यात्म भाषा है न, सब अध्यात्म टीका है। एकदम परम सत्। जिसकी-पूर्ण सत् की अस्ति है, उसका जहाँ स्वीकार हुआ, वहाँ आगे सब लोकालोक सहज ज्ञात हो गया है। उसे जानने (के लिये) उपयोग लगाना नहीं पड़ता, कहते हैं। वह तो यह ज्ञात हुआ, वहाँ वह तो ज्ञात हो गया है। आहाहा! ऐसा चैतन्य का स्व-परप्रकाशक स्वभाव, सहज स्वभाव स्वयं से स्वयं में हुआ है। आहाहा!

अब इसमें वे एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिया करके सामायिक करके बैठे। यह हमारी सामायिक है और यह अष्टमी का प्रौषध करके बैठे। यह कहे, यह हमारा प्रौषध है। भाई! सामायिक और प्रौषध किसे कहना? समता अर्थात् आनन्द का लाभ हो और पोषण अर्थात् जैसे चना पुष्ट होता है, पानी में जैसे पुष्ट होता है परन्तु वह तो पोला पुष्ट होता है। चना पानी में पुष्ट होता है परन्तु पोला-पोला पुष्ट होता है। आहाहा! यह तो भरपूर कस लेकर भगवान प्रगट होता है। पूर्ण कस लेकर पर्याय में... आहाहा! **सहज अवस्था प्रगट की है।** यह तो सहज दशा है। जैसा सनातन सहज स्वभाव है, वैसी ही सहज दशा हो जाती है, उसका नाम मुक्ति, उसका नाम मोक्ष है।

गाथा-१११

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थ-भावणाए वियडी-करणं ति विण्णेयं।।१११।।

कर्मणः आत्मानं भिन्नं भावयति विमलगुणनिलयम्।
मध्यस्थ-भावनाया-मविकृतिकरणमिति विज्ञेयम्।।१११।।

इह हि शुद्धोपयोगिनो जीवस्य परिणतिविशेषः प्रोक्तः। यः पापाटवीपावको द्रव्यभाव-नोकर्मभ्यः सकाशाद् भिन्नमात्मानं सहजगुण (निलयं मध्यस्थभावनायां भावयति तस्या-विकृतिकरण) अभिधानपरमालोचनायाः स्वरूपमस्त्येवेति।

निर्मलगुणाकर कर्म-विरहित अनुभवन जो आत्मा का।
माध्यस्थ भावों में करे, अविकृतिकरण उसे कहा॥१११॥

अन्वयार्थ : [मध्यस्थभावनायाम्] जो मध्यस्थभावना में [कर्मणः भिन्नम्] कर्म से भिन्न [आत्मानं] आत्मा को—[विमलगुणनिलयं] कि जो विमल गुणों का निवास है उसे—[भावयति] भाता है, [अविकृतिकरणम् इति विज्ञेयम्] उस जीव को अविकृतिकरण जानना।

टीका : यहाँ शुद्धोपयोगी जीव की परिणतिविशेष का (मुख्य परिणति का) कथन है।

पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि समान ऐसा जो जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न आत्मा को—कि जो सहज गुणों का निधान है उसे—माध्यस्थ भावना में भाता है, उसे अविकृतिकरण नामक परम-आलोचना का स्वरूप वर्तता ही है।

गाथा - १११ पर प्रवचन

गाथा १११।

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थ-भावणाए वियडी-करणं ति विण्णेयं।।१११।।

निर्मलगुणाकर कर्म-विरहित अनुभवन जो आत्मा का।
माध्यस्थ भावों में करे, अविकृतिकरण उसे कहा॥१११॥

टीका - आहाहा! **यहाँ शुद्धोपयोगी जीव की परिणतिविशेष का (मुख्य परिणति का) कथन है।** आहाहा! शुद्धोपयोग, साम्यभाव, अविकृतभाव, वीतरागभाव सब एकार्थ है। शुद्धोपयोग। दया, दान का उपयोग, वह अशुद्धोपयोग है। दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा... यह तो (मोक्षपाहुड़) ८३ गाथा में कहा है न? वह कहीं जैनधर्म नहीं है। व्रत, पूजा, भक्ति आदि वह कहीं जैनधर्म नहीं है। अष्टपाहुड़ में मोक्षपाहुड़ है। आहाहा! ८३ गाथा। पूजा, व्रत, नियम, तप, भक्ति, वैयावृत्त्य वह कोई जैनधर्म नहीं है। आहाहा! वह तो पुण्यभाव है, वह तो रागभाव है; वह कहीं जैनधर्म नहीं है। जैनधर्म तो वीतरागभाव है। आहाहा! जो व्यवहार से पुण्य है, उसे धर्म मानता है, उसे कहते हैं कि वह तो जैनधर्म ही नहीं है। अन्यधर्म को तूने जैनधर्म माना है, तू अन्यधर्मी है। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय को भी धर्म माननेवाला जैनधर्मी नहीं, अन्यधर्मी है। आहाहा!

शुद्धोपयोगी जीव की परिणति... भाषा देखो! **शुद्धोपयोगी जीव की परिणतिविशेष का (मुख्य परिणति का) कथन है।** आहाहा! शुभ और अशुभभाव, वह जैनधर्म नहीं है। इसीलिए साम्यभाव भी नहीं है, इसलिए शुद्धोपयोग भी नहीं है। शुद्धोपयोग और साम्यभाव, वह जीव का वीतरागी परिणाम है, वह जैनधर्म है। देखा? **शुद्धोपयोगी जीव की परिणतिविशेष का (मुख्य परिणति का) कथन है। पापरूपी अटवी को जलाने के लिए...** पाप अर्थात् कि पुण्य और पाप दोनों। **पापरूपी अटवी...** आहाहा! पर्याय में पापरूपी अटवी—विशाल पृथ्वी। आहाहा! उसे **जलाने के लिए अग्नि समान ऐसा जो जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न...** आहाहा! जो जड़कर्म से भिन्न, पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति के भाव से भी भिन्न और नोकर्म अर्थात् शरीर, वाणी

और मन से भी भिन्न, ऐसे आत्मा को। आहाहा! **कि जो सहज गुणों का निधान है...** वह आत्मा कैसा है? स्वाभाविक गुणों का निधान - भण्डार है। आहाहा! गुणों का गोदाम है, अकेले पवित्र गुण का गोदाम है, निधान है। आहाहा! उस निधान की नजरें नहीं की। नजरें सब पर्याय और राग पर होने से निधान नजर में नहीं आया। पर्याय और प्रशस्त भले राग हो, उसकी रुचि और दृष्टि के कारण वह रागरहित निधान नजर में नहीं आया।

ऐसा जो जीव **पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि समान...** आहाहा! पाप में पुण्य और पाप दोनों आ गये, हों! आहाहा! पाप अर्थात् अकेला अशुभभाव नहीं। पुण्यभाव भी पाप है। योगीन्द्रदेव के दोहा में आता है 'पाप को पाप तो सब कहे, पुण्य को अनुभवीजन पाप कहे' (योगसार, दोहा ७१) योगीन्द्रदेव में आता है। आहाहा! कठिन काम है। यह तो धीरज का-धीर का काम है। 'धीरज धर न अरे अधीरा...' आहाहा! अन्दर धीरज का भण्डार भगवान है, वहाँ तुझे जाना है। धीरज कर... धीरज कर। उतावल—यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... इसका करना और यह करूँ... यह सब छोड़ दे। यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा!

यह तो पुण्य और **पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि समान ऐसा जो जीव...** ऐसा जीव। आहाहा! **द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न...** जड़कर्म, भाव अर्थात् पुण्य-पाप के भावरूपी कर्म और मन, वचन, कायादि नोकर्म, इनसे **भिन्न आत्मा को...** आहाहा! नियमसार का एक-एक श्लोक भी गजब का है! शीतलप्रसाद ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है, समयसार से भी कितनी ही नवीन बातें इसमें नियमसार में ऊँची है। कारणपरमात्मा की प्रसिद्धि की व्याख्या अलौकिक है। प्रत्येक गाथा कारणपरमात्मा सनातन सत्य प्रभु... आहाहा! उसकी प्रसिद्धि करने को समर्थ है।

कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैंने तो मेरी भावना के लिये बनाया है, बस। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य जैसे भगवान के पास गये थे। वे कहते हैं कि मैंने तो मेरी भावना के लिये बनाया है। आहाहा! मेरा नाथ आत्मा शुद्ध पूर्ण सनातन सत्य की भावना में घोलन में यह बनाया है। आहाहा! भले विकल्प था परन्तु घोलन स्वभाव की ओर था। यहाँ कहा न? शुद्धोपयोगी जीव की परिणति विशेष। कहना है वह उन्हें विकल्प है। बोलने के काल में, लिखने के काल में विकल्प है परन्तु उसकी गौणता गिनकर... आहाहा! शुद्धोपयोग की

प्रधानता गिनकर, उसका यह परिणमन का कथन किया है। वह जीव कैसा है?

पापरूपी अटवी को जलाने के लिए अग्नि समान... यह द्रव्यकर्म, भावकर्म अर्थात् पुण्य और पाप दोनों, पापरूपी अटवी थी न पहला शब्द? इसलिए उसका स्पष्टीकरण यहाँ कर दिया। भावकर्म। भावकर्म में पुण्य और पाप दोनों आ गये। आहाहा! दोनों पाप हैं। समयसार की टीका के अन्तिम अधिकार में अमृतचन्द्राचार्य (जयसेनाचार्य) ने स्पष्टीकरण किया है। भाई! यह अधिकार तो पाप का चलता है, उसमें तुमने यह पुण्य का अधिकार क्या लिया? यह पुण्य, वह पाप है, इसलिए अधिकार लिया। तू सुन। समयसार की टीका पुण्य-पाप (अधिकार का) अन्तिम श्लोक। पवित्रता का पिण्ड प्रभु, वहाँ से पुण्य पतित करता है। आहाहा! पवित्रता का पिण्ड प्रभु, उसमें पुण्य परिणाम (हो), वह उससे (स्वरूप से) पतित करता है। आहाहा! अब उसे कहना कि पुण्यभाव से धर्म होता है, शुभभाव करते-करते आगे बढ़ा जाता है... आहाहा! यहाँ तो कहा कि यह पुण्यभाव... अधिकार पाप का चलता है, उसमें यह भले कहा कि व्यवहार से पवित्र है। संस्कृत टीका में ऐसा लिया है। परन्तु निश्चय से तो पवित्रता से पतित करता है। पवित्रता का पिण्ड प्रभु से पतित पुण्यभाव करता है, इसलिए वह भी पाप है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं **द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न आत्मा को—कि जो सहज गुणों का निधान है उसे—...** जो ध्याता है। आहाहा! जैसे बालक उसकी माता के दूध को धाता है, पीता है। इसी प्रकार जो आत्मा को ध्याता है। आहाहा! **उसे अविकृतिकरण नामक परम-आलोचना का स्वरूप वर्तता ही है।** क्या कहा? जो ऐसे सहज गुणों का निधान, ऐसे भगवान आत्मा को जो ध्याता है अर्थात् ध्यान में ध्येय बनाकर ध्याता है, चूसता है। आहाहा! आनन्द का रस चूसता है, उसे सहज गुण नामक परम आलोचना, स्वभाविक गुण नामक परम-आलोचना का स्वरूप वर्तता है। आहाहा! उसे स्वभाविक गुण नामक परम आलोचना। यह विकल्प नहीं। आहाहा! यह निर्मल पर्याय, शुद्धोपयोग, उसे यहाँ सद्गुण नामक परम-आलोचना का स्वरूप वर्तता है, ऐसा कहा। शुद्धोपयोग को (कहा है) शुभ को नहीं। **परम-आलोचना का स्वरूप वर्तता ही है।** इत्यादि टीका करेंगे.... (*श्रोता :* प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१६२

[अब इस १११वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज नौ श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

आत्मा भिन्नो भवति सततं द्रव्यनोकर्मराशे–
रन्तःशुद्धः शम–दम–गुणाम्भोजिनी–राजहन्सः।
मोहाभावा–दपरमखिलं नैव गृह्णाति सोऽयं,
नित्यानन्दाद्यनुपमगुणश्चिच्चमत्कारमूर्तिः ।।१६२।।

(वीरछन्द)

जीव निरन्तर द्रव्य कर्म नोकर्म पुञ्ज से रहता भिन्न।
अन्तरंग में शुद्ध और शम-दम गुण कमलों को है हंस॥
अनुपम आनन्द आदि गुणात्मक चेतन चमत्कार मूरत।
आतम ग्रहे न परद्रव्यों को क्योंकि हुआ है मोह विलय॥१६२॥

[श्लोकार्थः] आत्मा निरन्तर द्रव्यकर्म और नोकर्म के समूह से भिन्न है, अन्तरंग में शुद्ध है और शम-दमगुणरूपी कमलों को राजहंस है (अर्थात् जिस प्रकार राजहंस कमलों में केलि करता है, उसी प्रकार आत्मा शान्तभाव और जितेन्द्रियतारूपी गुणों में रमता है)। सदा आनन्दादि अनुपम गुणवाला और चैतन्यचमत्कार की मूर्ति ऐसा वह आत्मा, मोह के अभाव के कारण समस्त पर को (-समस्त परद्रव्यभावों को) ग्रहण नहीं ही करता॥१६२॥

प्रवचन-१२५, श्लोक-१६२ से १६४, मंगलवार, माघ कृष्ण ५, दिनांक ०५-०२-१९८०

नियमसार, १६२वाँ कलश। १११ गाथा के नौ कलश हैं। गाथा एक और कलश नौ। १६२ (कलश)

आत्मा भिन्नो भवति सततं द्रव्यनोकर्मराशे–
रन्तःशुद्धः शम–दम–गुणाम्भोजिनी–राजहन्सः।
मोहाभावा–दपरमखिलं नैव गृह्णाति सोऽयं,
नित्यानन्दाद्यनुपमगुणश्चिच्चमत्कारमूर्तिः ।।१६२।।

[श्लोकार्थः] आहाहा! **आत्मा निरन्तर...** पहले करने का हो तो यह है। आत्मा सर्वज्ञ का निर्णय करो या सर्वज्ञस्वभावी निर्णय करो। सर्वज्ञ प्रगट हो गये, उनका निर्णय करो। ऐसा कहा न? '**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयतेहिं**' (प्रवचनसार गाथा ८०), इन अरिहन्त की पर्याय का निर्णय करो या यह सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा का अनुभव, निर्णय करो, वह (सब) एक बात है। सर्वज्ञ के निर्णय बिना सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय नहीं होता और सर्वज्ञस्वभाव के निर्णय बिना सर्वज्ञ अरिहन्त का निर्णय नहीं होता और उसका भी क्रमबद्ध बिना निर्णय नहीं होता। आहाहा! क्योंकि क्रमबद्ध वह सर्वज्ञस्वभाव के निर्णय में क्रमबद्ध आता है। सर्वज्ञस्वभाव का जहाँ निर्णय करता है, वहाँ उसे क्रमबद्ध निर्णय में आ जाता है, कि जो जिस समय जो पर्याय होनेवाली है, वह होगी। करूँ तो होगी, ऐसा वहाँ नहीं रहता।

इसलिए कहते हैं कि **आत्मा निरन्तर द्रव्यकर्म और नोकर्म के समूह से भिन्न है,...** आहाहा! निरन्तर भिन्न है। वस्तु जो है, वह तो निरन्तर सर्व आवरणरहित और नोकर्म तो बाह्य रह गये। उनसे रहित है। आहाहा! करना हो तो पहले यह है। इसमें सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का निर्णय आ जाता है, इसमें सर्वज्ञ का निर्णय आ जाता है। इसमें सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का निर्णय करने पर यह सब निर्णय आ जाते हैं। आहाहा!

निरन्तर द्रव्यकर्म और नोकर्म के समूह से भिन्न है, अन्तरंग में शुद्ध है... इसका अन्तर शुद्ध है अत्यन्त पवित्र से भरपूर है। इसकी सत्ता, अस्तित्व, पवित्रता के भाव से भरपूर अस्तित्व है। पवित्रता के भाव से भरपूर अस्तित्व है। आहाहा! **शम-दमगुणरूपी कमलों को राजहंस है (अर्थात् जिस प्रकार राजहंस कमलों में केलि करता है,...)** हंस-हंस **(उसी प्रकार आत्मा शान्तभाव और जितेन्द्रियतारूपी गुणों में रमता है)।** रमता है अर्थात् उनमें है। आहाहा! शान्तभाव अर्थात् अकषायभाव अर्थात् चारित्रभाव। चारित्र अर्थात् त्रिकाली चारित्रभाव, हों! उस भाव में **(और जितेन्द्रियतारूपी गुणों में**

रमता है)। उस भाव में ही वह स्थित है। आहाहा! **सदा आनन्दादि अनुपम गुणवाला...** निरन्तर अतीन्द्रिय आनन्द आदि, जिसकी उपमा नहीं मिलती, ऐसा अनुपम गुणवाला। **चैतन्यचमत्कार की मूर्ति ऐसा...** आहाहा! ऐसा आत्मा है, कहते हैं। उसका अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है। वह सर्वज्ञस्वभावी है। सर्वज्ञ का स्वभाव है, उसका निर्णय करने पर सर्वज्ञ परमात्मा, उनके कहे गये शास्त्र और उनके माने हुए मुनि, वे इस परम आनन्दादि अनुपम गुणवाले का निर्णय होने पर यह सब निर्णय सच्चा हो जाता है।

सदा आनन्दादि... अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय स्वच्छता, अतीन्द्रिय प्रभुता आदि **अनुपम...** जिसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती, ऐसा वह गुणवाला है। आहाहा! इसमें व्यवहार और निमित्त तो कहीं उड़ गये। ऐसा है-ऐसा निर्णय करता है, वहाँ व्यवहार और निमित्त के ऊपर से लक्ष्य उड़ जाता है। आहाहा! जिससे लक्ष्य उड़ता है, उससे हो, यह बात नहीं बनती। आहाहा! व्यवहार और निमित्त से अन्दर आत्मा को कुछ भी लाभ हो, ऐसा है ही नहीं - ऐसा कहते हैं।

यह तो सदा आनन्द, अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय स्वच्छता, प्रभुता अनन्त गुण के चित्चमत्कारिक स्वभाव से (भरपूर) **गुणवाला और चैतन्यचमत्कार की मूर्ति...** है। आहाहा! रागरहित (तो है) परन्तु एक समय की पर्यायरहित चैतन्यचमत्कार की मूर्ति है। ऐसी ताकत है इसकी कि उस पर नजर पड़ने पर पर्याय में ऐसी जानने की शक्ति प्रगट होती है कि जिसे पर की अपेक्षा नहीं है, ऐसा इसमें स्व-पर जानने का प्रगट होता है। ऐसा चैतन्यचमत्कार इसमें है। समय एक और जानने में लोकालोक आवे, ऐसा यह चमत्कारी चैतन्यमूर्ति प्रभु है। आहाहा!

ऐसा वह आत्मा मोह के अभाव के कारण... इतनी अपेक्षा और समझना। नहीं तो आत्मा में अभाव नाम का गुण है, इसलिए स्वयं अभावगुण के कारण परिणमता है परन्तु यह निमित्त से कथन किया है (कि) मोह के अभाव के कारण। वास्तव में तो इसमें अभाव नाम का एक गुण है। अनादि-अनन्त भाव, अभाव—ऐसा इसमें गुण है। उसके कारण पर से अभावस्वरूप **समस्त पर को (-समस्त परद्रव्यभावों को) ग्रहण नहीं ही करता।** आहाहा! परपदार्थ के भाव ऐसा जो मोह, उसके अभाव के कारण **(-समस्त परद्रव्यभावों को) ग्रहण नहीं ही करता।** इस राग को भी द्रव्य ग्रहण नहीं करता। पुण्य के परिणाम और

तीर्थंकरगोत्र जिस भाव से बँधे, उस भाव को भी द्रव्य ग्रहण नहीं करता। आहाहा! ऐसा यह भगवान आत्मा (विद्यमान है)।

यह १११वीं गाथा का कलश है। मूल में मोहभाव भिन्न है न? उसका विस्तार किया है। पाठ है न मूल? **कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।** आहाहा! ऐसा आत्मा अन्तर्दृष्टि में न आवे और उसकी महिमा इतनी बड़ी है, उसका माहात्म्य इतना है—ऐसा दृष्टि में जब तक न आवे, तब तक परसन्मुख का मोह नहीं उड़ता, परसन्मुख की सावधानी नहीं टलती। स्वसन्मुख की सावधानी की उग्रता में परसन्मुख की सावधानी नहीं रहती। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है।

समस्त पर को ग्रहण नहीं ही करता। पर को ग्रहण करता ही नहीं, वापस ऐसा (कहा है)। एकान्त है। द्रव्यस्वभाव चैतन्यचमत्कार... आहाहा! वह **शम-दमगुणरूपी कमलों को राजहंस है...** वह तो अपने गुण में ही रमता है अर्थात् गुण में ही है, ऐसा। बाहर निकलता ही नहीं। आहाहा! एक समय की पर्याय में ज्ञात होता है परन्तु वह पर्याय में आता नहीं। ऐसा जो राजहंस, जैसे कमल में रमता है परन्तु वह कमल और राजहंस दोनों पृथक् हैं, यह तो दृष्टान्त है। यहाँ तो कहते हैं, अपने गुण में ही वह टिक रहा है, ऐसा कहते हैं। रमता है अर्थात् अपने गुण में ही अनन्त चित्चमत्कार आदि गुणों में ही रहा हुआ है। उसमें से एक समय भी हटा नहीं। आहाहा! ऐसे आत्मा की अन्तर्दृष्टि करना, वह मोक्ष का मार्ग है, क्योंकि मुक्तस्वरूप है। अनन्त गुणसम्पन्न मुक्तस्वरूप है, उसकी अन्दर में दृष्टि करके, मुक्तमार्ग का भाव प्रगट होता है। मुक्तिमार्ग का भाव वहाँ प्रगट होता है। बन्ध के कारण से और बन्ध की अपेक्षा रखकर, निमित्त की अपेक्षा रखकर मुक्तस्वरूप का मोक्ष का मार्ग प्रगट नहीं होता। आहाहा! अब ऐसी बातें।

लोग (ऐसा) जाने कि हम साधारण हैं। साधारण नहीं, प्रभु! तू भगवन्त है, ऐसा यहाँ कहते हैं। अनन्त गुणसम्पन्न प्रभु है। विकार तो नहीं, कर्म तो नहीं, अल्पता नहीं। आहाहा! ऐसे पूर्ण गुण से भरपूर भगवान की दृष्टि करना, वह आलोचना है। आलोचना अधिकार चलता है न? उसे जिसने देखा, उसने आलोचन किया। आहाहा! बाकी अपने पाप और पुण्य के भाव देखना या गुरु के पास कहना कि मुझे इतना हुआ, यह वस्तु नहीं है। गुरु स्वयं ही है। अनन्त गुण का सागर गुरु स्वयं है। उसमें वह रमता अर्थात् रहता स्वयं ही त्रिकाल है। आहाहा!

उसे **मोह के अभाव के कारण समस्त पर को (-समस्त परद्रव्यभावों को) ग्रहण नहीं ही करता।** राग के अंश को द्रव्यस्वभाव ग्रहण नहीं करता। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, उस भाव को भी राजहंस स्पर्श नहीं करता, ग्रहण नहीं करता। आहाहा! ऐसा यह आत्मा, इसका आलोचन अर्थात् इसे देखना, इसे मानना और इसे अनुभव करना, यह मुक्ति का मार्ग है। आहाहा! १६२ (श्लोक पूरा) हुआ।

श्लोक-१६३

(मंदाक्रांता)

अक्षय्यान्तर्गुणमणिगणः शुद्धभावामृताम्भो-
राशौ नित्यं विशदविशदे क्षालितांहः कलङ्कः।
शुद्धात्मा यः प्रहतकरण-ग्राम-कोलाहलात्मा,
ज्ञानज्योतिःप्रतिहततमोवृत्तिरुच्चैश्चकास्ति ।।१६३।।

(वीरछन्द)

अन्तरंग अक्षय गुणमणियों का समूह जो शुद्धातम।
निर्मल शुद्धभाव अमृत से पाप पंक को करे वमन॥
पञ्चेन्द्रिय समूह के कोलाहल का जिसने किया विनाश।
भासमान वह शुद्धातम है ज्ञानज्योति से कर तम नाश॥१६३॥

[श्लोकार्थः] जो अक्षय अन्तरंग गुणमणियों का समूह है, जिसने सदा विशद-विशद (अत्यन्त निर्मल) शुद्धभावरूपी अमृत के समुद्र में पापकलंकों को धो डाला है तथा जिसने इन्द्रियसमूह के कोलाहल को नष्ट कर दिया है, वह शुद्ध आत्मा ज्ञानज्योति द्वारा अन्धकारदशा का नाश करके अत्यन्त प्रकाशमान होता है॥१६३॥

श्लोक -१६३ पर प्रवचन

१६३वाँ कलश।

अक्षय्यान्तर्गुणमणिगणः शुद्धभावामृताम्भो–
राशौ नित्यं विशदविशदे क्षालितांहः कलङ्कः।
शुद्धात्मा यः प्रहतकरण–ग्राम–कोलाहलात्मा,
ज्ञानज्योतिःप्रतिहततमोवृत्तिरुच्चैश्चकास्ति ।।१६३।।

[श्लोकार्थः] आहाहा! **जो अक्षय अन्तरंग गुणमणियों का समूह है,...** क्या कहते हैं? अक्षय—जिसका कभी क्षय न हो, ऐसे **अन्तरंग गुणमणियों का समूह है,...** जिसमें कभी हीनता न आवे। आहाहा! अक्षय—क्षय न हो। आंशिक भी अन्दर हीनता न आवे, ऐसे अन्तरंग गुणमणि का ढ़ेर है। अन्तरंग गुणमणि। अन्तरंग गुणमणि का समूह है। आहाहा! अरे! ऐसा आत्मा, उसे हिलता-चलता कहना...! त्रस हो, वह हिलता-चलता है; स्थावर, वह स्थिर। उसकी व्याख्या।

मुमुक्षु : व्याख्या ही खोटी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्याख्या ही खोटी है। आहाहा! भगवान हिलता नहीं, चलता नहीं और बोलता नहीं। स्थिर रहे नहीं कि चलता था, इसलिए वह स्थिर रहे। स्थिर तो अन्दर गुण में स्थिर है। आहाहा! त्रिकाल अनन्त गुण में स्थिर चैतन्य चमत्कारमूर्ति प्रभु, आहाहा! गुणमणियों का (समूह)। गुणरूपी मणि... आहाहा! एक-दो मणि नहीं, अनन्त गुणरूपी मणियों का। बहुवचन किया है न? गुणमणि नहीं। गुणमणियों का। अनन्त गुण रत्नरूपी मणि। आहाहा! **अक्षय अन्तरंग गुणमणियों का समूह है,...** अन्तरंग गुणरत्नमय का तो पिण्ड है, समूह है। आहाहा! ऐसे आत्मा से पर की दया पालने का और व्रत करने का कहना... आहाहा! यह चक्रवर्ती को राज मिला और झाड़ू से चक्रवर्ती से महल को साफ करना (कहना), ऐसी बात है। आहाहा!

ऐसा जो रत्न का मणि भगवान जिसने सदा **विशद-विशद (अत्यन्त निर्मल) शुद्धभावरूपी...** त्रिकाल शुद्ध निर्मल **शुद्धभावरूपी अमृत के समुद्र में पापकलंकों को**

धो डाला है... अर्थात् उसे अमृत के समुद्र में पापकलंक है नहीं। शब्द वह तो ऐसा प्रयोग किया है। **धो डाला है...** यह शब्द प्रयोग किया है परन्तु होवे तो धोवे न? समझ में आया? वह तो एक शब्द की शैली प्रयोग की है। बाकी कहते हैं कि **अन्तरंग गुणमणियों का समूह है, जिसने सदा विशद-विशद (अत्यन्त निर्मल) शुद्धभावरूपी अमृत के समुद्र में...** पड़ा हुआ ही है। अमृत समुद्र ही है। उसे पाप धोना, वह भी उसमें नहीं है। आहाहा! पुण्य को करना, यह तो नहीं परन्तु पुण्य को धोना, यह भी स्वरूप में नहीं है। आहाहा! यह कहते हैं।

शुद्धभावरूपी अमृत के समुद्र में पापकलंकों को धो डाला है... अर्थात् उसे पुण्य-पाप है ही नहीं, ऐसा। धो डाले का अर्थ यह है। जो भगवान आत्मा अमृत सागर के मणिरत्न से भरपूर, उसमें पुण्य और पाप है ही नहीं। आहाहा! है नहीं, फिर उसे धो डालना, वह तो एक समझाना है। आहाहा! **तथा जिसने इन्द्रियसमूह के कोलाहल को नष्ट कर दिया है,...** आहाहा! अतीन्द्रिय शुद्धभाव के आनन्द के अनुभव में इन्द्रिय के समूह के कोलाहल—पाँच इन्द्रिय का कोलाहल, इन्द्रियों में विकल्प उठे, यह ठीक है, यह ठीक नहीं। यह विषय इन्द्रिय को ठीक पड़ता है और यह विषय ठीक नहीं पड़ता, यह सब कोलाहल है। आहाहा! उसे नष्ट कर दिया है अर्थात् कि वह कोलाहल उसमें है नहीं। आहाहा! होवे तो नाश कर डाले न? आहाहा! वह है नहीं, उसे समझाने की शैली से बात कही है। आहाहा!

समयसार में ३४वीं गाथा में आया है न? आत्मा राग का नाश करता है, यह नाम कथन है। यह कथनमात्र भाषा है। परमार्थ से वह राग का नाश करे, ऐसा है ही नहीं। होवे तो नाश करे न? स्वरूप में नहीं है तो नाश कहाँ से करे? आहाहा! इस राग का नाश करना-ऐसा कहना, यह नाममात्र कथन है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़ता है, भाई! वस्तु है, वह वस्तु ही है। उसमें नाश करना या होना दोनों नहीं है। विकार होना या विकार नाश करना, यह सब पर्याय की बातें हैं, वे अन्दर में है ही नहीं, वस्तु में है ही नहीं। यह पर्याय की बातें निमित्त से है। पर्याय में नष्ट हुआ, ऐसा कहना वह भी निमित्त का कथन है। आहाहा! परमार्थ से वह पर्याय में आया नहीं।

वह तो आनन्द का धाम, सत्ता का आलय। पूर्ण गुण की सत्ता का धाम, स्वयं ज्योति

सुखधाम। श्रीमद् में आता है न? स्वयं ज्योति। आनन्द का धाम। जिसके क्षेत्र में से अतीन्द्रिय आनन्द पके, ऐसा वह क्षेत्र है। इन्द्रिय का विषय-जहर पके, ऐसा वह क्षेत्र है ही नहीं। आहाहा! इन्द्रिय के विषय को नाश कर दिया है, कोलाहल को नाश कर दिया है। अर्थात् कोलाहल उसमें है नहीं। नाश कर दिया है, यह पर्याय की व्याख्या है। वस्तु में नाश कर दिया, या है, यह वस्तु कोई है नहीं। आहाहा! ऐसे आत्मा की बात है। ऐसा आत्मा नजर में, दृष्टि में जहाँ तक न आवे, ऐसा आत्मा ज्ञान में ज्ञेयरूप से न आवे, तब तक सब निरर्थक / व्यर्थ है। आहाहा! अब इसमें व्यवहार से और निमित्त से होता है, (ऐसा है नहीं)। व्यवहार ही उसमें है नहीं, निमित्त भी उसमें नहीं। है नहीं, फिर उसे नाश करना या उससे होना, यह प्रश्न कहाँ है? आहाहा!

इन्द्रियसमूह... समूह अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ। पाँच इन्द्रिय के समूह को... कोलाहल। वह तो कोलाहल है। पाँच इन्द्रियों में शान्तस्वरूप प्रभु, निर्विकारी शान्त आनन्दस्वरूप। वह पाँच इन्द्रिय के विकल्प तो कोलाहल है। वह कोलाहल तो जिसने नष्ट कर दिया है अर्थात् जिसमें कोलाहल है ही नहीं। आहाहा! जिसका आश्रय लिया, वहाँ इन्द्रिय का कोलाहल है ही नहीं। भगवान का आश्रय लिया, वहाँ इन्द्रिय के समूह का कोलाहल है ही नहीं। आहाहा!

भगवान अर्थात् आत्मा। **वह शुद्ध आत्मा...** देखो न! **वह शुद्ध आत्मा ज्ञानज्योति द्वारा अन्धकारदशा का नाश करके...** यह पर्याय से बात की है। वह शुद्ध आत्मा ज्ञानज्योति द्वारा, पर्याय द्वारा **अन्धकारदशा का नाश करके...** ज्ञान की उत्पत्ति करके, अज्ञान का व्यय करके **अत्यन्त प्रकाशमान होता है।** आहाहा! वास्तव में शुद्ध आत्मा जानने में आया, इससे उसे ऐसा कहा है। शुद्धात्मा तो शुद्ध ही है परन्तु जानने में आया, इसलिए ज्ञानज्योति द्वारा अन्धकार का नाश किया। प्रकाश किया और अन्धकार का व्यय किया। ध्रुव का आश्रय किया। आहाहा! ध्रुव चैतन्य का आश्रय किया तो ज्ञानज्योति प्रगट हुई, यह उत्पाद हुआ। अन्धकार का व्यय हुआ, ध्रुवरूप से आश्रय रहा। आहाहा!

अनन्त प्रकाशमान है। अनन्त **अत्यन्त प्रकाशमान होता है। नाश करके अत्यन्त प्रकाशमान होता है।** पर्याय में अब प्रकाशमान है, कहते हैं। वस्तु तो प्रकाशस्वरूप ही है परन्तु उसका जहाँ आश्रय किया, वहाँ पर्याय प्रकाशमय प्रगट हुई और अन्धकार का व्यय / नाश किया। आहाहा! जो इसमें नहीं, उसका नाश किया, वह भी पर्याय अपेक्षा से

कथन है। द्रव्य विकार को नाश करता है, यह भी अपेक्षित कथन है। आहाहा! ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

मुमुक्षु : पर्याय का प्रकाश और इन्द्रिय...

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रकाश पर्याय में है। वह अपेक्षित पर्याय हुई। उत्पाद और व्यय की अपेक्षा हो गयी। ध्रुव को उसकी अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : गुणशक्ति अन्दर भरपूर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भरपूर ही है, भरा हुआ ही है। आहाहा! यह तो जिसे अन्दर आश्रय / स्वीकार जहाँ होता है, वहाँ पर्याय में उछलता है। है, वह पर्याय में उछलता है। पर्यायदृष्टि से, हों! द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य है, वह है परन्तु उसकी दृष्टि की है, वह पर्याय है। पर्याय-दृष्टि से प्रकाश प्रगट होता है, अन्धकार का नाश होता है। आहाहा! ऐसा भगवान अनादि से अज्ञान में रहा है, यही विस्मय और आश्चर्यकारी है। यही विस्मय और आश्चर्य है। ऐसी चीज़... आहाहा! समझ में आया? ऐसी महाप्रभु की चीज़ अनन्त गुणमणि रत्न की खान, वह अन्धकार में अज्ञान में रहा, राग में रहा, यही कोई विस्मय / आश्चर्य है। आहाहा!

इसीलिए कहते हैं **शुद्ध आत्मा ज्ञानज्योति द्वारा...** पर्याय द्वारा **अन्धकारदशा का नाश करके...** पर्याय से **अत्यन्त प्रकाशमान होता है।** अत्यन्त प्रकाशमान है, जिसे प्रकाश में किसी की अपेक्षा नहीं। प्रवचनसार की १०१वीं गाथा में यहाँ तक कहा। प्रवचनसार। उत्पाद को व्यय की अपेक्षा नहीं। आहाहा! अनन्त आनन्द के उत्पाद को विकार के व्यय की अपेक्षा नहीं। विकार के व्यय को अनन्त आनन्द के उत्पाद की अपेक्षा नहीं। अनन्त आनन्द का उत्पाद, उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं। आहाहा! प्रवचनसार की १०१वीं गाथा। १०२ गाथा में जन्मक्षण कहा। जिस समय में जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है, उस समय होनेवाली है। उसकी उत्पत्ति का एक क्षण-काल है। आड़ी-टेढ़ी फेरफार (नहीं होता)। नम्बरवार जहाँ पर्याय होती है, वहाँ उल्टा-सीधा फेरफार है ही नहीं। आहाहा! यह पर्यायनय का कथन है। ध्रुव में तो वह है ही नहीं। उत्पन्न होना और व्यय होना, यह ध्रुव में तो है ही नहीं। जिसमें नहीं है, उसकी दृष्टि होने पर अनन्त आनन्द का प्रकाश प्रगट होता

है और वहाँ अन्धकार का नाश होता है। यह पर्याय की (अपेक्षा से कथन है)। आहाहा! ऐसी बात! साधारण समुदाय में ऐसी बात रखे तो लोगों को ऐसा लगता है कि यह तो बहुत ऊँची बात है। ऊँची नहीं; जो है, वह यही है। धर्म के नाम से जो है, वह यह है। फिर ऊँची कहकर उसे हल्की ठहराकर नीचे की कोई दूसरी चीज़ से होता है और यह तो सब ऊँचा है, ऐसा कहकर इसकी हीनता कर डालना, ऐसा नहीं है। आहाहा!

पहले नम्बर में वस्तु परिपूर्ण अनुपम दृष्टि में जहाँ ज्ञान में ज्ञेयरूप से प्रतिभास हुआ, ज्ञेय में वस्तु नहीं आयी - पर्याय में वस्तु नहीं आयी परन्तु पर्याय में उस वस्तु का जितना सामर्थ्य और स्वरूप है, उतना पर्याय में ज्ञान आया और उतनी श्रद्धा भी आयी, तथापि उस श्रद्धा में वह वस्तु नहीं आयी क्योंकि श्रद्धा और ज्ञान, वह पर्याय है। पर्याय में द्रव्य नहीं आता, परन्तु पर्याय में द्रव्य का जैसा यथार्थ स्वरूप है, वैसा उसे ज्ञान और श्रद्धा में आ जाता है। आहाहा! इसीलिए अत्यन्त प्रकाशमान है, ऐसा कहा है। अन्धकार का नाश करके अत्यन्त प्रकाशमान है। आहाहा!

ध्रुव का आश्रय करने से पर्याय में चैतन्य प्रकाशित होता है और पर्याय में अन्धकार का व्यय होता है, ऐसा बतलाना है। आहाहा! करना तो यह है। इसकी खबर नहीं होती और जिन्दगी चली जाती है। देह छूट जाएगी और आत्मा तो नित्य है, अनादि अनन्त है, कहीं जानेवाला है। देह छूटने पर कहाँ जाएगा? यहाँ जिसके भाव का ठिकाना नहीं किया, जो चीज़ है, उसका आदर नहीं, उस चीज़ की कीमत नहीं की; कीमती चीज़ की कीमत नहीं की, नहीं कीमती उसकी कीमत की है, वह तो कहीं भटकने में जाएगा। आहाहा! देह को छूटने का काल तो अल्प काल है। पचास वर्ष हुए, उसे पचास वर्ष (अब) होनेवाले नहीं हैं कहीं। आहाहा! फिर रहने का तो अनन्त काल रहता है परन्तु जिसने इस अपनी नित्य चीज़ की महिमा, कीमत और माहात्म्य नहीं जाना, उसे पर-सन्मुख की महिमा और माहात्म्य नहीं छूटता और पर-सन्मुख की महिमा माहात्म्य नहीं छूटता, इसलिए उसे परसंयोग नहीं छूटता। परसंयोग में ही उसका अवतार धारण करता है। आहाहा! १६३ श्लोक (पूरा) हुआ।

श्लोक-१६४

(वसंततिलका)

सन्सार-घोर-सहजादिभि-रेव रौद्रै-
दुर्:खादिभिः प्रतिदिनं परितप्यमाने ।
लोके शमामृतमयीमिह तां हिमानीं,
यायादयं मुनिपतिः समताप्रसादात् ।।१६४।।

(वीरछन्द)

यह जग सहज घोर रौद्रादिक दुख से नित परितप्त रहे।
मुनिवर समता के प्रसाद से शम-अमृत हिम राशि ग्रहें ॥१६४॥

[श्लोकार्थः] संसार के घोर, [१]सहज इत्यादि रौद्र दुःखादिक से प्रतिदिन परितप्त होनेवाले इस लोक में यह मुनिवर समता के प्रसाद से शमामृतमय जो हिम-राशि (बर्फ का ढेर) उसे प्राप्त करते हैं ॥१६४॥

श्लोक -१६४ पर प्रवचन

---

१६४ श्लोक।

सन्सार-घोर-सहजादिभि-रेव रौद्रै-
दुर्:खादिभिः प्रतिदिनं परितप्यमाने ।
लोके शमामृतमयीमिह तां हिमानीं,
यायादयं मुनिपतिः समताप्रसादात् ।।१६४।।

[श्लोकार्थः] आहाहा! **संसार के घोर, सहज इत्यादि रौद्र दुःखादिक से प्रतिदिन...** क्या कहते हैं? **संसार...** पर्याय में जो संसरणदशा, विकारीदशा, मिथ्यात्वदशा, वह सहज

१. सहज=साथ में उत्पन्न अर्थात् स्वाभाविक। निरन्तर वर्तता हुआ आकुलतारूपी दुःख तो संसार में स्वाभाविक ही है, अर्थात् संसार स्वभाव से ही दुःखमय है। तदुपरान्त तीव्र असाता आदि का आश्रय करनेवाले घोर दुःखों से भी संसार भरा है।

से जन्मी हुई स्वाभाविक है। जैसे वस्तु स्वाभाविक है, वैसे घोर संसार की उत्पत्ति भी स्वाभाविक अनादि से है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! इसीलिए सहज शब्द प्रयोग किया है। जैसे सहज भगवान पर की अपेक्षा बिना सहजस्वरूप ही है, वैसे इसकी पर्याय में भी सहज स्वाभाविक निरन्तर वर्तता हुआ आकुलतारूपी दुःख, वह तो संसार में स्वाभाविक ही है। आहाहा! जहाँ हो वहाँ विकल्प का कोलाहल। संकल्प और विकल्प के कोलाहल का जाल संसार में चिपट रहा है। आहाहा!

सहज इत्यादि रौद्र... आहाहा! पर्याय में अनादि से स्वाभाविक दुःख है, कहते हैं। स्वाभाविक कहा न, सहज? आहाहा! वह भी स्वाभाविक-सहज दुःख है। आहाहा! **इत्यादि रौद्र दुःखादिक से प्रतिदिन... निरन्तर वर्तता हुआ आकुलतारूपी दुःख तो संसार में स्वाभाविक ही है,...** क्या कहते हैं? परमानन्द का नाथ भगवान जैसे सहज स्वरूप से विराजता है, वैसे अनादि से उसकी पर्याय में संकल्प-विकल्प की दुःख की दशा सहज स्वाभाविक अनादि से है। आहाहा! कर्म से है-ऐसा नहीं। इसलिए सहज रौद्र (कहा है)। आहाहा! पैसा मिला, पैसे खर्च किये, स्त्री मिली, पुत्र हुआ, घर बनाया, मकान हुआ, वास्तु करके, कार्यकर्ताओं को भोजन कराया, यह अकेली सहज दुःखदशा है।

सहज **निरन्तर वर्तता हुआ आकुलतारूपी दुःख तो संसार में स्वाभाविक ही है,...** आहाहा! वह संयोग के कारण (दुःखदशा) नहीं है। उसमें विकल्प का जाल ही अकेला खड़ा किया है। यह किया, यह छोड़ा, यह लिया, इसका किया, इसका किया, यह किया। आहाहा! ऐसी **सहज रौद्र दुःखादिक से...** रौद्र। आहाहा! **तदुपरान्त तीव्र असाता आदि का आश्रय करनेवाले घोर दुःखों से भी संसार भरा है।** स्वाभाविक संकल्प-विकल्प तो है परन्तु असाता के उदय से भी उसे प्रतिकूलता का पार नहीं है। आहाहा! दो बातें की है। कहा न, **स्वभाव से ही दुःखमय है। तदुपरान्त तीव्र असाता आदि का...** नीचे अर्थ है न? **तीव्र असाता आदि का आश्रय करनेवाले घोर दुःखों से...** आहाहा! असाता के उदय के कारण मन में, वाणी में, देह में प्रतिकूलता के कारण से दुःख, दुःख और दुःख ही है। प्राणी दुःखी है। यह करोड़पति, अरबपति राजा, देव जो पर का पति होता है, करोड़पति, लखपति, नरपति, वह दुःखपति है। आहाहा! कहने में मुनि को वाणी कम पड़ती है, कहते हैं। क्या कहना? आहाहा!

घोर, सहज इत्यादि रौद्र दुःखादिक से... विकल्प के दुःख से तो घिरा हुआ ही है।

भगवान निर्विकल्प आनन्द का नाथ, आनन्द का सागर, अनन्त गुणमणि से भरपूर, उस सहज पर्यायरूपी दु:ख से तो पर्याय में भरा हुआ ही है। आहाहा! घोर संसार का स्वाभाविक **रौद्र दु:खादिक से प्रतिदिन...** आहाहा! स्वभाव के आश्रय बिना, इसका पर में आश्रय निरन्तर वर्तता ही रहता है। आहाहा! फिर भले साधु हो। बाहर का संसार, स्त्री-पुत्र को छोड़े। वह संसार नहीं है। संसार तो अन्दर मिथ्या अभिप्राय और मिथ्या अस्थिरता, वह संसार है। वह संसार छोड़ा नहीं और बाहर में परिवार तथा स्त्री-पुत्र छोड़कर अन्दर संकल्प-विकल्प में पड़ा है। आहाहा! स्वाभाविक एक तो दु:ख है और असाता के उदय से भी प्रतिकूलता का, संयोग का दु:ख है। आहाहा!

घोर दु:खों से भी संसार भरा है। परन्तु लगे किसे? आनन्द का नमूना देखा हो तो इसे संकल्प-विकल्प संसार के दु:ख का ख्याल आवे। इसके बिना इस संसार के दु:ख का (ख्याल कहाँ से आवे)? कहाँ दु:ख है इसमें? क्या है? परन्तु दु:ख की व्याख्या तू समझता नहीं। आत्मा के आनन्द से विपरीत संकल्प-विकल्प, वह दु:ख का घोर संसार है। आहाहा! बाहर के शरीर की शारीरिक साता, पैसे की अनुकूलता... आहाहा! वहाँ कहा न, एक अरबपति है। नैरोबी में। एक व्यक्ति तो ऐसा कहता था कि एक अरब की तो इसे आमदनी है। एक व्यक्ति उसे ऐसा कहता था। कहा था न? कोई कहता था। एक अरब की आमदनी। व्याख्यान में आया था। यह बात (वहाँ कहाँ है)? बाहर पैसे के ढ़ेर, सुख के ढ़ेर अज्ञानी को दिखायी दें। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि उसमें विकल्प और संकल्प से घिर गया हुआ, आनन्द के सागर को विकल्प से घेर डाला है। जो इसमें नहीं, उसकी पर्याय में विकल्प के घोर संसार के दु:ख से घिरा हुआ है। आहाहा! जिसकी आड़ में प्रभु आनन्द है, उसकी तो इसे खबर भी नहीं। आहाहा! पैसेवाले दु:खी, देव दु:खी, राजा दु:खी। अपने स्वरूप को भूलकर संकल्प-विकल्प करनेवाले रौद्र घोर संसार में दु:खी हैं। आहाहा! उन्हें लोग सुखी कहते हैं। मूर्ख-पागल लोग सुखी कहते हैं। पाँच-पच्चीस लाख, करोड़-दो करोड़, पाँच करोड़, दस करोड़ मिले। आहाहा!

नैरोबी में एक व्यक्ति कहता था कि सात लाख की आबादी है। एक लाख मोटर है और साढ़े चार सौ करोड़पति हैं। आहाहा! धूल में है, कहा। करोड़पति किसका? पति जड़ का। भैंस का पति पाड़ा होता है; वैसे करोड़ जड़रूप का पति जड़ माने। जड़ है।

आहाहा! अरे! इसे सुनने को मिलता नहीं। इसे विचारने का समय निकालता नहीं और समय चला जाता है। देह की स्थिति पूर्ण होने के समीप है। जो-जो दिन जाते हैं, वे मौत के समीप जाते हैं। यह जानता है कि मैं बड़ा होता हूँ। भगवान कहते हैं कि देह की स्थिति पूरी होने के नजदीक जाता है। जहाँ पूरी होगी, वहाँ एकदम देह छूट जाएगी। आहाहा! प्रभु तो अनादि-अनन्त है। कहीं तो रहेगा। कहाँ रहेगा? आहाहा! संकल्प और विकल्प के जाल में (रहेगा)। जैसे मकड़ी लार में फँस गयी, वैसे यह संकल्प-विकल्प में फँसा हुआ चार गति में भटकने में रहेगा। आहाहा! भाषा कैसी ली है?

संसार के घोर, सहज... स्वाभाविक परन्तु घोर। आहाहा! ऐसे **रौद्र दुःखादिक से प्रतिदिन परितप्त होनेवाले...** आहाहा! **प्रतिदिन परितप्त...** दुःख से परितप्त। आहाहा! अग्नि में जैसे चूहा जले-सुलगे, वैसे यह संकल्प-विकल्प में सुलग रहा है, कहते हैं। परितप्त है। आहाहा! दुनिया से अलग जाति है। आहाहा! **प्रतिदिन...** किसी समय दुःख से खाली नहीं है, कहते हैं। **परितप्त होनेवाले इस लोक में...** आहाहा! ऐसी यह दुनिया-लोक, इसमें **यह मुनिवर...** आहाहा! **समता के प्रसाद से...** विकल्प का जाल तोड़ डालकर **समता के प्रसाद से...** आहाहा! मुनिवर अर्थात् कुछ स्त्री, पुत्र, दुकान छोड़कर बैठे, इसलिए मुनिवर हैं, ऐसा नहीं है। उनके संकल्प-विकल्प का जाल जो घोर संसार है। जीव का संसार आत्मा की पर्याय से दूर नहीं होता। स्त्री, पुत्र, धन्धा, परिवार, वह संसार नहीं है क्योंकि आत्मा की पर्याय में वह चीज़ नहीं है। आत्मा में द्रव्य-गुण में तो नहीं परन्तु उसकी पर्याय में कर्म, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार उसकी पर्याय में नहीं। आहाहा! वे तो दूर वर्तते हैं। पर्याय से तो दूर वर्तते हैं। उसकी पर्याय में तो घोर संकल्प-विकल्प के रौद्र दुःखदायक परिणाम वर्तते हैं। आहाहा!

जिसके द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध है परन्तु उसकी पर्याय जो अवस्था, वर्तमान वर्तती हालत है, उस हालत में कर्म नहीं, शरीर नहीं, स्त्री नहीं, परिवार नहीं, कुटुम्ब नहीं पैसा नहीं, इज्जत नहीं। इसकी पर्याय में ये चीज़ें नहीं। ये तो दूर हैं। आहाहा! इसकी पर्याय में तो दुःख का भाव, संकल्प-विकल्प का भाव इसमें है, वह इसकी पर्याय में है। आहाहा! उस पर्यायबुद्धि को छोड़कर मुनिवर... आहाहा! **समता के प्रसाद से...** देखा? वह विभ्रम दुःख था। संसार के घोर संकल्प-विकल्प। यह वीतरागता आयी। वीतरागी स्वभावी भगवान के अवलम्बन से वीतरागता आयी। यह वीतरागता कहो, शुद्ध उपयोग कहो,

समता कहो... आहाहा! मुनिवर शुद्धोपयोग के प्रसाद से... आहाहा! समता अर्थात् यह। जहाँ पुण्य और पाप दोनों समान बन्ध के कारण दुःखदायक है। ऐसी जो अन्दर समता वर्तती है। आहाहा! और त्रिकाली भगवान आत्मा का अवलम्बन वर्तता है।

उसके प्रसाद से मुनिवर **शमामृतमय जो हिम-राशि...** आहाहा! समता का, अमृत का रस भगवान **हिम-राशि (बर्फ का ढेर)...** वे मुनिवर शान्ति को पाते हैं। उस संसार के दुःख में, रौद्र परिणाम में दुःख पाता है और असाता के कारण (दुःख पाता) है। दो बातें ली हैं और इन्हें तो-मुनिवर को तो समता, आनन्द, वीतरागता... आहाहा! **शमामृतमय...** शमतारूपी अमृत वीतरागभावरूपी अमृत। जो **(बर्फ का ढेर)...** आहाहा! शमतारूपी अमृत का, हिम का ढ़ेर। आहाहा! पर्याय में, हों! उसे प्राप्त करते हैं। वह (अज्ञानी) रौद्र दुःख को प्राप्त करता है तो ये (मुनिवर) शमतारूपी शान्ति को पाते हैं।

शमामृतमय जो हिम-राशि (बर्फ का ढेर) उसे प्राप्त करते हैं। आहाहा! शान्त... शान्त... शान्त... विकल्प-संकल्प का अभाव। शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति से भरपूर भगवान के आश्रय से प्रगट हुई शान्ति के समताभाव को प्राप्त करते हैं। आहाहा! उन्हें मुनिवर कहते हैं। आहाहा! स्त्री, पुत्र, दुकान छोड़े, इसलिए मुनि है; धन्धा नहीं करता, इसलिए, मुनि है; पंच महाव्रत पालता है, इसलिए मुनि है - ऐसा नहीं है।

मुनिवर तो समता के प्रसाद से, वीतरागभाव के प्रसाद से संकल्प-विकल्प के अभाव से... आहाहा! पर्याय में, हों! जैसा वीतरागस्वभाव है, वैसा ही उसका आश्रय करके जिसने वीतरागता, समता प्रगट की है। ऐसे शमामृतमय शान्ति का ढ़ेर, हिम का ढ़ेर... आहाहा! शान्ति का सागर पर्याय में उछला। ऐसे यहाँ शान्ति का ढ़ेर आया। अज्ञानी को दुःख का घोर संसार आया। इन्हें शान्ति का आनन्द आया। आहाहा! दोनों की अपेक्षा से पारस्परिक बात की है न? पहले उस **संसार के घोर, सहज इत्यादि रौद्र दुःखादिक से प्रतिदिन परितप्त होनेवाले इस लोक में...** तब **मुनिवर समता के प्रसाद से...** आहाहा! मुनि किसे कहें? कहते हैं। आहाहा! जिन्हें आनन्द का ढ़ेर भगवान पूर्ण शान्तरस से-अकषायभाव से भरपूर, उसके आश्रय से जो अकषायभाव शान्ति प्रगट हुई, उस शमामृत के सुख के ढ़ेर में उसे पाते हैं। अतीन्द्रिय शान्ति को पाते हैं। उन्हें मुनिवर कहते हैं, उसको (अज्ञानी को) संसार कहते हैं। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१६५

(वसंततिलका)

मुक्तः कदापि न हि याति विभावकायं,
तद्धेतुभूत-सुकृतासुकृत-प्रणाशात्।
तस्मादहं सुकृत-दुष्कृत-कर्मजालं,
मुक्त्वा मुमुक्षुपथमेकमिह व्रजामि।।१६५।।

(वीरछन्द)

प्राप्त करें न कदापि विभाव समूह हुए जो जीव विमुक्त।
क्योंकि विभाव हेतु जो सुकृत या दुष्कृत को किया विनष्ट॥
इसीलिए अब मैं तज सुकृत अरु दुष्कृत कर्मों का जाल।
मुक्तिमार्ग में गमन करूँ मैं छोड़ूँ उभय कर्म जंजाल॥१६५॥

[श्लोकार्थः] मुक्त जीव विभावसमूह को कदापि प्राप्त नहीं होता क्योंकि उसने उसके हेतुभूत सुकृत और दुष्कृत का नाश किया है। इसलिए अब मैं सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मजाल को छोड़कर एक मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ [अर्थात् मुमुक्षु जिस मार्ग पर चले, उसी एक मार्ग पर चलता हूँ।]॥१६५॥

प्रवचन-१२६, श्लोक-१६५ से १६७, बुधवार, माघ कृष्ण ६, दिनांक ०६-०२-१९८०

मुक्तः कदापि न हि याति विभावकायं,
तद्धेतुभूत-सुकृतासुकृत-प्रणाशात्।
तस्मादहं सुकृत-दुष्कृत-कर्मजालं,
मुक्त्वा मुमुक्षुपथमेकमिह व्रजामि।।१६५।।

[श्लोकार्थः] मुक्त जीव... आलोचना है न? जिसने आत्मा की परम आलोचना की, अर्थात् कि पूर्ण आनन्दस्वरूप की प्राप्ति की, वह परम आलोचना। परम आलोचना का अधिकार है न? आत्मा के त्रिकाली पवित्र शुद्धस्वरूप को जिसने आलोचा—देखा,

जाना और स्थिर हुए, वह परम आलोचना। **मुक्त जीव...** ऐसी परम आलोचना करके हुए **मुक्त जीव विभावसमूह को कदापि प्राप्त नहीं होता...** कितने ही ऐसा कहते हैं न, भाई! मोक्ष होने के बाद... मोक्ष में बहुत (जीव) चले जाएँ, इसलिए और फिर से मोक्ष में से संसार में आना पड़ता है। आहाहा! भक्तों को कष्ट पड़ा हो तो मुक्ति में से आना पड़ता है। ऐसा स्वरूप नहीं है, कहते हैं।

मुक्त जीव विभावसमूह को... विकार के किसी भी प्रकार को **कदापि...** किसी काल में, कदापि अर्थात् किसी काल में **प्राप्त नहीं होता...** यहाँ भक्तों को चाहे जैसा कष्ट पड़े तो उन्हें अवतरित होना पड़े, ऐसा नहीं है। मुक्ति की स्थिति ऐसी नहीं है। मुक्त हुए, वे तो **विभावसमूह को कदापि प्राप्त नहीं होता...** अनन्त काल, सादि-अनन्त काल मुक्तस्वरूप रहते हैं। उन्हें विकल्प का समूह नहीं आता, उन्हें विकल्प नहीं आता। प्राप्त नहीं होते अर्थात् उन्हें कदापि विकल्प नहीं होते। निर्विकल्प आनन्द समूह को प्राप्त हुए, उन्हें विकल्प कभी होता ही नहीं। आहाहा!

क्योंकि उसने उसके हेतुभूत... किसके हेतुभूत? विभाव के समूह के हेतुभूत। **सुकृत और दुष्कृत का नाश किया है।** शुभभाव और अशुभभाव, दोनों का नाश किया है। सुकृत का भी नाश किया है। लो! यहाँ (अज्ञानी) कहे—भाई! सुकृत करने से मुक्ति होती है। यहाँ कहते हैं, सुकृत का नाश करके मुक्त हुए हैं। **सुकृत और दुष्कृत का...** अर्थात् शुभभाव और अशुभभाव का जिन्होंने **नाश किया है।**

इसलिए अब मैं... अब स्वयं मुनिराज कहते हैं। ऐसी स्थिति जब मुक्त की है कि मुक्त हुए, वे विकार को प्राप्त नहीं होते और उस विकार के हेतुभूत **सुकृत और दुष्कृत का** (जिन्होंने) **नाश किया है।** इसलिए वे मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। **इसलिए अब मैं...** यहाँ मुनिराज कहते हैं **इसलिए अब मैं...** अब मैं। वे भले हो गये। अब मैं। अभी तक मैंने किया नहीं, कहते हैं। आहाहा! विभाव समूह का नाश करके मुक्त हुए। मैं भी अब... वे हुए, **इसलिए अब मैं सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मजाल को छोड़कर...** आहाहा! शुभ और अशुभ कर्तव्य, शुभ और अशुभ जो कर्तव्य है—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभ; हिंसा, झूठ, चोरी, विषय आदि अशुभ, इनका जो कर्मजाल है। वे दोनों कर्मजाल हैं। उन्हें

छोड़कर एक मुमुक्षु मार्ग में जाता है... उनका वचन खोला वापस। मोक्ष का मार्ग एक ही है और एक ही मोक्षमार्ग में मैं जाता हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु उसे कहते हैं कि सुकृत और दुष्कृत का नाश करके स्वभाव की निर्मलता प्रगट करे, उसे मुमुक्षु कहते हैं। लो, यह मुमुक्षु का मण्डल का कहलाता है न तुम्हारे? अमुक गाँव के मुमुक्षु, अमुक गाँव के मुमुक्षु। मुमुक्षु का अर्थ यह। विकार, शुभ-अशुभभाव का नाश करके स्वभाव की प्राप्ति करे, वह एक ही मोक्षमार्ग। वापस 'एक' शब्द प्रयोग किया है न?

एक मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ... आहाहा! मुमुक्षु मार्ग के दो मार्ग नहीं है। व्यवहार भी और निश्चय भी (-ऐसे) दो मार्ग नहीं हैं। आहाहा! मुनिराज तो ऐसा कहते हैं। उसे ऐसा नहीं कहते (कि) कथंचित् व्यवहार भी ले लूँ। आहाहा! सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मजाल है वह। आहाहा! शुभभाव, वह भी एक कर्मजाल है, वह आत्मस्वभाव नहीं। आहाहा! यह पंचम काल के मुनि पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। अभी मोक्ष तो नहीं न? मोक्ष नहीं होता, परन्तु मोक्ष का मार्ग है, उसे ले तो हुए बिना रहेगा ही नहीं। आहाहा!

अब मैं सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मजाल... है। शुभभाव, वह कर्मजाल है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, वह धर्मभाव नहीं; वह कर्मजाल है। ऐसा तो स्पष्ट करते हैं। आहा! और उस **एक मुमुक्षु मार्ग में मैं जाता हूँ...** आहाहा! मैं जाता हूँ, ऐसी मुझे खबर पड़ती है, ऐसा वापस। आहाहा! भगवान को पूछना नहीं पड़ता। सुकृत और दुष्कृत का नाश करके अर्थात् कर्मजाल को छोड़कर **एक मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ...** मुमुक्षुओं का यह मार्ग है। मुमुक्षु मण्डल कहलाते हैं या नहीं? अमुक गाँव के मुमुक्षु मण्डल, अमुक गाँव का मुमुक्षु मण्डल। परन्तु मुमुक्षु कहना किसे हैं? कहते हैं। आहाहा! जो शुभ और अशुभभाव कर्मजाल है, उसे छोड़कर **एक मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ...** इस बन्धभाव को छोड़कर, अबन्धभाव में जाता हूँ। कर्मजाल छोड़कर धर्मभाव में जाता हूँ और वह एक ही मोक्षमार्ग है। आहाहा! ऐसा स्पष्ट है तो भी झगड़ा करते हैं। भगवान की वाणी निमित्त है, नैमित्तिकज्ञान होता है और निमित्त से ज्ञान नहीं होता—ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा (अज्ञानी) कहता है, लो! यहाँ कहते हैं कि उसका जब शुभाशुभ नाश का काल आया, वहाँ उसे भगवान का सुनने का लक्ष्य भी छोड़ दिया। आहाहा! उसने शास्त्र को पढ़ना भी

छोड़ दिया। ऐसा आया या नहीं ? कर्मजाल। आहाहा! शुभ और अशुभ विकल्प है, वह कर्मजाल है। उसे मैं छोड़ देता हूँ। आहाहा! समझाने में तो ऐसा ही आवे न ? ऐसा कहा है कि राग को छोड़ना कहना, वह नाममात्र कथन है। (समयसार) ३४ गाथा में (कहा है)। आहाहा! राग का त्याग करूँ, नाश करूँ, यह भी नाम कथनमात्र है। व्यवहार अर्थात् कथनमात्र। वस्तु नहीं। आहाहा! व्यवहारनय, वह कथनमात्र है। आया है न ? पहले पाँचवें श्लोक में (आया है) समयसार के पाँचवें श्लोक में। व्यवहार अर्थात् कथनमात्र।

ऐसे व्यवहार के कथनमात्र जो व्यवहार राग है, उसे छोड़कर **एक मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ...** राग के विकल्पजाल का व्यय करके मोक्ष के मार्ग का उत्पाद करके उस मार्ग में जाता हूँ। आहाहा! इस गाथा में कितना भरा है, देखो! मुमुक्षु का एक ही मार्ग है। अन्तर में शुभ और अशुभ छोड़कर और शुद्धता में रमणता करना, वह एक ही मुमुक्षु का मार्ग है। आहाहा! अब यहाँ (अज्ञानी) कहते हैं कि दो न माने तो वह मिथ्यात्वी है। भगवान की वाणी सुनकर निमित्त से यहाँ ज्ञान होता है—ऐसा न माने, निमित्त से ज्ञान होता है—ऐसा न माने, वह मिथ्यात्वी है। कौन कहता है ?

मुमुक्षु : तत्त्व की खबर न हो तो ऐसा ही कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही कहे न! आहाहा!

मुझे तो जिस राग की जाल का त्याग का काल है... आहाहा! वही मेरे एक मोक्ष के मार्ग का काल है। आहाहा! अन्तर छूटने का एक ही मार्ग है। राग से छूटना, वह एक ही मार्ग है। राग का आदर करके राग व्यवहार है। व्यवहाररत्नत्रय है, इसलिए कुछ यह निश्चय होता है, इस बात को यहाँ तो छोड़ दिया है। आहाहा! नियमसार में आता है न ? ४९ गाथा में। व्यवहार उपादेय है, ऐसा आता है। टीका में आता है। ४९ गाथा। इसका अर्थ किया है कि व्यवहार है, वह जाननेयोग्य है, उसे उपादेय कहा है, ऐसा अर्थ किया है। नियमसार की ४९ गाथा। ५० गाथा में तो फिर पर्याय को परद्रव्य कहकर छुड़ा दिया है। पर्याय भी परद्रव्य है, इसलिए पर्याय का भी लक्ष्य छोड़ दे। आहाहा! मोक्ष के मार्ग की पर्याय का भी लक्ष्य छोड़ दे।

अन्तर द्रव्यस्वभाव सत्ता महाप्रभु भगवान पूर्णानन्द से भरपूर पूर्ण स्वरूप, सनातन अनादि सत्, सत्य सनातन के मार्ग में जा, तब तुझे मोक्ष का मार्ग और मुमुक्षु कहने में आता

है। आहाहा! ऐसा सुनना पड़े? कहते हैं। यहाँ कहा। अन्यत्र कहा है या नहीं? परन्तु अन्यत्र कहा है, वह तो जानने के लिए कहा है। व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है। (समयसार की) १२वीं गाथा में ऐसा कहा। व्यवहार आता है, वह जाना हुआ प्रयोजनवान है। '**तदात्वे**' उस-उस समय में जाना हुआ प्रयोजनवान है क्योंकि समय-समय की पर्याय की शुद्धि बढ़ती है और समय-समय की अशुद्धि घटती है, इसलिए उस-उस समय की शुद्ध और अशुद्ध की पर्याय जाना हुआ प्रयोजनवान है; आदर किया हुआ प्रयोजनवान है— ऐसा नहीं कहा। १२वीं गाथा। इसका भी विरोध करते हैं कि देखो! यह '**ववहारदेसिदा पुण**' व्यवहार दिखाया है। निचले मार्गवाले को व्यवहार ही होता है। '**ववहारदेसिदा पुण**' ऐसा आया न? '**अपरमे ट्ठिदा भावे**' निचले मार्ग में जो स्थित है, उसे व्यवहार ही दिखाया है। ऐसा अर्थ वहाँ करते हैं।

वहाँ '**अपरमे ट्ठिदा भावे**'... '**ववहारदेसिदा पुण**' इसकी व्याख्या टीकाकार ने तो ऐसी की है कि उस काल में जिस समय की पर्याय की शुद्धता और अशुद्धता है, उसे जानना, वह व्यवहार प्रयोजनवान है। दूसरे समय में भी शुद्धता का अंश बढ़े और अशुद्धता का अंश घटे, वह दूसरे समय में भी उस प्रकार का ज्ञान जानना प्रयोजनवान है। तीसरे समय में शुद्धि का अंश बढ़े, अशुद्धि का घटे तो उस समय में उसे जाना हुआ प्रयोजनवान है-ऐसा वहाँ तो कहा है। आहाहा! '**तदात्वे**' शब्द पड़ा है (अर्थात्) उस काल में। अर्थात् समय-समय में। क्योंकि समय-समय में व्यवहार में अन्तर पड़ता है। शुद्धि बढ़ती है, अशुद्धि घटती है। समय-समय में अन्तर (पड़ता है), वह सब व्यवहार है। पर्याय है न? आहाहा! समझ में आया? उस-उस काल में उस-उस प्रकार की अपूर्ण शुद्धपर्याय और अशुद्धपर्याय साथ में होती है, उस काल में उस समय में वह जाननेयोग्य है। बस, इतनी बात है। वह यहाँ कहते हैं कि उसे तो मैं छोड़ देता हूँ। जाननेयोग्य है, वह बराबर है परन्तु वह छोड़नेयोग्य है। आहाहा! व्यवहार का आश्रय छोड़नेयोग्य है।

[अर्थात् मुमुक्षु जिस मार्ग पर चले, उसी एक मार्ग पर चलता हूँ।] वही एक मुमुक्षु मार्ग है न, मूल पाठ में? इसलिए उसका अर्थ किया। **(उसी एक मार्ग पर)** आहाहा! सुकृत और दुष्कृत को छोड़कर, शुभ और अशुभभाव को छोड़कर... आहा! भगवान की भक्ति का भाव, पंच महाव्रत का भाव, पंच परमेष्ठी के स्मरण का भाव, वह

भी सुकृत है, उसे छोड़कर। वह मार्ग नहीं है। आहाहा! वह मुमुक्षुओं का मार्ग नहीं है। आता है, बीच में आता है, परन्तु उसे छोड़ता जाता हूँ।

यह बहिन के (वचनामृत) में आया न? एक मुसाफिर एक नगर से दूसरे नगर जाता है। जिस नगर में जाना है, वह ध्येय है। बीच में दूसरे नगर आते हैं, उन्हें छोड़ता जाता है, वहाँ रहता नहीं है, अटकता नहीं है। देखने को भी नहीं अटकता। वह तो चला ही जाता है। अपना जो गाँव है, जहाँ जाना है, वहाँ चला ही जाता है। बीच में जो गाँव आवे, उसे छोड़ता जाता है। इसी प्रकार मुमुक्षु बीच में जो भाव आता है, उसे छोड़ता जाता है। आहाहा! और साध्य जो उपेय-सिद्ध है, उस मार्ग में चलता जाता है। उसके सन्मुख चलता जाता है। आहाहा! यह मुमुक्षु का मार्ग है। इसे मुमुक्षु कहते हैं। बाड़ा का मुमुक्षु मण्डल बाँधा, इससे सब मुमुक्षु हैं—ऐसा नहीं है - यह कहते हैं। आहाहा!

एक मुमुक्षु मार्ग। सुकृत को छोड़कर-शुभभाव के भाव को भी छोड़कर... आहाहा! पंच परमेष्ठी का शरण छोड़कर, मुमुक्षु का मार्ग आत्मा के स्वभाव की शरण में जाना, वह एक ही मोक्षमार्ग है। आहाहा! वहाँ मैं जाता हूँ। वहाँ मैं चलता हूँ। यह मुझे खबर है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान को पूछना पड़ता भी नहीं। है? एक ही मार्ग में चलता हूँ। **एक मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ...** इसका अर्थ यह लिया न? मुमुक्षु मार्ग में जाता हूँ, यह मुझे खबर है। मेरे ज्ञान में यह बात आयी है। आहाहा! यह कहीं भगवान को पूछना नहीं पड़ता कि मैं साधकभाव में हूँ या कैसे? आहाहा! ऐसी बात है। गजब कलश उत्कृष्ट हैं! यह १६५ कलश (पूरा) हुआ।

श्लोक-१६६

(अनुष्टुप्)

प्रपद्येऽहं सदाशुद्ध-मात्मानं बोध-विग्रहम्।
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कन्धबन्धुराम्।।१६६।।

(वीरछन्द)

पुद्गल स्कन्धों से अस्थिर भव-मूर्ति इस तन को त्याग।
सदा शुद्ध जो ज्ञानशरीरी आतम का करता आश्रय॥१६६॥

[श्लोकार्थः] पुद्गलस्कन्धों द्वारा जो अस्थिर है (अर्थात् पुद्गलस्कन्धों के आने-जाने से जो एक-सी नहीं रहती) ऐसी इस भवमूर्ति को (-भव की मूर्तिरूप काया को) छोड़कर मैं सदाशुद्ध ऐसा जो ज्ञानशरीरी आत्मा उसका आश्रय करता हूँ॥१६६॥

श्लोक -१६६ पर प्रवचन

प्रपद्येऽहं सदाशुद्ध-मात्मानं बोध-विग्रहम्।
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कन्धबन्धुराम्।।१६६।।

[श्लोकार्थः] आहाहा! **पुद्गलस्कन्धों द्वारा...** परमाणुओं द्वारा यह शरीर अस्थिर है। आहाहा! घड़ीक में रोग आवे, घड़ीक में कुछ हो, घड़ीक में कुछ हो जाए, पीलिया आवे, अपना बिचारा न हो, शरीर पीला पड़ जाए, देखने का जो हो वह सब पीला दिखायी दे। आहाहा! उन **पुद्गलस्कन्धों द्वारा...** पुद्गल के स्कन्धों द्वारा, पुद्गल के स्कन्ध के पिण्ड द्वारा। जो यह काया अस्थिर है। **(पुद्गलस्कन्धों के आने-जाने से)...** आने और जाने से। समय-समय में आते और जाते हैं। **(आने-जाने से जो एक-सी नहीं रहती)...** आहाहा! यह काया एक-सरीखी नहीं रहती, ऐसा कहकर कायारहित की बात कहेंगे। आहाहा!

पुद्गलस्कन्धों (पिण्ड) द्वारा जो अस्थिर है (अर्थात् पुद्गलस्कन्धों के आने-जाने से जो एक-सी नहीं रहती) ऐसी इस भवमूर्ति... भवमूर्ति। इस शरीर को भवमूर्ति कहा। आहाहा! है न? **(-भव की मूर्तिरूप काया को)...** भवमूर्ति, भव की काया। आहाहा! उसे **छोड़कर...** यह भव की मूर्तिरूप शरीर। परमाणु आवे, जायें, अस्थिर हो। घड़ीक में, क्षण में उड़ जाते हैं। बहुतों का सुनते हैं, अमुक ऐसे मर गया, ऐसे पृथक् पड़ गया। क्षण में ऐसा हो गया और अमुक ऐसा हो गया। आहाहा! शरीर की दशा, वह तो इन परमाणुओं की उस प्रकार से आना-जाना होने से वह अस्थिर है। एकरूप रहना, उस स्वरूप नहीं है। शरीर का एकरूप रहना, ऐसा स्वरूप नहीं है। आहाहा! अब एकरूप रहना, वह क्या है?

ऐसी इस भवमूर्ति को (-भव की मूर्तिरूप काया को) छोड़कर मैं... एक ओर ऐसा कहना कि आत्मा को राग-द्वेष का नाश, वह भी नाममात्र है तो पर का छोड़ना तो उसमें है ही नहीं क्योंकि पर का ग्रहण नहीं है। पर का ग्रहण किया ही नहीं, इसलिए उसे छोड़ना-ऐसा भी नहीं है। यहाँ भी यह समझाते हैं। है, वह छूट जाता है; इसलिए उसे कहते हैं, छोड़ता हूँ। ऐसा निमित्त का कथन है।

मुमुक्षु : ममता छोड़ी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु तो उसकी ओर का झुकाव छोड़ा है, वह वस्तु तो छूटने के काल में उसके कारण से छूटेगी ही। आत्मा से छोड़ी नहीं जाती। आत्मा जिसे राग का नाश भी नाममात्र है क्योंकि ज्ञानस्वरूप, रागरूप हुआ नहीं। चैतन्यशरीर कहेंगे। विग्रह। **'बोध-विग्रहम्'** है न? देखो न! शरीर है न? इस गाथा में। **'बोध-विग्रहम्'** ज्ञानशरीर-ज्ञानशरीर। इस ज्ञानशरीर को मैं पकड़ता हूँ। ज्ञानशरीर ऐसा जो आत्मा। जिसका शरीर ज्ञान है। आहाहा! यह काया इसका शरीर नहीं है। यह तो भव की मूर्ति है। अस्थिर पुद्गलस्कन्ध के जाने-आने के कारण यह काया अस्थिर है। जवानी में भी भवरोग होकर देह छूट जाती है। आहाहा! २५-२५ वर्ष के जवान लोग (मर जाते हैं)। क्या हुआ? कहे, या किडनी का दर्द हुआ, या अमुक हुआ, या अमुक हुआ, ऐसा करके उड़ जाते हैं। यह उसकी पर्याय का उस समय का वही स्वभाव है, उससे छोड़ना पड़ता नहीं, वह छूट जाता है। आहाहा! यहाँ उपदेश में (ऐसा कहते हैं), ऐसी **भवमूर्ति को छोड़कर...** उपदेश की शैली है न?

मैं सदाशुद्ध ऐसा जो ज्ञानशरीरी आत्मा... आहाहा! **मैं...** अर्थात् दूसरे सबसे भिन्न। **सदाशुद्ध...** तीनों काल में शुद्ध। आत्मा कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं। आहाहा! द्रव्य है, वह अशुद्ध हुआ ही नहीं। सदाशुद्ध है। **सदाशुद्ध ऐसा जो ज्ञानशरीरी आत्मा...** ज्ञान जिसका शरीर है, वह आत्मा। यह पुद्गल जिसका शरीर है, वह काया जड़। यह (आत्मा) ज्ञानशरीर है। ऐसा आत्मा। बोधशरीर कहा है न इसमें? देखो न! कहा न '**बोध-विग्रहम्**' विग्रह अर्थात् शरीर। १६६ के श्लोक की पहली लाईन का अन्तिम शब्द। '**बोध-विग्रहम्**' विग्रह अर्थात् शरीर। ज्ञानशरीर। भगवान तो ज्ञानशरीरस्वरूप है। यह काया तो पुद्गल के आने-जानेरूप शरीर के भव की मूर्ति है। आहाहा! भवकाया है, भव की काया है। आहाहा!

ज्ञानशरीरी आत्मा उसका आश्रय करता हूँ। ठीक! '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' (समयसार की) ११वीं गाथा में आया न? भूतार्थ का आश्रय करूँ। त्रिकाली चीज़ जो भगवान है, उसका मैं आश्रय करूँ। राग का नहीं, निमित्त का नहीं, पर्याय का भी नहीं। त्रिकाली जो ज्ञानशरीर आत्मा... आहाहा! त्रिकाल एकरूप जो ज्ञानशरीररूप त्रिकाल ध्रुव। एक ही स्वरूप चलाचलरहित जो चीज़ है, उसका मैं आश्रय करता हूँ। जो चलाचलरहित चीज़ ध्रुव शरीर ज्ञान, ज्ञान ध्रुव शरीर ऐसा आत्मा। आहाहा! शरीर तो कहा परन्तु ज्ञानशरीर। आत्मा को शरीर कहा। ज्ञानशरीर आत्मा। जिसे ज्ञानरूपी शरीर आत्मा है। आहाहा!

ज्ञानशरीरी आत्मा, ऐसा कहा न? ज्ञान जिसका शरीर है। जिसमें एकरूपता है। जिसमें आना-जाना (नहीं है)। इस शरीर में जैसे परमाणु का आना-जाना है, वैसा उसमें नहीं है। उसमें कोई गुण आवे और जाए, पर्याय कम-अधिक हो, ऐसा वस्तु में नहीं है। आहाहा! पर्याय कम-अधिक हो, वह तो अवस्था है। ज्ञानशरीरी त्रिकाली आत्मा का आश्रय करता हूँ, उसका अवलम्बन लेता हूँ, उसका मुझे आधार है। आहाहा! उसका मुझे शरण है। चार मांगलिक और शरण जो कहे, वह व्यवहार है। अरिहन्ता शरणम्, सिद्धा शरणम्, साहू शरणम्, वह भी व्यवहार है। यह निश्चय है।

ज्ञानशरीरी आत्मा, उसका आश्रय करता हूँ। व्यवहार का आश्रय करता हूँ या व्यवहार को धीरे-धीरे राग मन्द करता हूँ और फिर आत्मा को प्राप्त करूँगा, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! अशुभ में से शुभ में आऊँ तो फिर मैं शुद्ध को पाऊँ—ऐसा यहाँ है नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि मैं शुभ को छोड़कर... आहाहा! यह पहले में आ गया। इसमें **भवमूर्ति**

को छोड़कर मैं सदाशुद्ध ऐसा... त्रिकाल पवित्रता का पिण्ड प्रभु, सनातन सत्ता, एकरूप रहनेवाली निर्मल सत्ता—ऐसा जो ज्ञानशरीर आत्मा, उसका मैं आश्रय करता हूँ। यह आश्रय करती है पर्याय, परन्तु मेरा लक्ष्य वहाँ जाता है – ऐसा कहते हैं।

इस ज्ञानशरीरी आत्मा का आश्रय करता है, इसलिए उसकी पर्याय में वह आ जाता है, ऐसा नहीं है। मैं उसका आश्रय करता हूँ, मेरी पर्याय में अवलम्बन वही है, उसका जितना सामर्थ्य और शक्ति है, उतना और वैसा मेरे ज्ञान में सामर्थ्य और शक्ति है, उतना भान होता है। आहाहा! उसका तो मैं आश्रय करता हूँ। उसरूप होता हूँ – ऐसा नहीं। ज्ञानशरीर तो ध्रुव है। ध्रुवरूप तो होता नहीं। मैं उसका आश्रय करता हूँ। त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु, सच्चिदानन्द प्रभु जो हलचलरहित चीज़ अर्थात् परिणमनरहित चीज़, हीनाधिकरहित चीज़, एकरूप रहनेवाली चीज़—ऐसा एकरूप ज्ञानशरीर, (उसका आश्रय करता हूँ)। आहाहा!

उसमें आया था न? एक आया था न? एक मार्ग में जाता हूँ। १६५ में आया था न? एक ही मार्ग है। मार्ग है, वह पर्याय है, परन्तु एक ही मार्ग है कि शुद्ध ध्रुव का आश्रय लेना, बस! आहाहा! दूसरे सब कथन चरणानुयोग में आते हैं। महाव्रत पालन करना, अतिचार टालना, दोष लगे तो प्रायश्चित्त लेना ऐसा सब आता है न? वह सब जाननेयोग्य है। आश्रय करनेयोग्य यह एक ही। ज्ञानशरीर ध्रुव आत्मा का आश्रय करता हूँ। आहाहा! यह १६६ कलश (पूरा) हुआ।

श्लोक-१६७

(अनुष्टुप्)

अनादिममसन्सारारोगस्यागदमुत्तमम् ।
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना ।।१६७।।

(वीरछन्द)

भाव शुभाशुभ से विहीन शुद्धातम की भावना करूँ।
मम अनादि संसार-रोग की उत्तम औषधि यही लहूँ॥१६७॥

[श्लोकार्थः] शुभ और अशुभ से रहित शुद्धचैतन्य की भावना मेरे अनादि संसाररोग की उत्तम औषधि है॥१६७॥

श्लोक -१६७ पर प्रवचन

१६७ श्लोक।

अनादिममसन्सारारोगस्यागदमुत्तमम् ।
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना ।।१६७।।

[श्लोकार्थः] आहाहा! बहुत संक्षिप्त किया। **शुभ और अशुभ से रहित...** शुभ और अशुभ का विकल्प है, वह कर्मजाल है। उसे छोड़कर, उससे रहित होकर **शुद्धचैतन्य की भावना...** शुद्धचैतन्य की भावना। शुद्धचैतन्य है, वह ध्रुव है। उसकी भावना है, वह वर्तमान पर्याय है। **शुद्धचैतन्य की भावना...** व्यवहार की भावना नहीं, शुभराग की भावना नहीं। शुद्धचैतन्य की भावना। निर्मलानन्द प्रभु पूरा पवित्रता का पिण्ड, अनादि से पवित्र पिण्ड है। वह पवित्र का ही पिण्ड है। अनन्त गुण का पिण्ड, अनन्त गुण सब पवित्र ही हैं। कोई गुण, पर्याय में अपवित्र हो - ऐसा गुण नहीं है। पर्याय में जो अपवित्रता आती है, वह तो निमित्त के लक्ष्य से, पर के आश्रय से—वश से आती है। स्व के गुण के आश्रय से अपवित्रता नहीं आती। आहाहा! तथापि उस अशुद्धता का आश्रय आत्मा है, ऐसा भी

कहने में आता है। पंचास्तिकाय की दसवीं गाथा में ऐसा कहा है कि उस मलिन परिणाम का आश्रय भी आत्मा है अर्थात् पर्याय का कर्ता आत्मा है। पर्याय का कर्ता पर्याय है, दूसरा नहीं, ऐसा बताना है। वहाँ ऐसा कहा है। पाठ ऐसा है, हों! शुभ और अशुभभाव का आश्रय यह जीव है। इसका अर्थ कि उसकी पर्याय में स्वयं से होता है; पर से नहीं होता-ऐसा उसका अर्थ है। आहाहा! किस जगह किस कथन की अपेक्षा, किस जगह क्या अपेक्षा है, इसे (समझे नहीं तो) गड़बड़ करता है।

यहाँ तो कहते हैं एक शुद्धचैतन्य की भावना—वीतरागी परिणति। वीतरागी स्वभाव, वह मेरा शुद्धचैतन्यस्वरूप। वीतरागीस्वरूप, वह मेरा शुद्धचैतन्यस्वरूप, उसकी भावना, वह वीतरागी भावना है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव है, वह राग भावना है। इस **शुद्धचैतन्य की भावना मेरे अनादि संसाररोग की उत्तम औषधि है।** आहाहा! **शुभ और अशुभ से रहित शुद्धचैतन्य की भावना...** अर्थात् परिणति-पर्याय, शुद्धचैतन्य की पर्याय भावना निर्मल, शुभभाव से रहित वह **मेरे अनादि संसाररोग की...** वह अनादि संसाररोग भी पर्याय का मुझमें है। मेरा कहा न? **मेरे अनादि संसाररोग...** आहाहा! पर के कारण कुछ है नहीं। **मेरे अनादि संसाररोग की उत्तम औषधि है।** आहाहा! औषधि कहाँ से निकाला? **'सन्साररोगस्यागद' 'आगदमुत्तमम्'** इसमें से औषधि निकाला है। पाठ में है न? वहाँ उस दिन चिह्न किया था। आहाहा! उत्तमम्, वापस उत्तमम् कहा। है न?

मुमुक्षु : उत्तम औषधि।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, **उत्तम औषधि है।** आहाहा! यह भावना, शुद्धचैतन्य भगवान परमात्मा की भावना, वह उत्तम औषधि है। भव को मिटाने की वह उत्तम औषधि है। भवरूपी रोग है। आहाहा! यहाँ ऐसा कहा नहीं कि नारकी या तिर्यंच ही रोग है। चारों गति रोग है, देवगति भी रोग है। देवगति भी रोग है। आहाहा! चारों ही गति, वह रोग है। आहाहा! वह **मेरे अनादि संसाररोग...** चार गति का रोग, उसे मिटाने की **उत्तम औषधि है।** चैतन्य की भावना। शुद्धचैतन्य की परिणति। शुद्धचैतन्य जो ध्रुव, उसकी परिणति अर्थात् निर्मल पर्याय। उसकी भावना। भाव की भावना। भाव त्रिकाल ध्रुव, उसकी भावना। वह उत्तम औषधि-संसार के त्याग की उत्तम औषधि है। चार गति के त्याग की वह उत्तम औषधि है। देवगति के त्याग की भी वह उत्तम औषधि है। देवगति प्राप्त करना अच्छा है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

अनादि संसाररोग... यह चार गति अनादि संसाररोग है। मनुष्यगति, वह रोग है। मनुष्यगति से केवलज्ञान प्राप्त होता है, मनुष्यगति में ही प्राप्त होता है, इसके सिवाय प्राप्त नहीं होता, इसलिए मनुष्यगति से प्राप्त होता है? मनुष्यगति तो रोग है। आहाहा! **मेरे...** वापस शब्द कैसा है? रोग है, वह मेरी पर्याय में है। **मेरे अनादि संसाररोग...** पर के साथ मुझे क्या सम्बन्ध है? आहाहा! कर्म के कारण रोग था—भटकता था—था, ऐसा नहीं। अनादि संसाररोग मेरा। आहाहा! चार गति में भटकना, वह अनादि संसाररोग मेरा है। पर्याय में। उसके नाश की... आहाहा! **उत्तम औषधि है।** आहाहा!

यहाँ तो मनुष्यगति और देवगति का भी नाश (करने की) औषधि यह शुद्धचैतन्य भावना है। त्रिकाली शुद्धचैतन्य की भावना, वह इस राग के नाश का उपाय है। मुझे मनुष्यपना मिले तो मैं भगवान के पास जाऊँ, देव में जाऊँ, ऐसी बात यहाँ नहीं ली है। चारों गति रोग है। आहाहा! देव होऊँ तो भगवान के पास जाऊँ, ऐसा नहीं लिया। यह चारों गति रोग है। इनके नाश का उपाय तो मेरी भावना एक ही है। आहाहा! भगवान के पास जाऊँ और सुनूँ, यह उपाय है - ऐसा नहीं लिया। पंचम काल है और भगवान यहाँ नहीं है तो यहाँ से मनुष्यपने में से देव में जाऊँगा, वहाँ से भगवान के पास जाऊँगा, वहाँ सामने अधिक प्राप्त करूँगा, ऐसा नहीं लिया। आहाहा! दिगम्बर के वचनों की तीव्रता है। पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। पंचम काल के साधु, पंचम काल के श्रोता को कहते हैं।

शुभ और अशुभ से रहित शुद्धचैतन्य की भावना मेरे अनादि संसाररोग की उत्तम औषधि है। आहाहा! चैतन्य की भावना, वह उत्तम औषधि है। भगवान के दर्शन करूँ और भगवान के पास सुनूँ, यह कुछ नहीं लिया। आहाहा! चैतन्यमूर्ति जो आत्मा, उसकी जो भावना, उसके सन्मुख की जो दशा, वह अनादि रोग को मिटाने का उपाय है। आहाहा! बहुत संक्षिप्त किया है। यह सुनना, पढ़ना... आहाहा! पहले अशुभराग टालना, फिर शुभराग टलेगा, यह बात नहीं ली। आहाहा! यह शुभ और अशुभ दोनों को टालने का उपाय, वह मेरी भावना है। मेरे शुद्धचैतन्य की भावना शुभ-अशुभराग को मिटाने के लिये है। आहाहा! एक-एक श्लोक पूरा संसार उड़ा देता है। शुभभाव को तो व्यर्थ कर डालता है। जो अभी शुभभाव करेंगे तो ऐसा होगा और ऐसा करेंगे तो ऐसा होगा।

मुमुक्षु : इस काल में शुभभाव ही होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, और वह यह कहता है। इस काल में तो शुभभाव ही होता

है। श्रुतसागर एक (साधु) हैं, वे और ऐसा ही कहते हैं। आहाहा!

यह मुनि पंचम काल के हैं। यह श्लोक बनानेवाले तो ९०० वर्ष पहले (हुए) हैं। पंचम काल के ९०० वर्ष पहले के साधु ऐसा कहते हैं... आहाहा! **मेरे अनादि संसाररोग की उत्तम औषधि...** अभी मेरी शुद्धचैतन्य की भावना है। आहाहा! पंचम काल के लिये भी अनादि चार गति का संसाररोग मिटाने के लिये पंचम काल में भी काल-फाल कहीं वहाँ बाधक नहीं है। मेरे शुद्धचैतन्य की भावना, वह रोग मिटाने का उपाय है। पंचम काल में शुभभाव करना, फिर आगे बढ़ने पर शुद्ध होगा, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! कठिन वचन है। बहुत संक्षिप्त।

शुद्धचैतन्य की भावना... निश्चयमोक्षमार्ग। निश्चयमोक्षमार्ग एक ही। आहाहा! भव के रोग को मिटाने का उपाय यह एक ही है। निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग दो हैं, ऐसा नहीं। आहाहा! यह पहले में आ गया है। एक मोक्षमार्ग, एक ही मार्ग है। आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरा मोक्षमार्ग होवे तो उसे किस तत्त्व में डालना?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा मोक्षमार्ग होवे तो अजीवतत्त्व। वह अजीवतत्त्व है, जीवतत्त्व नहीं। जीव की भावना नहीं, जड़ की भावना है। आहाहा! पहले कह गये न? सुकृत और दुष्कृत। आहाहा! **संसार के घोर, सहज इत्यादि रौद्र दुःखादिक से प्रतिदिन परितप्त होनेवाले इस लोक में...** प्रतिदिन, प्रत्येक काल। देवलोक में भी। आहाहा! **संसार के घोर, सहज...** वह घोर भी सहज दुःख है। **रौद्र दुःखादिक से प्रतिदिन परितप्त होनेवाले...** आहाहा! उसमें से कोई संसारी जीव निकाला नहीं कि देव का जीव या पैसेवाले का जीव या अरबोंपति जीव हैं। वे सब दुःख से परितप्त हैं। आहाहा!

'शरीर से सुखी, वह सुखी सर्व बातें' ऐसा नहीं आता? 'शरीर से सुखी, वह सुखी सर्व बातें'। शरीर आद्यं धर्म साधनम्, ऐसा पुरुषार्थसिद्धिउपाय में आता है। ये सब निमित्त के कथन हैं। आहाहा! वस्तु तो यह है। चैतन्य त्रिकाली आनन्द का सागर, ज्ञानशरीरी प्रभु की जो भावना—चैतन्यभावना, वह संसाररोग मिटाने का एक उपाय है। बाकी यह रोग मिटाने की दूसरी औषधि नहीं है। यह एक औषधि है। आहाहा! उत्तम औषधि कहा है न वापस?

मुमुक्षु : लागू पड़ ही जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पड़ती ही है। औषधि ही वह है और उस औषधि से वह रोग मिटता ही है। आहाहा!

संसाररोग की उत्तम औषधि है। मेरे अनादि... संसार के नाश के लिये शुद्धचैतन्य की भावना है। ऐसा कहा न? शुभ-अशुभरहित—पहले कहा न? **शुभ और अशुभ से रहित शुद्धचैतन्य की भावना...** आहाहा! **मेरे अनादि संसाररोग...** ओहोहो! सर्वार्थसिद्धि का भव भी रोग है। आहाहा! वह कलंक है। योगसार में कहा है कि भव है, वह कलंक है। उस कलंक को मिटाने का उपाय शुद्धचैतन्य की भावना है। शुद्ध चेतन वस्तु की भावना, एक ही बात है। वह भावना, वह निश्चयमोक्षमार्ग है। वह स्व के आश्रय से जो हो, वह निश्चयमोक्षमार्ग, वह एक ही मार्ग है। आहाहा!

शुभ और अशुभ से रहित शुद्धचैतन्य की भावना... भावना अर्थात् कल्पना और विकल्प, ऐसा नहीं। आहाहा! कहते हैं न वे? प्रवचनसार में आता है न? सामायिक में श्रावक हो, तब शुद्धभावना होती है। उसका ऐसा अर्थ करते हैं कि शुद्धोपयोग नहीं, शुद्धभावना की कल्पना करते हैं। वहाँ पूछा था न, वहाँ भावना कही है। परन्तु भावना का अर्थ कोई कल्पना और विकल्प नहीं है। आहाहा! वह नहीं था? वह ब्रह्मचारी नहीं? दयासागर कौन? यहाँ नहीं बैठता था? वह आया तब (कहता था) श्रावक को सामायिक में शुद्धभाव की भावना होती है। तब उस शुद्धभाव की भावना अर्थात्? कि वह तो कल्पना-भावना। ऐसा नहीं है। भावना अर्थात् निर्मल परिणति। आहाहा!

प्रवचनसार में टीका में आता है कि सामायिक में श्रावक को भी समकिती को शुद्धोपयोग आता है। भावना शब्द से शुद्धोपयोग.. आहाहा! सम्यग्दर्शन है और सामायिक में जब बैठते हैं, तब कदाचित् शुद्धोपयोग आता है। भावना अर्थात् शुद्धोपयोग। ऐसी बात वहाँ है। भावना अर्थात् शुद्धोपयोग हमें आओ, ऐसा विकल्प, उसका नाम भावना-ऐसा नहीं है। इस प्रकार यह शुद्धचैतन्य की भावना, वह विकल्प नहीं; एकाग्रता है। आत्मा के आनन्द की, अनुभव की दशा है, उसे यह भावना कहते हैं। आहाहा! भावना अर्थात् विचार करना और विकल्प करना, चिन्तवन करना, (ऐसा नहीं)। वह तो सब विकल्प है, राग है। आहाहा!

यहाँ शुद्धचैतन्य की भावना अर्थात् एकाग्रता। शुद्धचैतन्य वस्तु भगवान त्रिकाल परमात्मस्वरूप ध्रुव की सन्मुख की भावना, वह अनादि संसाररोग मिटाने की उत्तम औषधि है। आहाहा! विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१६८

(मालिनी)

अथ विविधविकल्पं पञ्चसन्सारमूलं,
शुभमशुभसुकर्म प्रस्फुटं तद्विदित्वा।
भव-मरण-विमुक्तं पञ्च-मुक्ति-प्रदं यं,
तमह-मभिनमामि प्रत्यहं भावयामि।।१६८।।

(वीरछन्द)

विविध भेदमय कर्म शुभाशुभ पञ्च परावर्तन का मूल।
मुक्ति प्रदायक, जन्म-मरण से रहित तत्त्व को नमन करूँ॥१६८॥

[श्लोकार्थः] पाँच प्रकार के (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के परावर्तनरूप) संसार का मूल विविध भेदोंवाला शुभाशुभ कर्म है ऐसा स्पष्ट जानकर, जो जन्ममरण रहित है और पाँच प्रकार की मुक्ति देनेवाला है उसे (-शुद्धात्मा को) मैं नमन करता हूँ और प्रतिदिन भाता हूँ॥१६८॥

प्रवचन-१२७, श्लोक-१६८-१६९, गुरुवार, माघ कृष्ण ७, दिनांक ०७-०२-१९८०

नियमसार १६८ कलश। १६८ कलश।

अथ विविधविकल्पं पञ्चसन्सारमूलं,
शुभमशुभसुकर्म प्रस्फुटं तद्विदित्वा।
भव-मरण-विमुक्तं पञ्च-मुक्ति-प्रदं यं,
तमह-मभिनमामि प्रत्यहं भावयामि।।१६८।।

[श्लोकार्थः] पाँच प्रकार के (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के परावर्तनरूप) संसार का मूल... द्रव्य का परावर्तन, क्षेत्र का, काल का, भव का और भाव का, ऐसा जो संसार का मूल। इन पाँच प्रकार के परिवर्तन में संसार का मूल **विविध भेदोंवाला**

शुभाशुभ कर्म है... पाँच प्रकार के परावर्तनरूप संसार का मूल **विविध भेदोंवाला शुभाशुभ...** एकरूप शुभाशुभ नहीं। शुभ-अशुभभाव विविध प्रकार के (होते हैं)। शुभ भी असंख्य प्रकार के और अशुभ भी असंख्य प्रकार के (होते हैं)। वे सब भाव पंच परावर्तन का-भटकने का मूल है। आहाहा! द्रव्य के संयोगों में अनन्त बार आया, क्षेत्र की उत्पत्ति में अनन्त बार आया, काल के समय-समय में अनन्त बार उत्पन्न हुआ, एक-एक भव में अनन्त बार उत्पन्न हुआ और भाव में अनन्त बार असंख्य प्रकार के शुभ-अशुभ अनन्त बार हो गये। इन सब पाँच का मूल शुभाशुभ कर्म है। है न?

पाँच प्रकार के संसार का मूल विविध भेदोंवाला शुभाशुभ कर्म है, ऐसा स्पष्ट जानकर,... ऐसा प्रत्यक्ष जानकर... आहाहा! आत्मा के ज्ञान को इस शुभाशुभ विकार का कारण भाव, उससे भिन्न जानकर। तब शुभाशुभ कर्म को स्पष्ट जाने। अपना स्वभाव प्रत्यक्ष करे, तब वह इस शुभाशुभ कर्म को स्पष्ट जाने। **जो जन्ममरण रहित है...** कैसा है प्रभु आत्मा? शुद्ध आत्मा जो वस्तु है, वह तो जन्म-मरणरहित है। वस्तु है, उसमें जन्म भी नहीं और मरण भी नहीं। वह तो पर्याय में जन्म-मरण है। वस्तु है, वह तो जन्म-मरणरहित ही है।

और पाँच प्रकार की मुक्ति देनेवाला है... द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव पाँच प्रकार हैं न? उनसे छुटकारा करनेवाला है। **पाँच प्रकार की मुक्ति देनेवाला है...** यह अपेक्षा से कथन है। वह तो है, वह है। पाँचवाँ भाव (परमपारिणामिकभाव) जो है, वह है परन्तु उसका आश्रय करे, उसे मुक्ति देनेवाला है, ऐसा कहने में आता है। बाकी पंचम भाव, वह कहीं मुक्ति देनेवाला नहीं है। उसमें कोई पर्याय नहीं है परन्तु उसका आश्रय करने से पाँच प्रकार अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव की **मुक्ति देनेवाला है...** आहाहा! एक ओर कहना कि द्रव्य, पर्याय को करता ही नहीं। द्रव्य, पर्याय को करता नहीं। यहाँ कहते हैं कि यह पाँच प्रकार की मुक्ति देनेवाला द्रव्य है अर्थात् पाँच प्रकार की जो मुक्ति है, उस स्वरूप ही वह है। पाँच प्रकार : द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव से मुक्तस्वरूप ही है। इसलिए वह मुक्ति देनेवाला है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! पद्मनन्दि के कलश बहुत उत्कृष्ट है। पद्मनन्दि मुनि थे, आचार्य नहीं थे और एक व्यक्ति को मुनि का मान्य नहीं है। मुनि का मान्य नहीं और आचार्य का मान्य क्योंकि उसमें कठिन बात है न? उसकी

मानी हुई व्यवहार की बातों का तो भुक्का उड़ जाता है। इसलिए वह ऐसा कहता है कि मुनि की (बात मान्य) नहीं है। एक व्यक्ति ऐसा कहता है। आहाहा!

ऐसा जो शुद्धात्मा, उसके आश्रय से पाँच प्रकार की मुक्ति—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव की होती है। इसलिए वह मुक्ति का देनेवाला है, ऐसा मैं कहना चाहता हूँ, कहते हैं और **उसे (-शुद्धात्मा को) मैं नमन करता हूँ...** मुक्ति को देनेवाला है, उसे मैं नमन करता हूँ। यह पर्याय है। पंचम भाव त्रिकाली भाव, वह तो शुद्ध चैतन्यघन, आनन्दकन्द अकेला पवित्रता का पिण्ड है। उसमें कोई पर्याय का प्रवेश या पर्याय का व्यय उसमें है नहीं परन्तु उसका आश्रय पर्याय लेती है तो वह पर्याय आश्रय लेती है, इसलिए शुद्धात्मा स्वयं मुक्ति देनेवाला है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया इसमें? शुभकर्म मुक्ति देनेवाला नहीं है, पर्याय मुक्ति देनेवाली नहीं है; शुद्धात्मा मुक्ति देनेवाला है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : आश्रय होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आश्रय होता है अर्थात्... आहाहा! वह तो है, वह है परन्तु जब ख्याल में आया, तब उसने मुक्ति दी, ऐसा कहने में आता है। ख्याल में आया कि यह चीज़ तो परमात्मस्वरूप, भगवत्स्वरूप शुद्ध चैतन्यघन है। आबाल-गोपाल जीव का, बालक से लेकर वृद्ध, स्त्री-पुरुष के देह, वह तो जड़ के हैं। अन्दर विकल्प है, वह कर्मजाल है। अब वह वस्तु जो है, वह मुक्ति की देनेवाली है, ऐसा कहना है। मुक्ति का देनेवाला... द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव पाँच प्रकार। वह मुक्ति का देनेवाला, इस पाँच प्रकार के संसार का मूल शुभाशुभ कर्म... आहाहा! पाँच प्रकार के परिवर्तन का मूल शुभाशुभ कर्म और पाँच प्रकार की मुक्ति का देनेवाला शुद्धात्मा - यह दो बातें ली हैं। आहाहा! समझ में आया?

पाँच प्रकार के भटकने का मूल शुभाशुभ कर्म। परिभ्रमण की जो पर्याय होती है, वह भी स्वतन्त्र है। वह कहीं शुभाशुभ कर्म से होती है? कर्म तो जड़-पर है, परन्तु यहाँ तो दोनों का सम्बन्ध कहना है। वह शुभाशुभ कर्म ही परिभ्रमण का कारण है और मुक्ति का कारण शुद्धात्मा है। बस, यह। आहाहा! शुद्धात्मा को जो पाँच प्रकार की मुक्ति देनेवाला है। पाँच प्रकार कौन से? द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव। पाँचों से छुटकारा देनेवाला है। अर्थात् पाँचों ही प्रकार उसमें नहीं है। है नहीं, इसलिए उसके आश्रय से पाँच प्रकार से

मुक्ति होती है, इसलिए उसे मुक्ति देनेवाला है, ऐसा कहा है। ऐसा सूक्ष्म है।

उसे (-शुद्धात्मा को) मैं नमन करता हूँ... आहाहा! यह पर्याय है। मुक्ति देनेवाला है, ऐसा जो कहा है, वह द्रव्य है परन्तु नमन करता हूँ और जो मुक्ति है, वह पर्याय है। आहाहा! मुक्ति देनेवाला जो है, वह द्रव्यस्वभाव है। यहाँ पाँच परावर्तन का परिभ्रमण शुभकर्म है। दोनों निमित्त से कथन है। आहाहा! संक्षिप्त कथन करना है, उसमें दूसरा क्या करे? ऐसे **(-शुद्धात्मा को) मैं नमन करता हूँ...** ऐसा जो पाँच प्रकार के परिवर्तन से मुक्ति देनेवाला, ऐसा जो शुद्धात्मा, उसे मैं नमन करता हूँ। वह पर्याय है। **और प्रतिदिन भाता हूँ।** आहाहा! प्रतिदिन अर्थात् समय-समय मेरी भावना तो उस पंचम भाव की ओर ही है। समझ में आया?

त्रिकाली जो ज्ञायकभाव शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु स्वयं परमेश्वररूप ही है। द्रव्य है, वह तो परमेश्वरस्वरूप ही है, त्रिकाल निरावरण है। ऐसे भगवान आत्मा को—मुक्ति देनेवाला है, ऐसे को मैं नमन करता हूँ। आहाहा! ऐसा जो शुद्धात्मा, उसमें नमता हूँ अर्थात् उसमें मेरा झुकाव है, ऐसा कहते हैं। शुद्ध चैतन्य भगवान सदा नित्य निरंजन निराकार, जिसमें पर्याय का भी स्पर्श नहीं। आहाहा! ऐसा जो शुद्धात्मा, वह मुक्ति का देनेवाला है और उसे **मैं नमन करता हूँ और प्रतिदिन (उसे मैं) भाता हूँ।** ऐसा कहने पर कहते हैं, किसी समय भी पंचम भाव के आश्रय बिना नहीं रहता। आहाहा!

मोक्ष का लेनेवाला किसी एक भी समय पंचम भाव के आश्रय बिना नहीं होता। आहाहा! चाहे जितने प्रसंग हो, समकिती युद्ध में खड़ा हो, तथापि अन्दर आश्रय तो द्रव्य का है। आहाहा! ऐसा उपदेश! शान्तिभाई! इसमें कहीं हीरा-माणिक में ऐसा कुछ नहीं आता। आहाहा! यहाँ तो अभी तो बाहर में भी कहाँ आता है? सम्प्रदाय में भी गड़बड़ उठी है। आहाहा!

यह महाप्रभु के गुणगान हैं। चैतन्यस्वरूप भगवान, वह मुक्ति का देनेवाला है। आहाहा! उसके आश्रय से मुक्ति होती है न? इसलिए वह देनेवाला है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! और शुभ-अशुभकर्म तो जड़ हैं। परिभ्रमण की पर्याय है, वह तो अरूपी विकारी है, तथापि वह शुभाशुभ कर्म पाँच परावर्तन का कारण है, तब भगवान आत्मा पाँच प्रकार की मुक्ति का कारण है। आहाहा! अन्दर कितना भरा है! ऐसा है। अब उसमें दया,

दान, व्रत, भक्ति और उनसे धर्म (होता है) - अभी तो पूरा यह चला है। इससे विरुद्ध कहे तो यह नहीं। आहाहा!

वह प्रभु मुक्ति का देनेवाला है, उस प्रभु को मैं नमन करता हूँ और उसे प्रतिदिन, उसे मैं प्रतिक्षण भाता हूँ। कोई भी समय उसके आश्रय बिना या उसकी भावना बिना नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। प्रतिदिन अर्थात् प्रत्येक समय। आहाहा! प्रत्येक दिन, प्रत्येक दिन अर्थात् प्रत्येक समय। शुद्ध भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसे मैं प्रतिदिन नमन करता हूँ और भाता हूँ। उसमें ही मेरा झुकाव है और उसकी ही मुझे भावना है। आहाहा! शुभाशुभ कर्म की बात तो छोड़ दी। वह तो शुभपरिणाम भी परावर्तन का कारण है, तब भगवान मोक्ष का कारण है। आहाहा! १६८ श्लोक (पूरा) हुआ।

श्लोक-१६९

(मालिनी)

अथ सुललितवाचां सत्यवाचामपीत्थं,
न विषयमिदमात्मज्योतिराद्यन्तशून्यम्।
तदपि गुरुवचोभिः प्राप्य यः शुद्धदृष्टिः,
स भवति परमश्री-कामिनी-कामरूपः ।।१६९।।

(वीरछन्द)

इस प्रकार यह आत्म ज्योति जो आदि अन्त से रहित अहो।
सुमधुर अथवा सत्य वचन का विषय कदापि नहीं कहो॥
किन्तु उसे पा गुरु-वचनों से शुद्ध दृष्टिवाला होता।
परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ वह निश्चित होता॥१६९॥

[श्लोकार्थः] इस प्रकार आदि-अन्त रहित ऐसी यह आत्मज्योति सुललित (सुमधुर) वाणी का अथवा सत्य वाणी का भी विषय नहीं है; तथापि गुरु के वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके जो शुद्ध दृष्टिवाला होता है, वह परमश्रीरूपी कामिनी का बल्लभ होता है (अर्थात् मुक्तिसुन्दरी का पति होता है)॥१६९॥

श्लोक -१६९ पर प्रवचन

१६९ (कलश)।

अथ सुललितवाचां सत्यवाचामपीत्थं,
न विषयमिदमात्मज्योतिराद्यन्तशून्यम्।
तदपि गुरुवचोभिः प्राप्य यः शुद्धदृष्टिः,
स भवति परमश्री-कामिनी-कामरूपः ।।१६९।।

आहाहा! श्रीमद् ने ऐसा कहा है (कि) सत् सरल है, सत् सर्वत्र है, सत् की प्राप्ति सहज है। उसे बतलानेवाले गुरु चाहिए। वह यहाँ लिया है। बतलानेवाले गुरु चाहिए। पात्रता तो इसकी स्वयं की है।

[श्लोकार्थः] इस प्रकार आदि-अन्त रहित ऐसी यह आत्मज्योति... जिसकी आदि नहीं, शुरुआत नहीं। है, उसकी शुरुआत क्या? आहाहा! कर्ता तो उड़ा दिया, परन्तु अनादि स्वयं शुद्ध-शुद्ध अनादि है। **आदि-अन्त रहित...** भविष्य का अन्त और भूत की आदि रहित चीज़ है। **ऐसी यह आत्मज्योति सुललित (सुमधुर) वाणी का...** मीठी मधुर वाणी का भी वह विषय नहीं है। आहाहा! **सुललित (सुमधुर) वाणी का...** तथा एक ओर कहेंगे, गुरु से मिलेगा। गुरु के वचन द्वारा प्राप्त करके। और वचन वहाँ लिये। यहाँ इनकार किया। वह **सुललित (सुमधुर) वाणी का अथवा सत्य वाणी का भी विषय नहीं है;...** आहाहा! मीठी मधुर वाणी या सत्य वाणी... आहाहा! सत्य वाणी का भी विषय नहीं है। आहाहा! ऐसा यह भगवान मधुर वाणी, सत्य वाणी, सच्ची वाणी। सच्ची वाणी वीतराग की... आहाहा! उस वाणी का भी यह प्रभु विषय नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : वाच्य-वाचक सम्बन्ध है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निमित्त से कथन आता है। अभिधेय-अभिधान आता है न पहले? शुरुआत में। निमित्त से है। बाकी तो वचनातीत, विकल्पातीत है। सत्य वाणी का भी विषय नहीं है, ऐसा कहा न? अकेली वाणी का विषय नहीं है, ऐसा नहीं कहा। सच्ची वाणी का भी विषय नहीं है। आहाहा! वाणी जड़; प्रभु चैतन्य आनन्द है। इशारा से बात

होती है। क्योंकि अपनी जाति से वाणी विरुद्ध है। वह सच्ची वाणी हो तो भी उसका यह विषय नहीं है। आहाहा! सवेरे तो आया था कि द्रव्यश्रुत संसार से मुक्त होने में समर्थ है। द्रव्यश्रुत आया था न? वह निमित्त से कथन है। यहाँ कहते हैं, सत्यवाणी का विषय नहीं है। यहाँ कहा कि वह वाणी वहाँ काम ही नहीं करती। आहाहा! वाणी से अतीत है, वाणी से भिन्न है। आहाहा!

मुमुक्षु : कथंचित वक्तव्य कहलाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहलाता है। सप्तभंगी है न? सैंतालीस नय आये हैं न? सैंतालीस नय। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। नाम से भी ज्ञात होता है, ऐसा वहाँ कहा। आहाहा! नाम एक सत्य नाम, सत्य स्थापना, सत्य द्रव्य और सत्य भाव से ज्ञात हो ऐसा है। सैंतालीस नय, प्रवचनसार। यहाँ निषेध करते हैं। क्या अपेक्षा है, वह जानना चाहिए। वहाँ निमित्त की अपेक्षा से कथन है। यहाँ स्वतन्त्र... वाणी का विषय क्या? वाणी जड़, स्वयं चैतन्य भगवन्त; वाणी अचेतन मिट्टी और यह परमात्मस्वामी, परमात्मा का धनी। आहाहा! वह सत्यवाणी का विषय कर सकता नहीं। आहाहा! किस अपेक्षा से कथन है, उसे वैसा जानना चाहिए न।

सत्य वाणी का भी... भी कहा न? अर्थात् क्या? कि मधुर वाणी का विषय तो नहीं। मीठी-मधुर वाणी का विषय नहीं परन्तु **सत्य वाणी का भी...** एक दूसरा यह भी। ऐसा... **सत्य वाणी का भी विषय नहीं...** आहाहा! वीतराग की वाणी सत्य वाणी है। आहाहा! उसका भी विषय नहीं है। आहाहा! और समयसार में ऐसा बतलाया कि द्रव्यश्रुत से जो प्राप्त हो सके, ऐसा सामर्थ्य है। द्रव्यश्रुत में ऐसा सामर्थ्य है। ऐसा बतलाया न? भाई! द्रव्यश्रुत का सामर्थ्य ऐसा है, तो भी उसके ज्ञान से भी वह प्राप्त नहीं हो सकता। उससे भी मिला नहीं। द्रव्यश्रुत मिला, सत्श्रुत मिला, सत्श्रुत कान में पड़कर ज्ञान भी उस प्रकार का परलक्षी हुआ। परलक्षी। आहाहा! तथापि उस वाणी से मिले, ऐसा नहीं है। वहाँ वाणी का सामर्थ्य कहा। आया था न? भाई! वाणी का सामर्थ्य, वाणी में सामर्थ्य है। द्रव्यसूत्र में द्रव्यश्रुत का सामर्थ्य है। उससे भी वह प्राप्त नहीं हुआ, ऐसा आया था न? आहाहा! क्या उसकी वाणी! अलौकिक वाणी है।

मुमुक्षु : परलक्षी ज्ञान में भी कुछ ख्याल आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परलक्षी ज्ञान में कुछ नहीं होता। वह पराधीन पर में जाता है। जिसे समझने के लिये परलक्षी ज्ञान की भी अपेक्षा नहीं है। यहाँ सत्य वाणी का भी विषय नहीं है। वहाँ कहा कि द्रव्यश्रुत का सामर्थ्य है। शक्करवाला दूध पीने से सर्प का जहर मिटे ऐसा है, तथापि उससे भी इसका जहर मिटा नहीं। आहाहा! आया था न? शक्करवाला दूध। सर्प अपने आप तो जहर छोड़ता नहीं परन्तु शक्करवाला दूध पीकर भी छोड़ता नहीं। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा अपने आप तो छोड़ता नहीं परन्तु जो द्रव्यसूत्र है, समर्थ है... आहाहा! उसे ज्ञान कराने में निमित्त रीति से समर्थ है। उससे भी छूटा नहीं। द्रव्यश्रुत का ज्ञान किया, धारणा की, ग्यारह अंग पढ़ा, उसमें यह बात आ गयी। पंचम भाव ऐसा है, अमुक ऐसा है, यह सब (आ गया) परन्तु यह बात धारणा में रही। आहाहा! अन्तर में स्पर्श किया नहीं, अन्तर्मुख देखा नहीं। जिसे सत्यवाणी की भी अपेक्षा नहीं। वहाँ समर्थ कहा था। यहाँ वाणी की अपेक्षा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सवेरे कुछ और दोपहर में कुछ।

हमारे फावाभाई कहते थे। फावाभाई। बुद्धि साधारण, (वे कहते) मस्तिष्क काम नहीं करता अर्थात् स्थूल बुद्धि। उनका लड़का अभी करोड़पति हो गया है। वे सब हैं साधारण। यह तो पुण्य की बातें हैं। पुण्य, वह निमित्त है। वह पैसा वहाँ आनेवाला था, वह उपादान की पर्याय के कारण से आया है। सातावेदनीय का निमित्त है। निमित्त उस पैसे को खींचकर नहीं लाता। आहाहा! मात्र उसका निमित्त कौन होता है, यह बताया है। इसके बुद्धिबल से पैसा आवे, ऐसा नहीं है, यह बताने के लिये सातावेदनीय के उदय से पैसा आता है। अन्तराय के क्षयोपशम से आता है, ऐसी बात की है। बाकी तो वे परमाणु वहाँ आनेवाले थे... आनेवाले थे... आनेवाले थे... आनेवाले थे। उनकी क्रियावतीशक्ति से वहाँ आनेवाले थे, वे आये। आहाहा! ऐसा है।

कहा कि द्रव्यश्रुत में, जैसे शक्करवाले दूध में जहर छोड़ने की ताकत है, तो सर्प अपने आप जहर नहीं छोड़ता, शक्करवाले दूध से छोड़ा नहीं। इसी प्रकार अपने आप तो समझा नहीं परन्तु जो द्रव्यश्रुत वीतराग की वाणी, द्रव्यश्रुत, हों! सर्वज्ञ की वाणी। इसके अतिरिक्त किसी वाणी को यहाँ वाणी नहीं कहा। कल्पित बनाये हुए शास्त्र, वह वीतराग की वाणी नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : भूतनैगमनय से निमित्त कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे मिथ्याशास्त्र निमित्त भी नहीं हैं।

मुमुक्षु : सच्चे शास्त्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्चे। यह तो कहा न! उसका जहर छुड़ाने में समर्थ है। संसार छुड़ाने में वह समर्थ है, ऐसी द्रव्यश्रुत में सामर्थ्य है, ऐसा कहा। ऐसा कहा न? भाई! यहाँ इनकार करते हैं। क्या अपेक्षा है? बापू! आहाहा! वह सत्यवाणी का विषय नहीं है। वह तो अन्तर के अनुभव का विषय है। राजमल्ल टीका में यह लिखते हैं। उसे किस प्रकार कहना? किसी प्रकार से कह सकने की विधि नहीं लगती परन्तु ऐसा संक्षिप्त कहें कि ज्ञान अन्दर एकाग्र होता है, उतनी बात करते हैं। बस! लो। वस्तु है, वह स्वयं अन्दर एकाग्र होता है, इतनी बात करते हैं। कलश टीका में है। राजमल्ल की टीका है न?

मुमुक्षु : स्वयं तो स्वयं का माप निकाल सकता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : शब्द से नहीं निकालता, ज्ञान से निकालता है। वीतराग की वाणी से भी नहीं निकालता, तो भी यह वापस कहेंगे।

सत्य वाणी का भी विषय नहीं है; तथापि... है न? आहाहा! **सत्य वाणी का भी विषय नहीं है; तथापि गुरु के वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके...** और वचन आये। निमित्त से कथन है। इसका अर्थ यह कि उसे गुरु के वचन मिलना चाहिए। प्रभु! तू पूर्ण है, परमात्मा है, नाथ! भगवान है। तुझे यह क्या हुआ? ऐसे गुरु के वचन आना चाहिए, ऐसा कहते हैं। आहाहा! तू अपूर्ण नहीं, विकारी नहीं, तुझे किसी ने रोका नहीं। तू तुझे समझे बिना रुका हुआ है। अब तू तुझे तेरी शक्ति से छोड़। तेरा स्वरूप तो परमात्मा है न? आहाहा! जिस क्षण में ज्ञात हो, तब वह तो परमात्मा ही है। वह अपने संग से ज्ञात होता है परन्तु उसे बतलानेवाले गुरु का वचन देशनालब्धि चाहिए, इतनी बात है। आहाहा!

श्रीमद् ने ऐसा कहा है, 'सत् सरल है, सर्वत्र है, परन्तु बतलानेवाले गुरु चाहिए।' ऐसा लिखा है। उनके पत्र में है। अपेक्षा से कथन है। आहाहा! गुरु के वचन, केवली के वचन अनन्त बार मिले, तथापि स्वयं को प्राप्त नहीं किया। परन्तु प्राप्त करे, उसे गुरु की वाणी होती है। आहाहा! **गुरु के वचनों द्वारा...** देखा? इसमें इनकार करते हैं कि **सत्य वाणी का भी विषय नहीं है; तथापि गुरु के वचनों द्वारा...** उसे बतलानेवाले, ईशारा

करनेवाले चाहिए, ऐसा कहते हैं। तू प्रभु है, भगवन्त है—ऐसा ईशारा करनेवाले चाहिए। इतनी बात है। आहाहा!

तू परमात्मा है, प्रभु! पूर्ण परमात्मा परमेश्वर में और तेरी ताकत में कुछ कमी नहीं है। आहाहा! ३८ गाथा में कहा है न? अपने परमेश्वर को भूल गया। ३८ गाथा में आता है। आहाहा! अपना परमेश्वर, उसे स्वयं भूल गया है। यह भूल स्वयं मिटावे परन्तु उसे गुरु के वचन होते हैं, तथापि उन गुरु के वचनों की ओर का जो लक्ष्य है, वह ज्ञान अभी परलक्षी है परन्तु उसमें ईशारा आया था कि तू प्रभु है, पूर्ण है, परमात्मा है, परमेश्वर है, भगवन्त है। आहाहा! पंचम भाव परमात्मस्वरूप ही है। इतनी वाणी आयी थी, उसका इतना ईशारा यहाँ प्राप्त करने में बात की है। आहाहा!

गुरु के वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके... आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो यह कैसे रखना? कि गुरु उसके आत्मा के तत्त्व को ही बताते हैं। उसे राग से लाभ होगा या इससे लाभ होगा, यह नहीं बताते, इतना अन्तर डालने के लिये बात की है। क्या कहा? गुरु इसे वीतरागता बतलाते हैं। गुरु इसे शुभकर्म से कर और मेरी भक्ति कर तो तुझे लाभ होगा, ऐसा गुरु नहीं बतलाते। आहाहा! क्या इनकी शैली! क्या वचन की रचना! द्रव्यश्रुत की रचना भी देखो तो सही। आहाहा!

गुरु के वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके... वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके। इसका अर्थ यह कि गुरु ने परमात्मस्वरूप ही बतलाया है। हमारे से होगा और राग से होगा, शुभकर्म करने से होगा, हमारी भक्ति करने से होगा - ऐसा गुरु ने कहा नहीं। इसलिए गुरु की वाणी से प्राप्त करके, ऐसा कहा है। गुरु ने इसे वीतरागता से तुझे तेरा (आत्मा) मिलेगा (ऐसा बतलाते हैं)। आहाहा! यह आत्मावलोकन में आता है। मुहू, मुहू। गुरु बारम्बार वीतरागता की ही बात करते हैं। आत्मावलोकन में गाथा आती है। वीतराग... वीतराग... वीतराग... राग की गन्ध की बात नहीं कि शुभक्रिया का राग है, इसलिए कुछ तुझे अन्दर अशुभ में से शुभ में आने पर तुझे अन्तर में प्राप्त करने में सरलता होगी, ऐसा भी नहीं। आहाहा! यहाँ ऐसे गुरु के वचन कहे हैं। समझ में आया? आहाहा!

सुललित (सुमधुर) वाणी का विषय नहीं अथवा सत्य वाणी का भी विषय नहीं है;... आहाहा! तथापि **तथापि गुरु के वचनों द्वारा...** इनका वचन इस कारण से है कि

गुरु इसे वीतरागस्वभाव बतलाते हैं। मुझसे प्राप्त होगा या राग से प्राप्त होगा–ऐसा गुरु नहीं कहते। आहाहा!

मुमुक्षु : तो फिर गुरु क्या कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे वीतरागभाव कहते हैं। तू परमात्मा है – ऐसा कहते हैं। तुझे मेरी भी अपेक्षा नहीं है – ऐसा वे कहते हैं।

मुमुक्षु : तू परमात्मा है – ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो हुआ, इसका अर्थ हुआ कि इसे पर की अपेक्षा नहीं है। ऐसा इसे वीतराग... चैतन्य वीतरागमूर्ति प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। तुझे राग की मन्दता से लाभ होगा, वह चीज़ तू नहीं है। तुझे राग की अपेक्षा से प्राप्त हो, ऐसा तू नहीं है। तू तो वीतरागभाव से प्राप्त हो, ऐसा तू है। उसमें वीतरागभाव से प्राप्त हो, ऐसा है—ऐसा कहने पर, हमारी ओर के लक्ष्य से भी प्राप्त हो – ऐसा नहीं है। यह भी उनके वचन में आ जाता है। आहाहा! गजब बात की है न।

एक तो मधुर वचन और... आहाहा! सत्यवाणी का विषय नहीं। और कहते हैं... स्याद्वाद वीतराग की वाणी, अपेक्षा से बात है। उसका हेतु यह है। गुरु इसे किसी प्रकार से दूसरा पहलू न बताकर तू परमात्मा है, (यह बताते हैं)। तेरी नजर के आलस्य से बाकी रह गया है, बस – ऐसा बताते हैं। ऐसा बतानेवाले गुरु यही बताते हैं। गुरु, व्यवहार से निश्चय होता है, राग से यह होता है – ऐसा बतावे, वे गुरु नहीं हैं – ऐसा कहते हैं। आहाहा! **गुरु के वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके...** इसका अर्थ यह है। आहाहा! गुरु के वचन ऐसे होते हैं। तुझे हमारी भक्ति से होगा, यह गुरु के वचन नहीं हैं। आहाहा! तुझे राग की मन्दता से... यह कौन नहीं आया?

मुमुक्षु : कान्तिभाई जोडियावाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जोडियावाला। क्यों नहीं आये?

समझ में आया इसमें? एक ओर कहते हैं कि वीतराग की, मुनियों की सच्ची वाणी से (भी) प्राप्त नहीं होता और दूसरे प्रकार से कहते हैं कि गुरु के वचनों को प्राप्त करके प्राप्त होता है। आहाहा! वे होते हैं और हेतु यह है कि उनकी वाणी में... आहाहा!

वीतरागता.. वीतरागता.. वीतरागता.. प्रभु! तू वीतरागस्वरूप है। वीतरागदशा से उसकी प्राप्ति होती है। पर के लक्ष्य से और पर की अपेक्षा से तुझे प्राप्ति नहीं होती। ऐसा गुरु का वचन होता है, यह बतलाने के लिये उसके द्वारा प्राप्त होता है - ऐसा कहने में आया है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वयं शास्त्र पढ़कर समझ सकता है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : गुरु का उपदेश चाहिए। पहले कहा न!

सत्य वाणी का भी विषय नहीं... परन्तु गुरु का कहने का आशय यह है कि वह सीधे परमात्मा को ही बतलाते हैं। वह गुरु की वाणी कहलाती है। वह वाणी वीतराग के शास्त्र की है। आहाहा! सत्य वाणी का भी विषय नहीं, तो भी गुरु उसका गुरुपना बतलाते हैं। तू परमेश्वर है, तू प्रभु है, तू भगवत्स्वरूप है, तू अनादि, अनन्त अचल ज्योति विराजमान शाश्वत् टंकोत्कीर्ण तत्त्व है। आहाहा! क्या उनकी शैली! दोनों वाणी की एक ओर ना करते हैं। ललित वाणी और सत्य वाणी की ना करते हैं। एक ओर द्रव्यश्रुत का सामर्थ्य है कि उसे ज्ञान प्राप्त करे परन्तु फिर भी जैसे शक्करवाला दूध जहर को छोड़े, तो भी जहर छोड़ता नहीं। ऐसा बतलाने के लिये वाणी उसे मिली, तो भी वह छोड़ता नहीं। वाणी में कहने का आशय जो है, उसे पकड़ता नहीं और उसे छोड़ता नहीं। आहाहा! अपने पक्ष को कहीं रोकता है। अन्दर में कहीं अटकता है। इतना करूँ तो होगा... इतना करूँ तो होगा... इतना करूँ तो होगा। गुरु ऐसा नहीं कहते। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरु वचन तो कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, वचन का निमित्त कहा परन्तु निमित्त में ऐसा बतावें, ऐसे वे वचन हैं। इसकी जो परमात्मस्वरूप स्थिति है, उसे वे बताते हैं। उतना एक वचन है, तथापि उससे प्राप्त नहीं होता। यहाँ इसके पाता है, ऐसा कहने में कि उन्होंने वीतरागता बतायी है, इसलिए वीतरागता को प्राप्त हुआ, इसलिए उनसे प्राप्त हुआ, ऐसा कहने में आता है क्योंकि दूसरे सराग से, राग से और शुभकर्म से, व्यवहार करते-करते होगा, यह बतलानेवाले वे गुरु नहीं हैं। आहाहा! यह दिगम्बर मुनि। उनकी वाणी तो देखो! आहाहा! **गुरु के वचनों द्वारा...** आहाहा! इसका अर्थ यह कि गुरु इसे एकदम वीतरागता ही बतलाते हैं। हमारे शब्दों की भी तुझे आवश्यकता नहीं, हमारी वाणी की भी तुझे अपेक्षा नहीं, ऐसा

वे बतलाते हैं। आहाहा! साक्षात् भगवत्स्वरूप है। टंकोत्कीर्ण ऐसा का ऐसा चिद्घन। आहाहा! चिद्घन वज्र, जिसमें विकल्प का प्रवेश नहीं – ऐसा चिद्घन वज्र तू है – ऐसा गुरु बतलाते हैं, इसलिए गुरु की वाणी से प्राप्त होता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

सवेरे तो यह कहा कि इसका जहर मिटाने को द्रव्यश्रुत में भी समर्थ है परन्तु उससे भी टालता नहीं। शक्करवाला दूध जहर को टालने में समर्थ है, वह भी टालता नहीं। इसी प्रकार वीतराग की वाणी, वह अज्ञान का जहर उतारने में समर्थ है। आहाहा! तथापि वह भी सुना, धारणा में किया परन्तु अन्दर में प्रवेश किया नहीं। धारणा में बात रखी, धारणा में बात रखी तो ग्यारह अंग अनन्त बार धारण किये, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! गम्भीर वाणी है, भाई!

जो शुद्ध दृष्टिवाला होता है,... गुरु के वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके जो शुद्ध दृष्टिवाला होता है,... देखो! क्या कहा? इसमें न्याय दिया कि गुरु ने शुद्धदृष्टि करने की ही बात इसे बतायी है, इसलिए शुद्धदृष्टिवाला होता है। आहाहा! **गुरु के वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके जो शुद्ध दृष्टिवाला होता है,...** इसका अर्थ कि गुरु ने इसे शुद्धदृष्टि की ही बात की है। त्रिकाली परमात्मा को प्राप्त कर, वहाँ दृष्टि कर। मौजूद चीज़ पड़ी है। है, उसकी अस्ति। प्राप्त की प्राप्ति है। दूसरा कोई इसका उपाय नहीं है। ऐसे **गुरु के वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके जो शुद्ध दृष्टिवाला होता है,...** वह शुद्धदृष्टि उन्होंने बतायी थी। आहाहा! समझ में आया?

गुरु के वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके जो शुद्ध दृष्टिवाला होता है,... आहाहा! बतलानेवाले को भी पहचाना; बतलानेवाले की वाणी कैसी होती है, उसे भी पहचाना और वाणी में से कहे हुए भाव को भी पहचाना। वह शुद्ध दृष्टिवाला होता है। उस शुद्ध दृष्टि से उन्होंने कथन बताया था। त्रिकाली भगवान को पकड़, ऐसा कहा था तो वैसा प्राप्त करके शुद्ध दृष्टिवाला होता है। आहाहा! जो गुरु ने कहा था, तद्नुसार होता है। आहाहा! ऐसी बात! अब अभी विरोध करते हैं। व्यवहार से होता है। इस व्यवहार से न हो तो ऐसा होगा। वीतराग की वाणी निमित्त है और उसके कारण ज्ञान होता है। निमित्त से ज्ञान न माने, वह मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु : दिव्यध्वनि से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिव्यध्वनि से होता है। यहाँ तो कहते हैं, गुरु की वाणी से नहीं होता परन्तु गुरु की वाणी दिव्यध्वनि में यह आया। परमात्मा है, उसे प्राप्त कर, बस। यह आया। इसलिए उसे वाणी से प्राप्त हुआ, ऐसा कहने में आया है क्योंकि वाणी में यह आया था, वैसा वह प्राप्त हुआ, इसलिए वाणी से प्राप्त हुआ, ऐसा कहने में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : वाणी से प्राप्त नहीं हुआ था।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं होता परन्तु उनने बतलाया है, वह हुआ। स्वयं ने किया, वही बतलाया था। शुद्ध दृष्टिवाला होता है, ऐसा कहा न? शुद्ध दृष्टि अर्थात् त्रिकाल की दृष्टि, त्रिकाली शुद्ध आत्मा की दृष्टि। आहाहा!

मुमुक्षु : प्राप्त कर जाए तो वाणी का उपकार लागू पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब तो वह निमित्त कहलाती है। यहाँ तो वजन गुरु ने क्या कहा, यह वजन है। वह शुद्ध दृष्टिवाला हुआ, यह उन्होंने कहा था। इस बात पर वजन है। वाणी से होता है, ऐसा वचन नहीं है। लालचन्दभाई! आहाहा! कहने का आशय यह है। पण्डितजी! आहाहा!

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव का आशय यह है। जो बतलाया था, उसे प्राप्त हुआ। प्राप्त हुआ, वह बतलाया था; इसलिए वह शुद्ध दृष्टिवाला हुआ। शुद्ध दृष्टि करानी थी। वाणी में उन्हें शुद्ध दृष्टि ही करानी थी। त्रिकाली की दृष्टि कर, त्रिकाली को मान, त्रिकाली को अनुभव कर, त्रिकाली को देख, त्रिकाली की प्रतीति कर, यह उनकी वाणी में आया था। आहाहा! वह शुद्ध दृष्टिवाला होता है। आहाहा! ऐसा कहकर यह भी कहा कि गुरु यह बतलावें, ऐसे गुरु मिलना चाहिए। ऐसा कहते हैं। इसके पुण्य के योग से भी ऐसे गुरु इसे मिलना चाहिए कि जो यह वीतरागता की दृष्टि बतावे। त्रिकाली है, उसकी दृष्टि कर। सब भूल जा। मेरी ओर का लक्ष्य भूल जा। हम कहते हैं, उसका ज्ञान हो, उस ज्ञान का लक्ष्य भी भूल जा। आहाहा!

वाणी का भी विषय नहीं है; तथापि... ऐसा कहा न? **तथापि गुरु के वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके...** आहाहा! गजब बात की है। उसे गुरु ऐसे मिले हों कि जो शुद्ध दृष्टि कर,

यह एक ही बात की हो। यह बात मिली, इसलिए उसे प्राप्त करके निमित्त से कथन कहा। आहाहा! दूसरी लाख बात की बात हो, सब बात छोड़ दे। भगवान त्रिकाली है, उसकी दृष्टि कर, उसका आश्रय कर, उसका अवलम्बन ले तो प्रभु की प्राप्ति तुझे होगी। ऐसा कहा था, ऐसा इसे हुआ। समझ में आया? आहाहा!

जो शुद्ध दृष्टिवाला होता है,... देखा? गुरु के वचनों को प्राप्त करके भी न हो, यह प्रश्न यहाँ नहीं लिया। भाई! होता है। आहाहा! एक तो गुरु का वचन कैसा होता है और सुनकर प्राप्त करता ही है। यही कहा है न उसमें? (समयसार) पाँचवीं गाथा। **'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण'** कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं (कि) मेरे वैभव से स्व की एकत्वता और पर की भिन्नता बतलाऊँगा। इतना कहा, परन्तु **'जदि दाएज्ज पमाणं'** यदि तुझे बतलाऊँ तो प्रमाण करना। वहाँ ऐसी ही बात ली है। वह बात यह है। अनुभव करना। हाँ करके अकेला धारणा में रुकना नहीं। आहाहा! आता है न? भाई! **'पमाणं'** प्रमाण करना। प्रमाण अर्थात् अनुभव। आहाहा! बहुत बात की है, हों! वचनों का निषेध किया। सुललित मधुर वचन, सत्य वाणी का इनकार किया, ले, अब सत्य वाणी का भी इनकार किया, तब गुरु की वाणी कैसी असत्य होगी? परन्तु उस सत्य वाणी में यह बताया था, उसे प्राप्त हुआ। इसलिए उसे वाणी से प्राप्त हुआ, ऐसा कहने में आया है। आहाहा!

जो शुद्ध दृष्टिवाला होता है,... शुद्ध दृष्टि करने का ही कहा था। इसलिए शुद्ध दृष्टिवाला होता है। आहाहा! **वह परमश्रीरूपी कामिनी का बल्लभ होता है...** उसे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं। पहले शुद्ध दृष्टिवाला होता है, ऐसा कहा। पश्चात् वह परमश्री रूपी कामिनी, परमश्री—लक्ष्मी, परमलक्ष्मी केवलज्ञान। आहाहा! दृष्टिवाला तो हुआ, अब **परमश्रीरूपी (केवलज्ञान का) कामिनी का बल्लभ होता है...** अर्थात् वह पर्याय प्राप्त होती है। **(अर्थात् मुक्तिसुन्दरी का पति होता है)** आहाहा!

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१७०

(मालिनी)

जयति सहज-तेजःप्रास्त-रागान्धकारो,
मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः।
विषय-सुख-रतानां दुर्लभः सर्वदायं,
परम-सुख-समुद्रः शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः ।।१७०।।

(वीरछन्द)

रागरूप अति गहन तिमिर का सहज तेज से किया विनाश।
शुद्ध शुद्ध है और सदा जो मुनिवर-मन में करे निवास॥
दुर्लभ विषयासक्त जीव को सुख समुद्र जो परम अहो।
निद्रानाशक शुद्ध ज्ञानमय परम तत्त्व जयवन्त रहो॥१७०॥

[श्लोकार्थः] जिसने सहज तेज से रागरूपी अन्धकार का नाश किया है, जो मुनिवरों के मन में वास करता है, जो शुद्ध-शुद्ध है, जो विषयसुख में रत जीवों को सर्वदा दुर्लभ है, जो परम सुख का समुद्र है, जो शुद्ध ज्ञान है तथा जिसने निद्रा का नाश किया है, ऐसा यह (शुद्ध आत्मा) जयवन्त है॥१७०॥

प्रवचन-१२८, श्लोक-१७०-१७२, गाथा-११२, शुक्रवार, माघ कृष्ण ८, दिनांक ०८-०२-१९८०

नियमसार, १७० कलश।

जयति सहज-तेजःप्रास्त-रागान्धकारो,
मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः।
विषय-सुख-रतानां दुर्लभः सर्वदायं,
परम-सुख-समुद्रः शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः ।।१७०।।

आलोचना का अधिकार है। आत्मा को इस प्रकार से आलोचना अर्थात् देखना अर्थात् मानना आदि अनुभव करना। किस प्रकार ?

[श्लोकार्थः] जिसने सहज तेज से... जिसने सहज स्वरूप के **तेज से रागरूपी अन्धकार का नाश किया है,...** अर्थात् कि उसमें राग है नहीं। वस्तुस्वरूप है, वीतरागस्वरूप है। आत्मा अनादि वीतरागस्वरूप ही है। उसके आश्रय से रागरूपी अन्धकार का नाश होता है, तो उसके तेज से नाश हुआ – ऐसा कहा जाता है। द्रव्य, वह कहीं पर्याय को करता नहीं है। द्रव्य तो ध्रुव शुद्ध आनन्दधन नित्यानन्द प्रभु, जिसमें हलन-चलन और पर्याय भी नहीं। उस रागरूपी अन्धकार को जिसका तेज अर्थात् जिसके तेज की दृष्टि करने पर राग का नाश होता है, तो वह स्वयं राग का नाश करता है – ऐसा कहा जाता है।

जो मुनिवरों के मन में वास करता है,... आहाहा! जो मुनिवरों के हृदय में-ज्ञान में बसता है। वह आत्मा ज्ञान में, ज्ञान की पर्याय में बसता है। उसकी पर्याय में, राग या व्यवहार, (वह) मुनिवरों के ज्ञान में बसता नहीं। आहाहा! मन में अर्थात् मुनिवरों के ज्ञान में बसता है। **जो शुद्ध-शुद्ध है,...** वस्तु से शुद्ध है, गुण से शुद्ध है, द्रव्य से शुद्ध है और गुण से शुद्ध है। भाव-स्वभाव से शुद्ध है और स्वभाववान, वह शुद्ध है और स्वभाव से भी शुद्ध है। **जो विषयसुख में रत जीवों को...** आहाहा! जिनें पाँच इन्द्रियों की विषयों की ओर की सन्मुखता में, झुकाव में रस है, उन **जीवों को सर्वदा दुर्लभ है,...** जिनका खिंचाव पाँच इन्द्रिय के विषयों की ओर जाता है, उन्हें वह चीज़ दुर्लभ है। क्योंकि उनके लक्ष्य से या आश्रय से वह प्राप्त नहीं होता। **विषयसुख में रत जीवों को...** अतीन्द्रिय आनन्द सुखरूपी प्रभु! विषय अर्थात् पाँच इन्द्रिय की ओर के झुकाव में सुखबुद्धिवाले जीव को अत्यन्त दुर्लभ है। (सर्वथा) दुर्लभ है। **सर्वदा दुर्लभ है,...** आहाहा!

जो परम सुख का समुद्र है,... परम अतीन्द्रिय आनन्द, उसका तो वह समुद्र है। अपार बेहद अपरिमित सुखसमुद्र से भरपूर है। आहाहा! अन्यत्र सर्वत्र से सुखबुद्धि उठाकर जहाँ सुख है, वहाँ बुद्धि को लगाना, यह महादुर्लभ है। **जो परम सुख का समुद्र है, जो शुद्ध ज्ञान है...** सुख है और ज्ञान है। सर्वत्र दो की मुख्यता वर्णन करते हैं न ? **जो शुद्ध ज्ञान है...** शुद्ध ज्ञान शब्द से, जिसमें राग तो नहीं, परन्तु पर्याय नहीं—ऐसा शुद्ध ज्ञानपिण्ड प्रभु है।

तथा जिसने निद्रा का नाश किया है,... आहाहा! स्वरूप का भान होने पर निद्रा में भी उसका भान रहा करता है और उसने निद्रा का नाश किया है। आहाहा! जो चैतन्य सत्ता अस्तित्वरूप भासन हुआ, वह भासन उसकी निद्रा में भी भासन कायम रहता है। वास्तव में जो उसने निद्रा का नाश किया है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगावान आत्मा का जिसे भान है, उसने निद्रा का नाश (किया) है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। **ऐसा यह (शुद्ध आत्मा)....** मुनिराज स्वयं कहते हैं। यह जो कहता हूँ, वह मेरे ज्ञान में जयवंत वर्तता है। बिना देखे जयवंत वर्तता है - ऐसा नहीं कहता, यह कहते हैं। अनुभव करके कहता हूँ कि यह जयवंत वर्तता है। आहाहा! द्रव्य जयवन्त वर्तता है, इसका अर्थ (यह कि) अनुभव की पर्याय में ज्ञात होता है, वह सदा ही जयवंत वर्तता है। आहाहा! उसका कभी अभाव नहीं है, उसमें कभी हीनता या विकार नहीं है। सदा शुद्ध ज्ञान, निद्रा का नाश करके जयवंत वर्तता है।

जयवन्त वर्तता है अर्थात्? पर्याय में उसका भान होता होने से, वह जितना और जैसा है, उतना और वैसा ही उसमें ज्ञान—श्रद्धान होने से, वह ज्ञान और श्रद्धा ऐसा कहते हैं कि वह तो जयवन्त वर्तता है। मेरी दृष्टि के विषय में तैरता है। आहाहा! पारिणामिकभाव से शुद्ध है, ऐसा अकेला नहीं परन्तु उसका भान होने से जयवन्त वर्तता है, ऐसा उसके ज्ञान में आया है। आहाहा! वस्तु स्वयं जयवन्त वर्तती है। पर्यायदृष्टि छोड़कर जिसने द्रव्यदृष्टि की है, उसे तो जयवन्त वर्तता है। शाश्वत् अनुभव में आया है, इसलिए अनुभव कहता है कि वह जयवन्त वर्तता है। वस्तु, वह तो कायम ऐसी की ऐसी है। आहाहा! ऐसा है। यह बाहर के झगड़े के कारण अन्दर में जाने का समय नहीं मिलता। यह अब कहेंगे।

गाथा-११२

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परि-कहियं भव्वाणं लोयालोय-प्पदरिसीहिं।।११२।।

मदमानमायालोभविवर्जितभावस्तु भावशुद्धिरिति।
परि-कथितो भव्यानां लोकालोक-प्रदर्शिभिः।।११२।।

भावशुद्ध्यभिधानपरमालोचनास्वरूपप्रतिपादनद्वारेण शुद्धनिश्चयालोचनाधिकारोप-संहारोपन्यासोऽयम्। तीव्रचारित्रमोहोदयबलेन पुम्वेदाभिधाननोकषायविलासो मदः। अत्र मदशब्देन मदनः कामपरिणामः इत्यर्थः। चतुरसन्दर्भगर्भीकृतवैदर्भकवित्वेन आदेयनाम-कर्मोदये सति सकलजनपूज्यतया, मातृपितृसम्बन्धकुलजातिविशुद्ध्या वा, शतसहस्रकोटि-भटाभिधानप्रधानब्रह्मचर्यव्रतोपार्जितनिरुपमबलेन च, दानादिशुभकर्मोपार्जितसम्पत्वृद्धि-विलासेन अथवा बुद्धितपोवैकुर्वणौषधरसबलाक्षीणर्द्धिभिः सप्तभिर्वा, कमनीयकामिनी-लोचनानन्देन वपुर्लावण्यरसविसरेण वा आत्माहङ्कारो मानः। गुप्तपापतो माया। युक्तस्थले धनव्ययाभावो लोभः, निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरञ्जननिजपरमात्मतत्त्व-परिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभः।

एभिश्चतुर्भिर्वा भावैः परिमुक्तः शुद्धभाव एव भावशुद्धिरिति भव्यप्राणिनां लोकालोक-प्रदर्शिभिः परमवीतरागसुखामृतपानपरितृप्तैर्भगवद्भिरर्हद्भिरभिहित इति।

अर्हंत लोकालोक दृष्टा का कथन है भव्य को—
है भाव-शुद्धि मान, माया, लोभ, मद बिन भाव जो॥११२॥

अन्वयार्थ : [मदमानमायालोभविवर्जितभावः तु] मद (मदन), मान माया और लोभ रहित भाव वह [भावशुद्धिः] भावशुद्धि है [इति] ऐसा [भव्यानाम्] भव्यों को [लोकालोकप्रदर्शिभिः] लोकालोक के दृष्टाओं ने [परिकथितः] कहा है।

टीका : यह, भावशुद्धिनामक परम-आलोचना के स्वरूप के प्रतिपादन द्वारा शुद्ध निश्चय-आलोचना अधिकार के उपसंहार का कथन है।

तीव्र चारित्रमोह के उदय के कारण पुरुषवेद नामक नोकषाय का विलास वह मद है। यहाँ 'मद' शब्द का अर्थ 'मदन' अर्थात् कामपरिणाम है। (१) चतुर वचन-रचनावाले *वैदर्भकवित्व के कारण, आदेयनामकर्म का उदय होने पर समस्त जनों द्वारा पूजनीयता से, (२) माता-पिता सम्बन्धी कुल-जाति की विशुद्धि से, (३) प्रधान ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा उपार्जित लक्षकोटि सुभट समान निरुपम बल से, (४) दानादि शुभकर्म द्वारा उपार्जित सम्पत्ति की वृद्धि के विलास से, (५) बुद्धि, तप, विक्रिया, औषध, रस, बल और अक्षीण—इन सात ऋद्धियों से, अथवा (६) सुन्दर कामिनियों के लोचन को आनन्द प्राप्त करनेवाले शरीरलावण्यरस के विस्तार से होनेवाला जो आत्म-अहंकार (आत्मा का अहंकारभाव) वह मान है। गुप्त पाप से माया होती है। योग्य स्थान पर धनव्यय का अभाव वह लोभ है; निश्चय से समस्त परिग्रह का परित्याग जिसका लक्षण (स्वरूप) है ऐसे निरंजन निज परमात्मतत्त्व के परिग्रह से अन्य परमाणुमात्र द्रव्य का स्वीकार वह लोभ है।—इन चारों भावों से परिमुक्त (-रहित) शुद्धभाव वही भावशुद्धि है ऐसा भव्य जीवों को लोकालोकदर्शी, परमवीतराग सुखामृत के पान से परितृप्त अरहन्त भगवन्तों ने कहा है।

गाथा - ११२ पर प्रवचन

११२ गाथा।

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परि-कहियं भव्वाणं लोयालोय-प्पदरिसीहिं।।११२।।

तीन लोक के नाथ लोकालोक को जाननेवाले, उन्होंने आत्मा को भावशुद्धि से देखा है। **टीका : यह, भावशुद्धिनामक परम-आलोचना के स्वरूप के...**

अर्हंत लोकालोक दृष्टा का कथन है भव्य को—
है भाव-शुद्धि मान, माया, लोभ, मद बिन भाव जो॥११२॥

---

* वैदर्भकवि=एक प्रकार की साहित्यप्रसिद्ध सुन्दर काव्यरचना में कुशल कवि।

जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ है ही नहीं, ऐसा जो भगवान शुद्ध वर्तता है। आहाहा! **तीव्र चारित्रमोह के उदय के कारण पुरुषवेद नामक नोकषाय का विलास...** आहाहा! विषय की वासना का विलास। यहाँ पुरुष को लिया है परन्तु स्त्री को भी स्त्री सम्बन्धी लेना। **चारित्रमोह के उदय के कारण पुरुषवेद नामक नोकषाय का विलास, वह मद है।** मद अर्थात् यहाँ अभिमान नहीं। मद अर्थात् मदन। आहाहा! अर्थात् काम विकार, ऐसा अर्थ है। जिसे काम विकार वर्तता नहीं, उसमें काम का विकार है ही नहीं। आहाहा! एक बात।

(१) चतुर वचन-रचनावाले वैदर्भकवित्व के कारण,... एक प्रकार की साहित्यप्रसिद्ध सुन्दर काव्यरचना में कुशल कवि। आहाहा! **आदेयनामकर्म का उदय होने पर समस्त जनों द्वारा पूजनीयता से,...** कवि तो ऐसी रचना करता है कि लोग फिदा-फिदा हो जाते हैं। यह भी एक मान है, कहते हैं। वह वस्तु में नहीं है। आहाहा! उसके - मान के कामी को यह निर्मान चीज, वह दृष्टि में नहीं आती। आहाहा!

(२) माता-पिता सम्बन्धी कुल-जाति की विशुद्धि से,... उत्तम कुल का गर्व उसे होता है। मेरी माता उत्तम कुल की, पिता उत्तम कुल के, ऐसी विशुद्धि से जिसे गर्व वर्तता है। उसे हाथ नहीं आता। उसे उस चीज़ का पता नहीं लगता क्योंकि उस चीज़ में वह है नहीं। जो उसमें नहीं है, उसके द्वारा ख्याल में नहीं आता। आहाहा!

(३) प्रधान ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा... अन्दर का प्रधान ब्रह्म आनन्द, उसकी क्रीड़ा द्वारा **उपार्जित लक्षकोटि सुभट...** लाख कोटि का। **सुभट समान निरुपम बल से,...** ब्रह्मचर्य के जोर से उत्पन्न हुआ बल... आहाहा! उसका भी जिसे अभिमान नहीं है। उस अभिमानवाले को वह हाथ नहीं आता। आहाहा! आजीवन का ब्रह्मचर्य शरीर से नहीं परन्तु ब्रह्म अर्थात् आत्मा आनन्द में चरने के बल से शुभकोटि **लक्षकोटि सुभट...** लाख-करोड़ सुभट से भी जिसका बल ब्रह्मचर्य के कारण अन्दर बढ़ गया है। उसके बल से भी वह हाथ नहीं आता। उसका जिसे अभिमान वर्तता है, उसे वह हाथ नहीं आता क्योंकि उसमें वह है नहीं। आहाहा! थाह खोजी है। तल में चैतन्य ऐसा है, उसमें यह नहीं—ऐसा खोजा है। यह खोजा है, वह कहता है। लक्ष्यकोटि सुभट समान निरुपम बल, उसका का

भी जिसे अभिमान वर्तता है, वह अभिमान आत्मा में नहीं है। आहाहा! इसलिए उसके बल द्वारा भगवान आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

(४) दानादि शुभकर्म द्वारा... दान, पूजा, भक्ति से **शुभकर्म द्वारा उपार्जित सम्पत्ति की वृद्धि के विलास से,...** दान, पूजा, भक्ति आदि किये हों, उससे पुण्य बँधा हो, उस पुण्य के कारण सम्पत्ति बढ़ती ही जाए। वृद्धि विलास हो। उसका भी जिसे अभिमान है, उसे वह हाथ आवे, ऐसा नहीं है। आहाहा! क्योंकि वह उसमें है नहीं। आहाहा! **शुभकर्म द्वारा उपार्जित सम्पत्ति...** आहाहा! उसकी वृद्धि। करोड़ों-अरबों रुपये बढ़ जाए। महीने-महीने में अरबों की आमदनी बढ़ जाए। सहज-सहज अरबों हो जाए। उसका भी जिसे गर्व है, उसका भी जिसे महिमा / माहात्म्य है, वह वस्तु में नहीं है; इसलिए उसके द्वारा वस्तु हाथ नहीं आती। आहाहा!

(५) बुद्धि,... क्षयोपशमभाव के अभिमान द्वारा भी वह हाथ आवे, ऐसा नहीं है। आहाहा! क्योंकि उसमें वह है नहीं। जिसमें नहीं है, उसके द्वारा हाथ कैसे आवे। आहाहा! यह क्रोध, मान, माया, लोभ वस्तु में नहीं है। जिसमें हो, उसके द्वारा जानने में आवे। जिसमें जो हो, उसके द्वारा जानने में आवे। उसमें यह नहीं, उसके द्वारा जानने में नहीं आता। आहाहा! यहाँ तो जहाँ दो-पाँच हजार श्लोक कण्ठस्थ होते हैं, तो इसे ऐसा हो जाता है कि हमने ज्ञान किया और हम ज्ञान में बढ़ गये हैं। आहाहा! वह इसमें है ही नहीं, कहते हैं। बुद्धि का—क्षयोपशम का विलास, वह स्वरूप में है ही नहीं। उससे आत्मा हाथ आवे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

तप,... तप का अभिमान। छह-छह महीने के अपवास, छह महीने में भी रसरहित आहार करे। उसकी भी जिसे जरा वासना की गन्ध रह जाती है कि मैं भी कुछ तपस्वी (तप करनेवाला) हूँ, उसे यह वस्तु हाथ आवे, ऐसा नहीं है। आहाहा! **विक्रिया,...** शरीर की क्रिया, विक्रिया बनने में होशियार हो। शरीर की भाँति-भाँति की क्रिया - विक्रिया कर सके। उसका जिसे अभिमान है। उससे रहित जीव है, इसलिए उसके अभिमान से वह ज्ञान हो, ऐसा नहीं है। **औषध,...** औषध का बल हो, बहुत जानकारी हो। औषध की बहुत जानकारी हो, उसका भी जिसे अभिमान है, उसे (आत्मा) ज्ञात हो, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : ऐसा हुआ कि डॉक्टरों को नहीं ज्ञात होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : डॉक्टर। डॉक्टर-वॉक्टर है कौन ? आत्मा ज्ञानानन्द सहजस्वरूप है, उसमें डॉक्टर का पठन अन्दर में कहाँ है ? उसमें उस पठन का भी जरा... आहाहा ! अभिमान अन्दर रहे, वासना की गन्ध रहे, वह स्वरूप में नहीं है; इसलिए उससे स्वरूप ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा !

रस,... रस का बल हो। चाहे जैसा ऊँचा रस खा सकता हो, पचा सकता हो। चक्रवर्ती हीरा के भस्म के रस पचा सकता है। आहाहा ! जिसके बत्तीस ग्रास का एक ग्रास छियानवें करोड़ सैनिक पचा नहीं सकते। उस रस को चक्रवर्ती पचाता है। आहाहा ! परन्तु उसे अभिमान नहीं है। यह हीरा की और माणिक की भस्म खा सकता हूँ और इसके कारण मुझे मेरे शरीर में बल बढ़ता है, ऐसी जिसे परसन्मुख की वासना की गन्ध है, उसे चैतन्य की गन्ध नहीं आती। आहाहा !

ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़ा, तथापि वह आत्मा हाथ नहीं आया क्योंकि वह तो परलक्षी ज्ञान है। आहाहा ! जिसे जानने के लिये ऐसी विशेषता की कोई आवश्यकता नहीं है। उसे जानने के लिये तो उसके रागरहित, क्रोध, मान, माया, लोभरहित भाव से वह ज्ञात हो ऐसा है। जिसे ऐसे मद वर्तते हैं... आहाहा ! उससे ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा !

बल,... शरीर का बल विशेष हो, आहाहा ! उससे भी वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। शरीर का बल बहुत जोरदार हो। आहाहा ! नेमिनाथ भगवान का (प्रसंग) आता है न ? सब सुभट सभा में एकत्रित हुए। बहुत महिमा करने लगे कि भीम जोरदार है, अर्जुन जोरदार है और अमुक जोरदार है। उसमें से एक व्यक्ति बोला कि परन्तु इन सबसे भगवान बैठे हैं। नेमिनाथ अभी गृहस्थाश्रम में थे। उनके शरीर के बल के समक्ष किसी का - दूसरे का बल विशेष नहीं है। भगवान को ऐसा कहा, इसलिए भगवान ने नीचे पैर रखा। कृष्ण उनके पैर को हटाने लगे, उठाने लगे। उठा नहीं सके परन्तु यह तो शरीर का बल है। उस बल का भी जिसे अभिमान है, उसे आत्मा हाथ आवे, ऐसा नहीं है। क्योंकि उसमें नहीं है।

आत्मा स्वभाव द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है। अलिंगग्रहण में आता है न ? छठवाँ बोल। आहाहा ! अपने स्वभाव से प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसा आत्मा ज्ञाता है। आहाहा ! उसे कोई ऐसे साधन और बल की आवश्यकता नहीं है। ऐसे साधन में जिसे रस लगा होगा, वह आत्मा को नहीं जान सकता। आहाहा ! मुझे आता है, इसका अभिमान हो गया हो, क्षयोपशम ज्ञान

में, ज्ञान में यादगिरी बहुत रहती हो, उसका उसे अन्दर अहम्पना रहता हो, उससे आत्मा ज्ञात हो ऐसा नहीं है। आहाहा!

अक्षीण... ऐसी एक ऋद्धि होती है कि एक लड्डू हो, उसमें चक्रवर्ती छह खण्ड के छियानवें करोड़ मनुष्य जीम लें तो भी कम नहीं पड़े, ऐसी एक अक्षीण ऋद्धि है। उसका भी जिसे अभिमान नहीं है। यह तो जगत की चीज़ कर्म और प्रकृति के सब विकार हैं। आहाहा! एक लड्डू में से छियानवें करोड़ सैनिक जीम लें, ऐसी अक्षीण ऋद्धि प्रगट होती है, वह भी आत्मा में नहीं है। आहाहा! उसमें नहीं है, इसलिए उससे वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। **इन सात ऋद्धियों से,...** जिसे अभिमान है।

अथवा (६) सुन्दर कामिनियों के लोचन को आनन्द प्राप्त करनेवाले शरीरलावण्यरस के विस्तार से... शरीर ऐसा रूपवान और सभी अवयव सुन्दर, ऐसे **सुन्दर कामिनियों के लोचन...** ऐसी सुन्दर स्त्रियों के **लोचन को आनन्द प्राप्त करनेवाले...** शरीर के लावण्य का रस। आहाहा! भगवान जन्मते हैं, तब से उन्हें रस ऐसा होता है, तथापि उन्हें अभिमान नहीं है। समकित लेकर आये हैं। आहाहा! जिन्हें हजार आँखें बनाकर इन्द्र देखता है। इन्द्र, जिसके पुण्य की ऋद्धि से इन्द्रपद मिला, वह भगवान के जन्म को, शरीर को देखता है। आँख से तृप्त नहीं होता तो हजार आँखें बनाता है। ऐसा जिनका शरीर है, उसका भी जिन्हें अभिमान नहीं है। वह तो परद्रव्य है। आहाहा! एक क्षण में पलटते हुए देरी नहीं लगती। यह नहीं उस महिला की बात की थी? रतिभाई के पुत्र की बहू बात करती थी, कहते हैं। बींछियावाले रतिभाई, खशालचन्दभाई का पुत्र। उसके पुत्र की बहू जवान। किसी के साथ बात करती थी। उसमें एकदम मस्तिष्क चढ़ गया। चढ़ गया और हेमरेज हो गया। हेमरेज होकर देह छूट गयी। आहाहा! कहो, शरीर की स्थिति कैसी, कैसे हो यह कहीं आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। आहाहा! जवान शरीर हो, २५, ३० वर्ष की जवान अवस्था। खाने-पीने से सब प्रकार से पूर्ण हो। उसके इन्द्रिय के लावण्य... ऐसी स्त्रियों के लोचन को आनन्द प्राप्त करानेवाले, ऐसे शरीर का लावण्य रस। शरीर की ऐसी कोमलता का रस, उसके विस्तार से होनेवाला अहंकार, आत्मा का अहंकार... आहाहा! कस्तूरी के चार लड्डू चढ़ा सकता हूँ, भस्म खा सकता हूँ, तो भी मुझे कुछ नहीं होता। ऐसी शरीर की स्थिति को, **सुन्दर कामिनियों के लोचन**

को आनन्द प्राप्त करनेवाले... आहाहा! उसका भी जो अहंकार, वह मान है। उस मानी को आत्मा हाथ नहीं आता। आहाहा! क्योंकि उस स्वरूप में मान है नहीं। ऐसी चीज़ का मान भी स्वरूप में नहीं है।

भगवान परमात्मस्वरूप के निधान की बातें क्या हो? ऐसा जिसे सुन्दर शरीर हो, उसका भी जिसे अहंकार नहीं। और होवे तो वह मान है। आहाहा! ऐसा कहना है कि ऐसे भाव से वह रहित है। भगवान ऐसे भाव से रहित है और ऐसे भाव के स्पर्श से भगवान ज्ञात हो, ऐसा बिल्कुल नहीं है। आहाहा! बाह्य से-उदयभाव से मर गया है। वह उदयभाव स्वरूप में नहीं है, इसलिए जिसे मर गया है, उसे हाथ आता है। आहाहा! जिसमें जो नहीं, उसमें से वह हाथ आवे, वह वस्तु नहीं है। आहाहा! प्रभु का स्वभाव शुद्ध है, तो स्वभाव से हाथ आवे परन्तु ये सब चीज़ें जो विभाव है, उनसे हाथ नहीं आता, उनसे आत्मा नहीं ज्ञात होता। आहाहा!

गुप्त पाप से माया होती है। गुप्त पाप करके माया-कपट (करे), ऐसे को भी हाथ नहीं आता। **योग्य स्थान पर धनव्यय का अभाव, वह लोभ है;...** योग्य स्थल पर पैसा चाहिए, उस जगह खर्च करना चाहिए, उसके बदले मान में खर्च करे, वैश्या में खर्च करे, फूल में खर्च करे... आहाहा! वह एक राजा था न? बड़ा राजा है न? वह राजा मर गया। जिसके विवाह के एक रात में एक करोड़ खर्च किये। पहली रात में, एक रात में एक करोड़। आहाहा! उसमें तो उसे अन्दर कुछ होता होगा। आहाहा! हम कितने राजा और कितने... मर गया। उसके बदले दूसरा गद्दी पर बैठा है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **योग्य स्थान पर धनव्यय का अभाव...** आहाहा! जहाँ चाहिए, वहाँ पैसे का लोभ घटावे नहीं। जहाँ चाहिए, जिसे आवश्यकता है, उस धर्म स्थल में उस पैसे को खर्च नहीं करे, वह योग्य स्थान का धन का अभाव, वह लोभ है। आहाहा! लड़के का विवाह करना हो तो पाँच लाख खर्च कर डाले, परन्तु कोई जरूरत पड़ी हो, मन्दिर की, देव-गुरु की रक्षा के लिये (आवश्यकता हो) तो वहाँ वह लोभ काम करे और खर्च नहीं करे, ऐसे जीव को आत्मा हाथ नहीं आता। आहाहा!

निश्चय से समस्त परिग्रह का परित्याग जिसका लक्षण है... वास्तव में तो यह सब परिग्रह है। आहा! यहाँ तो जहाँ अरब, दो अरब, पाँच अरब रुपये हो जाएँ, (वहाँ)

सिर घूम जाता है। गाँव-गाँव कारखाने, गाँव-गाँव दुकानें। सैकड़ों गाँवों में कारखाने और सैकड़ों गाँवों में दुकानें। जहाँ जाए वहाँ लोग मान दें। पधारो, सेठसाहेब, पधारो सेठसाहेब... आहाहा! उसका भी जिसे अन्दर अभिमान है, उसे आत्मा हाथ नहीं आता।

मुमुक्षु : पैसा हो और पैसेवाला ऐसा माने कि मैं पैसेवाला हूँ, इसमें अभिमान कहाँ आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अभिमान है। वह पैसेवाला कहाँ था? पैसेवाला है या आत्मावाला है? ज्ञानवाला है, दर्शनवाला है, आनन्दवाला है। पैसेवाला है? दुनिया से उल्टा है, भाई!

शास्त्र के क्षयोपशमज्ञान के भी विकास का अभिमान, वह उसे वहाँ रोक रखता है... आहाहा! पाँच-पच्चीस करोड़ श्लोक आये और कण्ठस्थ किये, अर्थात् क्या? अभव्य को भी नौ पूर्व भी आया था, ग्यारह अंग आये थे। भव्य को भी ग्यारह अंग और नौ पूर्व अनन्त बार आ गये। परलक्षी ज्ञान से यह स्वलक्षी ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! आत्मा को नितार दिया है। सबसे रहित है। ऐसे भाव की जिसमें गन्ध नहीं, ऐसे भाव का जिसे मान है, उसे वह आत्मा अनुभव में नहीं आता। आहाहा! पाँच-पच्चीस लाख, पचास लाख खर्च किये तो उसे मानो... ओहोहो! दुनिया उसे धर्मधुरन्धर कहती है और वह (स्वयं) भी मानता है।

धर्म तो आनन्द है। अन्दर आनन्द की वृद्धि हो और अन्दर आनन्द का उछाला मारे। वह इन सब वासना के अभाव में होता है। ऐसी वासना हो, उसे अन्दर में आनन्द का उछाला मारे—(ऐसा नहीं होता)। एक म्यान में दोनों नहीं रह सकते। आहाहा! यह आलोचना की अन्तिम गाथा है। आलोचना। आत्मा को देखना। आहाहा! उसे यह कहते हैं कि ऐसे भाव होते नहीं।

परित्याग जिसका लक्षण (स्वरूप) है, ऐसे निरंजन निज परमात्मतत्त्व के परिग्रह से... दोनों परिग्रह लिया। इस ओर जितने प्रकार कहे, उस परिग्रह का त्याग है। इस ओर के आत्मा में परिग्रह का ग्रहण है। आहाहा! एक ओर राम तथा एक ओर गाँव। अभिमान के बहुत प्रकार यह गाँव और एक ओर प्रभु। आहाहा!

ऐसे निरंजन निज परमात्मतत्त्व के परिग्रह से अन्य परमाणुमात्र... आहाहा! **निज परमात्मतत्त्व के परिग्रह से अन्य परमाणुमात्र द्रव्य का स्वीकार...** एक रजकण भी मेरा है, ऐसा स्वीकार। आहाहा! एक लोभ के कण का **स्वीकार, वह लोभ है...** आहाहा! **इन चारों भावों से...** आ गया। क्रोध, मान, माया और लोभ। **चारों भावों से परिमुक्त (-रहित) शुद्धभाव...** ऐसे चार—क्रोध, मान, माया और लोभ। एक राग के रजकण (कण) का भी यदि अभिमान (है तो) वह लोभ है। आहाहा! ऐसे परिग्रह से रहित। है न? और **निज परमात्मतत्त्व के परिग्रह से अन्य परमाणुमात्र द्रव्य का स्वीकार, वह लोभ है।** आहाहा! एक ओर भगवान पूर्णानन्द का स्वीकार तथा एक ओर इस ओर में लोभ के एक अंश का भी स्वीकार, उसे आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। यह आलोचना है, जीव को देखने का स्वभाव ऐसा है। जीव को देखने का ऐसा स्वभाव है कि यह जो सब परिग्रह के प्रकार कहे, उनसे रहित है।

उसका अपना स्वभाव, परमात्मतत्त्व वह कौन? **निरंजन निज परमात्मतत्त्व...** परमेश्वर भगवान भी नहीं। पंच परमेष्ठी और भगवान भी नहीं। आहाहा! **निरंजन निज परमात्मतत्त्व...** अपने निरंजन तत्त्व के परिग्रह से **अन्य परमाणुमात्र द्रव्य का स्वीकार वह लोभ है।** आहाहा! **इन चारों भावों से परिमुक्त (-रहित)...** चारों भावों से रहित **शुद्धभाव, वही भावशुद्धि है...** यह जो अभिमान के प्रकार कहे, उन सब प्रकार से रहित है, वह शुद्धभाव **वही भावशुद्धि है...** आहाहा! वही शुद्धभाव और वही भावशुद्धि। चार प्रकार के जो क्रोध, मान, माया, लोभ की बात की, उनसे रहित शुद्धभाव, उनसे रहित शुद्धभाव, वही पर्याय की भावशुद्धि है, वह पर्याय में भावशुद्धि है। उस भाव से रहित और शुद्धचैतन्य के भाव की शुद्धि से सहित, ऐसी भावशुद्धि है।

ऐसा भव्य जीवों को... ऐसी बात भव्य जीवों को। अभव्यों को नहीं। आहाहा! **लोकालोकदर्शी,...** लोक और अलोक को देखनेवाले **परमवीतराग सुखामृत के पान से परितृप्त...** अमृत के स्वाद से पूरे तृप्त। भगवान तो अतीन्द्रिय आनन्द के सुख से परितृप्त, पूरे तृप्त, समस्त प्रकार से तृप्त हैं। परितृप्त है न? परि-समस्त प्रकार से पूरे तृप्त हैं, ऐसे **अरहन्त भगवन्तों ने कहा है।** मुनिराज कहते हैं कि मैं कुछ नहीं कहता। आहाहा! अमृत में पूर्ण तृप्त प्राप्त, पूर्ण अमृतस्वरूप के अतीन्द्रिय आनन्द में तृप्ति प्राप्त, ऐसे अरिहन्त भगवन्तों ने यह कहा है। आहाहा!

एक ओर भावशुद्धि का भाव शुद्धभाव तथा एक ओर यह अभाव, अशुद्धभाव, इससे तो प्रभु रहित है। ऐसा श्री भगवान अनन्त सुख से तृप्त हुए प्रभु ने कहा है। कहते समय तो भगवान नहीं थे—टीका करते समय भगवान नहीं थे परन्तु जिनके हृदय में भगवान भासित हुआ है, उसके हृदय में भगवान सदा भासित ही है। आहाहा! वह भगवान उसके हृदय में बसते ही हैं। ऐसे अरिहन्त भगवन्तों ने यह कहा है। आहाहा! भावशुद्धि से जो भावशुद्ध से भावशुद्धि होती है। भावशुद्ध से भावशुद्धि होती है। यह जो अशुद्ध भाव कहे, उनसे यह भावशुद्धि नहीं होती। आहाहा! कठिन काम।

एक ओर निर्मलानन्द प्रभु पूर्ण तथा एक ओर ये सब संसार के विलास की वृत्तियों की विस्मयता, चमत्कार, विशेषता, अधिकता स्वभाव से कुछ (अधिकता) भासित हो, उसे आत्मा का पता नहीं लगता, ऐसा भगवान ने कहा है। आहाहा! उदय से मर गये हैं, उन्हें हाथ आता है, ऐसा है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! उदयभाव से, अशुद्धभाव से तो अशुद्धभाव उत्पन्न होता है। उसे मार डाला है, ऐसे भावशुद्धि से, शुद्धभाव से, वही भावशुद्धि होती है। आहाहा! शब्द थोड़े हैं, भाव बहुत हैं। एक ओर भगवान पूर्ण शुद्ध, उसे पूर्ण जो अशुद्धता का अंश है, किंचित् भी कहीं गर्व है, क्षयोपशमज्ञान की भी विकास की दूसरे की अपेक्षा मुझे अधिकता है, उसे भी वह भावशुद्धि नहीं है, इसलिए शुद्धभाव नहीं है। भावशुद्धि नहीं है, इसलिए शुद्धभाव नहीं है। आहाहा!

श्लोक-१७१

[अब इस परम-आलोचना अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नौ श्लोक कहते हैं:]

(मालिनी)

अथ जिनपति-मार्गालोचना-भेद-जालं,
परिहृतपरभावो भव्यलोकः समन्तात्।
तदखिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा,
स भवति परमश्री-कामिनी-कामरूपः ।।१७१।।

(हरिगीतिका)

जिनवर कथित आलोचना के भेद को जो जानते।
वे भव्यजन सब ओर से परभाव को परित्यागते॥
इन सभी को अवलोकते निजरूप को भी जानते।
वे परमश्रीमय कामिनी के कांतिमय वल्लभ बनें॥१७१॥

[श्लोकार्थः] जो भव्य लोक (भव्यजनसमूह) जिनपति के मार्ग में कहे हुए समस्त आलोचना के भेदजाल को देखकर तथा निज स्वरूप को जानकर सर्व ओर से परभाव को छोड़ता है, वह परमश्रीरूपी कामिनी का बल्लभ होता है (अर्थात् मुक्ति-सुन्दरी का पति होता है)॥१७१॥

श्लोक -१७१ पर प्रवचन

[अब इस परम-आलोचना अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नौ श्लोक कहते हैं:] लो, पहले में भी नौ (श्लोक) आये थे।

अथ जिनपति-मार्गालोचना-भेद-जालं,
परिहृतपरभावो भव्यलोकः समन्तात्।

तदखिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा,
स भवति परमश्री-कामिनी-कामरूपः ।।१७१।।

आहाहा! **[श्लोकार्थः] जो भव्य लोक (भव्यजनसमूह)...** एक वचन यह लिया। **भव्य लोक (भव्यजनसमूह)...** योग्य प्राणियों का समूह। आहाहा! **जिनपति के मार्ग में कहे हुए...** वीतराग के मार्ग में कहे हुए **समस्त आलोचना के भेदजाल को देखकर...** यह भी भेदजाल है, उसे जानकर। निजस्वरूप को जानकर, इस आलोचना की ओर से हट कर देखना। अकेले निजस्वरूप को अवलोकन कर। **सर्व ओर से परभाव को छोड़ता है,...** सर्व ओर से अकेला परमभाव, शुद्धभाव, परमस्वरूप, अमृतस्वरूप, अमृत का सागर, सर्व ओर से परभाव को छोड़ता है, वह निजस्वरूप को जानकर, ऐसा कहा है न? **निज स्वरूप को जानकर सर्व ओर से परभाव को छोड़ता है,...** आहाहा! सर्व ओर से निजस्वरूप को जानकर, सर्व ओर से परभाव को छोड़ता है। आहाहा!

वह परमश्रीरूपी कामिनी का बल्लभ होता है... वह परमश्री अर्थात् केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी। परमश्री—केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी, कामिनी। केवलज्ञानरूपी कामिनी का बल्लभ होता है। अर्थात् उसे केवलज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! सुन्दर लावण्य से सुन्दर स्त्री के लोचन को सुख उपजानेवाले की बजाय यह **परमश्रीरूपी कामिनी का बल्लभ होता है...** आहाहा! **(अर्थात् मुक्ति-सुन्दरी का पति होता है)** आहाहा! आत्मा के पवित्र स्वभाव के अतिरिक्त कोई भी अंश भाव के अभिमान से, अहंकार से, गर्व से, अधिकरूप से चार भाव में कोई भी भाव क्रोध, मान, माया, लोभ को अधिकपने जानने से स्वरूप का अधिकपना हाथ नहीं आता। आहाहा! **सर्व ओर से परभाव को छोड़ता है, वह परमश्रीरूपी कामिनी का बल्लभ होता है (अर्थात् मुक्ति-सुन्दरी का पति होता है)।** आहाहा!

श्लोक-१७२

(वसंततिलका)

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या,
निर्मुक्तिमार्गफलदायमिनामजस्रम् ।
शुद्धात्मतत्त्व-नियता-चरणानुरूपा,
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ।।१७२।।

(हरिगीतिका)

जो संयमीजन को सदा शिवमार्ग फल देती अहो।
शुद्धात्मा में नियत चर्या के सदा अनुरूप जो॥
ऐसी निरन्तर शुद्धनयमय जो अहो आलोचना।
मुझ संयमी को वास्तव में कामधेनु रूप हो॥१७२॥

[श्लोकार्थः] संयमियों को सदा मोक्षमार्ग का फल देनेवाली तथा शुद्ध आत्मतत्त्व में *नियत आचरण के अनुरूप ऐसी जो निरन्तर शुद्धनयात्मक आलोचना वह मुझे संयमी को वास्तव में कामधेनुरूप हो॥१७२॥

श्लोक -१७२ पर प्रवचन

१७२ (श्लोक)।

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या,
निर्मुक्तिमार्गफलदायमिनामजस्रम् ।
शुद्धात्मतत्त्व-नियता-चरणानुरूपा,
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ।।१७२।।

[श्लोकार्थः] आहाहा! **संयमियों को...** जिसे आत्मज्ञानसहित संयम प्रगट हुआ है। आहाहा! स्वरूप में जिसकी जमावट जमी है। आनन्द का नाथ ध्रुवस्वरूप भगवान,

* नियत=निश्चित; दृढ़; लीन; परायण। [आचरण शुद्ध आत्मतत्त्व के आश्रित होता है।]

जिसमें जिसकी लीनता / तल्लीनता हुई है, ऐसे **संयमियों को सदा मोक्षमार्ग का फल देनेवाली...** सदा मोक्षमार्ग का फल देनेवाली। आहाहा! **शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत आचरण के अनुरूप...** आहाहा! वरना तो आत्मा मोक्षमार्ग को और मोक्ष को प्राप्त करता है, यह भी पर्यायदृष्टि से कथन है। मोक्षमार्ग से मोक्ष, यहाँ यह न लेकर, मोक्षमार्ग का **सदा मोक्षमार्ग का फल देनेवाली तथा शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत आचरण...** ऐसा लिया। त्रिकाली नहीं लिया। त्रिकाली का आचरण जो है... आहाहा! पर्याय।

संयमियों को सदा मोक्षमार्ग का फल देनेवाली तथा शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत आचरण... दृढ़; लीन; परायण। [आचरण शुद्ध आत्मतत्त्व के आश्रित-लीन होता है।] यह मुनिपना, यह संयम। शुद्ध आत्मा जो पुण्य-पाप के विकल्प और चार कषाय से रहित है, ऐसा आत्मा, उसमें जो लीन है... आहाहा! वह संयमी मुनि है। वह **शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत आचरण के अनुरूप ऐसी जो निरन्तर शुद्धनयात्मक आलोचना...** पर्याय को शुद्धनय कहा। **शुद्धनयात्मक आलोचना वह मुझे—संयमी को वास्तव में कामधेनुरूप हो।** आहाहा! १४वीं गाथा में कहा है न? शुद्धनय कहो, आत्मा कहो, अनुभूति कहो। नहीं तो शुद्धनय तो त्रिकाल है। '**भुदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' भूतार्थ जो त्रिकाल है, वह शुद्धनय है परन्तु त्रिकाल के आश्रय से प्रगट हुई दशा को भी यहाँ शुद्धनय कहा जाता है। आहाहा!

नियत आचरण... दृढ़; लीन; परायण। [आचरण शुद्ध आत्मतत्त्व के आश्रित होता है।] आत्मा को अनुरूप ऐसी निरन्तर... आहाहा! निरन्तर—एक समय का अन्तर पड़े बिना। आहाहा! मुनियों को अन्दर निरन्तर संयम वर्तता है। वह आत्मा के अनुरूप आचरण है। रागादि का आचरण, वह प्रतिकूल है। यह अनुरूप आचरण **अनुरूप ऐसी जो निरन्तर शुद्धनयात्मक आलोचना...** शुद्धनयस्वरूप आलोचना—पर्याय, वह... मुनिराज कहते हैं। आहाहा! **वह मुझे संयमी को वास्तव में कामधेनुरूप हो।** जब चाहिए तब कामधेनु गाय दूध देती है। इसी प्रकार निरन्तर मेरे आत्मा की ओर झुकाव है तो चाहिए तब आनन्द आता है। आनन्द का अन्तराल नहीं पड़ता। आहाहा! कामधेनु गाय चाहिए तब दूध देती है। तुम्हारे वढवाण में थी न? चुन्नीभाई दादभा। आहाहा!

यह कामधेनु आत्मा। आत्मा से भी आलोचनावाली शुद्धनय। **शुद्धनयात्मक**

आलोचना वह मुझे... आहाहा! पंचम काल के साधु ९०० वर्ष पहले हो गये हैं, वे स्वयं कहते हैं। आहाहा! अपने को खबर पड़ती है। अभी ऐसा कहते हैं कि निश्चय समकित की खबर नहीं पड़ती, इसलिए व्यवहार समकित रखो। अभी ऐसा कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि ऐसी **आलोचना वह मुझे संयमी को वास्तव में कामधेनुरूप...** है। समय-समय में आनन्द की प्राप्ति। कामधेनु गाय प्रत्येक समय दूध देती है, वैसे भगवान आत्मा प्रत्येक समय में आनन्द देता है। आहाहा! उसकी ओर के झुकाव के तदनुरूप आचरण से, आत्मा को अनुकूल-अनुरूप आचरण से समय-समय में मुझे संयमी को आनन्द मिलता है। आहाहा! वह कामधेनुरूप हो। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१७३

(शालिनी)

शुद्धं तत्त्वं बुद्ध-लोक-त्रयं यद्,
बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षुः।
तत्सिद्ध्यर्थं शुद्ध-शीलं चरित्वा
सिद्धिं यायात् सिद्धिसीमन्तिनीशः ।।१७३।।

(हरिगीतिका)

त्रय लोक जाननहार ऐसे निर्विकल्प निजात्म को।
उस तत्त्व को मोक्षार्थि जन हैं भली भाँति जानते॥
शुद्ध शीलाचरण करते हैं उसी की सिद्धि को।
प्राप्त करके सिद्धिरूपी कामिनी के पति बनें॥१७३॥

[श्लोकार्थः] मुमुक्षु जीव तीन लोक को जाननेवाले निर्विकल्प शुद्ध तत्त्व को भलीभाँति जानकर उसकी सिद्धि के हेतु शुद्ध शील का (चारित्र का) आचरण करके, सिद्धिरूपी स्त्री का स्वामी होता है—सिद्धि को प्राप्त करता है॥१७३॥

प्रवचन-१२९, श्लोक-१७३ से १७५, मंगलवार, ज्येष्ठ शुक्ल १०, दिनांक २०-०५-१९८०

नियमसार, आलोचना अधिकार १७३ श्लोक है।

शुद्धं तत्त्वं बुद्ध-लोक-त्रयं यद्,
बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षुः।
तत्सिद्ध्यर्थं शुद्ध-शीलं चरित्वा
सिद्धिं यायात् सिद्धिसीमन्तिनीशः।।१७३।।

[श्लोकार्थः] मुमुक्षु जीव... जिसे मोक्ष की अभिलाषा, अन्तरतत्त्व की जिसे अभिलाषा है, उसे यहाँ मुमुक्षु कहते हैं। **मुमुक्षु जीव तीन लोक को जाननेवाले निर्विकल्प शुद्ध तत्त्व को भलीभाँति जानकर...** वहाँ राजकोट में प्रश्न हुआ था। ऐसा कि भगवान को तीन लोक के नाथ कहा है।....वह तो नहीं। तीन लोक के नाथ कहा है, वह जानने की अपेक्षा से। यहाँ कहा न, **तीन लोक को जाननेवाले...** उन्हें तीन लोक का नाथ कहा जाता है। वे कहाँ किसी के...

तीन लोक को जाननेवाले... कौन? कि निर्विकल्प शुद्ध तत्त्व, निर्विकल्प शुद्ध तत्त्व भेदरहित अभेद तत्त्व अन्दर, उसे यहाँ निर्विकल्प तत्त्व कहते हैं। जिसमें भेद नहीं। यह गुण और यह गुणी, ऐसा भी जिसमें भेद नहीं। ऐसा जो अभेद तत्त्व, उसे जानकर। **तीन लोक को जाननेवाले निर्विकल्प शुद्ध तत्त्व को भलीभाँति जानकर...** ऐसा कहा। आहाहा! **उसकी सिद्धि के हेतु...** उसकी पूर्ण प्राप्ति के लिये **शुद्ध शील का (चारित्र का) आचरण करके,...** जानकर पहले कहा, पश्चात् आचरण कर कहा। जाने बिना किसका आचरण? शुद्ध आत्मा आनन्दस्वरूप, अनन्त गुण से भरपूर चैतन्य रत्नाकर देव है। उसे जानकर। उसे जानकर कब होगा? परसन्मुख के झुकाव को छोड़कर, राग को-संयोग को-भेद को छोड़कर अन्तर अभेद चीज़ है, उसे जानकर, उसका ज्ञान करके। पश्चात् चारित्र। शुद्ध शील वापस। चारित्र वह शुद्ध। पंच महाव्रतादि, वह नहीं। इससे यह शब्द लिया है। पंच महाव्रतादि नहीं। शुद्ध शील। आहाहा!

ज्ञानस्वरूपी भगवान, अत्यन्त अभेद शुद्ध का ज्ञान करके उसमें रमना, चरना, इसका नाम शुद्धचारित्र है। शुद्ध शील। शील अर्थात् चारित्र। ऐसे **शुद्ध शील का (चारित्र**

का) आचरण करके, सिद्धिरूपी स्त्री का स्वामी होता है... आहाहा! मुक्तिरूपी पूर्ण दशा का वह स्वामी होता है, ऐसा कहते हैं। मुक्तिरूपी पूर्ण दशा उस शुद्ध तत्त्व को जानकर उसमें शील अर्थात् आचरण करके मुक्तिरूपी परिणति को प्राप्त होते हैं। इसलिए उसे स्त्री का स्वामी कहा है। **सिद्धि को प्राप्त करता है।** कहा न? **सिद्धिरूपी स्त्री का स्वामी होता है...** अर्थात् क्या? **सिद्धि को प्राप्त करता है।** आहा! तत्त्व की भी बात की, उपाय की भी कही और उपेय की भी कही। एक श्लोक में तीनों आ गये। अन्दर शुद्ध अभेद चैतन्य, वह तत्त्व; उसे जानकर, यह सम्यग्ज्ञान। जानकर माना, वह सम्यग्दर्शन और उसमें शुद्ध शील, स्वरूप में आचरण अन्दर चारित्र। आहाहा! चारित्र अर्थात् मोक्ष का मार्ग। ज्ञान-दर्शन-चारित्र, ये तीन मोक्ष का मार्ग। आहाहा!

सिद्धिरूपी स्त्री का स्वामी होता है—सिद्धि को प्राप्त करता है। एक श्लोक में तो बहुत अधिक आ गया। बाह्य क्रियाकाण्ड से तथा बाह्य शास्त्र के अकेले ज्ञान से वह प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। वस्तु है, पूर्ण ज्ञान और आनन्द से भरपूर तत्त्व है। उसे प्राप्त करने के लिये तो उसकी सन्मुखता और संयोग राग और पर्याय की विमुखता (होनी चाहिए)। द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता। संयोग—देव-गुरु-शास्त्र संयोग में भले हो। आहाहा! उनसे भी रहित। उनके प्रति राग है, उससे भी रहित और राग में, पर्याय में जो ज्ञान होता है, उस पर्याय से भी रहित। आहाहा! त्रिकाली जो शुद्ध तत्त्व है, उसे जानकर-मानकर आचरण, यह सिद्धि का कारण है। यह मुक्ति का कारण है। आहाहा! १७३ श्लोक (पूरा) हुआ।

श्लोक-१७४

(स्रग्धरा)

सानन्दं तत्त्वमज्जज्जिनमुनिहृदयाम्भोजकिञ्जल्कमध्ये,
निर्व्याबाधं विशुद्धं स्मरशरगहनानीकदावाग्निरूपम्।
शुद्धज्ञान-प्रदीप-प्रहत-यमिमनोगेह-घोरान्धकारं,
तद्वन्दे साधुवन्द्यं जननजलनिधौ लङ्घने यानपात्रम्।।१७४।।

(वीरछन्द)

तत्त्व मग्न जिनमुनि के हृदय कमल की केसर में सानन्द।
सदा विराजित है, जो बाधा रहित, विशुद्ध सदा चिद्घन॥
कामदेव शर सेना को जो दावानल-सम भस्म करे।
शुद्धज्ञान दीपक द्वारा मुनि-मन-गृह-तम का नाश करे॥
भवसागर से पार गमन को जो है सुन्दर नौका-सम।
साधुजनों से वन्दनीय उस शुद्धतत्त्व को करूँ नमन॥१७४॥

[श्लोकार्थः] तत्त्व में मग्न ऐसे जिनमुनि के हृदयकमल की केसर में जो आनन्द सहित विराजमान है, जो बाधारहित है, जो विशुद्ध है, जो कामदेव के बाणों की गहन (-दुर्भेद्य) सेना को जला देने के लिए दावानल समान है और जिसने शुद्धज्ञानरूप दीपक द्वारा मुनियों के मनोगृह के घोर अन्धकार का नाश किया है, उसे—साधुओं द्वारा वन्द्य तथा जन्मार्णव को लाँघ जाने में नौकारूप उस शुद्ध तत्त्व को—मैं वन्दन करता हूँ॥१७४॥

श्लोक -१७४ पर प्रवचन

सानन्दं तत्त्वमज्जज्जिनमुनिहृदयाम्भोजकिञ्जल्कमध्ये,
निर्व्याबाधं विशुद्धं स्मरशरगहनानीकदावाग्निरूपम्।
शुद्धज्ञान-प्रदीप-प्रहत-यमिमनोगेह-घोरान्धकारं,
तद्वन्दे साधुवन्द्यं जननजलनिधौ लङ्घने यानपात्रम्॥१७४॥

[श्लोकार्थः] तत्त्व में मग्न ऐसे जिनमुनि के हृदयकमल की केसर में जो आनन्द सहित विराजमान है,... आहाहा! अकेला मक्खन है। अन्दर में—तत्त्व में जो मग्न है। चैतन्यतत्त्व, ध्रुव अनन्त गुण से एकरूप, ऐसे तत्त्व में जो मग्न है। ऐसे **जिनमुनि के हृदयकमल की केसर में जो आनन्द सहित विराजमान है,...** केसर जैसे फूल में होती है, उसी प्रकार यह प्रगट आनन्द की दशा सहित विराजते हैं। आहाहा! **तत्त्व में मग्न ऐसे जिनमुनि...** यह कहीं मुनि क्रिया करे, महाव्रत पाले, वह नहीं। यह तो **तत्त्व में मग्न...** आहाहा! **ऐसे जिनमुनि के हृदयकमल की केसर में जो आनन्द सहित विराजमान है,...**

आहाहा! जैसे कमल में केसर बाहर आवे; उसी प्रकार इस हृदय में भगवान आत्मा आनन्दसहित बाहर आता है। उसकी दृष्टि करने पर, उसका आदर करने पर अतीन्द्रिय आनन्द के केसरसहित बाहर आता है। शक्तिरूप रहता है, ऐसा नहीं। आहाहा! तत्त्व में अन्तर एकाग्र होने पर अन्तर के आनन्द का, जैसे कमल में केसर होती है, वैसे आत्मा में आनन्दसहित वह आत्मा बाहर आता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। सबकी बात एक है। चाबी एक है, चाबी। लड़का बोला था। सिद्धप्रकाश है न! सबकी चाबी एक है, ऐसा बोला था। आत्मा की एक ही चाबी है कि अन्दर त्रिकाल स्वभाव की ओर जाना।

अन्दर आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा... आहाहा! केसर बाहर आती है न? कमल में शक्तिरूप नहीं रहता, केसर बाहर आती है। आहाहा! उसी प्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की शक्ति से भरपूर, उसे जानकर **हृदयकमल की केसर में...** हृदयकमल में उस आनन्द का स्फुरण होता है। **जो आनन्द सहित विराजमान है,...** आहाहा! परन्तु किसे? कहते हैं। तत्त्व में मग्न ऐसे को। तत्त्व जो आत्मा भगवानस्वरूप... आहाहा! कैसे जँचे? अभी भगवान! भगवान तो कब होगा? आहाहा! भगवान ही है। यदि भगवान न हो तो भगवानपना आयेगा कहाँ से? कहीं बाहर से आवे, ऐसा है?

भगवानस्वरूप आत्मा ऐसे तत्त्व में जो मग्न है - ऐसा कहा। **ऐसे जिनमुनि के हृदयकमल की केसर में जो आनन्द सहित विराजमान है,...** वह जीव लिया है। आलोचना में। आलोचना अर्थात् जीव को देखनेवाला और जीव में मग्न, वह आलोचना है। आलोचना अधिकार है न? आहाहा! वह तत्त्व जो है, उसे देखता है, उसे जानता है, उसमें मग्न है, उसे आनन्दसहित आत्मा विराजता है। प्रगट आनन्दसहित विराजता है। आहाहा! **जो बाधारहित है,...** जिसे कोई विघ्न नहीं है। ऐसा उस आत्मा का स्वरूप है, जो तत्त्व में मग्न है, कि जिसे कोई बाधा नहीं है। कोई विघ्न है ही नहीं कि कर्म का कठोर उदय आयेगा तो ऐसा होगा और वैसा होगा। तत्त्व में मग्न पुरुषार्थी को किसी प्रकार का विघ्न अन्तर में नहीं आता। आहाहा! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म! अभी तो सब क्रियाकाण्ड में उतार डाला। दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो। उसमें भक्ति... आहाहा!

तत्त्व जो अन्दर है और कहते हैं कि जो तत्त्व में मग्न है। **ऐसे जिनमुनि के हृदयकमल की...** आहाहा! कमल में जैसे केसर (होती है), वैसे आनन्दसहित विराजमान

है। आहाहा! परन्तु जो तत्त्व में मग्न है, उसे आनन्दसहित विराजमान है। वैसे तो आत्मा आनन्दसहित त्रिकाल है, परन्तु अन्दर में मग्न (हुए) बिना पर्याय में आनन्द नहीं आता। आहाहा! ऐसा उपदेश। साधन क्या होगा? यह साधन। तत्त्व को जानना, मानना और स्थिर होना, यह उसका साधन है। मुक्ति का यह साधन है। आहाहा!

जो बाधारहित है, जो विशुद्ध है,... जो विशुद्ध है। विशुद्ध अर्थ में तो शुभभाव में भी आता है और शुद्ध में भी ऐसा अर्थ आता है। यहाँ शुद्ध के अर्थ में विशुद्ध है। विशुद्ध है - अकेला निर्मल शुद्ध है। **जो कामदेव के बाणों की गहन (-दुर्भेद्य) सेना को जला देने के लिए...** आहाहा! कैसा है भगवान आत्मा? कि जो बाह्य की सुन्दरता देखकर, पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों में ऐसी सुन्दरता, शरीर की सुन्दरता को देखकर जो काम उत्पन्न होता है, ऐसे कामबाण को तो नाश कर डाले, ऐसा है। आहाहा! **कामदेव...** ले, अब उसे देव कहा। **कामदेव के बाणों...** आहाहा! कुछ रूपवान शरीर देखे, रूपवान कोई चीज़ देखे, अन्दर में चोट लग जाए। यह ठीक है, वहाँ रुक जाए, यह कामदेव का बाण है। आहाहा! पाँचों इन्द्रिय की ओर की अनुकूल चीज़ को देखकर, उसमें राग की उत्पत्ति करके अन्दर रुक जाना, वह कामदेव का बाण है। उसे यह नष्ट कर डालता है।

कामदेव के बाणों की गहन (-दुर्भेद्य) सेना... अर्थात् कि... आहाहा! आँख से देखना, कान से सुनना इत्यादि पाँच इन्द्रियों की अन्दर बहुत ही प्रीति और प्रेम उत्पन्न हो, वह उसे दुर्भेद्य है। आहाहा! उसका नाश करना। दुर्भेद्य ऐसी सेना। आहाहा! जवान शरीर हो, इन्द्रियाँ पुष्ट हों, आहार और पैसा-साधन हो (तो) अन्दर से फट निकले, (अभिमान में आ जाए) मानो बस, हम यह हैं, हम सुखी हैं। आहाहा! ऐसे पाँच इन्द्रिय के बाण जो हैं, उन्हें वह बाण कैसे हैं? दुर्भेद्य। नाश करना कठिन है। आहाहा! उन्हें भेद करना (कठिन है)। आहाहा! अपनी कीर्ति सुने, इज्जत सुने, वहाँ अन्दर में इसे गलगलिया होता है। आहाहा! उसकी जहाँ महिमा सुने, यह सब काम के बाण हैं। दुर्भेद्य है। उनका भेद-नाश करना मुश्किल है, दुष्कर है।

तथापि उसकी **सेना को जला देने के लिए...** आहाहा! तत्त्व ऐसा है। भगवान चैतन्यतत्त्व अतीन्द्रिय आनन्द का तत्त्व (ऐसा है) कि काम की सेना जो दुर्भेद्य है, उसे भी जला डालने को समर्थ है। **जला देने के लिए दावानल समान है...** साधारण अग्नि

नहीं। आहाहा! जैसे जंगल में दावानल हो और बड़े-बड़े वृक्षों को जला डाले। सूखे और हरे... आहाहा! दावानल हरे और सूखे को जलाकर राख कर डालता है; उसी प्रकार आत्मा का-तत्त्व का मग्नपना अन्दर... आहाहा! **दावानल समान है...** आहाहा! काम की सेना दुर्भेद्य होने पर भी उसे जला डालने में समर्थ है। आहाहा! यह आलोचना... यह आलोचना। मुख से गुरु को कहना कि मुझे ऐसा हुआ, वैसा हुआ, वह सब विकल्प की आलोचना है। यह तो निर्विकल्प आलोचना है। आहाहा!

और जिसने शुद्धज्ञानरूप दीपक द्वारा... आहाहा! शुद्ध सम्यग्ज्ञान द्वारा, चैतन्य प्रकाश द्वारा अन्दर के तत्त्व को पकड़ने से उसका-चैतन्य का प्रकाश प्रगट हुआ। उस चैतन्य के प्रकाश द्वारा, **दीपक द्वारा मुनियों के मनोगृह के घोर अन्धकार का नाश किया है,....** आहाहा! जो भगवान चैतन्य अन्दर है, उसका जिसने आदर किया, उसे चैतन्य के प्रकाश द्वारा, मुनियों के हृदय में जो अन्धकार है, उसका उसने नाश किया। घोर अन्धकार का नाश किया। आहाहा!

मुमुक्षु : मुनियों के मनोगृह में...

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले दुर्भेद्य कहा था। कहते हैं कि परन्तु है घोर। आहाहा! घोर अन्धकार। मोहरूपी घोर अन्धकार। वह चैतन्य के तत्त्व के अवलम्बन से दावानल समान चैतन्य भगवान काम की सेना को जलाने में समर्थ है। आहाहा! इन्द्र की इन्द्राणी आकर भी यदि डिगाने आवे तो कहते हैं कि आत्मा समर्थ है। उस कामबाण की सेना के लिये दावानल समान है। आहाहा! वह कैसा? घोर दावानल। आहाहा!

घोर अन्धकार का नाश किया है,... आहाहा! **उसे—साधुओं द्वारा वन्द्य...** आहाहा! ऐसा तत्त्व है, वह सन्तों द्वारा वन्दनीय है, साधुओं द्वारा आदरणीय है। आहाहा! **साधुओं द्वारा वन्द्य तथा जन्मार्णव को लाँघ जाने में...** आहाहा! जन्मरूपी अर्णव अर्थात् समुद्र, उसे **लाँघ जाने में...** शुद्ध तत्त्व का आश्रय उस **जन्मार्णव को लाँघ जाने में नौकारूप...** जैसे समुद्र में नाव से तैरकर जाते हैं। नाव-नाव, नौका। आहाहा! **साधुओं द्वारा वन्द्य...** भावलिंगी साधु। जिन्हें भाव आनन्द का लिंग / चिह्न प्रगट हुआ है। आहाहा! वह जिनकी केसर है। जैसे कमल में केसर (होती है वैसे)। वह दुर्भेद्य कामबाण होने पर भी, सन्तों को वन्दनीय है और जन्मार्णव को लांघ जाने पर... आहाहा! जन्मरूपी समुद्र, जन्म-

मरण... जन्म-मरण... जन्म-मरण... एक जन्म हो वहाँ मरे, वहाँ दूसरा जन्म, दूसरा मरे वहाँ तीसरा जन्म। ऐसे अनन्त-अनन्त मरण। यह पाँच-पच्चीस-पचास वर्ष स्थिति की अवधि कितनी? सौ वर्ष की लो न! अवधि कितनी अनन्त काल के सामने? ऐसे सौ-सौ वर्ष की जिन्दगी। जन्मरूपी अर्णव संसार... आहाहा! **लाँघ जाने में नौकारूप...** है। पानी का बड़ा समुद्र भरा हो, उसमें नाव होवे तो नाव से उसे तिर सकते हैं। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा अपने स्वरूप में लीन होकर और मोहन्धकार का नाश कर सकता है। आहाहा! इसमें बाहर का क्या करना कुछ आता नहीं। यह क्रिया करना या... आहाहा!

जड़ की क्रिया तो आत्मा कर नहीं सकता। अन्दर अशुद्ध परिणाम के रागादि आते हैं, वह तो दुःख और आकुलता है। उन्हें तो छेदने के लिये यह आलोचना अर्थात् जीव को देखना, अन्दर देखना कि यह है कौन परन्तु? आहाहा! मुनि के हृदयकमल में... आहाहा! **मनोगृह के घोर अन्धकार का नाश किया है, उसे—साधुओं द्वारा वन्द्य तथा जन्मार्णव को लाँघ जाने में...** आहाहा! संसार के भव करने के परिणाम से लाँघ गया है। जिस भाव से भव मिले, उस भाव से उल्लंघ गया है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

मुनिराज पंचम काल के मुनि हैं। पंचम काल के श्रोता को कहते हैं या चौथे काल के हैं? आहाहा! प्रभु! तुझमें तैयारी इतनी है... आहाहा! उसके सन्मुख देख और उसमें स्थिर हो। आहाहा! मनोगृह का, मोह के अन्धकार का नाश हो जाए ऐसा है। मोह रहे नहीं। एक अंश भी मोह का नहीं रहे। जैसे समुद्र में नौका से तिरा जा सकता है, वैसे प्रभु के आश्रय से मोह के अन्धकार को तिरा जा सकता है। आहाहा!

उस शुद्ध तत्त्व को... मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं। ऐसे **तत्त्व को—मैं वन्दन करता हूँ।** पाँच परमेष्ठी को वन्दन करता हूँ, यह बात नहीं ली। आहाहा! क्योंकि वह तो विकल्प है। आहाहा! ऐसे तत्त्व को... आहाहा! **उस शुद्ध तत्त्व को...** जिस तत्त्व में मोह का नाश करने की सामर्थ्य है। दुर्भेद्य होने पर भी जिसे भेद डाले, ऐसी सामर्थ्य है। रागादि भेद करना, नाश करना दुर्भेद्य है। उसे जला डालने को समर्थ है, ऐसा जो तत्त्व। ऐसे तत्त्व को मैं वन्दन करता हूँ। उसे मैं वन्दन करता हूँ, ऐसी भाषा है। यह आलोचना। आहाहा! यह अगम्य-गम्य की बातें हैं। अलक-मलक की नहीं। आहाहा! अगम्य - जो अनादि से गम्य हुआ नहीं, उसे गम्य करने का यह अधिकार है। आहाहा! एक-एक श्लोक बहुत

तत्त्व से भरपूर है। आहाहा! ऐसे **उस शुद्ध तत्त्व को...** अर्थात् जो साधु द्वारा वन्द्य है, जन्मार्णव को लाँघ जाने में नौकारूप है, जो मुनियों के मनोगृह के घोर अन्धकार को नाश करने में समर्थ है, ऐसा जो शुद्ध तत्त्व है, उसे मैं वन्दन करता हूँ। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

मुमुक्षु : आत्मा तो अकर्ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता है और अकर्ता है, दोनों है। राग का अकर्ता है और स्वरूप की पर्याय का कर्ता है तथा एक न्याय से तो शुद्धपर्याय का भी कर्ता नहीं। पर्याय, पर्याय से होती है। यहाँ एक साथ अभेद करके समझाना है न? ऐसा कर डाले कि आत्मा पर्याय को छेद डालता है। छेद डालता है, वह तो राग के लिये है। निर्मल पर्याय को छेदता है? निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उसका आश्रय तत्त्व है। धर्म की निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उसका आश्रय स्वतन्त्र पर्याय कर्ता हुई और ध्रुव का आश्रय लेती है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! इसलिए पर्याय भी स्वतन्त्र है। जो निर्मल पर्याय है, वह स्वतन्त्र है। वह पर्याय पर्याय को वांदे है। पर्याय ध्रुव को वांदे छे। वांदे छे तो दोनों को। समझ में आया? आहाहा! दोनों का आदर है। ध्रुव का आदर है और ध्रुव के आदर से प्रगट हुई दशा का भी आदर है। आहाहा! ऐसी बात आती है, वहाँ लोगों को (ऐसा लगता है कि) अकेली निश्चय की बात है, वहाँ तो निश्चय की बातें करते हैं। परन्तु बापू! निश्चय अर्थात् सत्य। निश्चय अर्थात् सच्चा। व्यवहार अर्थात् आरोपित। आहाहा! ऐसे सत् को प्रभु! तूने सुना नहीं।

अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है। अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय शान्ति और अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर है। उसे शरीरप्रमाण देखने पर इसे ऐसा लगता है कि इतना बड़ा यहाँ होगा? भले अवगाहन शरीरप्रमाण हो, तथापि उसका स्वभाव है, वह तो अपार है। अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान। अनन्त अर्थात् जिसमें अन्त नहीं। इतना ज्ञान, दर्शन और शान्ति भरी है। शान्ति... शान्ति... शान्ति... का आश्रय लेनेवाले को शान्ति प्राप्त हो, ऐसा है; बाकी शान्ति कहीं से मिले, ऐसी नहीं है। आहाहा! वहाँ प्रश्न बहुत हुए हैं। ऐसा कि यह शुभभाव करते हैं, उसमें जरा शान्ति लगती है न? चन्दुभाई प्रश्न करते थे, बहुत करते थे। शुभभाव में जरा शान्ति लगती है अर्थात् क्या? शान्ति नहीं और लगती है, यह कहाँ से आया? शुभभाव तो अशान्ति है, शुभभाव तो आकुलता है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दुर्भेद्य तो कहा। हो सकनेयोग्य है। कठिन परन्तु अशक्य नहीं। हो सकता नहीं, ऐसा कठिन नहीं। अभी आगे कहेंगे। यह सरल है, ऐसा कहेंगे। इसमें है न? १७६, १७६। **निरन्तर सुलभ है...** १७६ कलश। आहाहा! है? १७६ कलश की दूसरी लाईन। उसकी शुरुआत में **जो निरन्तर सुलभ है...** भगवान। आहाहा! श्रीमद् में भी आता है। सत्, सत् है; सरल है, सर्वत्र है। यह बतलानेवाले चाहिए, इतना (विशेष कहा)। आहाहा! यहाँ तो कहा कि सत् निरन्तर सुलभ है। ऐसा नहीं कहा कि वह प्राप्त नहीं होता। आहाहा! स्वयं ही इसने महँगा है, ऐसा मानकर अन्दर में पुरुषार्थ नहीं कर सकता। नहीं तो जो निरन्तर सुलभ है। आहाहा!

मुमुक्षु : बोधिदुर्लभ भावना क्यों कही?

पूज्य गुरुदेवश्री : बोधिदुर्लभ भावना अपेक्षा से है। यह तो पहले कहा, दुर्भेद्य है। किसलिए? भेदना दुर्लभ है, परन्तु हो सकता है। हो सके, ऐसा वह तत्त्व है। तत्त्व के सन्मुख देखने पर वह कोई रह सके, उससे विरुद्ध भाव कोई रह सके, यह ताकत नहीं है, ऐसा वह तत्त्व है। जिसके तत्त्व के प्रकाश के आदर और स्वभाव के सत्कार के समक्ष, उससे विरुद्ध का भाव खड़ा नहीं रह सकता, ऐसा वह तत्त्व है। विश्वास आना चाहिए न! आहाहा!

यहाँ तो सन्त बात करते हैं, वह अपनी है, वह बात दूसरे को करते हैं। भाई! यह हो सकता है। यह तू लाख करके (पर को) अपना मानना चाहे तो अनन्त काल हुआ तो नहीं होगा और राग का कण भी मेरा मानना चाहेगा तो अनन्त काल हुआ तो भी नहीं होगा। समझ में आया? दया, दान का विकल्प उठता है, उसे अपना करना चाहेगा तो तीन काल में नहीं होगा। आहाहा! परन्तु यह हो सकेगा, इसलिए सुलभ कहा है। आहाहा! कहो, चेतनजी! सुलभ कहा है, वह किस प्रकार? अनन्त काल हुआ, प्रभु! राग के कण को मेरा मानने में प्रयत्न कर रहा है परन्तु कभी राग का कण इसका होगा नहीं। राग और आत्मा के बीच तो सन्धि है। आहाहा! वह सन्धि कभी तोड़कर राग एकत्व नहीं होता परन्तु राग को तोड़कर भगवान आत्मा पूर्णानन्द को प्राप्त कर सके, ऐसा वह निरन्तर सुलभ है। आहाहा! अरे रे! बात सुनी कहाँ है? इसके घर के अन्दर में घर में क्या भरा है? ताला लगाया है। दया, दान इत्यादि राग और राग के फल देखकर हर्षित हो गया है और आत्मा के अन्तरस्वभाव को ताला लगाया है। आहाहा! यह फिर १७६ में आयेगा। **निरन्तर सुलभ है...** आहाहा!

श्लोक-१७५

(हरिणी)

अभिनवमिदं पापं याया: समग्रधियोऽपि ये,
विदधति परं ब्रूम: किं ते तपस्विन एव हि।
हृदि विलसितं शुद्धं ज्ञानं च पिण्ड-मनुत्तमं,
पदमिदमहो ज्ञात्वा भूयोऽपि यान्ति सरागताम्।।१७५।।

(वीरछन्द)

बुद्धिमान हैं फिर भी 'अभिनव पाप करो' दें यह उपदेश।
क्या वे तपसी हैं ? हम पूछें, अरे हमें है अतिशय खेद॥
उर में विलसित शुद्धज्ञानमय सर्वोत्तम इस पद को जान।
पुनः सरागी होते हैं वे भव भव में दुःख सहें महान॥१७५॥

[श्लोकार्थः] हम पूछते हैं कि—जो समग्र बुद्धिमान होने पर भी दूसरे को 'यह नवीन पाप कर' ऐसा उपदेश देते हैं, वे क्या वास्तव में तपस्वी हैं ? अहो! खेद है कि वे हृदय में विलसित शुद्धज्ञानरूप और सर्वोत्तम *पिण्डरूप इस पद को जानकर पुनः भी सरागता को प्राप्त होते हैं॥१७५॥

श्लोक -१७५ पर प्रवचन

अब, १७५।

अभिनवमिदं पापं याया: समग्रधियोऽपि ये,
विदधति परं ब्रूम: किं ते तपस्विन एव हि।
हृदि विलसितं शुद्धं ज्ञानं च पिण्ड-मनुत्तमं,
पदमिदमहो ज्ञात्वा भूयोऽपि यान्ति सरागताम्।।१७५।।

* पिण्ड=(१) पदार्थ; (२) बल।

आहाहा! पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं, आचार्य नहीं।

[श्लोकार्थः] अरे! **हम पूछते हैं कि—जो समग्र बुद्धिमान होने पर भी...** बहुत जानपना धारा है, ऐसा होने पर भी, ऐसा कहते हैं। ग्यारह अंग पढ़ा, नौ पूर्व पढ़ा, बातें करना तो बहुत आयी। आहाहा! **जो समग्र बुद्धिमान होनेवाले...** बुद्धि में तो मानों ऐसी बातें करने बैठे जैसे... आहाहा! मानो चतुर का पुत्र उतरा। भगवान! **जो समग्र बुद्धिमान होने पर भी दूसरे को 'यह नवीन पाप कर' ऐसा उपदेश (कैसे) देते हैं,...** आहाहा! इस राग को कर, ऐसा कैसे उपदेश देते हैं वे? यह ऐसा कहते हैं। आहाहा! **हम पूछते हैं कि—जो...** बहुत बुद्धिवाले कहलाते हैं। ऐसा (होने) पर भी राग कर, पुण्य कर, उससे तुझे लाभ (होगा, ऐसा कहते हैं)। यह तुझे क्या है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! **जो समग्र बुद्धिमान होने पर भी दूसरे को 'यह नवीन पाप कर'...** आहाहा!

मुमुक्षु : नया पाप कर अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर अर्थात् इस राग को अपना मान, ऐसा कर। राग से लाभ होगा, ऐसा कर। यह तुझे क्या हुआ? ऐसा कहते हैं। चेतनजी! आहाहा! ऐसी बात है। प्रभु! तू पूर्णानन्द का नाथ है न! उसमें शुभराग भी पाप है। आकुलता है, वह कर, तुझे यह कहाँ से सूझा? तूने बहुत सुना और बहुत धारणा की है न? शास्त्र का समग्र बुद्धिवाला हुआ है न! आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा करके मशकरी की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मशकरी, उसे उड़ा दिया। तू धर्म में है ही नहीं, जा। नालायक है। जानपने की सब बड़ी-बड़ी बातें करना आता है और तत्त्व की दृष्टि का आदर नहीं। उसकी बात करते हैं, तब तुझे अन्दर लगती है यह तो सूक्ष्म है, यह तो दूसरी बात है परन्तु यह स्थूल बात तुझे सरल लगती है। हुआ क्या है? मिथ्यात्व की मदिरा पी है। ऐसी बात है। यह तो दिगम्बर सन्तों की बातें, बापू! आहाहा! कहीं है नहीं। दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं है नहीं। आहाहा! लोगों को कठिन लगता है परन्तु यह कठिन नहीं लगता।

मैं एक चैतन्यमूर्ति, तूने बहुत जानपना किया। यह जानपना किया तो भी... चैतन्य

का नहीं। जानपना किया सब धारणा का। तथा और नया पाप कर, जो आत्मा नहीं, ऐसे पुण्य, नया पाप कर... आहाहा! मुनि उछल गये हैं। आहाहा! भगवान वीतरागमूर्ति है न, प्रभु! तूने जानपना बहुत किया, तथापि तू वीतरागमूर्ति को न आदर करते हुए, जो आत्मा में नहीं है, ऐसे राग को नया कर, यह तुझे क्या हुआ? आहाहा!

ऐसा उपदेश देते हैं, वे क्या वास्तव में तपस्वी हैं? या मुनि हैं? राग जो स्वरूप में नहीं है, उसे नया कर। उसमें नहीं है, उसे नया कर, तो उससे तुझे लाभ होगा। पहले यह आवे और आवे तो इससे लाभ होगा, ऐसी बातें तू क्यों करने लगा है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐई! यह तो दूसरी बातें हैं, बापू! आहाहा! वे क्या वास्तव में मुनि हैं? जो व्यवहार के राग को आदरणीय मनाते हैं, ऐसे नये पाप कराते हैं, वे क्या मुनि हैं? आहाहा! ऐसी बात है। उसमें है या नहीं? आहाहा! प्रभु! तू अनादि सनातन शान्ति का सागर है, प्रभु! उसका तूने जानपना किया नहीं और बातें करने की बातों का जानपना किया। और उस जानपने में और तूने ऐसा ठहराया कि भाई! शुभ हुए बिना चलेगा नहीं। शुभ बिना तो अन्दर जाया नहीं जाएगा। सीधे जाते होंगे?

मुमुक्षु : वह आँगन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आँगन है। अरे! यह तुझे क्या हुआ? आहाहा! उसे उल्लंघ कर प्राप्त होता है, उससे नहीं होता। शुभभाव से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। लाख भक्ति करे और करोड़ों रुपये खर्च करके मन्दिर बनावे और व्रत छह-छह महीने के अपवास करे, उससे प्राप्ति नहीं होती। यह तुझे क्या हुआ? मुनि होकर यह नया पाप करने का तुझे कहाँ से सूझा? ऐसा कहते हैं। आहाहा! देखो न! ऐसा उपदेश देता है, ऐसा कहा न? आहाहा! व्यवहार राग का भाव (का) उपदेश देता है। राग से कल्याण होगा, तूने नयी बात निकाली, ऐसा उपदेश? शुभ करते-करते कल्याण होगा।

मुमुक्षु : इस काल में तो शुभ ही हो सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो और बेचारा... अरे रे! आहाहा! मुनि को इस काल में तो शुभयोग ही होता है, ऐसा कहते हैं श्रुतसागर हैं। शान्तिसागर के पथगामी। वे ऐसा कहते हैं। प्रभु... प्रभु... प्रभु! ऐसा तुझे कहाँ से सूझा, भाई! यह तूने जानपना सब किया। उन्हें

जानपना बहुत है। क्षयोपशम धर्मसागर की अपेक्षा उन्हें विशेष है। शान्तिसागर के पट्टाधीश आये हैं न? उनकी अपेक्षा इन्हें... पद नहीं आया, वे अलग पड़ गये। वांचन, (बहुत) परन्तु यह वांचन करके ऐसी बात स्थापित करना? अरे रे! कि अभी तो शुभयोग ही होगा। शुभपरिणाम। ऐसा उपदेश किया! अरे! प्रभु! क्या करता है? भाई! तू आत्मा है, प्रभु! इस शुभपरिणाम से तुझे लाभ होगा, ऐसा मानेगा तो मिथ्यात्व का दु:ख होगा और भगवान! तुझे दु:ख हो, यह कोई इच्छेगा?

सभी आत्माएँ भगवान हैं। सुखी होओ। आत्मा के अन्दर में जाकर सुखी होओ। दु:खी होओ, यह बात अन्दर नहीं होती। आहाहा! किसी के प्रति हल्का, बैर और विरुद्ध नहीं होता। किसी प्राणी के प्रति हल्का माने, ऐसा नहीं होता। जिसने स्वयं को पूर्ण माना है, वह दूसरे को हल्का कैसे कहे? आहाहा! प्रभु! तू बड़ा है, भाई! दूसरी बातें करके पाप से धर्म होगा, यह पुण्य भी वास्तव में पाप है। आहाहा! 'पाप पाप तो सब कहे परन्तु अनुभवी पुण्य को पाप कहे।' योगीन्द्रदेव के दोहे में आता है। आहाहा! वे यह कहना चाहते हैं, हों! यह तुझे नया कहाँ से सूझा? यह तो अनादि से प्राप्ति है। आहाहा!

जो समग्र बुद्धिमान... मानो सब जानपना करके, शास्त्र पढ़े... आहाहा! **दूसरे को 'यह नवीन पाप कर' ऐसा उपदेश देते हैं,...** आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य तो मन्दिर बनाने की बात में बात की। बोधपाहुड़ में छहकाय की दया की बातें की। क्योंकि उसमें जरा हिंसा है। मन्दिर बने, उसमें पानी, पृथ्वी यह ख्याल में लेकर बोध में डाला है। छहकाय की रक्षा कैसे हो, वह मैं बात करूँगा। आहाहा! उसमें जरा छहकाय का आता है न? आहाहा! मन्दिर बनाने में पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि, वनस्पति का वहाँ घात होता है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि बिल्कुल बाहर में जाना ही नहीं, ऐसी स्थिति बतानी है। यह बात छोड़ दे। अमुक करूँ, अमुक करूँ, यह छोड़ दे। आहाहा! यह तो छहकाय की रक्षा की बात ही की है। उसमें से कोई भी प्राणी-पृथ्वी, पानी को जरा भी पीड़ा हो, यह बात अब नहीं करूँ। बोधपाहुड़ में कहा। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि तू मुनि होकर... आहाहा! वे क्या वास्तव में मुनि हैं? जो कोई शुभराग और हिंसा आदि से धर्म मनाते हैं।

मुमुक्षु : धर्म न मनावे परन्तु आँगन मनावे तो बाधा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आँगन में कहाँ है? वह आँगन भी नहीं है। आँगन लाँघ जाए,

तब उसे आँगन कहा जाता है। तलहटी को लाँघ जाए और ऊपर जाए, तब नीचे को तलहटी कहा जाता है। यह पर्वत के ऊपर चढ़ते हैं न? वहीं के वहीं खड़ा हो उसे तलहटी कहा जाएगा? आहाहा! ऊपर चढ़े, तब नीचे तलहटी कहा जाता है। इसी प्रकार शुभ को छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो, तब शुभभाव था, उसका ज्ञान करे, परन्तु उससे मुझे लाभ होगा, ऐसा उपदेश तूने कहाँ से निकाला? ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! पद्मप्रभमलधारिदेव (कहते हैं कि) वे क्या वास्तव में मुनि हैं? आहाहा!

अहो! खेद है... आहाहा! **कि वे हृदय में विलसित शुद्धज्ञानरूप और सर्वोत्तम पिण्डरूप...** चैतन्यपिण्ड। **इस पद को जानकर पुनः भी सरागता को प्राप्त होते हैं।** देखा? आहाहा! भगवान (आत्मा) अन्दर **विलसित शुद्धज्ञानरूप और सर्वोत्तम पिण्डरूप...** चैतन्यपिण्ड, चैतन्यपदार्थ। चैतन्य दल पदार्थ अकेला दल ही जिसका चैतन्य का है। उसमें चैतन्य की शुद्धि प्रगट हो, ऐसा ही बल है। अशुद्धि को प्रगट करे, ऐसा उसमें बल है ही नहीं। वह तो पर्याय में अद्धर से करता है। उसके अनन्त गुण में कोई गुण ऐसा नहीं है कि विकार-शुभरूप हो। अनन्त गुण में से एक गुण ऐसा नहीं है कि शुभरूप हो। शुभ अद्धर पर्याय में से अध्धर से होता है। आहाहा! ऐसा है। साधारण लोगों ने कभी सुना न हो, उन्हें ऐसा लगता है कि यह क्या कहते हैं ऐसा यह? यह सब चलता है न अभी, सब मिथ्या? मिथ्या-सच्चे का निर्णय तू कर। बापू! तेरा नाथ अन्दर पड़ा है। आहाहा!

यह कहते हैं, देखो न? कैसा है? कि **हृदय में विलसित...** अन्दर में पड़ा है। **शुद्धज्ञानरूप और सर्वोत्तम पिण्ड...** सर्वोत्तम चैतन्यपिण्ड। **इस पद को जानकर...** आहाहा! **पुनः भी सरागता को प्राप्त होते हैं।** और राग से लाभ होगा, यह कहाँ से लगा तू? तू मुनि है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! मुनिराज मुनि को कहते हैं। भगवान! आहाहा! तूने बाहर का सब जानपना किया, परन्तु सर्वोत्कृष्ट प्रभु चिदपिण्ड आत्मा, और जो **हृदय में विलसित शुद्धज्ञानरूप...** उसमें जाने के लिये बात नहीं करता और शुभराग कर, ऐसी तू प्ररूपणा करता है, प्रभु! वह कहीं मुनिपना है? आहाहा!

मुमुक्षु : श्रावक के लिये तो शुभराग है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रावक भी नहीं। श्रावक है, वह तो शुभराग आता है, ऐसा जानता है कि यह हेय है, दुःख है। मेरी कमजोरी के कारण यह होता है, इतनी अपेक्षा से श्रावक

को धर्म कहा है न! धर्म का अर्थ यह कि मुझसे अभी वीतरागता नहीं होती, इसलिए अशुभ से बचने के लिये मैं शुभ में आता हूँ, इसलिए उसे श्रावक का धर्म कहा है। श्रावक की शैली में, उसकी रीति में, पद्धति में इतना होता है परन्तु मुनि को नहीं होता, तथापि उस श्रावक को भी राग से धर्म होता है, ऐसी मान्यता नहीं होती। आहाहा! वहाँ तो ऐसा है। आहार-पानी को सदोष करना... इत्यादि यह तो श्रावक का धर्म है, ऐसा कहा। इसका अर्थ उसकी भूमिका में आता है, इतनी बात है, दूसरा कुछ नहीं। आहाहा! यहाँ तो मुनि को कहते हैं कि प्रभु! तू कहाँ गया? तूने जानपना करके यह निकाला? आहाहा! शास्त्र पढ़कर तूने यह निकाला कि राग में धर्म होगा? राग से धर्म होगा? आहाहा!

मुमुक्षु : राग से धर्म होगा, ऐसा नहीं कहा, शुभराग से धर्म होगा - ऐसा कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस शुभराग से धर्म होगा, यह पाप है, मिथ्यात्व है। उसमें था, मिथ्यात्व, वह संसार है। कहा था न? मिथ्यात्व, वह संसार है। मिथ्यात्व जाने से सिद्धसदृश है। यह श्लोक में है। सवेरे कहा था। सिद्धसदृश है। कथन की शैली एक अपेक्षा से। एक ओर चौदहवें गुणस्थान तक असिद्ध कहे तथा एक ओर समकित हुआ, उसे सिद्धसदृश कहे, यह विवक्षा की अपेक्षा है। विवक्षा की विचित्रता है। इससे विरुद्धता नहीं है। यह कथन की विचित्रता है। उसमें तत्त्व की विरुद्धता नहीं है। आहाहा!

यह आस्रव में कहा है। ये शब्द आस्रव में आते हैं कि भाई! एक ओर आस्रव समकिती को आता नहीं, ऐसा कहते हो, और जघन्य ज्ञान में आस्रव आता है और बन्ध होता है, ऐसा कहते हो। यह विवक्षा की विचित्रता है। कथन की शैली क्या है, यह समझाया है। उसमें लिखा है। विवक्षा की विचित्रता है। वस्तु तो वस्तु है। आहाहा!

अरे! हृदय में विराजमान शुद्धज्ञानरूप भगवान और सर्वोत्तम चैतन्यपिण्ड, सर्वोत्तम पदार्थ। आहाहा! सर्वोत्तम पूर्ण बलवाला... आहाहा! उसे छोड़कर **जानकर पुनः भी...** उसे जानकर पुनः भी राग से लाभ होगा, यह लाया कहाँ से? यह तूने क्या किया? तू साधु है? आहाहा! बात कठिन पड़े, बापू! दुनिया के धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती।

मुमुक्षु : ....पूजा करो...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो समझाते हैं। अशुभ से बचने के काल में शुभ क्रमबद्ध

में आता है, इतना। परन्तु उससे धर्म होता है, ऐसा नहीं है। अशुभ के स्थान से टालने, अशुभ से टालने शुभ आता है, ऐसा तो पंचास्तिकाय में है, परन्तु उससे तुझे धर्म होगा और जन्म-मरण मिटेंगे, ऐसा उपदेश तू कहाँ से लाया? तू मुनि है? आहाहा! मुनि होवे तो ऐसा करे?

सर्वोत्तम पिण्डरूप इस पद को जानकर... आहाहा! भगवानस्वरूप चैतन्यपिण्ड प्रभु आनन्द का सागर है। उसे जानकर भी... आहाहा! **पुनः भी सरागता को प्राप्त होते हैं।** उसमें राग है नहीं, ऐसा तो तूने जाना है तथापि और वापस राग से धर्म मनावे। उसमें जो हो, उससे उसमें लाभ होगा। तो राग कहीं आत्मा में नहीं है; इसलिए आत्मा में नहीं है, उससे लाभ होगा, यह बात होती ही नहीं। आत्मा में जो द्रव्य में हो, दर्शन-ज्ञान-आनन्द उसमें है तो उनसे उसे लाभ होता है। आहाहा!

सर्वोत्तम पिण्डरूप इस पद को जानकर... देखा? **इस पद को जानकर...** आहाहा! ऐसी बुद्धि तुझे कहाँ से आयी? **सरागता को प्राप्त होते हैं। पुनः भी सरागता को प्राप्त होते हैं।** आहाहा! राग से रहित ऐसा भगवान आत्मा तूने जाना, ऊँची चीज़ है, (ऐसा जाना) तथापि और पुनः राग से आत्मा को लाभ होगा, यह तुझे क्या हुआ? विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१७६

(हरिणी)

जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेषु नित्य-मनाकुलं,
सतत-सुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समता-लयम्।
परम-कलया सार्धं वृद्धं प्रवृद्ध-गुणैर्निजैः,
स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशम्।।१७६।।

(वीरछन्द)

सदा अनाकुल सहज तत्त्व वह तत्त्वों में जयवन्त रहे।
सुलभ निरन्तर, सदा प्रकाशित, ज्ञानी को समता घर है॥
परम कला युत विकसित अरु निजगुण से सदा प्रफुल्लित है।
निज महिमा में लीन निरन्तर, सहज अवस्था प्रकटित है॥१७६॥

[श्लोकार्थः] तत्त्वों में वह सहज तत्त्व जयवन्त है—कि जो सदा अनाकुल है, जो निरन्तर सुलभ है, जो प्रकाशमान है, जो सम्यग्दृष्टियों को समता का घर है, जो परम कला सहित विकसित निज गुणों से प्रफुल्लित (खिला हुआ) है, जिसकी सहज अवस्था स्फुटित (-प्रकटित) है और जो निरन्तर निज महिमा में लीन है॥१७६॥

प्रवचन-१३०, श्लोक-१७६ से १७७, बुधवार, ज्येष्ठ शुक्ल ७, दिनांक २१-०५-१९८०

नियमसार, १७६ कलश है। १७५ हो गया है। १७६ है।

जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेषु नित्य-मनाकुलं,
सतत-सुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समता-लयम्।
परम-कलया सार्धं वृद्धं प्रवृद्ध-गुणैर्निजैः,
स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशम्॥१७६॥

[श्लोकार्थः] तत्त्वों में वह सहज तत्त्व जयवन्त है— सात तत्त्व हैं। नव तत्त्व। आस्रव में पुण्य-पाप शामिल है। उन सात तत्त्वों में भगवान जयवन्त ज्ञानवन्त जयवन्त है। दूसरे तत्त्व तो पर्याय में पलटते हैं। संवर, निर्जरा, मोक्ष—यह पर्याय है तो पलटती है। यह पलटनरहित तत्त्व **तत्त्वों में...** अर्थात् सात तत्त्वों में **वह सहज तत्त्व जयवन्त है...** आहाहा! ध्रुव ज्ञायकतत्त्व तो जयवन्त वर्तता है। किसी समय उसमें पलटना नहीं होता, हीनता नहीं, विपरीतता नहीं। वह तो पूरा-पूरा भगवान निरावरण, पूर्ण तत्त्व विराजमान है, जयवन्त है। आहा! धर्मी भावना में ऐसा कहता है। मेरा जो पूर्ण तत्त्व सात में है, वह जयवन्त वर्तता है। आहाहा! ऐसा का ऐसा अनादि काल से जो आत्मतत्त्व है, ऐसा आत्मा शुद्ध आत्मा, पवित्र आनन्द का सागर अनादि से जयवन्त वर्तता है। आहाहा!

मुमुक्षु : शुद्ध परिणमन हो, तब जयवन्त वर्ते न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जयवन्त-यही कहते हैं। जिसे ध्रुवतत्त्व भासित हुआ है, वह कहता है कि यह जयवन्त है। भासित नहीं हुआ, उसे बाहर की अकेली नजरें हैं। शरीर-वाणी-मन, कुटुम्ब-कबीला। यहाँ तो अन्दर पर्याय में भासित हुआ। सहज-स्वाभाविक।

तत्त्वों में... सात तत्त्वों में स्वाभाविक **वह सहज तत्त्व जयवन्त है...** यह जानना उसने कहा है। जानने में आया, वह कहता है। आहाहा! आस्रव तथा संवर-निर्जरा धर्म की पर्याय और धर्म की पर्याय का फल मोक्ष, वह तो एक समय की पर्यायमात्र दशा है। आहाहा! इससे जयवन्त (वर्तता है)। आहाहा! वहाँ नजर कर, वहाँ दृष्टि दे - ऐसा कहते हैं। सब संयोग और अन्दर के रागादि और उसकी एक समय की पर्याय, मोक्ष की पर्याय या संवर-निर्जरा की पर्याय, उसके ऊपर नजर न दे। ज्ञान कर। ज्ञान में वह ज्ञात होता है। परन्तु सर्वोत्कृष्ट शाश्वत् तत्त्व तो भगवान ध्रुव है, जो सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा! यह कभी इसने सर्वोत्कृष्टपना जाना नहीं। अनादि काल से भटकता है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा अनन्त बार की है। वह सब राग की क्रिया है; वह कहीं आत्मक्रिया नहीं है। यह तो जिसे आत्मिकक्रिया उत्पन्न हुई है, वह ऐसा कहता है, समस्त तत्त्वों में यह जयवन्त है। आहाहा! समझ में आया ? इसमें धर्म क्या है ?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में सार तत्त्व में यह तत्त्व मैं हूँ। सर्वोत्कृष्ट है। सवेरे कहा था न ? अजीव का चौथा अधिकार। अजीव का चौथा हुआ। यह हम कहीं अधिक नहीं कहते, उभार कर नहीं कहते। यह देखा था। अजीव का चौथा अधिकार।

यहाँ यह आया, देखो! आत्मा-जीवद्रव्य अपने में अपने को निरन्तर अनुभवो। आहाहा! जीवद्रव्य—आत्मा कैसा है ? आहाहा! अनुभवयोग्य आत्मा है। अनुभव करो—ऐसा जो कहा, परन्तु वह अनुभवयोग्य ही है। आहाहा! त्रिकाली चीज़ आत्मा अनुभवयोग्य है। समस्त तीन लोक में ऊपरीकरणपना-सर्वोत्कृष्ट है, उपादेय है। सर्वोत्कृष्ट है, जो उपादेय है। ऐसा ही है। बढ़ाकर नहीं कहते। क्योंकि ऐसी महिमा की और ऐसा और ऐसा... सर्वोत्कृष्ट वस्तु भगवान आत्मा, वही उपादेय है। दूसरा कुछ करनेयोग्य नहीं है।

यह हम अधिक नहीं कहते। बढ़ाकर नहीं कहते, अधिक नहीं कहते। आहाहा! परन्तु अनादि से पर्याय का और राग का अभ्यास है। साधु होवे तो भी मिथ्यात्व में पर्याय का और राग का अभ्यास। आहाहा! अन्दर त्रिकाल भगवान शुद्ध चैतन्य, वह पवित्र सर्वोत्कृष्ट है। ऊपरीकरण—ऐसा शब्द है। सबसे ऊपर तैरता है, सबसे ऊपर-ऊपर रहता है।

मुमुक्षु : आप कहते हो, तल में रहता है; यह कहते हैं ऊपर रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस तल का अर्थ (यह कि) पर्याय के (अन्दर) ऐसे। परन्तु है उससे ऊपर-सर्वोत्कृष्ट। तल का अर्थ (यह कि) एक समय की पर्याय में उस भाग में है। पर्याय के इस भाग में नहीं। बाह्य भाग में पर्याय होती है। (इस भाग में) दया, दान, व्रत में आत्मा नहीं। वह आत्मा गप्य नहीं है। एक समय की पर्याय अन्तर में ढलती है; इसलिए उसे (आत्मा को) तल में कहते हैं, परन्तु है वह चीज़ सर्वोत्कृष्ट। आहाहा!

लोगों को आत्मा की बात कठिन पड़ती है। उस क्रियाकाण्ड में पूरी जिन्दगी गयी। उसमें अनन्त काल गया। यहाँ तो कहते हैं कि पाँच परमेष्ठी का स्मरण, वह भी राग और संसार है। परसन्मुख के झुकाव का भाव, वह सब संसार है। उसे अन्तर्मुख झुकाना, वह मोक्ष का मार्ग है। उसे अन्तर्मुख में झुकाना, वह सर्वोत्कृष्ट है। वह यहाँ कहा है। समझे? हम बढ़ाकर नहीं कहते। यह अजीव अधिकार में है।

इसी तरह यहाँ कहते हैं, **तत्त्वों में वह सहज तत्त्व...** तत्त्वों में वह सहज तत्त्व **जयवन्त है—कि जो सदा अनाकुल है,...** भगवान आत्मा तो आनन्दस्वरूप है। जिसमें दुःख की गन्ध नहीं, जिसमें दुःख की छाया नहीं। आहाहा! अनाकुल आनन्दस्वरूप है। परन्तु उसमें दृष्टि दे, तब इसे पता पड़े न! है चाहे जैसा, परन्तु अन्दर नजर किये बिना (कैसे पता पड़े)? आहाहा!

जो सदा अनाकुल है, जो निरन्तर सुलभ है,... भाषा तो देखो! आहाहा! पाठ है न? '**सततसुलभं**' '**सततसुलभं**' वस्तु है, सहज है, अकृत्रिम है, अविनाशी है और अनन्त-अनन्त ध्रुवस्वभाव से भरपूर तत्त्व है, वह निरन्तर सुलभ है। आहाहा! उसकी नजर कर तो तुझे वह सुलभ है। आहाहा!

मुमुक्षु : बोधिदुर्लभ भावना किसलिए कही?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दुर्लभ कही, वह दुर्लभ अनन्त काल के अनभ्यास के कारण है। अनन्त काल के अनभ्यास के कारण। अभ्यास से सतत सुलभ है। आहाहा! अन्दर भगवान प्रभु! तू आनन्दमूर्ति है न, नाथ! आहाहा! स्त्री का, पुरुष का, तिर्यंच का देह न देख। उसके अन्दर राग है, उसे न देख क्योंकि वे कोई आत्मतत्त्व नहीं हैं। आत्मतत्त्व तो शुद्ध ध्रुव आनन्द का नाथ अनाकुलस्वरूप है। आहाहा!

निरन्तर सुलभ है,... भाषा तो देखो! दिगम्बर सन्तों की उग्र भाषा। निरन्तर पर्याय के नजदीक में स्थित है। एक समय की जो अवस्था, उसमें नजदीक में भगवान ध्रुव अनाकुल आनन्दकन्द स्थित है। 'तेरी नजर के आलस्य से तूने निरखे न नयने हरि।' हरि अर्थात् अज्ञान और राग-द्वेष को हरे, वह हरि। वह हरि यह आत्मा है। आहाहा! 'तेरी नजर के आलस्य से निरखे न नयने हरि।' पश्चात् **सततं** निरन्तर-अन्तर पड़े बिना, विघ्न पड़े बिना। आहाहा! कर्म का विघ्न और कर्म से होनेवाले राग का विघ्न, वह वस्तु में नहीं है। आहाहा! ऐसी वस्तु वह सततं सुलभ है। अनभ्यास से दुर्लभ है। सहजतत्त्व के अभ्यास से वह सहज और सुलभ है। आहाहा!

जो प्रकाशमान है,... चैतन्य के प्रकाश का नूर है। वह प्रकाश चैतन्य के प्रकाश का पूर है। आहाहा! ऐसी महत् चीज़ की महिमा लाकर अन्दर नहीं उतरता परन्तु बाहर की चीज़ की महिमा लाकर यह किया, इसने यह किया, इसने यह किया। आहाहा! पाँच, साढ़े पाँच लाख रुपये देकर नैरोबी में लक्ष्मीचन्दभाई ने मूर्ति स्थापित की। साढ़े पाँच लाख। एक ही मुख्य मूर्ति है। अब उसमें... छाती में ठीक नहीं, शरीर में ठीक नहीं। डॉक्टर के पास बताया। वह तो धूल है। धूल को कैसे रहना, वह तो उसकी अवस्था के कारण से (रहती) है। आहाहा! उस डॉक्टर की दवा से भी फेरफार होगा? शरीर और परमाणु की अवस्था का जो क्रम है, उसमें डॉक्टर की दवा से फेरफार होगा, ऐसा नहीं है। आहाहा!

क्या कहा? इस देह में जो भगवान आत्मा विराजता है, वह रागरहित है, पुण्य के परिणामरहित है। निश्चय से तो संवर, निर्जरा की पर्यायरहित है। आहाहा! धर्मरहित धर्मी। आहाहा! धर्म अर्थात् संवर और निर्जरा। एक समय की पर्याय है, उस रहित धर्मी है। अरे.. अरे..! वहाँ यह प्रश्न किया था। चन्दुभाई ने प्रश्न किया था। धर्मी कितने प्रकार के? कहा, धर्मी दो प्रकार के। एक वर्तमान धर्म त्रिकाल के आश्रय से करता है, इसलिए उसे धर्मी

कहते हैं। त्रिकाल के आश्रय से वर्तमान में शान्ति और आनन्द की दशा वेदता है, करता है, इसलिए उसे धर्मी कहते हैं और एक त्रिकाली वस्तु को धर्मी कहते हैं। आहाहा! त्रिकाली वस्तु जो धर्मी अर्थात् द्रव्य। अनन्त-अनन्त धर्म और गुण का धारक ऐसा जो भगवान आत्मा महाप्रकाशवन्त है। आहाहा!

जो सम्यग्दृष्टियों को समता का घर है,... आहाहा! धर्मी जीव को-जिसे सच्ची दृष्टि सत् हुई है, उसे वह समता का घर है। वह वीतरागमूर्ति है, ऐसा कहते हैं। **सम्यग्दृष्टियों को....** आहाहा! सम्यग्दृष्टियों अर्थात् बहुवचन है। बहुत सम्यग्दृष्टियों को, आहाहा! अर्थात् सभी सम्यग्दृष्टियों को समता का वीतराग का घर है। वहाँ से वीतरागता प्रगट होती है। जिसे आत्मा वीतरागस्वरूप है, इसकी जहाँ खबर नहीं, उसे समता, स्वाभाविक समता आवे कहाँ से? सामायिक अर्थात् समता का लाभ। सामायिक है न? सामायिक। ...है न? यहाँ तो **सम्यग्दृष्टियों को समता का घर है,...** धर्मी जीव को वीतरागदशा प्रगट हुई है। उस वीतरागता का वह घर है। पर्याय भी नहीं। समझ में आया? धर्मी जीव को जो सम्यग्दर्शन, वीतरागी पर्याय जो आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई है, उस जीव को जो यह चीज़ है, वह त्रिकाली समता का घर है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय या द्रव्य दोनों?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों-दोनों। अभी दो नहीं है। यहाँ तो एक ही है। यहाँ तो... मेरी पर्याय ऐसा कहती है कि यह पूरा सम्यग्दर्शन समता का घर है। मेरी पर्याय में यह समता का घर है। वहाँ से वीतरागता आयी है। वह वीतराग का घर है। आत्मा वीतराग का स्थान है। आहाहा! जो वीतराग हुए और अरिहन्त भगवान को वीतरागपर्याय प्रगट हुई, वह कहाँ से, कहीं बाहर से आयी है? वीतरागमूर्ति आत्मा है। समता का घर अर्थात् यह। वीतरागपने का वह घर है। आहाहा! जिसके घर में राग और पुण्य नहीं। आहाहा! समता पड़ी है। वीतरागस्वभाव पड़ा है। उसमें से जिसने सम्यग्दर्शन किया, उसे वह समता का घर है। जिसकी दृष्टि में ही अभी राग तैरता है—दया, दान, व्रत, भक्ति का राग, उसने तो वह समता का घर, वीतरागता का घर देखा नहीं। आहाहा!

उन **सम्यग्दृष्टियों को समता...** अर्थात् वीतरागता का घर है। आहाहा! आत्मा में तो अकेली वीतरागता भरी है। जिसने उसकी नजर की है, दृष्टि की है, उसे तो वह वीतरागता

का ही घर है। वीतरागता प्रगट होती है, वह उसका घर है। पर्याय में से कहीं वीतरागता प्रगट नहीं होती। पर्याय में वीतरागता प्रगट होती है, परन्तु वीतरागता उसमें से प्रगट नहीं होती। प्रगट होती है, वह तो वीतराग का घर है। आहाहा! ऐसी बात। **सम्यग्दृष्टियों को समता का घर है,...**

जो परम कला सहित विकसित निज गुणों से प्रफुल्लित (खिला हुआ) है,... आहाहा! परम कला। जिस कला से आत्मा प्रगट हो और जिस कला से आत्मा को केवलज्ञान हो, ऐसी **परम कला सहित विकसित (प्रगट) निज गुणों से प्रफुल्लित...** आहाहा! अनन्त जो गुण हैं, उनका धारक जो भगवान, उसकी जिसने दृष्टि की है, उसे गुण खिले हुए हैं। शक्तिरूप से तो हैं ही, परन्तु जिसने अन्दर नजर और उसका आदर किया है, उसे वे अनन्त गुण पर्याय में खिले हैं। उस पर्याय में गुणों की दशा आयी है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश।

जो परम कला सहित विकसित (प्रगट) निज गुणों से प्रफुल्लित (खिला हुआ) है,... आहाहा! अनन्त-अनन्त गुणों से खिला हुआ वह तत्त्व है। परन्तु किसे? जिसने नजर की है, उसे वह अनन्त गुणों से खिला हुआ तत्त्व है, ऐसा भान में आता है। आहाहा! जो अन्तर में नजर नहीं करता, बाह्य क्रियाकाण्ड में रच-पच गया है... आहाहा! उसे वह चीज़ गुण का विकास, खिली हुई दशा उसे नहीं होती। उसे राग और विकारी दशा होती है। आहाहा! एक कलश में कितना भरा है। आहाहा!

निज गुणों से प्रफुल्लित (खिला हुआ) है,... अनादि के ऐसे के ऐसे गुण हैं, ऐसा नहीं कहते हैं। यहाँ तो वहाँ नजर करके सम्यग्दृष्टि ने वहाँ अनन्त गुण, पर्याय में खिले हैं। आहाहा! जैसे कमल खिलता है; वैसे भगवान आत्मा अनन्त गुण का सागर, उसका जो आदर, सागर का जहाँ आदर (किया है) और राग तथा पर्याय में आदर जहाँ छूट जाता है, तब उसे धर्म होता है अर्थात् धर्म के गुण खिले हुए होते हैं। वे गुण खिले हुए होते हैं अर्थात् धर्म। किस प्रकार की बात! आहाहा! ऐसा धर्म कहाँ से निकाला? बापू! भगवान का अनादि का यह है। सम्प्रदाय में.. यह करो.. यह करो.. परन्तु यहाँ कहते हैं (कि) करना, वह ज्ञान के स्वरूप में है ही नहीं। वह तो जानने-देखनेवाला है। आहाहा! जानने-देखनेवाले को करना सौंपने में जानने-देखनेवाला तत्त्व नहीं रहता। उसे करूँ, यह करूँ, दया पालूँ - ऐसे उसे भाव हो... आहाहा! वहाँ चैतन्यमूर्ति की अनन्त खिली हुई दशा

चाहिए, वह खिली हुई.. होती नहीं। वहाँ तो राग की खिलावट है। आहाहा! ऐसा उपदेश है।.. सोनगढ़...

प्रभु! तू ऐसा है। तू ऐसा है। अरिहन्त को वीतरागता प्रगट होती है, केवलज्ञान प्रगट होता है, पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है - वह कहाँ से आता है? कहीं बाहर से आता है? होवे, उसमें से आता है। प्राप्त की प्राप्ति है। अन्दर होवे तो आता है। कुए में होवे तो होज में पानी आता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा पूर्ण गुणसम्पन्न है, परन्तु उसमें दृष्टि देने से वे सब गुण खिले हुए दिखायी देते हैं। आहाहा! अर्थात् सभी गुणों की एक समय की पर्याय विकसित दिखायी देती है। बाहर आयी प्रगट दशा। आहाहा!

जिसकी सहज अवस्था स्फुटित (प्रकटित) है,... जिसकी स्वाभाविक अवस्था, वीतरागी सहज दशा वीतरागस्वरूप है। ऐसा जिसने दृष्टि में तत्त्व लिया, उसे वीतरागी भाव स्फुटित है, प्रगट है। आहाहा! गुण है, वह शक्तिरूप है। अनन्त गुण है। अनन्त-अनन्त गुण और अनादि का द्रव्य, ऐसा भगवान शक्तिरूप है, सामर्थ्यवाला है परन्तु उसके सन्मुख देखने पर, उसमें एकाग्र होने पर अनन्त गुणों की पर्याय खिल निकलती है, विकसित, स्फुटित प्रगट (होती है)। आहाहा! स्वाभाविक दशा प्रगट होती है। अज्ञानी को तो राग, दया, दान, काम, क्रोध के भाव प्रगट होते हैं, जो उसमें नहीं है। जो उसमें नहीं है, ऐसे प्रगट होते हैं, वह अधर्म है। आहाहा! दया और व्रत, भक्ति और पूजा, वह अधर्म है क्योंकि वे इसके गुण की खिली हुई अवस्था नहीं है। वह तो गुणों को रोकनेवाली रागदशा है। आहाहा! वह राग बन्धनकर्ता, अबद्धस्वरूप को अनादर करता है। अबन्धस्वरूप, मुक्तस्वरूप है, यह आ गया है। आहाहा! मुक्त आ गया है न? समयसार में।

जिसकी सहज अवस्था स्फुटित (-प्रकटित) है... अर्थात्? जो भगवान आत्मा अनन्त गुण के अस्तित्व अर्थात् मौजूदगी से भरपूर, उसका जहाँ स्वीकार किया, उसके सन्मुख देखा, उसके सन्मुख हुआ, उसे गुण की पर्याय प्रगट हुई है। वह गुण की पर्याय प्रगट हुई है, वह धर्म है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। जिसकी सहज दशा... रागादि सहज दशा, वह तो विकृत विकार है। स्वाभाविक जो वस्तु है, उसकी स्वाभाविक सहज दशा प्रगट है। आहाहा! गजब श्लोक। एक श्लोक में बारह अंग का सार है, बारह अंग का सार! आहाहा! लो!....

और जो निरन्तर निज महिमा में लीन है। आहाहा! भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द है। वह आनन्द में लीन है। आहाहा! पर्याय से, हों! पर्याय से आनन्द में लीन है। आहाहा! जिसने वह अनाकुल आनन्द तत्त्व देखा, जाना, माना, अनुभव किया, उसे वह सहज तत्त्व अपनी महिमा में लीन है। उसकी निर्मल अवस्था गुण में लीन है। अज्ञान की अवस्था में राग में लीनता हुई है। चाहे दया, दान, व्रत और भक्ति के परिणाम में लीन है, वह अज्ञान है। निज महिमा में लीन है। आहाहा! मुनिराज को... यह टीकाकार तो मुनि है, इन्हें शब्द कम पड़ते हैं। उसे-अन्दर प्रभु को क्या कहना! वह अन्दर आनन्द का लड्डू है। अतीन्द्रिय ज्ञान का घर है। अतीन्द्रिय सुख-शान्ति... आहाहा! उसका स्थान है। अतीन्द्रिय सुख-शान्ति। सुख-शान्ति; कृत्रिम शान्ति नहीं। यह शुभराग आवे, उसमें शान्ति दिखायी दे... यह प्रश्न... है। वह शुभराग, वह कृत्रिम है। यह सहज है।

सहज **निरन्तर निज महिमा में लीन है।** ऐसा तत्त्व है। उस तत्त्व को यहाँ आत्मा कहते हैं और उस आत्मा पर नजर तथा अनुभव करने पर उसे आलोचना कहने में आता है, उसने आलोचना की। आहाहा! आलोचना अर्थात् वास्तविक देखना। उसने वास्तविक देखा। आहाहा! उसने आनन्द का सागर देखने पर पर्याय में स्फुटित शक्ति प्रगट होती है। ऐसा यह निज महिमा में लीन है। आहाहा! अर्थात् क्या कहते हैं? उसे कोई रागादि की महिमा नहीं आती। चाहे तो तीर्थंकरगोत्र बाँधने का राग आवे। उस राग की महिमा चैतन्य को जाननेवाले को नहीं आती। चैतन्यतत्त्व को जाननेवाले धर्मी को निज महिमा के समक्ष रागादि की महिमा नहीं आती। रागादि की महिमा आवे, उसे निज की महिमा नहीं है। निज महिमा नहीं है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! वह जैन नहीं। आहाहा! यह १७६ (श्लोक पूरा) हुआ।

श्लोक-१७७

(हरिणी)

सहज-परमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्मलं,
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम् ।
विशदविशदं नित्यं बाह्य-प्रपञ्च-पराङ्मुखं,
किमपि मनसां वाचां दूरं मुने-रपि तन्नुमः ।।१७७।।

(वीरछन्द)

सप्त तत्त्व में सहज सुनिर्मल परम तत्त्व अन् आवृत है।
सकल विमल ज्ञानालय शिवमय अति ही स्पष्ट सुशास्वत है॥
मुनिजन को भी दूर सदा है जो मन से अरु वाणी से।
बाह्य प्रपञ्च पराङ्मुख है जो उसे सदा हम नमन करें॥१७७॥

[श्लोकार्थः] सात तत्त्वों में सहज परम तत्त्व निर्मल है, सकल-विमल (सर्वथा विमल) ज्ञान का आवास है, निरावरण है, शिव (कल्याणमय) है, स्पष्ट-स्पष्ट है, नित्य है, बाह्य प्रपंच से पराङ्मुख है और मुनि को भी मन से तथा वाणी से अति दूर है; उसे हम नमन करते हैं॥१७७॥

श्लोक -१७७ पर प्रवचन

१७७ श्लोक।

सहज-परमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्मलं,
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम् ।
विशदविशदं नित्यं बाह्य-प्रपञ्च-पराङ्मुखं,
किमपि मनसां वाचां दूरं मुने-रपि तन्नुमः ।।१७७।।

मुनि को भी मन-वचन से दूर है। १७७।

[श्लोकार्थः] सात तत्त्वों में सहज परम तत्त्व निर्मल है,... आहाहा! संवर और

निर्जरा हुई, धर्म हुआ, उसे सात तत्त्वों में सहज तत्त्व निर्मल यह है। सात तत्त्व में संवर और निर्जरा की निर्मलता तो एक समय की है। आहाहा! त्रिकाली धर्मी जीव की दृष्टि होने पर अन्दर से जो धर्म प्रगट हो, वह धर्म तो पर्याय है। पर्याय की अवधि तो एक समय है। आहाहा! इसलिए यहाँ कहते हैं, **सात तत्त्वों में सहज परम तत्त्व निर्मल है,...** संवर और निर्जरा को भी यहाँ निर्मल नहीं कहा। यहाँ तो परम तत्त्व निर्मल है, ऐसा कहा। त्रिकाली। **सात तत्त्वों में सहज...** आहाहा! ऐसी बात क्रियाकाण्ड के रसवालों को नहीं जँचती। आहाहा!

मुमुक्षु : उसकी योग्यता ही नहीं है समझने की।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह रस चढ़ गया है न, रस। साधु ने भी रस चढ़ा दिया है न? यह करो... यह करो... यह करो... यह करो... व्रत करो, अपवास करो, भक्ति करो, दान करो, दया करो। करो... करो... और करो। मरो। करो, वहाँ मरो है। वस्तु ज्ञानस्वरूप है, उस ज्ञान में राग का करना, यह वस्तु में नहीं आता। आहाहा! वह तो जानने-देखनेवाला रहता है। उस जानने-देखनेवाले की दशा, वह धर्म है। आहाहा! जो रागादि आते हैं, वह तो अधर्म है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव अधर्म है। बन्धन का कारण है, उसे धर्म नहीं कहा जाता। आहाहा! कठिन बात है।

सात तत्त्वों में... भाषा स्पष्ट है। सात में संवर, निर्जरा, मोक्षतत्त्व में **सहज परम तत्त्व निर्मल है,...** त्रिकाली वस्तु, वह सहज निर्मल है। स्वाभाविक। यह तो निर्मल प्रगट हुई - संवर, निर्जरा और मोक्ष निर्मलता प्रगट हुई। सहज त्रिकाली... आहाहा! सात तत्त्वों में सहज परम तत्त्व त्रिकाली निर्मल है। आहाहा!

सकल-विमल (सर्वथा विमल) ज्ञान का आवास है,... आहाहा! यह भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञान का रहने का स्थान है। रहने का आवास है। आहाहा! पूर्ण ज्ञान। **सकल-विमल (सर्वथा विमल) ज्ञान का आवास है,...** उसमें भरा है, कहते हैं। आहाहा! ऐसा कहकर क्या कहते हैं? सहज निर्मल ज्ञान, ज्ञान का आवास है। वह राग का आवास नहीं। दया, दान के राग का आवास वह सहज ज्ञान नहीं है। आहाहा! यहाँ तो पूरे दिन इसके लक्ष्य में यही होता है। यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... व्रत पालन किये, वहाँ धर्म हो गया। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, वह स्वयं... आहाहा! **सकल-विमल (सर्वथा विमल) ज्ञान का आवास है,...** उसमें दया, दान, और काम-क्रोध के परिणाम का वह स्थान नहीं है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, वह तो राग है। राग का स्थान आत्मा नहीं है। आहाहा! तब है क्या? **सकल-विमल (सर्वथा विमल) ज्ञान का आवास है,...** पूर्ण ज्ञान के रहने का स्थान है। आहाहा!

यह बात सुनने को नहीं मिलती। बेचारी जिन्दगी चली जाती है। मरकर फिर ढोर में, पशु में जाए। बहुत मरकर तिर्यंच में जाए। आहाहा! धर्म नहीं होता; धर्म क्या है, उसकी खबर नहीं होती। राग की कोई क्रिया करता हो तो सहज साधारण पुण्य हो। उसमें वापस पूरा दिन व्यापार धन्धे का अकेला पाप हो तो उस पाप में और पुण्य भी समाप्त हो जाए। ऐरण की चोरी और सुई का दान। सोनी की लोहे की ऐरण होती है न? उसकी चोरी और सुई का दान; इसी प्रकार यह एक घण्टे जाए, वहाँ मिथ्यात्वसहित पुण्य बँधता है। पुण्य में धर्म मनावे, राग में धर्म मनावे, दया में मनावे। आहाहा! उसके राग के रुचिवाला उसमें रहा। वह क्षणिक समय शुभभाव में सुने तब हो परन्तु फिर तेईस घण्टे तो वापस पाप में। छह-सात घण्टे नींद में, छह-सात घण्टे स्त्री-पुत्र में जाए, व्यापार-धन्धे में दुकान में जाए। दुकान की पेढ़ी में बराबर बैठना चाहिए न! ग्राहक को सम्हालने के लिये। आहाहा! यह सब काल पाप में जाता है। उसमें एकाध घण्टे सुनने का पुण्य हो। कदाचित् सुनने गया हो। वह सब पाप के समक्ष वह पुण्य धुल जाता है। आहाहा! अर्थात् वह पाप इतना अधिक किया, उसके समक्ष वह पुण्य है, वह तो धुल जाता है। आहाहा! इसे जाना कहाँ? भटकने के रास्ते जानेवाला है यह। आहाहा! भारी कठिन बात।

सकल-विमल (सर्वथा विमल) ज्ञान का आवास है, निरावरण है,... प्रभु तो त्रिकाल निरावरण है। पर्याय में-अवस्था में राग का सम्बन्ध है, वस्तु में राग का सम्बन्ध नहीं। वस्तु जो निरावरण प्रभु है, वह सकल निरावरण है। ऐसा भगवान आत्मा अन्दर है। आहाहा! उस राग के आवरण काल में भी वस्तु है, वह तो त्रिकाल निरावरण है। पर्याय में राग, पुण्य-पाप, दया के परिणाम, वे आवरण हैं। भाव आवरण हैं और कर्म है, वह जड़ आवरण है। परन्तु उस आवरण के काल में भी भगवान आत्मा जो त्रिकाली है, वह निरावरण है। आहाहा!

शिव (कल्याणमय) है,... वह शिवस्वरूप है—कल्याणस्वरूप है, निरुपद्रवस्वरूप है। उसे राग का उपद्रव वस्तु में नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय का जो राग, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम, शास्त्र पढ़ने का विकल्प, वह सब उपद्रव द्रव्य में नहीं है। आहाहा! वह तो पर्याय में उपद्रव है। द्रव्य तो निरावरण है। सकल त्रिकाल निरावरण प्रभु। आहाहा! गले तक राग में प्रविष्ट हो गया हो, पूरे दिन राग... राग... राग... राग... राग... ठीक न पड़े वहाँ द्वेष (करे)। अब इसे कहे कि तू सकल निरावरण है। वह चीज़ तेरी वस्तु में प्रविष्ट नहीं है। आहाहा!

शिव... नमोत्थुणम में नहीं आता? नमोत्थुणम में आता है। 'सिवमलयमरुयमणंतम-मक्खयमव्वाखाहम...' 'नमोत्थुणं, अरिहंताणं, भगवंताणं, आईगराणं... सिवमलयम-रुयमणंतम...' यह आता है। शिव अर्थात् वे शंकर नहीं। यह शिव अर्थात् उपद्रवरहित अथवा शिव अर्थात् कल्याणमय। भगवान कल्याण की मूर्ति है। आहाहा! कल्याण कहीं राग से और पुण्य से नहीं आता। आहाहा! इस कल्याण की मूर्ति में से कल्याण आता है। आहाहा! कल्याण करना हो उसे कल्याण की मूर्ति की दृष्टि और अनुभव करना। आहाहा! इसके बिना कल्याण हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : हम तो आप कहते हो, वैसा करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा जैसा है, वैसा करे। आत्मा अन्दर ऐसा है, वैसा करे। आहाहा! ऐसी बात! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, लाखों रुपये खर्च करे। यह कहा न? नैरोबी गये थे न? अफ्रीका गये थे न? साढ़े पाँच लाख की मूर्ति स्थापित की। एक मूर्ति स्थापना के इतने। तथापि कहते हैं, बापू! धर्म नहीं, हों! तेरे साढ़े पाँच लाख क्या, करोड़ दे न! करोड़ का मन्दिर बना न! मन्दिर बनानेवाले हैं। दिगम्बर मन्दिर अफ्रीका में पहला-पहला दो हजार वर्ष में बनाते हैं। साठ घर हैं। पैसेवाले बहुत हैं। बड़ा मन्दिर बनाते हैं। पैंतालीस लाख का तो चन्दा किया है। हम वहाँ छब्बीस दिन रहे, उसमें पैंतालीस लाख का चन्दा किया है। उससे पहले पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाने का निर्णय किया था। तब हो सके? परन्तु कहा, यह लाख और करोड़... आहाहा! वह तो जड़ है, धूल है, धूल से धर्म होगा? यह धूल मेरी है, ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है। पैसा मेरा और मेरा है, वह मैं देता हूँ। आहाहा! दुनिया से अलग बात है, भाई! सुनने में कठिन पड़े। बाहर की मान्यता में रुक गये। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **शिव...** आहाहा! भगवान आत्मा अन्दर शिवस्वरूप है। अन्दर देह से भिन्न, राग से भिन्न, कल्याण की मूर्ति है। आहाहा! कल्याण का सागर, मूर्ति है, उसमें अकेला कल्याण ही भरा है। आत्मा में अकल्याण और राग-बाग है नहीं। आहाहा! किसे होगा यह?

मुमुक्षु : आत्मा को स्वयं को।

पूज्य गुरुदेवश्री : जिसने उसे जाना, उसे यह है। जाना नहीं, उसे प्रतीति नहीं आती। किसकी प्रतीति? जाने बिना प्रतीति किसकी? आहाहा! वह शिव को जो जानने में आवे, त्रिकाली भगवान कल्याण की मूर्ति प्रभु शिवस्वरूप है। शंकर, वे यह शिव नहीं। यहाँ तो कल्याण की मूर्ति का नाम शिव है। उसमें से अकल्याण में से प्रगटे, ऐसी वह चीज़ नहीं है। आहाहा! अकल्याण प्रगटे, वह तो पर की दृष्टि से प्रगटता है। स्व की दृष्टि और स्वभाव से अकल्याण नहीं प्रगट होता। आहाहा! यह किस प्रकार का धर्म? आज लन्दन का पत्र आया है। लन्दन में यह वाँचन चलता है। वह वीरचन्दभाई गये थे।.... के काका। बहुत पुस्तकें हो गयी न, लगभग तीस लाख पुस्तकें हैं। बाईस लाख यहाँ से और आठ लाख जयपुर से। चारों ओर देश-देशावर में पुस्तकें (गयी हैं)। आहाहा! परन्तु उन्हें समझानेवाला चाहिए तो उसे समझाये।

स्पष्ट-स्पष्ट है,... कैसा है भगवान... आहाहा! अकेला स्पष्ट नहीं कहा। **स्पष्ट-स्पष्ट है,...** पर्याय में से ज्ञात हुआ, इसलिए पर्याय स्पष्ट है और वस्तु भी स्पष्ट है। क्या कहा? आत्मा प्रत्यक्ष है। पर्याय में जहाँ ज्ञात हुआ, तब पर्याय भी प्रत्यक्ष है और पर्याय में ज्ञात हुई, वह चीज़ भी प्रत्यक्ष है। आहाहा! पर्याय में ज्ञात होता है, वह राग से ज्ञात नहीं होता, कि पहले दया, दान और भक्ति करें, उसमें से अपने शुभभाव से धीरे-धीरे अन्दर जाया जाएगा, वह ऐसा नहीं है। यह दु:खदशा है। शुभराग है, वह दु:खदशा है। भगवान तो कल्याण / शिवस्वरूप है। दु:खदशा से शिवस्वरूप में नहीं जाया जाएगा। आहाहा! ऐसी बात है।

स्पष्ट-स्पष्ट है,... आहाहा! **विशदविशदं** है न? **स्पष्ट-स्पष्ट है..** गुप्त नहीं। वह अकेली शक्तिवाला तत्त्व नहीं है। उस शक्तिवाले तत्त्व को अनुभव किया, इसलिए स्पष्ट-स्पष्ट है। पर्याय में भी स्पष्ट दिखायी दिया और वस्तु स्पष्ट-स्पष्ट है। आहाहा! वीतराग का मार्ग होगा यह? आहाहा! मार्ग तो यह है। वीतराग का मार्ग परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ...

त्रिलोकनाथ का प्रश्न हुआ कि त्रिलोकनाथ कैसे कहा ? – कि तीन लोक को जानते हैं इसलिए। कोई नाथ-बाथ किसी के नहीं हैं। तीन काल का ज्ञान है, वह ज्ञान अपना स्वरूप है। राजकोट, चन्दुभाई ने प्रश्न किया था। बहुत प्रश्न हुए थे।

स्पष्ट है। कौन ? अन्दर भगवान आत्मा नित्य है और स्पष्ट-स्पष्ट है। **नित्य है,...** संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय अनित्य है। राग और पुण्य, दया, दान की बात तो क्या करना, वह तो विकार है परन्तु अविकारी दशा होती है, वह भी पर्याय है, वह नित्य नहीं है। वह पर्याय अनित्य है और अनित्य द्वारा अनित्य से नित्य ज्ञात होता है। यह क्या कहा ? पर्याय जो रागरहित, वह अनित्य है, उससे नित्य ज्ञात होता है। नित्य से नित्य ज्ञात नहीं होता। राग है, उससे नित्य ज्ञात नहीं होता और नित्य से नित्य ज्ञात नहीं होता। अनित्य ऐसी निर्मल दशा से नित्य ज्ञात होता है। अरे ! यह तो बात-बात में अन्तर... आहाहा ! कहो... भाई ! ऐसा मार्ग है। कलकत्ता में और कहाँ भटके और मिले कुछ।

मुमुक्षु : दूसरा कुछ तो मिलता होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल मिलती है। धूल मिलती है, धूल-पैसा। वह इसे कहाँ मिलता है ? इसके पास आवे, तब मानता है कि यह मेरे हैं। वे इसके कहाँ से हुए ? पैसा तो पैसे में रहा। पैसा आत्मा में आता है ? पैसा आया और उसमें ममता करता है कि मुझे पैसा आया। यह ममता इसके पास आयी। इसके पास पैसा नहीं आता। आहाहा !

मुमुक्षु : तिजोरी में रखें तो अपने होते हैं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तिजोरी किसके बाप की ? वह तो जड़ है। तिजोरी जड़ है, मिट्टी-धूल है। धूल में धूल को रखे तो इसकी हो गयी ? दुनिया से अलग प्रकार है, बापू ! आहाहा ! तेरा तत्त्व अन्दर भगवान है, परमात्मा है। उस तत्त्व पर नजर कभी की ही नहीं और बाहर में दिखावा में... आहाहा ! दिखावा में सब निकाला। पुण्य और दया, दान, व्रत में जिन्दगी निकाली। चौपट कर डाला है।

यहाँ तो परमात्मा कहते हैं कि वह **स्पष्ट-स्पष्ट है, नित्य है,...** आहाहा ! वस्तु नित्य है। संवर-निर्जरा और मोक्ष तो अनित्य है। आस्रव और पुण्य-पाप वह तो अनित्य है और विकार है परन्तु संवर-निर्जरा और मोक्ष जो निर्विकारी धर्म है, वह अनित्य है। उस पर्याय

में धर्म होता है। वस्तु स्वयं नित्य है। आहाहा! नित्य के अवलम्बन से अनित्य में धर्म होता है। अनित्य, नित्य को जानता है। आहाहा! सम्यग्ज्ञान का जो अनित्यपना, वह अनित्य सम्यग्ज्ञान नित्य को जानता है। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : पर्याय की कीमत बढ़ गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बढ़ी तो... उस पर्याय से ज्ञात हो, ऐसा है। दूसरे से ज्ञात नहीं होता, ऐसा है। निर्मल पर्याय से ज्ञात होता है। ऐसा बढ़ा है। ज्ञात होता है पर्याय में परन्तु पर्याय में ज्ञात होता है कौन? कि ध्रुव जो है वह। आहाहा! वास्तव में तो ध्रुव को पर्याय जानती है। ध्रुव में एकमेक नहीं होती। ज्ञान की पर्याय में ध्रुव ज्ञात होता है, कहीं ध्रुव में पर्याय घुस नहीं गयी है तथा पर्याय में ध्रुव आया नहीं है। ध्रुव का सामर्थ्य है, ऐसा पर्याय में ज्ञान आया। ज्ञान की पर्याय में उसके सामर्थ्य का ज्ञान आया परन्तु वह चीज़ पर्याय में आ जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें करे, फिर सब एकान्त कहे न! व्यवहार की बातें करते नहीं। व्यवहार से होता है, ऐसा कहते नहीं। उसकी बात सत्य। व्यवहार से... पूरे अपवास निराहार करते हैं, पानी की बूँद भी नहीं लेते। धूल में भी नहीं है।....वह तो लंघन है। आत्मा राग से भिन्न है, ऐसी दृष्टि जहाँ नहीं, वहाँ यह सब... क्या कहा? लंघन है लंघन। लंघन करके मर गया। महीने के अपवास और छह-छह महीने के अपवास।

यहाँ कहते हैं, **नित्य है, बाह्य प्रपंच से पराङ्मुख है...** आहाहा! बाहर के विकल्प के प्रपंच से तो पराङ्मुख है। ओहोहो! गजब किया न! **और मुनि को भी मन से तथा वाणी से अति दूर है;...** आहाहा! सच्चे मुनि हों, उन्हें भी उनके मन से और वाणी से दूर वस्तु है। आहाहा! वाणी और मन से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! मुनिपना गजब बात है, बापू! कहाँ मुनिपना है? अभी मुनिपना कहाँ है? अभी समकित का ठिकाना नहीं होता। उसकी दृष्टि है विषय में, निमित्त में। (मुनिपना) आवे कहाँ? यहाँ कहते हैं। **मुनि को भी मन से तथा वाणी से अति दूर है;...**

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१७८

(द्रुतविलंबित)

जयति शान्तरसामृतवारिधिप्रतिदिनोदयचारुहिमद्युतिः ।
अतुलबोधदिवाकरदीधितिप्रहतमोहतमस्समितिर्जिनः ।।१७८।।

(वीरछन्द)

शान्त-रसामृत सागर को नित उदयमान जो चन्द्र समान।
ज्ञान-सूर्य से मोह तिमिर के नाशक जयवन्तो भगवान॥१७८॥

[श्लोकार्थः] जो (जिन) शान्तरसरूपी अमृत के समुद्र को (उछालने के लिए) प्रतिदिन उदयमान सुन्दर चन्द्र समान है और जिसने अतुल ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से मोहतिमिर के समूह का नाश किया है, वह जिन जयवन्त हैं॥१७८॥

प्रवचन-१३१, श्लोक-१७८ से १७९, गाथा-११३, गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ल ८, दिनांक २२-०५-१९८०

नियमसार, आलोचना अधिकार है न! तीर्थंकरदेव जैन परमेश्वर का क्या स्वरूप है ? और उस स्वरूप की प्रतीति करनेवाला सम्यग्दृष्टि कैसा है, उसकी बात चलती है। १७८ कलश।

जयति शान्तरसामृतवारिधिप्रतिदिनोदयचारुहिमद्युतिः ।
अतुलबोधदिवाकरदीधितिप्रहतमोहतमस्समितिर्जिनः ।।१७८।।

[श्लोकार्थः] जो (जिन)... वीतराग **शान्तरसरूपी अमृत के...** शान्तरसरूपी अमृत। आहाहा! आत्मा में शान्तरस अमृत पड़ा है। उसमें से शान्तरस अमृत भगवान ने निकाला। वह कहीं बाहर से नहीं आता। वीतरागता और शान्तरस अमृत जो भगवान को प्राप्त हुए, वे कहीं बाहर से नहीं आते, अन्दर में है। द्रव्यस्वभाव आत्मा का स्वभाव है। अनादि-अनन्त अन्तर शान्तरस और अमृत से भरपूर है। अब यह बात...

समकिती तब कहते हैं, सम्यग्दृष्टि अभी प्रथम, जिसे शान्तरस अमृत का समुद्र प्रभु

आत्मा शान्त-कषायरहित रस-शान्तरस में एकाकार अमृत का समुद्र है। भगवान अरिहन्त परमात्मा (ऐसे हैं), परन्तु उनकी प्रतीति करनेवाला... उन्होंने निकाला कहाँ से? शान्तरस अमृत भगवान ने निकाला - प्राप्त किया, वह अन्दर द्रव्य में से प्राप्त हुआ है। आहाहा! कठिन बात है। आत्मा का जो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव, उसमें शान्तरस, अमृतरस पूर्ण भरा है। उसका अन्तर में अनुभव करना, स्वसन्मुख होकर अनुभव करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है और वह सम्यग्दृष्टि जीव, तीर्थंकर पूर्ण अमृत का कैसा स्वाद-अनुभव में लेते हैं, यह बात करते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

पद्मप्रभमलधारि मुनि हुए। इस नियमसार के करनेवाले कुन्दकुन्दाचार्य हैं और कुन्दकुन्दाचार्य ने अन्त में ऐसा लिखा है कि मैंने मेरी भावना के लिये बनाया है। यह ग्रन्थ मेरी भावना के लिये बनाया है। कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं। उसकी टीका पद्मप्रभमलधारिदेव दिगम्बर मुनि हुए, आचार्य नहीं, उन्होंने यह टीका बनायी है, तो वे अपनी बात भी करते हैं कि इस आत्मा शान्तरस और अमृत का धोध पड़ा है। आहाहा! देखो!

शान्त रसरूपी अमृत के समुद्र को (उछालने के लिये)... आहाहा! भगवान को तो प्रतिदिन पूर्ण शान्तरस उछलता है और प्रगट है। समकिती को भी अपने अन्तरस्वरूप का अनुभव होने से शान्तरसरूपी अमृत समय-समय में उछलता है, परन्तु अल्प उछलता है। भगवान को पूर्ण उछलता है। आहाहा! ऐसा धर्म! है? **प्रतिदिन उदयमान...** वापस भाषा, देखो! आहाहा! भगवान परमात्मा जैन परमेश्वर को प्रतिदिन अमृत का उछाला आता है। जैसे समुद्र में बाढ़ आती है, वैसे अपनी पर्याय में-अवस्था में अनन्त आनन्द का बाढ़ आती है। आहाहा! परन्तु उसे माननेवाले को भी... आहाहा! सम्यग्दृष्टि होता है, तो जो भगवान को माने, उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है। अपना द्रव्यस्वभाव, उसे भी शान्त रस का अमृत का उछाला प्रतिदिन थोड़ा होता है। ऐसी बात है। समझ में आया? भगवान को प्रतिदिन पूर्ण शान्तरस अमृत का उछाला आता है। जैसे समुद्र में बाढ़ आती है, वैसे प्रत्येक दिन, प्रत्येक काल में। प्रतिदिन कहा न? प्रतिदिन अर्थात् हर रोज (शान्तरस उछलता है)। आहाहा!

उदयमान... प्रगट **सुन्दर चन्द्र समान है...** आहाहा! जैसे चन्द्र सुन्दर है, वैसे भगवान को पर्याय में वैसी शीतलता उछलती है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द और

अतीन्द्रिय शान्त रस पूर्ण उछलता है, तो ऐसा समकिती कहता है कि वह जयवन्त वर्तो। क्योंकि उसका नमूना मुझे भी थोड़ा आया है, तो मुझे भी जयवन्त वर्तो। मेरे सम्यग्दर्शन में भी शान्तरस का अनुभव हुआ है, वह भी जयवन्त वर्तो और पूर्ण परमात्मा को जो प्रगट हुआ है, वह भी जयवन्त वर्तो। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है, सूक्ष्म बात है, भाई!

प्रतिदिन... ऐसा शब्द है न? प्रत्येक समय भगवान को अनन्त अमृत का सागर उछलता है। वैसे ही समकित को भी प्रतिदिन अर्थात् प्रत्येक समय में अन्तर में शान्तरस आनन्द पड़ा है, उसकी एक समय की पर्याय में वह भी उछलता है। आहाहा! आनन्द अमृत का अनुभव समकिती को भी होता है। परन्तु वह थोड़ी, अल्प दशा है। भगवान को पूर्ण दशा है। वस्तु तो वह की वह है। दूज का चन्द्र और पूर्णिमा का चन्द्र। चन्द्र के प्रकाश में इतना अन्तर है, बाकी चन्द्र तो वही है। आहाहा!

प्रतिदिन उदयमान... प्रगटरूप। भगवान को पूर्ण अमृत सागर पूर्ण प्रगट हुआ है। समकिती को पूर्ण प्रगट नहीं हुआ परन्तु प्रगट हुआ है। अन्तर शान्तरस के आनन्द का अनुभव अपनी पर्याय में प्रगट-उदयमान प्रगट है। आहाहा! **सुन्दर चन्द्र समान...** जैसे चन्द्र शीतल पूर्ण सोलह कला से खिले, वैसे भगवान को शान्तरस और वीतरागदशा अन्तर में से प्रगट हुई है। किसी बाह्य क्रियाकाण्ड से नहीं हुई। आहाहा! यह बात है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान भी सच्चा नहीं है, उसे चारित्र और व्रत भी सच्चे नहीं हैं।

यहाँ यह कहते हैं। **प्रतिदिन उदयमान सुन्दर चन्द्र समान है और जिसने अतुल ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से...** अन्तर चैतन्य के प्रकाश के नूर का पूर का तेज अन्तर में सर्वज्ञ परमात्मा ने पूर्ण प्रगट किया है। अन्दर पूर्ण भगवान है। अन्दर आत्मा भगवान ही है। पर्याय में दोष है, वस्तु में तो भगवान ही है। आहाहा! **जिसने अतुल ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से मोहतिमिर के समूह का नाश किया है,...** आहाहा! ज्ञान की तीव्रता से मोह का नाश किया है। कोई क्रियाकाण्ड करते-करते मोह का नाश किया है, ऐसा नहीं है। है?

जिसने अतुल ज्ञानरूपी... सम्यग्ज्ञान, जो आत्मा ज्ञानरूपी महासागर से भरा है, उसमें से निकालकर **अतुल ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से... ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से मोहतिमिर के समूह का नाश किया है...** मोह का अन्धकार। तिमिर अर्थात् अन्धकार।

मोहरूपी अन्धकार को अन्दर शान्तरस की किरणों द्वारा, ज्ञान द्वारा नाश किया है। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है, देखो! इसमें बताया। क्रियाकाण्ड से, दया, दान, व्रत, भक्ति से भगवान सर्वज्ञ हुए, ऐसा नहीं कहा। अशुभ से बचने को शुभ (भाव) आते हैं परन्तु वह कोई धर्म नहीं है। आहाहा! अन्तर ज्ञान और अन्तर में अमृत का सागर शान्तरस दो, ज्ञान लिया। यहाँ शान्तरस लिया, दो में अन्तर एकाग्र होकर भगवान को पूर्ण प्राप्ति होती है, तो कहते हैं कि वह जयवन्त वर्तो। है ?

वह जिन... वीतराग। **जयवन्त हैं।** आहाहा! इसमें भी मर्म है। उस चीज़ का नमूना अपने में देखा। समझ में आया ? जैसे दूज का चन्द्र है, दूज... दूज। उसके पश्चात् पूर्णिमा होती है, इसी प्रकार भगवान पूर्णानन्द पूनमरूप से पूर्ण है परन्तु उसे पहले चन्द्रमा की तरह दूज उगती है, इसी प्रकार धर्मी जीव को, सम्यग्दृष्टि को अपने अन्दर में शान्तरस और आनन्द का अल्प रस का अनुभव होता है। वह न हो तो अकेले राग की क्रियाकाण्ड से धर्म नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। भाषा की न ? दो (बातें) ली है न ?

शान्तरसरूपी अमृत के समुद्र को (उछालने के लिए)... प्रगट हुआ। और उसका नाश किया - मोह का नाश किया, परन्तु नाश किस प्रकार किया ? **अतुल ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से...** ज्ञानस्वरूपी भगवान अन्दर, उसमें अन्तर एकाग्र होकर ज्ञान की किरणों से मोह का नाश किया है। ऐसे समकिती भी मिथ्यात्वरूपी मोह का, अपने आत्मा का आनन्द और अमृत और शान्तरस तथा ज्ञानकिरण प्रगट करके... आहाहा! मिथ्यात्व का नाश किया है। उसे समकिती और धर्म की प्रथम दशावाला कहने में आता है। इस श्लोक में तीर्थंकर की बात है। परन्तु जयवन्त वर्तता है, इसमें दोनों लिये हैं कि हमारे अनुभव में यह वर्तता है। इस अंश से हम कहते हैं कि परमात्मा को वह जयवन्त वर्तता है। आहाहा! अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान अमृत का सागर और शान्तरस, उस शान्तरस को उछाला, अन्तर में एकाग्र होकर जिसने प्रगट किया। पूर्ण प्रगट किया, वे परमात्मा। अपूर्ण प्रगट किया, वे समकिती या मुनि। परन्तु वह आनन्द और शान्तिरस अन्दर प्रगट हुआ, उसका नाम धर्म और मोक्ष का मार्ग कहने में आता है। आहाहा! १७८ श्लोक (पूरा हुआ)।

श्लोक-१७९

(द्रुतविलंबित)

विजितजन्मजरामृतिसञ्चयः प्रहतदारुणरागकदम्बकः।
अघमहातिमिरव्रजभानुमान् जयति यः परमात्मपदस्थितः ।।१७९।।

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमालोचनाधिकारः सप्तमः श्रुतस्कन्धः।

(वीरछन्द)

जिसने दारुण राग नष्ट कर जन्म-जरा-मृत्यु जीते।
पाप तिमिर को रवि-सम हैं जो निजपद थित जयवन्त रहे॥१७९॥

[श्लोकार्थः] जिसने जन्म-जरा-मृत्यु के समूह को जीत लिया है, जिसने दारुण राग के समूह का हनन कर दिया है, जो पापरूपी महा अन्धकार के समूह के लिए सूर्य समान है तथा जो परमात्मपद में स्थित है, वह जयवन्त है॥१७९॥

इस प्रकार, सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में) परमालोचनाधिकार नाम का सातवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

श्लोक -१७९ पर प्रवचन

१७९ (श्लोक)

विजितजन्मजरामृतिसञ्चयः प्रहतदारुणरागकदम्बकः।
अघमहातिमिरव्रजभानुमान् जयति यः परमात्मपदस्थितः ।।१७९।।

आहाहा! अकेली अध्यात्म की बात है, तत्त्व की बात है।

[श्लोकार्थः] जिसने जन्म-जरा-मृत्यु के समूह को जीत लिया है,... आहाहा! जन्म और मरण, जन्म और मरण। चौरासी के अवतार। उन्हें जिसने-परमात्मा ने जीत लिया है। उन्हें अब जन्म-मरण नहीं है। उनसे सम्यग्दृष्टि होता है, उसे भी जन्म-मरण नहीं है। एकाध-दो भव करना पड़े, वह ज्ञान का ज्ञेय है। आत्मा का ज्ञान होता है, वह सम्यग्दृष्टि। उसे भी जन्म-मरण नहीं है। उसमें भव का अन्त आ गया। सर्वज्ञ को उसी भव में भव का अन्त हुआ, समकिती को एक-दो भव करना पड़े तो भव का अन्त होता है परन्तु फिर अन्तर की पूर्ण दशा प्रगट करेगा। आहाहा! और यहाँ तो जिन (भगवान) को पूर्ण दशा हो गयी है।

जिसने जन्म-जरा-मृत्यु के समूह को जीत लिया है,... आहाहा! वृद्धावस्था, मृत्यु और जन्म भगवान को नहीं होता। है? **जन्म-जरा-मृत्यु के समूह को जीत लिया है,...** अब जन्म नहीं, अब मृत्यु नहीं और अब... आहाहा! जरा नहीं। जीत लिया है। **जिसने दारुण राग के समूह का हनन कर दिया है,...** पुण्य और पाप जो राग है; काम, क्रोध, मान, माया, राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि राग। उस सब राग को हनन कर दिया है। **दारुण राग के समूह का हनन कर दिया है,...** आहाहा! राग का कण है, वह भी दुःखरूप है। शुभराग है, वह भी दुःखरूप है। उसे भगवान ने आत्मा के आनन्द से उस मोह का नाश कर दिया है। समकिती ने भी अपने स्वरूप के अनुभव से मिथ्यात्वरूपी दारुण राग है, उसका नाश कर दिया है। भगवान ने पूर्ण नाश किया है। समकिती ने उसकी भूमिका प्रमाण मोह तिमिर का सम्यग्ज्ञान-दर्शन और अनुभव से नाश किया है। आहाहा!

जो पापरूपी महा अन्धकार के समूह के लिए सूर्य समान है... पापरूपी महा अन्धकार के समूह के लिये सूर्य समान है। आहाहा! अन्धकार को मिटाने में जैसे सूर्य प्रकाशमान है, वैसे भगवान का ज्ञान, अन्धकार का नाश करने में समर्थ है। इसी प्रकार समकिती को भी... साथ में अपनी भी बात करते हैं कि अपनी दशा जो प्रगट हुई है, वह जयवन्त वर्तो और भगवान को पूर्ण प्रगट है, वह भी जयवन्त वर्तो। आहाहा! **महा अन्धकार के समूह के लिए सूर्य समान है...** आहाहा! मोहरूपी अन्धकार तो उसके पास आता नहीं। समकिती को भी मिथ्यात्वरूपी मोह अन्धकार नहीं आता। आहाहा! सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, यह लोगों को ख्याल नहीं है। बाहर के क्रियाकाण्ड में मानते हैं। दया, दान,

व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा, वह सब शुभराग है। राग, वह कोई धर्म नहीं है। उस राग को ज्ञानस्वरूप की दृष्टि से समकिती ने नाश किया है। भगवान ने पूर्ण ज्ञान के कारण से सब मोह का नाश किया है। आहाहा!

पापरूपी महा अन्धकार के समूह के लिए सूर्य समान है... भगवान **तथा जो परमात्मपद में स्थित है,...** आहाहा! वह परमात्मपद में स्थित तो समकिती भी है, परन्तु वह परमात्मपद में अन्दर में थोड़े स्थित हैं और सर्वज्ञ परमात्मा परमात्मपद में पूर्ण स्थित हैं। आहाहा! ऐसी बात है। दुनिया को कहाँ पड़ी है? अनादि से चौरासी लाख योनि में भटकते हैं। चौरासी लाख योनि में एक-एक में अनन्त अवतार किये और अभी मिथ्यात्व नहीं मिटाये, तब तक अनन्त अवतार करेगा। मिथ्यात्व क्या है और समकित क्या है, इसकी खबर नहीं। आहाहा! यह यहाँ अन्त में कहा। आलोचना का है न? आलोचना का अधिकार है न?

भगवानस्वरूप ज्ञान और आनन्द का नाथ प्रभु, उसे देखना, जानना और मानना, वह आलोचना है। भगवान को पूर्ण देखा, जाना और प्रगट किया। वह पूर्ण सूर्य है। आहाहा! और समकिती आदि जो पंचम गुणस्थानवाले सच्चे श्रावक, वे अन्तर के आनन्द के अनुभव को प्रगट करके मोह के अंश से जितनी शान्ति प्रगट की, उतनी अशान्ति अर्थात् मोह का नाश किया। जयवन्त वर्तो, ऐसा कहा।

यह अधिकार पूरा हुआ।

— ८ —

शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार

गाथा-११३

अथाखिलद्रव्यभावनोकर्मसन्न्यासहेतुभूतशुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः कथ्यते।

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो।।११३।।

व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामः करणनिग्रहो भावः।
स भवति प्रायश्चित्तं अनवरतं चैव कर्तव्यः।।११३।।

निश्चयप्रायश्चित्तस्वरूपाख्यानमेतत्। पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितिशीलसकलेन्द्रियवाङ्मनः-कायसंयमपरिणामः पञ्चेन्द्रियनिरोधश्च स खलु परिणतिविशेषः, प्रायः प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम्। अनवरतं चान्तर्मुखाकारपरमसमाधियुक्तेन परमजिनयोगीश्वरेण पापाटवीपावकेन पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखा-मणिना परमागममकरन्द-निष्यन्दिमुखपद्मप्रभेण कर्तव्य इति।

अब समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म के संन्यास के हेतुभूत शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त अधिकार कहा जाता है।

व्रत, समिति, संयम, शील, इन्द्रिय-रोध का जो भाव है।
वह भाव प्रायश्चित्त है, अरु अनवरत कर्तव्य है॥११३॥

अन्वयार्थः [व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामः] व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम तथा [करणनिग्रहः भावः] इन्द्रियनिग्रहरूप भाव [सः] वह [प्रायश्चित्तम्] प्रायश्चित्त [भवति] है [च एव] और वह [अनवरतं] निरन्तर [कर्तव्यः] कर्तव्य है।

टीका : यह, निश्चय-प्रायश्चित्त के स्वरूप का कथन है।

पाँच महाव्रतरूप, पाँच समितिरूप, शीलरूप और सर्व इन्द्रियों के तथा मन-वचन-काया के संयमरूप परिणाम तथा पाँच इन्द्रियों का निरोध—यह परिणतिविशेष सो प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त अर्थात् प्रायः चित्त—प्रचुररूप से निर्विकार चित्त। अन्तर्मुखाकार परम—समाधि से युक्त, परम जिनयोगीश्वर, पापरूपी अटवी को (जलाने के लिए) अग्नि समान, पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र परिग्रह के धारी, सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि समान और परमागमरूपी पुष्परस-झरते हुए मुखवाले पद्मप्रभ को यह प्रायश्चित्त निरन्तर कर्तव्य है।

गाथा -११३ पर प्रवचन

अब प्रायश्चित्त अधिकार। प्रायश्चित्त किसे कहना ? आहाहा !

अब समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म... अर्थात् पुण्य-पाप के भाव **तथा नोकर्म...** अर्थात् शरीर। इनका संन्यास, तीनों का त्याग। आहाहा ! **द्रव्यकर्म,...** जड़। **भावकर्म...** राग, पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत के परिणाम और **नोकर्म...** शरीर। तीनों का संन्यास। **संन्यास...** अर्थात् त्याग। **हेतुभूत शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त अधिकार कहा जाता है।** दोष लगे और गुरु के पास जाए और प्रायश्चित्त ले, वह तो व्यवहार है, शुभभाव है, पुण्य है। आहाहा ! आत्मा के पास जाए। भगवान चिदानन्द प्रभु के समीप जाए, अन्तर में अनुभव हो, इसका नाम निश्चयप्रायश्चित्त है। यह निश्चयप्रायश्चित्त का अधिकार है। शुद्धनिश्चय अधिकार कहा है।

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो।।११३।।

व्रत, समिति, संयम, शील, इन्द्रिय-रोध का जो भाव है।
वह भाव प्रायश्चित्त है, अरु अनवरत कर्तव्य है॥११३॥

टीका : यह, निश्चय-प्रायश्चित्त के स्वरूप का कथन है। ऐसा क्यों कहा ? कि व्रत शब्द पड़ा है। व्रत दो प्रकार के हैं। एक आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में लीन होना, वह निश्चय व्रत है और बाह्य में विकल्प उठना, पर की दया आदि भाव, वह व्यवहार है,

वह बन्ध का कारण है। आहाहा! इसलिए निश्चय कहा। **प्रायश्चित्त के स्वरूप का कथन है।** व्यवहार प्रायश्चित्त, वह व्यवहार विकल्प राग है। उसकी बात यहाँ नहीं है क्योंकि वह तो पुण्यबन्ध का कारण है। वह कहीं धर्म का कारण नहीं है। अन्तर में निश्चयप्रायश्चित्त (अर्थात्) आनन्दस्वरूप भगवान में व्रत अर्थात् लिपट जाना, लिपट जाना, इसका नाम निश्चयव्रत है। आहाहा! ऐसी बात सुनी न हो। अब उसे ऐसा लगे... बाहर की क्रिया करता हो। ऐसी तो अनन्त बार की है। नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' मुनिव्रत अनन्त बार धारण किया दिगम्बर, अट्ठाईस मूलगुण लिये, पंच महाव्रत पालन किये परन्तु वह तो आस्रव है, वह तो दुःख है। आहाहा! उससे रहित आत्मज्ञान...

विकल्प से, राग से रहित अन्दर चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा में लीन होना, इसका नाम व्रत है। यह निश्चयव्रत है। दया, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य का विकल्प उठे, वह पुण्य है। वह पुण्य, बन्ध का कारण है और यह प्रायश्चित्त, अबन्ध का कारण है। आहाहा! दुनिया की वर्तमान प्रवृत्ति के समक्ष कहीं पता नहीं लगता।

पाँच महाव्रतरूप,... यह पाँच महाव्रत कौन? अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्रता होना और वीतराग पर्याय प्रगट होना, इसका नाम महाव्रत कहा जाता है। आहाहा! निश्चय महाव्रत यह है। व्यवहार महाव्रत में तो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य का विकल्प उठता है, वह पुण्यबन्ध का कारण है, वह धर्म नहीं है। है? **पाँच महाव्रतरूप,...** आहाहा! राग की उत्पत्ति न करना और वीतरागदशा की उत्पत्ति होना, यह अहिंसाव्रत है। आहाहा!

सत्य। सत्य वस्तु जो त्रिकाली चिदानन्द प्रभु है, उसमें जो रागादि हैं, उन्हें दूर करके सत्य वस्तु की परिणति प्रगट करना, इसका नाम सत्यव्रत है। उसे सत्यव्रत कहते हैं। आहाहा! और चोरी के राग का त्याग, वह व्यवहार। यहाँ तो राग है, वह मेरा है—ऐसी चोरी का त्याग। राग 'मेरा' (है, ऐसा) माने वह चोर है। आहाहा! समयसार में आता है न? परवस्तु को अपनी माने, वह चोर है। रागादि परवस्तु है, उन्हें अपना माने, वह चोर है। आहाहा!

ब्रह्मचर्य। ब्रह्म अर्थात् आनन्द। अतीन्द्रिय आनन्द में चर्य अर्थात् रमना, वह

ब्रह्मचर्य है। शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, वह तो शुभभाव है। आहाहा! शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, बालब्रह्मचारी हो तो भी वह तो शुभभाव है, पुण्य है। निश्चय ब्रह्मचर्य तो ब्रह्म अर्थात् आनन्द। अतीन्द्रिय आनन्द में अन्दर चरना, अन्दर रमना, इसका नाम ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह। राग की भी पकड़ नहीं। राग से रहित भगवान आनन्दकन्द को पकड़कर स्थिर होना, इसका नाम अपरिग्रहव्रत कहा जाता है। बात-बात में अन्तर है। क्या करे? वस्तु ऐसी है। अनादि काल से भटकता है। अनन्त-अनन्त काल हुआ। अनन्त भव अभी तक किये। उसके पहले भव.. भव.. भव.. भव.. भव.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. कर चुका है। एक-एक नरक में, तिर्यंच के, पशु के अरे! देव के भी अनन्त भव कर चुका है। परन्तु आत्मज्ञान बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आया।

आत्मा क्या चीज़ है? यह पुण्य-पाप के राग से रहित है। नवतत्त्व में पुण्य-पाप है, वह तो बन्ध का कारण भिन्न है। उससे रहित ज्ञायकतत्त्व है, उसका भान नहीं किया और उसका यदि भान करे तो उसके आनन्द का स्वाद आये बिना नहीं रहे। 'आतमज्ञान बिन लेश सुख न पाया।' पंच महाव्रत लिये, अट्ठाईस मूलगुण पालन किये, परन्तु आत्मज्ञान बिन लेश सुख न पाया। वह आस्रव और पंच महाव्रत दुःखरूप है। आहाहा! गजब बात है। विकल्प है, राग है। वह बात यहाँ नहीं है।

यहाँ तो... आहाहा! **पाँच महाव्रतरूप,...** आत्मा का आनन्द और ज्ञानस्वरूपी भगवान में एकाग्र होना, लीनता होना, राग से भिन्न पड़ना, उसका नाम पंच महाव्रतरूप कहने में आता है। निश्चय पंच महाव्रत, वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! **पाँच समितिरूप,...** ऐसे बाहर में देखकर चलना, विचारकर बोलना, वह तो व्यवहार है, पुण्य है। समिति=सम+इति - प्रवृत्ति। राग से निवृत्त होकर अन्तर आनन्द और ज्ञान की समिति अर्थात् परिणति प्रगट करना, इसका नाम समिति कहा जाता है। आहाहा! **पाँच समिति...** ईर्यासमिति। अन्तर में बराबर जैसा चैतन्यस्वरूप है, उसे देखकर उसमें रमना, वह ईर्यासमिति है। आहाहा! भाषासमिति—सत्यस्वरूप आत्मा त्रिकाल सच्चिदानन्द प्रभु में लीनता (होना), वह भाषासमिति है।

मुमुक्षु : वहाँ भाषा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही भाषा। वहाँ भाषा है ही नहीं। भाषा है नहीं, वहाँ भाषासमिति।

निश्चय अन्दर स्वरूप में भाषारहित होकर अन्तर आनन्द का सागर प्रभु, चैतन्य रत्नाकर समुद्र भरा है। आत्मा में तो गुण का समुद्र भरा है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें रमे। वह यहाँ समुद्र है। यह समुद्र बाहर का है। यहाँ देह में भगवान है, वह आनन्द का समुद्र है, अमृत का सागर-समुद्र है। आहाहा! कभी कीमत कहाँ की है? बाहर के जगत की, धूल की कीमत और पाँच-पच्चीस लाख पैसे (रुपये)। आज उसमें आया है, भाई! मासिक कहते हैं न? क्या कहलाता है? अपना आत्मधर्म। उसमें वहाँ पैसे कितने खर्च हुए, नाम दिया है। जतीशभाई ने। वहाँ नैरोबी गये थे न? पच्चीस हजार से किसी ने कम दिया ही नहीं। आया है। पढ़ा है। था सही। यह? यह नया आया है। एक व्यक्ति ने साढ़े पाँच लाख दिये हैं। साढ़े पाँच लाख देकर मूर्ति स्थापित की है। अभी हम वहाँ अफ्रीका गये थे न! छब्बीस दिन रहे थे। पैंतालीस लाख रुपये इकट्ठे किये। छब्बीस दिन में पैंतालीस लाख। अभी हम गये थे न? छब्बीस दिन रहे थे। नैरोबी, अफ्रीका। वह भी यहाँ लिया है। जतीशभाई ने लिया है।

मुमुक्षु : आपका पुण्य-प्रभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग वस्तु है। परन्तु यह तो उसमें आया। अपने महाजन लोग वहाँ हैं। छह हजार महाजन लोग हैं। व्याख्यान में गुजराती भाषा चलती है, हिन्दी नहीं। सब हिन्दी लोग थे। अपने मुमुक्षु के साठ घर हैं। मन्दिर कभी बनाया नहीं था तो मन्दिर बनाते हैं। पच्चीस लाख का मन्दिर बनानेवाले हैं और पैंतालीस लाख का तो दान इकट्ठा हुआ है। बड़े गृहस्थ हैं। छब्बीस दिन रहे परन्तु लोगों को बहुत प्रेम। बहुत दूर, तीन-तीन हजार मील। तीन हजार मील दूर अफ्रीका। अभी पौष महीने में गये थे। परन्तु वहाँ बात इतनी कि साढ़े पाँच लाख देकर लक्ष्मीचन्दभाई ने एक मूर्ति पधरायी। साढ़े पाँच लाख। तो उन्हें कहा, कि तुमने साढ़े पाँच लाख की मूर्ति पधरायी, इसलिए धर्म होगा, ऐसा नहीं है। वह तो अशुभ के बचने को शुभभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : साढ़े पाँच लाख देने के बाद कहा या साढ़े पाँच लाख देने से पहले कहा था?

पूज्य गुरुदेवश्री : सबको पहले से ही कह दिया था। वहाँ तो अपने आठ तो करोड़पति मुमुक्षु हैं। मुमुक्षु हैं। साठ घर हैं, उनमें आठ तो करोड़पति हैं। दूसरे भी पन्द्रह लाख, बीस लाख, दस लाख, पच्चीस लाख ऐसे तो साठ घर में कितने ही हैं। वहाँ महँगाई भी बहुत है। यहाँ तो पहले से कहा था, तुम चाहे जितने पैसे खर्च करो तो उसमें से धर्म होगा या भगवान के दर्शन करने से धर्म होगा, ऐसा नहीं है। इन भगवान के दर्शन करने से शुभभाव पुण्य होगा। यह भगवान जो आत्मा चिदानन्द... आहाहा! उसका आश्रय लेना और उसकी स्थापना करना कि मैं आनन्द और शुद्ध चैतन्य हूँ, रागादि मैं नहीं - ऐसी भावस्थापना करना, वह वास्तविक धर्म है। आहाहा! वहाँ तो बहुत लोग आते थे। बहुत, वहाँ परदेश में कौन जाए? परन्तु उन लोगों की बहुत माँग थी, इसलिए छब्बीस दिन रहे थे। जिस मकान में उतरे थे, वह पन्द्रह लाख का मकान था। पन्द्रह लाख का तो गृहस्थ का मकान। उसके पास पैसे तो बहुत थे। बेचारा पूरे दिन मेरे पास बैठे। नरम व्यक्ति, बहुत नरम। उस सब धूल में क्या है? कहा। बीस लाख या पन्द्रह लाख या करोड़पति। आहाहा!

एक गाँव में सात लाख की बस्ती है। उसमें साढ़े चार सौ तो करोड़पति हैं। साढ़े चार सौ। और पन्द्रह अरबपति हैं। कहा, यह सब धूल है, यह मिट्टी है, अजीव है, पुद्गल है। उसे मेरा मानना, यह मिथ्यादृष्टि है। जड़ को अपना मानना... जड़ चीज़ तो पर है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! दुनिया तो पैसा खर्च करे तो धर्म मनावे। यहाँ तो साठ लाख इकट्ठे किये, साठ लाख क्या, पाँच करोड़ इकट्ठे करो न तुम! वह शुभभाव-पुण्य है। अशुभ से बचने के लिये ऐसा भाव आता है परन्तु उसमें धर्म हो जाए, (ऐसा नहीं है)। ऐसा तो अनन्त बार किया है।

यहाँ तो कहते हैं कि पाँच समिति अन्तर की। आहाहा! ऐषणासमिति, आहार-पानी की नहीं। अन्दर के आत्मा को खोजना—शोधना, वह ऐषणासमिति है। आहाहा! निश्चय है न? निश्चयप्रायश्चित्त है न? यह निश्चय है। आहाहा! मुनिराज ऐसा कहते हैं कि अन्तर में भगवान आत्मा देह से भिन्न, पुण्य-पाप के राग से भिन्न, ऐसा जो भगवान अन्दर चैतन्यस्वरूपी परमात्मा है, उसकी शोध करके रमणता करना, इसका नाम ऐषणासमिति है। आहाहा! यह पाँचों ही समिति निश्चय है। आहाहा! पठववहु रागादि को छोड़ना और स्वरूप में रमना, यह चौथी समिति है। आहाहा! पाँच समिति है न? इन चार के पश्चात् कौन सी?

मुमुक्षु : आदाननिक्षेपण।

पूज्य गुरुदेवश्री : आदाननिक्षेपण। वस्तु को लेना और छोड़ना, यह व्यवहार। यह आदाननिक्षेपण। आत्मा को आदान अर्थात् ग्रहण करना और राग को छोड़ना। आहाहा! यहाँ ऐसा कहते हैं। अरे रे! ऐसा सुनने को मिलता नहीं। जिन्दगी चली जाती है। देह की स्थिति पूरी हो जाएगी। आत्मा तो रहेगा। देह की स्थिति पूरी हो जाएगी। उसकी अवधि है, उसका तो निश्चित हो गया है। जिस समय में देह छूटनी है, जिस क्षेत्र में, वह निश्चित हो गया है। केवलज्ञानी ने तो देखा है परन्तु उसकी आयुष्य की स्थिति में निश्चित हो गया है। जिस समय में, जिस काल में, जिस संयोग से लाख डॉक्टर-वॉक्टर उतरे, उनके इंजेक्शन में कुछ चले, ऐसा नहीं है। देह की स्थिति पूरी होने को आवे, वहाँ आत्मा तो चला जाएगा। कहाँ जाएगा? वस्तु है या नहीं? अस्ति तत्त्व है, कहाँ जाएगा? भान नहीं तो भटकने में जाएगा। आहाहा! नरक और निगोद। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदि लट, चींटी और मकोड़ा। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि ऐषणा अर्थात् छोड़ना। राग को छोड़कर स्वरूप में स्थिर होना, वह आदाननिक्षेपण। आहाहा! यह निश्चय है न? निश्चय है।

पाँच महाव्रतरूप, पाँच समितिरूप, शीलरूप... शील अर्थात् आत्मस्वभाव। आत्मा का स्वभाव शान्तरस और आनन्द है। उसे अन्दर में प्रगट करना, इसका नाम शीलरूप है। अकेला शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, वह शीलरूप नहीं। ऐसा तो अनन्त बार पालन किया है। बालब्रह्मचारीरूप से अनन्त बार हुआ है। आहाहा! उससे पुण्य बन्धन होता है। यह आत्मा ब्रह्म अर्थात् आत्मा, उसमें चरना—रमना, उसका नाम ब्रह्मचर्य है। उसे यहाँ निश्चयसमिति में डाला है। समझ में आया? शील में डाला है। शील - शील। आहाहा!

और सर्व इन्द्रियों के तथा मन-वचन-काया के संयमरूप परिणाम... यह प्रायश्चित्त। क्या कहा? **सर्व इन्द्रियों...** पाँचों ही इन्द्रियों को रोककर अनीन्द्रिय ऐसा भगवान आत्मा, उसमें एकाकार रहना... आहाहा! उसका नाम संयम का परिणाम है। **मन-वचन-काया के संयमरूप परिणाम...** मन-वचन-काया का लक्ष्य छोड़कर अन्दर संयमरूप परिणाम (होना)। **तथा पाँच इन्द्रियों का निरोध...** पाँच इन्द्रियों को रोकना। आहाहा! **यह परिणतिविशेष, सो प्रायश्चित्त है।** लो! इसे प्रायश्चित्त कहा है। आहाहा!

दिगम्बर मुनि हैं। उन्होंने यह टीका की है। कुन्दकुन्दाचार्य ने गाथा (रची है)। वे तो अन्तिम गाथा में ऐसा बोले, यह पुस्तक मैंने मेरी भावना के लिये बनायी है। मेरी भावना के लिये मैंने बनाया है। तुम समझो, न समझो तुम्हारी इच्छा। अन्तिम गाथा है। मेरी भावना के लिये मैंने बनाया है। देखो न! अन्तिम है न? १८७, १८७ गाथा है।

'**णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।**' - १८७ गाथा। है? '**णियभावणा**' मेरी भावना के कारण से। '**मए कदं**' मैंने किया है। '**णियमसारणामसुदं**' '**णच्चा जिणोवदेसं**' वीतराग के उपदेश को भलीभाँति जानकर किया है। '**पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं**' पहले और पश्चात् के दोषरहित है। पहले कुछ कहा और बाद में कुछ कहा, ऐसा यहाँ नहीं है। पूर्वापर दोषरहित है। यह मैंने मेरी भावना के लिये बनाया है, कहते हैं। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य। मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो - तीसरे नम्बर में आये। वे कहते हैं कि यह तो मैंने मेरे लिये बनाया है। आहाहा! उसमें यह आया। आहाहा!

यह परिणतिविशेष, सो प्रायश्चित्त है। निश्चय से वह प्रायश्चित्त है। अपना स्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द का सागर आत्मा, अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर / समुद्र, ऐसी चीज़ में अन्तर रमना, उसमें जम जाना, उसका नाम प्रायश्चित्त है। आहाहा! ऐसा सुनकर कभी किया नहीं, इसलिए कठिन लगता है। सत्य तो यह है। बाकी सब दुनिया की असत् की कल्पनाएँ हैं। आहाहा!

प्रायश्चित्त अर्थात् प्रायः चित्त—प्रचुररूप से निर्विकार चित्त। प्रायश्चित्त की व्याख्या की है। आहाहा! प्रचुर अर्थात् जोरदाररूप से निर्विकारी चित्त, निर्विकारी ज्ञान। पुण्य और पाप के विकल्परहित का निर्विकारी ज्ञान, निर्विकारी प्रतीति। उसका नाम यहाँ प्रायश्चित्त, सत्य और निश्चय तथा सत्य कहा जाता है। आहाहा! पूरे दिन संसार में पड़े हैं, धन्धे में, स्त्री-पुत्र में। उसे यह कान में भी नहीं पड़ता और कान में पड़े तो लगता है कि यह क्या? यह तो क्या कहते हैं? ऐसा लगता है। सत्य तो यही है। बाकी सब असत्य की बातें हैं। व्यवहार की बातें जितनी हैं, वे असत्य हैं और पुण्यबन्ध का कारण है। निश्चय का सत्य तो यह है।

अपने स्वभाव का आश्रय लेकर चिदानन्द प्रभु आत्मा... आहाहा! अतीन्द्रिय शान्त

और आनन्द का सागर, उसमें एकाग्र होना, उसे निश्चय प्रायश्चित्त कहा जाता है। उसका वास्तविक पाप उसे टलता है। अज्ञानी की बाहर की वृत्ति के व्यवहार प्रायश्चित्त से पुण्य बन्धन है। आहाहा! **यह परिणतिविशेष, सो प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त अर्थात् प्रायः चित्त—प्रचुररूप से निर्विकार चित्त।** आहाहा! पुण्य-पाप के राग से रहित, आत्मा में शुद्धता में प्रचुर रमणता, प्रचुर एकाग्रता। आहाहा! है? **प्रचुररूप से निर्विकार चित्त।** चित्त अर्थात् ज्ञान। निर्विकार ज्ञान जहाँ होता है, उसे यहाँ प्रायश्चित्त कहा जाता है। आहाहा! शब्द-शब्द में अन्तर है। समकिती और मिथ्यादृष्टि की बात ही एकदम अलग होती है। मिथ्यादृष्टि व्यवहार में धर्म मनाता है। भगवान कहते हैं कि वह तेरा व्यवहार पुण्यबन्ध का कारण है। मुझे माने तो भी तुझे पुण्य है, ले! ऐसा भगवान कहते हैं। मुझे माने तो मैं परद्रव्य हूँ। मुझे तू माने तो राग है। आहाहा! तुझे तू मान। शुद्धचैतन्यघन आनन्दकन्द अन्दर अमृत का सागर प्रभु ध्रुव नित्यानन्द प्रभु अन्दर विराजमान है। उसमें लीनता, निर्विकारता का नाम प्रायश्चित्त कहा जाता है।

अन्तर्मुखाकार... अन्तर्मुखाकार। आहाहा! पुण्य और पाप का आकार बहिर्मुख है, उससे रहित अन्तर्मुखाकार आनन्दस्वरूप के आकार में... आहाहा! **परम—समाधि से युक्त,...** शान्ति। समाधि अर्थात् शान्ति। राग के कणरहित, पुण्य-पाप के भावरहित आत्मा की शान्ति, उसे यहाँ समाधि कहते हैं। वे बाबा समाधि लगाते हैं, वह नहीं। आहाहा! ऐसी समाधि, उसका नाम प्रायश्चित्त है। आहाहा! है? **अन्तर्मुखाकार परम—समाधि से युक्त,...** आहाहा! अन्तर्मुख। देह का लक्ष्य नहीं, पुण्य-पाप के भाव का लक्ष्य नहीं। उससे रहित भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ भरपूर है, उसमें से वीतरागता और सर्वज्ञ होता है। ऐसी चीज़ पर अन्तर्मुख होना। आहाहा!

अन्तर्मुखाकार परम—समाधि से युक्त, परम जिनयोगीश्वर,... आहाहा! परम जिनयोग। जिन्होंने स्वरूप में योग-साधन किया है। बाबा-योगी करते हैं, वह नहीं। वीतराग ने कहा, ऐसे आत्मा में योग जोड़ दिया है। आहाहा! वे **परम जिनयोगीश्वर, पापरूपी अटवी को (जलाने के लिए) अग्नि समान,...** आहाहा! उन्हें सच्चा प्रायश्चित्त होता है, ऐसा कहते हैं। **पापरूपी अटवी को (जलाने के लिए) अग्नि समान, पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित...** आहाहा! पाँचों ही इन्द्रियाँ, उनकी ओर का बाह्य झुकाव, उससे रहित। अन्तर्मुख अतीन्द्रिय भगवान के प्रति सन्मुखता-झुकाव। आहाहा! **पाँच**

इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र परिग्रह के धारी,... मुनि हैं। मुनि को एक देह ही होता है। दूसरा वस्त्र-पात्र कुछ नहीं होता। आहाहा! आत्मा के आनन्द में वे तो रमते हैं। आहाहा! है?

मुमुक्षु : पिच्छी-कमण्डल तो होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पिच्छी-कमण्डल हो, वह अपवादित है। आनन्द में रमे और शरीरमात्र परिग्रह हो। शरीर छूटता नहीं इसलिए। पिच्छी, कमण्डल बाह्य है।

पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र परिग्रह के धारी,... देखो! एक देह छूटता नहीं। इतने आनन्द के नाथ में रमते हैं, उन्हें मुनि कहते हैं कि जो अतीन्द्रिय आनन्द में उत्कृष्ट शान्ति से रमते हों, जिन्हें विकल्प का आदर नहीं है, जिन्हें नग्नदशा का भी आदर नहीं है। आहाहा!

सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि... प्रायश्चित्त में धर्मात्मा मुनि की बात की है। **सहज वैराग्यरूपी...** पुण्य और पाप के राग से भी भिन्न वैराग्यरूपी। पुण्य और पाप में रक्त है, उससे छूटकर आत्मा में रक्त। पुण्य-पाप से विरक्त और आत्मा में रक्त। आहाहा! अब ऐसी बातें। **सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर...** सहज वैराग्य का महल, बड़ा मकान। उसके शिखर का शिखामणि। आहाहा! जिन्होंने वीतरागता प्रगट की है, जिन्होंने राग का तो नाश किया है, ऐसी जो अन्तरदशा, आहाहा! **और परमागमरूपी पुष्परस-झरते हुए...** आहाहा! स्वयं की बात करते हैं। दिगम्बर मुनि हैं। जंगल में रहते हैं। हजार वर्ष, नौ सौ वर्ष पहले। यह नौ सौ वर्ष पहले की यह टीका है। मूल श्लोक हैं, वे भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के हैं। उन्हें तो दो हजार वर्ष हुए।

यहाँ कहते हैं... आहाहा! **सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि समान और परमागमरूपी पुष्परस...** परमागम महा निश्चयस्वभाव। ऐसा जो पुष्परस झरते हुए... आहाहा! मुनि के मुख में से परम आनन्द झरता है, कहते हैं। निश्चय की बात करते हुए अन्दर से आनन्द आता है। है? **परमागमरूपी पुष्परस-झरते हुए मुखवाले पद्मप्रभ को...** स्वयं का नाम दिया है। (टीका) करनेवाले पद्मप्रभ दिगम्बर मुनि हैं। हे पद्मप्रभ! स्वयं को कहते हैं। तेरा आनन्दरस अन्दर भरा है, तू अब वहाँ रह। आहाहा! **पद्मप्रभ को यह प्रायश्चित्त निरन्तर कर्तव्य है।** हे मुनि! स्वयं स्वयं को कहते हैं कि यह प्रायश्चित्त तुझे निरन्तर कर्तव्य है। यह निश्चय प्रायश्चित्त तुझे निरन्तर कर्तव्य है। आहाहा! है?

परमागमरूपी पुष्परस-झरते हुए मुखवाले पद्मप्रभ को... 'पद्मप्रभ' कहते हैं कि तेरे मुख में से तो परम आगम झरता है। यह परम आगम है। टीका परम आगम है। आहाहा! **यह प्रायश्चित्त निरन्तर कर्तव्य है।** मुनि को तो इस वीतरागता में रमणता, यह निरन्तर कर्तव्य है। आहाहा! ऐसे स्वयं अपने को कहते हैं। हे पद्मप्रभमलधारि! हे मुनि! स्वयं स्वयं को कहते हैं। है न?

मुमुक्षु : छठवें गुणस्थान में आना सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही होता है। छठा गुणस्थान... मुनि की दशा तो, बापू! दूसरी है। वह कोई अलौकिक बातें हैं। अभी सामायिक का ठिकाना नहीं। राग से धर्म मनावे, पुण्य से धर्म मनावे, वह तो मिथ्यात्व है।

यहाँ तो कहते हैं, हे पद्मप्रभमलधारि! मुनि स्वयं को कहते हैं, हों! तुझे यह प्रायश्चित्त... आहाहा! द्रव्य-वस्तु जो स्वभाव भगवान आत्मा है, उसमें रहना, यह निरन्तर तेरा कर्तव्य है। आहाहा! हे पद्मप्रभमलधारि! ऐसा कहकर स्वयं को कहते हैं। आहाहा! तुझे **यह प्रायश्चित्त निरन्तर कर्तव्य है।** आहाहा! समकिती की अन्तरदशा में भी थोड़ा आनन्द और थोड़ी शान्ति है, परन्तु अभी दूसरे रागादि हैं, उतना बन्ध है। जितनी आत्मा के आश्रय से शुद्धता प्रगट की, उतना धर्म है। मुनि को तो पूर्ण धर्म है। थोड़ा महाव्रतादि का विकल्प आता है तो उससे भिन्न अपनी चीज़ का अनुभव करते हैं। वह निरन्तर कर्तव्य है। महाव्रतादि के परिणाम, व्यवहार वह तेरा निरन्तर कर्तव्य नहीं। ऐसा आया न? आहाहा!

तुझे निरन्तर यह प्रायश्चित्त का कर्तव्य है। आहाहा! पंच महाव्रत और पाँच समिति, गुप्ति कही न? समिति और शीलरूप, इन्द्रियों का निरोध, मन-वचन-काया के संयमरूप परिणाम, वह तेरा निरन्तर कर्तव्य है। यह धर्म है। यह जन्म-मरण छोड़ने की पद्धति है। बाकी दूसरे को बाहर की क्रियाकाण्ड में सन्तोष मनावे, वह स्वतन्त्र है, जिनमार्ग नहीं, वह वीतरागमार्ग नहीं। वीतरागमार्ग तो राग से रहित अन्दर में रमे, वह वीतरागमार्ग है। राग में रमे, वह वीतरागमार्ग नहीं है। आहाहा!

इसलिए यह मुनि कहते हैं, हे मुनि! तुझे यह कर्तव्य है। अन्तर में आनन्दसहित रमना। आहाहा! महाव्रत और समिति-गुप्ति अन्तर आनन्दस्वरूप में है, वह तेरा निरन्तर कर्तव्य है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१८०

[अब, इस ११३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिन्ता मुनीनां,
मुक्तिं यान्ति स्वसुखरतयस्तेन निर्धूत-पापा:।
अन्या चिन्ता यदि च यमिनां ते विमूढा: स्मरार्ता:,
पापा: पापं विदधति मुहु: किं पुनश्चित्रमेतत् ।।१८०।।

(वीरछन्द)

मुनियों को जो रहे निरन्तर निज चिन्तन प्रायश्चित है।
निज सुख रतिमय प्रायश्चित से पाप क्षपण कर मुक्ति लहें॥
उन्हें अन्य कोई चिन्ता हो तो विमूढ़ कामार्त अहो।
पुन: पाप उत्पन्न करें - इसमें न हमें कुछ अचरज हो॥१८०॥

[श्लोकार्थ:] मुनियों को स्वात्मा का चिन्तन वह निरन्तर प्रायश्चित्त है; निज सुख में रतिवाले वे उस प्रायश्चित्त द्वारा पाप को खिराकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। यदि मुनियों को (स्वात्मा के अतिरिक्त) अन्य चिन्ता हो तो वे विमूढ़ कामार्त पापी पुन: पाप को उत्पन्न करते हैं।—इसमें क्या आश्चर्य है ?॥१८०॥

प्रवचन-१३२, श्लोक-१८०-१८१, गाथा-११४, शुक्रवार, ज्येष्ठ शुक्ल ९, दिनांक २३-०५-१९८०

नियमसार, १८० कलश है। कलश १८०।

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिन्ता मुनीनां,
मुक्तिं यान्ति स्वसुखरतयस्तेन निर्धूत-पापा:।
अन्या चिन्ता यदि च यमिनां ते विमूढा: स्मरार्ता:,
पापा: पापं विदधति मुहु: किं पुनश्चित्रमेतत् ।।१८०।।

[श्लोकार्थः] मुनियों को स्वात्मा का चिन्तन... देखा! कोई क्रिया नहीं। स्व-आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसका चिन्तन अर्थात् विकल्प नहीं; एकाग्रता। **मुनियों को स्वात्मा का...** - ऐसा कहकर परमात्मा पंच परमेष्ठी का भी ध्यान में राग है। पंच परमेष्ठी भी परद्रव्य है, उनका चिन्तवन करने से भी राग होता है। **स्वात्मा का चिन्तन वह निरन्तर प्रायश्चित्त है;...** आहाहा! अन्तर आनन्दस्वरूप का स्वाद लेने पर, सुख में मग्न होने पर, अतीन्द्रिय सुख में मग्न होने पर निरन्तर प्रायश्चित्त है। आहाहा!

निज सुख में रतिवाले... मुनि उन्हें कहते हैं, अपने आनन्द में प्रेमवाले। जिन्हें निज आनन्द में रति है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को भी निज रति आनन्द में है परन्तु आनन्द थोड़ा होता है। सम्यग्दर्शन में आनन्द थोड़ा होता है। पाँचवें गुणस्थान में विशेष होता है, मुनि को विशेष होता है। इसलिए कहते हैं, **सुख में रतिवाले वे उस प्रायश्चित्त द्वारा पाप को खिराकर...** आहाहा! यह प्रायश्चित्त। स्वरूप में एकाग्रता, अतीन्द्रिय आनन्द में उग्रता, वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! **वे उस प्रायश्चित्त द्वारा पाप को खिराकर...** पाप को खिराकर, ऐसा कहा। पुण्य-पाप दोनों को पाप कहा। शुभ और अशुभभाव दोनों को खिराकर मुक्ति को प्राप्त करते हैं। आहाहा! मार्ग भी बताया और मार्ग का फल भी बताया। अन्तर आनन्दस्वरूप में रति—प्रेम और आनन्द का वेदन। उस वेदन द्वारा पाप अर्थात् शुभ-अशुभभाव को झाड़कर उनका नाश करते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं। झाड़कर, वापस होता है। यहाँ तो समझाना है न? झाड़ना कहाँ है?

अन्तर में आनन्द में रमते हुए, ध्यान हो, तब राग उत्पन्न नहीं होता, उसे खिरा डाला, ऐसा कहने में आता है। राग का खिराना, ऐसा कहाँ है? यह तो (समयसार) ३४ गाथा में आ गया है। राग का नाश भी नाममात्र है। राग का नाश आत्मा करता है, यह नाममात्र है। आहाहा! यह तो आत्मा आनन्दस्वरूप में रमता है, इसलिए राग की उत्पत्ति नहीं होती। उसने राग को झाड़ दिया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : कहना कुछ और आचरना कुछ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु यह है। भाषा किस प्रकार लाना? कर्म छूट जाते हैं, उसकी भाषा क्या लाना? इसलिए खिरा डालते हैं, ऐसा (कहते हैं)। आहाहा! समयसार की ३४ गाथा में तो ऐसा कहा कि राग और द्वेष का नाश करता है, वह नाममात्र है। आत्मा नाश

करता नहीं। परमार्थ से नाश नहीं करता। अन्दर स्वरूप में रमता है, इसलिए उत्पन्न नहीं होता। उसे नाश करता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

यदि मुनियों को (स्वात्मा के अतिरिक्त)... देखो, आहाहा! **अन्य चिन्ता हो...** अन्य द्रव्य की कोई भी चिन्ता हो। आहाहा! पंच परमेष्ठी की भी यदि चिन्ता हो तो राग है। **अन्य चिन्ता हो तो वे विमूढ़...** आहाहा! **कामार्त...** इच्छा का कामी है, कहते हैं। आहाहा! **पापी पुनः पाप को उत्पन्न करते हैं।** आहाहा! मुनि, मुनि को कहते हैं। स्वयं मुनि है। अपने आनन्दस्वरूप भगवान में से बाहर निकलने से परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाने पर चाहे तो पंच परमेष्ठी हो, उनका स्मरण हो तो वह शुभराग है। आहाहा! वह कोई धर्म नहीं है, वह कोई मुक्ति का कारण नहीं है। इसलिए कहा, पापी, तेरे स्वस्वभाव का आश्रय छोड़कर यदि परपदार्थ के आश्रय में रुका तो पापी है। आहाहा! **पापी पुनः पाप को उत्पन्न करते हैं।** आहाहा! **इसमें क्या आश्चर्य है ?** आहाहा! है न? यह १८० कलश (पूरा) हुआ।

गाथा-११४

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो।।११४।।

क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां निर्ग्रहणम्।
प्रायश्चित्तं भणितं निज-गुण-चिन्ता च निश्चयतः।।११४।।

इह हि सकलकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तमुक्तम्। क्रोधादिनिखिलमोहरागद्वेष-विभावस्वभावक्षयकारणनिजकारणपरमात्मस्वभावनायां सत्यां निसर्गवृत्त्या प्रायश्चित्त-मभिहितं अथवा परमात्मगुणात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपसहजज्ञानादिसहजगुणचिन्ता प्रायश्चित्तं भवतीति।

क्रोधादि आत्म-विभाव के क्षय आदि की जो भवाना।
है नियत प्रायश्चित्त वह जिसमें स्वगुण की चिन्तना॥११४॥

अन्वयार्थ : [क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां] क्रोध आदि स्वकीय भावों के (-अपने विभावभावों के) क्षयादिक की भावना में [निर्ग्रहणम्] रहना [च] और [निजगुणचिन्ता] निज गुणों का चिन्तन करना, वह [निश्चयतः] निश्चय से [प्रायश्चित्तं भणितम्] प्रायश्चित्त कहा है।

टीका : यहाँ (इस गाथा में) सकल कर्मों को मूल से उखाड़ देने में समर्थ ऐसा निश्चय-प्रायश्चित्त कहा गया है।

क्रोधादिक समस्त मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों के क्षय के कारणभूत निज कारणपरमात्मा के स्वभाव की भावना होने पर निसर्गवृत्ति के कारण (अर्थात् स्वाभाविक-सहज परिणति होने के कारण) प्रायश्चित्त कहा गया है; अथवा ,परमात्मा के गुणात्मक ऐसे जो शुद्ध-अन्तःतत्त्वरूप (निज) स्वरूप के सहजज्ञानादिक सहजगुण उनका चिन्तन करना वह प्रायश्चित्त है।

गाथा -११४ पर प्रवचन

११४ गाथा।

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं ।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो ।।११४।।

क्रोधादि आत्म-विभाव के क्षय आदि की जो भवाना।
है नियत प्रायश्चित्त वह जिसमें स्वगुण की चिन्तना॥११४॥

टीका : यहाँ (इस गाथा में) सकल कर्मों को मूल से उखाड़ देने में समर्थ.... लो! ठीक। आत्मा कर्म को तो स्पर्श भी नहीं करता। कर्म और आत्मा के बीच तो अत्यन्ताभाव है। निमित्त से कथन है। आहाहा! किस शैली का कथन है, यह न जाने। जड़ है, एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता तो फिर अरूपी आत्मा कर्म को स्पर्श नहीं करता और कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करता। अब यह स्पर्श नहीं करता, उसका नाश करना। आहाहा! है ? **सकल कर्मों को मूल से उखाड़ देने में....** मूल से उखाड़ देने में अर्थात् उनका अंश भी नहीं रहे। **समर्थ ऐसा निश्चय-प्रायश्चित्त कहा गया है।** आहाहा!

क्रोधादिक समस्त मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों के... यहाँ क्या कहते हैं ? क्रोध शब्द से द्वेष का भाव। द्वेष के दो प्रकार :— क्रोध और मान। राग के दो प्रकार :— माया और लोभ। उन्हें **समस्त मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों के...** अर्थात् वह अपना स्वभाव है। है ? गाथा में है, देखो! क्रोध इत्यादि स्वकीय भाव के... अन्वयार्थ में है। गाथा में अन्वयार्थ में है। क्रोध मूल पाठ में है। **क्रोधादिस्वकीयभाव** आहाहा! ११४ गाथा। जो विकार है, वह स्वकीय अपना भाव है। आहाहा! है ? **'क्रोधादिस्वकीयभावक्षय-प्रभृतिभावनायां' क्रोध आदि स्वकीय भावों के (-अपने विभावभावों के)...** आहाहा! क्रोध, मान, दया, दान, व्रत, भक्ति वह बन्ध का कारण है, तथापि अपना है। अपने में, अपने में, स्वयं उनका कर्ता है। आहाहा!

यहाँ एक ओर ऐसा कहे, एक ओर ७५ गाथा (समयसार) में ऐसा कहे कि आत्मा अपने स्वभाव में व्यापक होने से स्वभाव का वह कर्ता है और विभाव का व्यापक कर्म है और विभाव उसका व्याप्य अर्थात् कार्य है। आहाहा! वहाँ स्वभाव को भिन्न करके विभाव

को कर्म के निमित्त से हुए को दो में एक कर डाला। ७५ गाथा (समयसार)। आहाहा! कर्म व्यापक है - कर्ता और विकार कार्य है। वहाँ ज्ञानी की बात है। ७५ गाथा। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि विकार स्वकीय है। मेरी पर्याय में - अवस्था में उससे होता है; पर के कारण नहीं, पर में नहीं, पर से नहीं। आहाहा! घड़ीक में ऐसा आवे, घड़ीक में ऐसा आवे। लो! क्या अपेक्षा है? ७५-७६ में जो कहा कि कर्म व्यापक, कर्म कर्ता और रागादि कार्य, वह तो स्वभाव की दृष्टि हुई है, वहाँ दृष्टि में वह राग नहीं है। जैसे कर्म नहीं, वैसे भाव भी नहीं। इस प्रकार ज्ञानी को राग और द्वेष है नहीं, इस अपेक्षा से (कहा है)। यहाँ कहते हैं, ज्ञानी मुनि को अभी राग होता है। है? स्वकीय पाठ है न? स्वकीय, ११४ गाथा। **क्रोध आदि स्वकीय भावों के...** पाठ में है। क्रोधादि स्वकीय भाव। वे अपने भाव हैं। आहाहा! प्रायश्चित्त का अधिकार है। प्रायश्चित्त है, तब इसमें होवे उसमें से छोड़े न? दूसरे के कहे तो उसे छोड़े कहाँ? आहाहा!

यहाँ (इस गाथा में) सकल कर्मों को मूल से उखाड़ देने में समर्थ ऐसा निश्चय-प्रायश्चित्त कहा गया है। सत्य प्रायश्चित्त है। दोष लगा हो और गुरु के निकट प्रायश्चित्त लेना, वह तो विकल्प और व्यवहार है। आहाहा! **क्रोधादिक...** अर्थात् मान, माया, लोभ, दया, दान, व्रत, भक्ति **समस्त मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों...** स्वकीय कहा था न? अर्थात् वह अपना स्व भाव है। आहाहा! विकार मुनि को भी अपना स्व भाव है। यह है तो मुनि की व्याख्या। आहाहा! एक ओर विकार को जड़ कहे और कर्म का कार्य कहे। वह तो जैसे जड़ इसका नहीं है, वैसे उसका फल जो विकार वह भी नहीं है। दो को एक करके निकाल डाला और यहाँ तो इसकी पर्याय में है, उसका नाश होता है। दूसरे का दूसरे में हो और दूसरे का नाश यह तो कर नहीं सकता। दूसरे में होवे तो दूसरे को स्पर्श नहीं करता और नाश नहीं कर सकता। आहाहा! ऐसी बातें हैं। समझ में आया?

मोहरागद्वेषरूप... पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि भी मुनि के भाव। मुनि के, हों! उन्हें विकार है। आहाहा! वह विभावस्वभाव है। विकार स्व-अपना भाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : पाँच महाव्रत?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह विकारी भाव है। यह अपने कल आ गया। पाँच महाव्रत,

पाँच समिति, निश्चय में अन्तर में ध्यान, वह निश्चय प्रायश्चित्त है। लोग जो बाहर व्रत लेते हैं, वह तो विकल्प है। कल आ गया था।

पाँच महाव्रतरूप, पाँच समितिरूप, शीलरूप और सर्व इन्द्रियों के तथा मन-वचन-काया के संयमरूप परिणाम तथा पाँच इन्द्रियों का निरोध—यह परिणतिविशेष सो प्रायश्चित्त है। यह ११३वीं गाथा में आ गया था। आहाहा! यह दुनिया से अलग चीज़ है। एक ओर ऐसा कहे कि विकार जीव का नहीं। जीव के स्वभाव में कोई एक भी गुण; अनन्त गुण है, अनन्त-अनन्त गुण है परन्तु एक भी गुण विकार करे - ऐसा कोई गुण ही नहीं है। आहाहा! यह क्या कहा? आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण हैं, बेहद गुण हैं। तीन काल के समय की अपेक्षा भी अनन्तगुने गुण हैं, तथापि एक भी गुण ऐसा नहीं है कि विकार करे। आहाहा!

मुमुक्षु : वैभाविकगुण है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय में अद्धर से होता है। निमित्त के आधीन पर्याय में होता है। कोई गुण ऐसा नहीं है कि विकार करे। आहाहा!

मुमुक्षु : वैभाविकगुण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वैभाविकगुण भले हो। विभाविक कहा न? स्व। विभाविक भाव स्व है। इसकी पर्याय में है। स्वकीय कहा न? इसकी पर्याय में है, इसका है, इसका किया हुआ है, उसका यह कर्ता है, उसे यह वेदता है। आहाहा! उसका यहाँ नाश करना है। सूक्ष्म बात है, भाई! आड़ी-टेड़ी बात हो जाए। जिस जगह किस अपेक्षा से कहा है, वह अपेक्षा न समझे और एकान्त खींचे... आहाहा! दूसरी जगह सर्वत्र ऐसा ही कहा है। राग आत्मा का है ही नहीं, वह तो ज्ञायकभाव है। ज्ञायकभाव राग करे? यह तो मिथ्यात्व है।

यहाँ कहते हैं कि रागादि मुनि को भी स्व आत्मा का स्व है। आहाहा! मोह, राग, द्वेष स्वकीय। पाठ में है न? **मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों के...** है विभाव, परन्तु है स्वभाव इसकी पर्याय का। मूल पाठ स्वकीय है न? उसका अर्थ किया है। मूल पाठ स्वकीय है। अपने विभावभाव, देखो! कोष्ठक में। अन्वयार्थ में **स्वकीय भावों के (-अपने विभावभावों के)...** आहाहा! यह ११४वीं गाथा है न? **मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावों**

के क्षय के कारणभूत... विभावस्वभाव के नाश के कारणभूत। आहाहा! **निज कारणपरमात्मा...** पर परमात्मा नहीं। पंच परमेष्ठी नहीं। इसलिए निज शब्द प्रयोग किया है। निज परमात्मा के स्वभाव की भावना। आहाहा! निज परमात्मा, कारणपरमात्मा द्रव्य। त्रिकाली द्रव्य ध्रुव, वह निज परमात्मा। आहाहा! उसकी - स्वभाव की भावना।

कारणपरमात्मा के स्वभाव की भावना होने पर निसर्गवृत्ति के कारण (अर्थात् स्वाभाविक)... निसर्ग अर्थात् स्वभाव। **(सहज परिणति होने के कारण)...** आहाहा! कौन? चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से जो स्वभावपरिणति होती है, वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! विभावपरिणति की वहाँ उत्पत्ति नहीं है। आहाहा! कारणपरमात्मा के स्वभाव की भावना, वह परिणति पर्याय है। निसर्गवृत्ति है। वे राग, क्रोधादि, विकार भाव थे। पुण्य-पाप, दया, दान, वह विकारभाव थे। यह निसर्गवृत्ति है, स्वाभाविक परिणति है। आहाहा! आमने-सामने विरुद्ध है। पुण्य और पाप, वह विभावस्वभाव विकारी अपनी पर्याय में थे और यह भी निसर्ग परिणति। निज कारणपरमात्मा को अवलम्बन कर जो परिणति होती है... आहाहा! उसे यहाँ निसर्गवृत्ति अर्थात् स्वाभाविक सहज परिणति है। आहाहा! शुद्ध चैतन्य की सहज परिणति द्वारा विभाव स्वभाव जो पर्याय में है, उसका वह नाश करता है। आहाहा! पहले तो अभी समझना कठिन पड़े। प्रयोग तो करे कब? आहाहा!

(स्वाभाविक-सहज परिणति होने के कारण)... कौन? वह राग विभाव, दया, दान का विभावस्वभाव स्व में-पर्याय में उत्पन्न था, उसे कारणपरमात्मा के आश्रय से भावना प्रगट करने पर स्वाभाविक परिणति के सहज परिणति के कारण **प्रायश्चित्त कहा गया है;...** किसे? पर्याय को। कौन सी पर्याय को? कि द्रव्य के आश्रय से निर्मल हुई उसे। वस्तु जो त्रिकाल निर्मल है, त्रिकाल निर्मल है, उसके आश्रय से निर्मल परिणति हुई, वह स्वकीय राग-द्वेषादि का नाश करती है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसका अर्थ कि राग-द्वेष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है। मुनि को अभी राग-द्वेष है। तब नाश करते हैं न? केवली को है तो नाश करते हैं? मुनि को, ज्ञानी को। ज्ञानी-मुनि को भी अभी राग-द्वेष का वेदन है। राग-द्वेष है, वह वेदन है। उतना कर्तापना है। परिणमे वह कर्ता, इस हिसाब से कर्ता भी है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई!

निसर्गवृत्ति... वह पुण्य-पाप का स्वविकारी विभावस्वभाव था। इसे निसर्ग अर्थात् स्वभावदृष्टि की चिन्तवना की एकाग्रता से **निसर्गवृत्ति के कारण प्रायश्चित्त कहा गया है;...** उसे प्रायश्चित्त कहा है—धर्म। प्रायश्चित्त कहो, मोक्ष का मार्ग कहो, चारित्र कहो, वीतरागता कहो। आहाहा! यह एक बात है। अब यहाँ कारणपरमात्मा लिया। द्रव्य। पहले द्रव्य की भावना ली थी। अब इस द्रव्य के गुण की भावना लेते हैं। आहाहा! है?

अथवा, परमात्मा के गुणात्मक... पहले द्रव्य की ली थी। त्रिकाल कारणपरमात्मा को अवलम्बन कर जो शुद्धपरिणति होती है। शुद्ध होती है, हों! राग नहीं, शुभराग नहीं। शुद्धपरिणति होती है, वह प्रायश्चित्त है। वह परिणति राग का नाश करती है। अब गुण की बात ली है। यह द्रव्य की थी। अब **परमात्मा के गुणात्मक...** दूसरा बोल ऐसा लिया। परमात्मा अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, उसके गुण की एकाग्रता। ऐसा लिया।

गुणात्मक... आहाहा! परमात्मा के गुणस्वरूप, **ऐसे जो शुद्ध-अन्तःतत्त्वरूप...** भाव लिया है, द्रव्य नहीं। **शुद्ध-अन्तःतत्त्व...** अन्तःस्वभाव। द्रव्य का जो अन्तःस्वभाव। कारणपरमात्मा का अन्तःस्वभाव। आहाहा! यहाँ गुण लिये। उसमें द्रव्य लिया था। **शुद्ध-अन्तःतत्त्व...** अन्तःतत्त्व अर्थात् भाव। अन्तर के भाव। **(निज) स्वरूप के सहजज्ञानादिक सहजगुण...** देखो! आया। यह अन्तःतत्त्व कौन? द्रव्य नहीं। **अन्तःतत्त्वरूप (निज) स्वरूप के सहजज्ञानादिक सहजगुण...** ज्ञान, समकित, चारित्र अन्दर जो त्रिकाली गुण। **सहजगुण उनका चिन्तन...** गुणों का चिन्तन अर्थात् एकाग्रता। आहाहा! पहले द्रव्य में एकाग्रता कही थी। अब यह गुण में एकाग्रता (कही)। आहाहा!

मुमुक्षु : गुण और गुणी का भेद कैसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभेद है, तथापि भिन्न करके अधिक स्पष्ट बताया है। गुण का चिन्तवन करे तो भी द्रव्यदृष्टि है। द्रव्य का चिन्तन करे तो द्रव्य है। गुण का कहीं यहाँ भेद नहीं है परन्तु दो बातें ली है। अन्दर आनन्द का लक्ष्य करे—ज्ञान का, वह गुण का लक्ष्य कहलाता है और द्रव्य का लक्ष्य करे, वह कारणपरमात्मा कहलाता है। कारणद्रव्य। कारणद्रव्य का चिन्तन, वह भी प्रायश्चित्त और गुण का चिन्तवन, वह भी प्रायश्चित्त। आहाहा!

ऐसे जो शुद्ध-अन्तःतत्त्वरूप (निज) स्वरूप के सहजज्ञानादिक... आत्मा के सहज ज्ञान-दर्शन त्रिकाल रहनेवाले शुद्ध ध्रुव। आहाहा! पहले द्रव्य ध्रुव था। यहाँ गुण ध्रुव

लिये। आहाहा! **(निज) स्वरूप के सहजज्ञानादिक सहजगुण उनका चिन्तन...** भगवान आत्मा के गुणों का चिन्तवन। आहाहा! चिन्तन अर्थात् विकल्प नहीं, हों! चिन्तन शब्द से विकल्प नहीं। निर्विकल्प। आहाहा! क्योंकि निश्चय प्रायश्चित्त है न? कहीं विकल्प से राग का नाश होगा? तथापि चिन्तन शब्द पड़ा है। चिन्तन का अर्थ अनन्त गुण हैं, उन गुणों की एकाग्रता। अनन्त गुणों में एकाग्रता। पहले द्रव्य को धारकर एकाग्रता करे। अब गुणों को लक्ष्य में लेकर एकाग्रता करे। सब अनन्त गुणों को लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्रता (करे) आहाहा! इसका नाम चिन्तन है।

उनका चिन्तन करना, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त की व्याख्या। वह कहे कि पाप लगा हो तो गुरु के पास जाकर कहे कि मुझे माफ करो। वह सब व्यवहार राग है। आहाहा! यह तो अन्तर प्रभु चैतन्यद्रव्य अनन्त गुण का धाम, 'स्वयं ज्योति सुखधाम' ऐसा जो आत्मा, उसकी एकाग्रता, उसके सन्मुख एकाग्रता (होती है); वह विभाव स्व जो पर्याय में है, उसका नाश करता है। आहाहा! और यह गुण का चिन्तन करने पर, जो सहज परिणति उत्पन्न होती है, उसमें भी सहज है न? **सहजज्ञानादिक...** आया न? उसमें **निसर्गवृत्ति...** थी। **सहजज्ञानादिक सहजगुण उनका चिन्तन करना, वह प्रायश्चित्त है।** आहाहा! व्यवहार का तो भुक्का उड़ा देते हैं। व्यवहार से कुछ होगा, राग से कुछ होगा और राग नहीं, दोनों मिथ्या बातें हैं। राग है, तब नाश करने का कहा जाता है। मुनि को राग है और राग है तो कर्ता भी है और राग कर्ता है तो वेदना भी है, भोक्ता भी है। छठवें गुणस्थान में राग का भोक्ता-कर्ता है। ऐसे को द्रव्य और गुण की एकाग्रता से मुनि को स्व में जो विकार है, (उसका नाश होता है)। आहाहा! एक बात में कितनी बात समाहित कर दी! मुनि है, विकार है। एक ओर कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को विकार नहीं है। आस्रव और विकार नहीं है, बन्धन नहीं है, चौथे गुणस्थान में। आहाहा! एक ओर कहे कि छठवें गुणस्थान में भी अभी राग है, कर्ता और भोक्ता है। आहाहा! किस अपेक्षा से है, यह न समझे। एकान्त-एकान्त माने तो एकान्त हो जाता है।

यहाँ कहते हैं कि गुणों की एकाग्रता। एक बात है कि गुणी और गुण का भेद रखे, ऐसा नहीं। भेद से विकार करे तो विकल्प है। परन्तु गुणों का चिन्तन का अर्थ पूरा ऐसा पूर्ण गुण है, उनमें भी द्रव्य का गुण जो पूरा स्वभाव है, उसकी एकाग्रतारूपी परिणति, उसे

यहाँ सहजदशा, निर्मलपरिणति, शुद्धपरिणति, वीतरागपरिणति को यहाँ प्रायश्चित्त कहते हैं। आहाहा! अब ऐसी सूक्ष्म बातें। वह कहे कि दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, इससे कल्याण होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : आप तो इनकार करते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र इनकार करते हैं न! शास्त्र इनकार करते हैं। ऐसी पुकार यहाँ तो ४५ वर्ष से चलती है। सम्प्रदाय में भी कहते थे। एक बार नहीं कथा था? (संवत्) १९८५ का वर्ष। १९८५ के वर्ष। यहाँ तो १९९१ में परिवर्तन (किया) पहले १९८५ के वर्ष में उसमें (सम्प्रदाय में) थे। बोटाद। बोटाद के लोग व्याख्यान में बहुत आते थे। १०००-१५०० लोग। तीन सौ घर हैं, सब आवे। कानजीस्वामी व्याख्यान पढ़ने बैठे हैं, ऐसा नाम पढ़े, वहाँ तो झुण्ड का झुण्ड एकत्रित हो। उस समय कहा था। १९८५ के वर्ष में पौष महीने में। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव अधर्म है; धर्म नहीं। धर्म से बन्ध पड़े तो मुक्ति कब होगी? आहाहा! और पंच महाव्रत जो है, वे आस्रव हैं। यह १९८५ में सम्प्रदाय में कहा था। एकदम खलबलाहट हो गयी थी। सभा में खलबलाहट नहीं हुई। वे जगजीवन साधु बैठे थे न, उन्होंने कहा वोसरे... वोसरे... यह हमें मान्य नहीं है। न मान्य हो तो बैठे रहना था। कौन तुम्हारा मानता है यह? सभा।

राग है, वह बन्ध का कारण है। पंच महाव्रत के परिणाम भी राग, आस्रव और दुःख है। पंच महाव्रत के परिणाम आस्रव कहो, विकार कहो, दुःख कहो... आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव का आस्रव कहो, बन्ध कहो, वह दुःख है। दुःख के कारण बन्धन है। आत्मा का सुख होवे तो उससे बन्धन नहीं हो सकता। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं। दोनों में सहज लिया है। **कारणपरमात्मा के स्वभाव की भावना होने पर निसर्गवृत्ति...** ली है। और गुण की भावना लेने पर सहज ज्ञानादि लिया है। भाई! **सहजज्ञानादिक सहजगुण उनका चिन्तन करना, वह प्रायश्चित्त है।** ओहोहो! मुनिराज बहुत कहना चाहते हैं। स्वयं मुनि हैं। मुनि के लिये कहते हैं, पापी! मुनि होकर और तू राग का सेवन करता है और राग की बातें करता है। राग से लाभ होगा... आहाहा! यह ११४ गाथा (पूरी) हुई।

श्लोक-१८१

[अब, इस ११४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(शालिनी)

प्रायश्चित्तमुक्तमुच्चैर्मुनीनां कामक्रोधाद्यन्यभावक्षये च।
किञ्च स्वस्य ज्ञानसम्भावना वा सन्तो जानन्त्येतदात्मप्रवादे।।१८१।।

(वीरछन्द)

काम क्रोध क्षय की जो है मुनियों को सम्भावना अहो।
अथवा अपने ज्ञानभाव की वर्ते सम्भावना अहो॥
यही उग्र प्रायश्चित है - यह कहते हैं मुनिनाथ अहो।
आत्मप्रवादपूर्व में जाना सन्तों ने है यही अहो॥१८१॥

[श्लोकार्थ:] मुनियों को काम-क्रोधादि अन्य भावों के क्षय की जो सम्भावना अथवा तो अपने ज्ञान की जो सम्भावना (-सम्यक् भावना) वह उग्र प्रायश्चित्त कहा है। सन्तों ने [१]आत्मप्रवाद में ऐसा जाना है (अर्थात् जानकर कहा है)॥१८१॥

श्लोक -१८१ पर प्रवचन

[अब, इस ११४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

प्रायश्चित्तमुक्तमुच्चैर्मुनीनां कामक्रोधाद्यन्यभावक्षये च।
किञ्च स्वस्य ज्ञानसम्भावना वा सन्तो जानन्त्येतदात्मप्रवादे।।१८१।।

[श्लोकार्थ:] मुनियों को... आहाहा! देखो! मुनि की बात है। उन्हें राग और द्वेष है। एक ओर कहे कि समकिती को राग-द्वेष नहीं होता। यह किस अपेक्षा से बात है? वह

१. आत्मप्रवाद पूर्व नामक शास्त्र में।

तो दृष्टि की अपेक्षा से बात करने पर दृष्टि का विषय ध्रुव है और दृष्टि निर्विकल्प है। दृष्टि में एक और दो, वे दो नहीं हो सकते। दृष्टि के विषय में दो नहीं होते। यह क्या कहा? दृष्टि निर्विकल्प है। उसका विषय एक होता है, दो नहीं होते। सविकल्प ज्ञान हो, उसके विषय दो होते हैं। सविकल्प अर्थात्? राग नहीं, हों! वह ज्ञान ही सविकल्प कहलाता है। स्व-पर को जाने, वह दो को जाने, वह सविकल्प और एक ही त्रिकाली दृष्टि में रखे, वह दृष्टि निर्विकल्प दृष्टि है, तो उसका विषय एक ही है। त्रिकाल। आहाहा! ऐसा सब कहाँ याद रखना। धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती।

मुमुक्षु : जापानवाले ने कहा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जापान...

मुमुक्षु : बनियों को निवृत्ति नहीं मिलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जापानवाले ने लिखा है। जापान के एक ऐतिहासिक ने लेख लिखा है। जापान का ऐतिहासिक। जैन का पढ़ा हुआ। फिर समाचार-पत्र में लिखा था। जैन अर्थात् आत्मा की अनुभूति। आत्मा की अनुभूति, वह जैन। इतना कहकर वापस उलहाना दिया है। परन्तु वह मिला है बनियों को। बनिये व्यापार से निवृत्त नहीं होते। निर्णय करने के लिये समय नहीं निकालते। वापस ऐसा कहा। जापान का ऐतिहासिक था। बड़ा ऐतिहासिक।

मुमुक्षु : बनियों ने जैनधर्म सम्हाल कर रखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है तो बनियों में ही है न अभी। परन्तु ऐसा कि बनियों को निवृत्ति नहीं, इसलिए निर्णय नहीं करते। ऐसा लिखा है। सत्य और असत्य को मिलान नहीं करते कि सत्य क्या है? असत्य क्या है? प्रभु का अनेकान्तमार्ग क्या है? अनेकान्त है। एकान्त नहीं। किस अपेक्षा से कहा है, उसे अनेकान्त से इसे जानना चाहिए। ऐसा कि उसके लिये निवृत्ति चाहिए। तो निवृत्ति लेते नहीं। व्यापार में घुस गये हैं। ऐसा उस बेचारे ने लिखा है परन्तु अभी रहा है बनियों में। आहाहा! पटेल भी है, हमारे रामजीभाई और वे पटेल है न राजकोट के हैं, करोड़पति हैं। पटेल किसान हैं। करोड़पति हैं। ऐसे बहुत से दूसरे हैं। उसमें यह कहीं किसी जाति का धर्म है कि अमुक जाति का? हरिजन में भी सम्यक्त्व होता है। ढेढ़ में। रत्नकरण्डश्रावकाचार में है कि जैसे अग्नि राख से ढँकी हुई हो, वैसे

हरिजन सम्यक्त्वी है परन्तु अभी पुण्य और पाप के बाहर का दिखाव ऐसा नहीं है, इसलिए मानो दबी हुई है। रत्नकरण्डश्रावकाचार... आहाहा!

यहाँ ऐसा कहते हैं **मुनियों को...** देखो। स्पष्ट मुनि की बात ली है। **काम-क्रोधादि अन्य भावों के क्षय की जो सम्भावना...** काम-क्रोधादि है न? छठवें गुणस्थान में मुनि हैं। काम-क्रोधादि दो कैसे लिये? काम में राग और क्रोध में द्वेष। राग और द्वेष का भाव उन्हें अभी उत्पन्न होता है। आहाहा! **क्रोधादि अन्य भावों के क्षय की जो सम्भावना...** नाश करने की जो भावना। आहाहा! तब है तो सही। मुनि को अभी विकार है और एक ओर समकिती को बन्ध और आस्रव नहीं है। यह तो दृष्टि की अपेक्षा से। ज्ञान की अपेक्षा से तो सब पूरा उसका स्वरूप है, वह उसमें है। ऐसा ज्ञात होता है। आहाहा!

सवेरे सैंतालीस नय में कहा नहीं? क्रोध, मान, माया, लोभ का कर्ता समकिती है। कर्ता वह है। परिणमे वह कर्ता। परिणमन उसका है और भोक्ता भी उसका है। आहाहा! सैंतालीस नय में है। उन सब नयों का आधार आत्मा है, उसे लागू करते हैं। सब नय का अधिष्ठाता आत्मा है। आहाहा! वह नय अज्ञानी को लागू नहीं पड़ते। आहाहा! अज्ञानी को नय नहीं होते। नय श्रुतज्ञान का भेद है। वह पाठ वहाँ है। अनन्त नयरूपी श्रुतप्रमाण द्वारा आत्मा अनुभव करे। है न भाई उसमें? अनन्त नयस्वरूप श्रुतप्रमाण। भावश्रुत, हों! उससे आत्मा का अनुभव करे। आहाहा! उन सब नय का अधिष्ठाता स्वामी आत्मा है। ले, क्रोध करे, राग करे, वह कर्ता, उसका स्वामी आत्मा। राग को वेदे, भोगे, उसका स्वामी आत्मा। पहले अधिष्ठाता लिया है। अनन्त नयों का अधिष्ठाता भगवान आत्मा है। आहाहा! अधिष्ठान दो जगह आता है। दो जगह अधिष्ठान आता है। प्रवचनसार में।

मुमुक्षु : सप्तभंगी में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है इसमें? आता है। इसमें लिखा है। आत्मा कौन है? कैसा है? किस प्रकार प्राप्त किया जाता है? ऐसा प्रश्न करने पर, ऐसा प्रश्न होवे तब... आहाहा! आवे तो उसका उत्तर कहा गया है। यहाँ फिर से भी कहा जाता है। परन्तु ऐसा प्रश्न जिसे उठे, उसे कहा जाता है। जिसे कुछ समझने की दरकार नहीं, उसे नहीं। जिसे अन्दर से... इसलिए कहा कि ऐसा फिर से भी कहा जाता है। उसे यह उत्तर कहा गया है। आहाहा! प्रथम तो आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त अनन्त धर्म का अधिष्ठाता। अनन्त

जो नय हैं, उनका जो धर्म है, पश्चात् भले विकार हो, परन्तु सबका आधार-अधिष्ठाता-स्वामी आत्मा है। आहाहा!

एक ओर ऐसा कहना कि समकिती को राग और आस्रव तथा बन्ध है नहीं। एक ओर यहाँ मुनि छठवें गुणस्थान में... आहाहा! दसवें गुणस्थान तक बन्ध है। लोभ का अंश वेदन होगा, तब बन्ध पड़े या न वेदन हो, और बन्ध पड़े? लोभ-उदय में आकर खिर जाए तो बन्ध पड़ेगा? दसवें गुणस्थान में अभी लोभ का वेदन है। दसवें गुणस्थान में। तो चौथे, पाँचवें, छठवें की तो बात क्या करना? वेदन बिना बन्ध नहीं होता। अकेला उदय आकर खिर जाए तो बन्ध होगा? वह वेदन है, उतना लोभ है। उतना छह कर्म, आठ और दसवें में बनते हैं। यहाँ यह कहते हैं। अब यह पृष्ठ ४८१। यहाँ अधिष्ठाता कहा न? प्रवचनसार पृष्ठ ४८१। यहाँ अधिष्ठाता कहा।

विश्व के वाचक, 'सत्' लक्षणवान ऐसा जो शब्दब्रह्म और उस शब्दब्रह्म के वाच्य 'सत्' लक्षणवाला ऐसा जो सम्पूर्ण विश्व उन दोनों के ज्ञेयाकार अपने में युगपत् गुंथ जाने पर (ज्ञातृतत्त्व में एक ही साथ ज्ञात होने से) उन दोनों का अधिष्ठानभूत— शब्दों का और भाव का दो का आधार आत्मा। २६८ गाथा में है। **उन दोनों का अधिष्ठानभूत—ऐसा 'सत्' लक्षणवाले ज्ञातृत्व का निश्चय किया होने से...** सबमें अन्दर पर्याय में जितना अंश है, वह मेरा कर्तव्य और मेरा वेदन है, ऐसा जिसने निश्चय से निर्णय किया है। आहाहा! यहाँ अधिष्ठान शब्द प्रयोग किया है और वहाँ भी अधिष्ठान (शब्द) है।

सब गुणों और पर्यायों का आधार आत्मा है। विकारी पर्याय और अविकारी पर्याय तथा गुण का आधार आत्मा है। विकारी पर्याय का आधार कर्म है, ऐसा नहीं। वह तो जब स्वभाव की पूर्ण की बात जब चलती हो, दृष्टि के विषय की (बात चलती हो), तब कहते हैं कि विकार का कारण है कर्म। कर्म कारण है और विकार कार्य है। वहाँ (समयसार में) ऐसा कहा। ७५-७६ गाथा। आहाहा! अब इतना सब (समझने की) निवृत्ति कब? निवृत्ति।

मुनियों को काम-क्रोधादि... अर्थात् राग-द्वेष **अन्य भावों...** वे अन्य भव हैं। हैं पर्याय में, परन्तु अन्य भाव हैं। उनके **क्षय की जो सम्भावना अथवा तो अपने ज्ञान की जो सम्भावना...** दो बातें की हैं। राग-द्वेष जो अन्य भाव (जो) स्वभाव से अन्य है। है पर्याय में परन्तु स्वभाव से अन्य है। त्रिकाली स्वभाव में नहीं। इसलिए **अन्य भावों के क्षय की...** उन्हें नाश करने की **जो सम्भावना...** एक बात। **अथवा तो अपने ज्ञान की जो**

सम्भावना... उन्हें नाश करने की सम्भावना, यह तो नास्ति से बात हुई। यहाँ अपने ज्ञान की सम्भावना, यह अस्ति से बात हुई। आहाहा! ज्ञान अर्थात् आत्मा।

अपने ज्ञान की जो सम्भावना (-सम्यक् भावना)... आहाहा! अपना जो स्वभाव है, उसकी दृष्टि करने पर पर्याय में जो रागादि हैं, उनका क्षय करने की भावना। एक बात; और या अपने ज्ञानगुण की भावना। मुनियों को क्षय करने का लिया और यह अब भाव से नाश होता है। अपने ज्ञान की जो भावना। उसमें ऐसा कहा था न? अन्य भावों के क्षय की। आहाहा! है उसकी पर्याय में परन्तु स्वभाव से अन्य है, उसे नाश करने के लिये और **अपने ज्ञान की जो सम्भावना (-सम्यक् भावना), वह उग्र प्रायश्चित्त कहा है।** आहाहा! उसे उग्र प्रायश्चित्त धर्म कहा है। आहाहा! प्रायश्चित्त कहो या धर्म कहो, प्रायश्चित्त कहो या मोक्षमार्ग कहो, प्रायश्चित्त कहो या वीतरागता कहो। आहाहा! समझ में कठिन पड़ता है। एक ओर परभाव को कर्म का कहे, एक ओर मुनि को भी स्वयं का कहे। आहाहा! किस अपेक्षा से है? प्रभु!

यहाँ तो अंश-अंश पूरी वस्तु का स्वरूप बताते हुए, उसमें जो है, वह सब उसका है परन्तु द्रव्य की दृष्टि में निर्विकल्पता में तो द्रव्य ही अकेला दृष्टि में होता है। उसे दो नहीं होते। इसलिए उसे विकार पर का है, ऐसा कहकर निकाल डाला, परन्तु ज्ञान तो स्व और पर को सबको जानता है, इसलिए स्व-पर को जाननेवाला ज्ञान क्रोधादि, रागादि मुझमें है और द्रव्य में नहीं है। द्रव्यस्वभाव में नहीं है परन्तु पर्याय में है, ऐसे दोनों नय से जानता है। दृष्टि में पर्याय होती नहीं। पर्याय की दृष्टि होती नहीं। सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दृष्टि का विषय नहीं होता। क्या कहा यह? सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन का विषय नहीं होता क्योंकि निर्विकल्प है इसलिए एक ही विषय उसका त्रिकाली द्रव्य है। सम्यग्दृष्टि का विषय त्रिकाली द्रव्य है। आहाहा! और ज्ञान का विषय त्रिकाली को जाने और पर्याय को भी अपने में है ऐसा जाने। वह केवलज्ञान भी सविकल्पस्वरूप है। राग और विकल्प नहीं। स्व और पर, इसका नाम विकल्प है। आहाहा!

अपने ज्ञान की जो सम्भावना... सम्भावना की व्याख्या की है। सम अर्थात् सम्यक् **(-सम्यक् भावना)...** जैसा स्वरूप है, वैसी अन्तर एकाग्रता सम्यक् भावना। आहाहा! वह तो निर्मलानन्द प्रभु है। द्रव्यस्वभाव तो निर्मल भरपूर अनन्त गुण का सागर।

एक भी गुण विकार करे, ऐसी दशा ही नहीं है। पर्याय में विकार होता है, वह तो अद्धर से होता है। निमित्त के आधीन होने से होता है, निमित्त से नहीं। निमित्त के आधीन होनेवाले को पर्याय में होता है। गुण कोई विकार करे, ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि ज्ञान की अर्थात् आत्मा की सम्यक् भावना। **वह उग्र प्रायश्चित्त कहा है।** आहाहा! **सन्तों ने आत्मप्रवाद में ऐसा जाना है...** देखा! आत्मा का जहाँ कथन है—आत्मप्रवाद, उसमें सन्तों ने ऐसा जाना है। आहाहा! आत्मप्रवाद नाम का शास्त्र है। आत्मा की ही अकेली बात होती है, ऐसा वह शास्त्र है। **सन्तों ने आत्मप्रवाद में ऐसा जाना है...** आहाहा! **(अर्थात् जानकर कहा है)।** सन्तों ने जानकर इस प्रकार कहा है। आहाहा! वस्तु जो त्रिकाल है, वही सम्यग्दर्शन का विषय है; इसलिए वह गुणभेद भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं तो फिर पर्याय तो उसका विषय होगा ही कहाँ से? आहाहा! सम्यक्चारित्र पर्याय है, वह भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं। आहाहा! चारित्र-वीतरागता, वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं। सम्यग्दर्शन का विषय ध्रुव त्रिकाल एकरूप है और ज्ञान का विषय तो समय-समय जो पर्याय होती है, उसका स्वयं गुण का द्रव्य का, पर्याय का तीनों का विषय करता है। आहाहा! समझ में आया?

समयसार में तो बहुत जगह ऐसा ही आता है। समकिती को बन्ध नहीं, आस्रव नहीं। वहाँ तो ऐसा कहा नहीं? मिथ्यात्व वह संसार है। सवेरे ऐसा कहा न? तो फिर अव्रत वह संसार नहीं? वह तो बड़ा संसार, अनन्त संसार का कारण, वह मिथ्यात्व है; इसलिए उसे मिथ्यात्व, वह संसार (ऐसा कहा), वहाँ ऐसा कहा तथा एक ओर चौदहवें गुणस्थान में संसार है। केवली तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में अभी संसार है क्योंकि असिद्ध है, इक्कीस बोल में आता है। आहाहा! एक ओर चौथे (गुणस्थान) में संसार नहीं तथा एक ओर चौदहवें (गुणस्थान) में संसार है। किस अपेक्षा से? एकान्त मानकर बैठे। यह तो अनेकान्त मार्ग है। जिस प्रकार से उसका स्वरूप है, उस प्रकार से है। जिस प्रकार से है, वैसा उसे जानना चाहिए। आहाहा! इसलिए यहाँ कहते हैं।

यह बात कहाँ से कहते हैं, कहा? मुनि कहते हैं कि हम हमारे घर की नहीं कहते। 'आत्मप्रवाद' में ऐसा कहा है। जहाँ आत्मा का अधिकार परमात्मा ने कहा है, वहाँ यह बात आयी है। वह बात यहाँ हम कहते हैं। आहाहा! **(अर्थात् जानकर कहा है)।**

लो! विशेष आयेगा.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-११५

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए।।११५।।

क्रोधं क्षमया मानं स्वमार्दवेन आर्जवेन मायां च।
सन्तोषेण च लोभं जयति खलु चतुर्विधकषायान्।।११५।।

चतुष्कषायविजयोपायस्वरूपाख्यानमेतत्। जघन्यमध्यमोत्तमभेदात्क्षमास्तिस्रो भवन्ति। अकारणादप्रियवादिनो मिथ्यादृष्टेरकारणेन मां त्रासयितुमुद्योगो विद्यते, अयमपगतो मत्पुण्येनेति प्रथमा क्षमा। अकारणेन सन्त्रासकरस्य ताडनवधादिपरिणामोऽस्ति, अयं चापगतो मत्सुकृतेनेति द्वितीया क्षमा। वधे सत्यमूर्तस्य परमब्रह्मरूपिणो ममापकारहानिरिति परम-समरसीभावस्थितिरुत्तमा क्षमा। आभि: क्षमाभि: क्रोधकषायं जित्वा, मानकषायं मार्दवेन च, मायाकषायं चार्जवेण, परमतत्त्वलाभसन्तोषेण लोभकषायं चेति।

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभि: ह्न

(वसंततिलका)

चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्यात्,
क्रुद्ध्वा बहि: किमपि दग्धमनङ्गबुद्ध्या।
घोरा-मवाप स हि तेन कृता-मवस्थां,
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानि:।।

(वसंततिलका)

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसन्स्थं,
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुच्येत्।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय,
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति।।

(अनुष्टुभ्)

भेयं माया-महागर्तान्मिथ्या-घन-तमो-मयात्।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहय:।।

(हरिणी)

वनचर-भयाद्धावन् दैवाल्लताकुल-वालधिः,
किल जडतया लोलो वालव्रजेऽविचलं स्थितः।
बत स चमरस्तेन प्राणै-रपि प्रवियोजितः,
परिणततृषां प्रायेणैवम्विधा हि विपत्तयः।।

तथाहि ह्न

अभिमान मार्दव से तथा जीते क्षमा से क्रोध को।
कोटिल्य आर्जव से तथा संतोष द्वारा लोभ को॥११५॥

अन्वयार्थ : [क्रोधं क्षमया] क्रोध को क्षमा से, [मानं स्वमार्दवेन] मान को निज मार्दव से, [मायां च आर्जवेन] माया को आर्जव से [च] तथा [लोभं संतोषेण] लोभ को सन्तोष से—[चतुर्विधकषायान्] इस प्रकार चतुर्विध कषायों को [खलु जयति] (योगी) वास्तव में जीतते हैं।

टीका : यह, चार कषायों पर विजय प्राप्त करने के उपाय के स्वरूप का कथन है।

जघन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे (तीन) भेदों के कारण क्षमा तीन (प्रकार की) हैं। (१) 'बिना-कारण अप्रिय बोलनेवाले मिथ्यादृष्टि को बिना-कारण मुझे त्रास देने का उद्योग वर्तता है, वह मेरे पुण्य से दूर हुआ;'—ऐसा विचारकर क्षमा करना वह प्रथम क्षमा है। (२) '(मुझे) बिना-कारण त्रास देनेवाले को [१]ताड़न का और [२]वध का परिणाम वर्तता है, वह मेरे सुकृत से दूर हुआ;'—ऐसा विचार कर क्षमा करना वह द्वितीय क्षमा है। (३) वध होने से अमूर्त परमब्रह्मरूप ऐसे मुझे हानि नहीं होती—ऐसा समझकर परम समरसीभाव में स्थित रहना, वह उत्तम क्षमा है। इन (तीन) क्षमाओं द्वारा क्रोधकषाय को जीतकर, [३]मार्दव द्वारा मानकषाय को, [४]आर्जव द्वारा मायाकषाय को तथा परमतत्त्व की प्राप्तिरूप सन्तोष से लोभकषाय को (योगी) जीतते हैं।

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामी ने (आत्मानुशासन में २१६,

---

१. ताड़न=मार मारना वह। २. वध=मार डालना वह। ३. मार्दव=कोमलता; नरमाई; निर्मानता।
४. आर्जव=ऋजुता; सरलता।

२१७, २२१ तथा २२३ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

मन में बैठा कामदेव हर ने नहिं जाना हो क्रोधान्ध।
बाह्य वस्तु को जला दिया है भ्रम से उसे समझकर काम॥
उसी कामकृत घोर दुरावस्था को फिर वह प्राप्त हुआ।
क्रोधोदय से जग में किसके नहीं कार्य का ह्रास हुआ॥

[श्लोकार्थः] कामदेव (अपने) चित्त में रहने पर भी (अपनी) जड़ता के कारण उसे न पहिचानकर, शंकर ने क्रोधी होकर बाह्य में किसी को कामदेव समझकर उसे जला दिया। (चित्त में रहनेवाला कामदेव तो जीवित होने के कारण) उसने की हुई घोर अवस्था को (-कामविह्वल दशा को) शंकर प्राप्त हुए। क्रोध के उदय से (-क्रोध उत्पन्न होने से) किसे कार्यहानि नहीं होती ?

दक्षिण भुज थित चक्र छोड़कर तप के द्वारा मुक्त हुए।
अल्प मान करता महती क्षति बाहुबली चिर क्लिष्ट हुए॥

[श्लोकार्थः] (युद्ध में भरत ने बाहुबली पर चक्र छोड़ा परन्तु वह चक्र बाहुबलि के दाहिने हाथ में आकर स्थिर हो गया।) अपने दाहिने हाथ में स्थित (उस) चक्र को छोड़कर जब बाहुबली ने प्रव्रज्या ली तभी (तुरन्त ही) वे उस कारण मुक्ति प्राप्त कर लेते, परन्तु वे (मान के कारण मुक्ति प्राप्त न करके) वास्तव में दीर्घ काल तक प्रसिद्ध (मानकृत) क्लेश को प्राप्त हुए। थोड़ा भी मान महा हानि करता है!

महागर्त यह मायाचरण सघन मिथ्यातम से है व्याप्त।
डरो सदा जिसमें क्रोधादिक विषधर रहते सदा अलक्ष्य॥

[श्लोकार्थः] जिसमें (जिस गड्ढे में) छिपे हुए क्रोधादिक भयंकर सर्प देखे नहीं जा सकते ऐसा जो मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकारवाला मायारूपी महान गड्ढा उससे डरते रहना योग्य है।

वनचर भय से दौड़ रही, पर उलझी पूँछ लताओं में।
दैवयोग से चमर-गाय हो मुग्ध पूँछ के बालों में॥
वहीं खड़ी रहती, वनचर से उसके प्राण हरे जाते।
तृष्णातुर प्राणी विपत्ति में प्रायः ही मारे जाते॥

[श्लोकार्थः] *वनचर के भय से भागती हुई सुरा गाय की पूँछ दैवयोग से बेल में उलझ जाने पर जड़ता के कारण बालों के गुच्छे के प्रति लोलुपतावाली वह गाय (अपने सुन्दर बालों को न टूटने देने के लोभ में) वहाँ अविचलरूप से खड़ी रह गयी, और अरे रे! उस गाय को वनचर द्वारा प्राण से भी विमुक्त कर दिया गया! (अर्थात् उस गाय ने बालों के लोभ में प्राण भी गँवा दिये!) जिन्हें तृष्णा परिणमित हुई है उन्हें प्रायः ऐसी ही विपत्तियाँ आती हैं।

प्रवचन-१३३, श्लोक-१८२, गाथा-११५, शनिवार, ज्येष्ठ शुक्ल १०, दिनांक २४-०५-१९८०

कषायरहित होने की बात।

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए।।११५।।

यहाँ जरा शब्द में अन्तर पड़ गया। यहाँ खलु चाहिए।

अभिमान मार्दव से तथा जीते क्षमा से क्रोध को।
कोटिल्य आर्जव से तथा संतोष द्वारा लोभ को॥११५॥

टीका : यह, चार कषायों पर विजय प्राप्त करने के उपाय के स्वरूप का कथन है। जघन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे (तीन) भेदों के कारण क्षमा तीन (प्रकार की) हैं। यह सम्यक्त्वसहित की बात है। अकेली क्षमा की नहीं। ज्ञानानन्द आत्मा के स्वभाव का वेदन है, उसके साथ जो यह क्रोध होता है, उसका नाश कैसे करना, उसकी बात है। **जघन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे (तीन) भेदों के कारण क्षमा तीन (प्रकार की) हैं। (१) 'बिना-कारण अप्रिय बोलनेवाले...** विचार करते हैं। **मिथ्यादृष्टि को बिना-कारण मुझे त्रास देने का उद्योग वर्तता है, वह मेरे पुण्य से दूर हुआ;'...** वह मेरे पुण्य से दूर हुआ। वापस पुण्य आया इसका। यह तो ज्ञान कराया है। मुझे त्रास उसे देना था परन्तु पूर्व का पुण्य था, इसलिए वह त्रास न दे सका। पुण्य अपना नहीं है परन्तु समझाना है तो किस प्रकार समझावे ? **मेरे पुण्य से दूर हुआ;'—ऐसा विचारकर क्षमा करना वह प्रथम क्षमा है।**

---

* वचनचर=वन में रहनेवाले, भील आदि मनुष्य अथवा शेर आदि जंगली पशु।

(२) '(मुझे) बिना-कारण त्रास देनेवाले को ताड़न का... 'मार मारना वह।' और वध का... 'मार डालना वह।' परिणाम वर्तता है, वह मेरे सुकृत से दूर हुआ;'... सुकृत अपना है ? समझाना किस प्रकार ? सुकृत अर्थात् पूर्व का पुण्य। उससे वह वध करने आया परन्तु नहीं हुआ। ताड़न मारने का या वध करने का पूर्व के पुण्य के कारण रुका, ऐसा स्वयं समाधान करके शान्ति रखता है। आनन्द में रहता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अकेली क्षमा, ऐसा यहाँ नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्द में रहने पर ऐसा कोई ताड़न और मारन आवे तो, उसका विकल्प से समाधान करता है कि यह उसके सुकृत पूर्व के पुण्य के कारण सब रुक गया। बाकी क्षमा तो आत्मा के आनन्द में स्थिरता करना, वह क्षमा है। आहाहा! अकेली आत्मज्ञानरहित क्षमा, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा!

(३) वध होने से... तथापि वध किया। दूसरे ने इसे मार डाला तो इसे ऐसी क्षमा करना कि बिना **वध होने से अमूर्त परमब्रह्मरूप....** मैं तो **परमब्रह्मरूप ऐसे मुझे हानि नहीं होती...** मुझे कोई नुकसान नहीं कर सकता। मेरा वध कोई नहीं कर सकता। आहाहा! **वध होने से अमूर्त परमब्रह्मरूप...** देखो! ऐसा लिया। अकेली क्षमा नहीं, मिथ्यात्व सहित नहीं। आहाहा! वह क्षमा ही नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव, ज्ञान बोधचित्स्वरूप। चित् अर्थात् ज्ञान। ऐसे स्वभाव का... इसमें एक जगह आया है। आ गया है या अब आयेगा ? अब आयेगा। ज्ञान और चित्। ११६ गाथा में। **बोध, ज्ञान और चित्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं।** ११६वीं गाथा की टीका की दूसरी लाइन। गाथा, गाथा। ११६ गाथा। **बोध, ज्ञान और चित्त...** तीनों एक वस्तु है। ज्ञानस्वरूप आत्मा, बोधस्वरूप आत्मा सब एक ही बात है। चित्स्वरूप आत्मा। चित् अर्थात् ज्ञान। तीनों ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ, ऐसा होने से... यह क्षमा के प्रकार आये न ?

वध होने से अमूर्त परमब्रह्मरूप ऐसे मुझे... आहाहा! आत्मा है कौन ? आहाहा! परमब्रह्मस्वरूप। अमूर्त परमब्रह्मस्वरूप। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं और परम आनन्दस्वरूप है। अन्तर्दृष्टि करने पर ज्ञायकभाव अमूर्त और अतीन्द्रिय स्वरूप दृष्टि में आता है। आहाहा! इससे मेरा वध कोई नहीं कर सकता। आहाहा! **वध होने से अमूर्त परमब्रह्मरूप ऐसे मुझे हानि नहीं होती...** शरीर को थोड़े... **ऐसा समझकर परम समरसीभाव में स्थित रहना,...** परम समरसीभाव में स्थित रहना, **वह उत्तम क्षमा है।**

इन (तीन) क्षमाओं द्वारा क्रोधकषाय को जीतकर, मार्दव द्वारा मानकषाय को,... मार्दव अर्थात् कोमलता। कोमलता द्वारा मान को जीतकर, सरलता से – ऋजुता से, सरलता से माया को जीतकर **मायाकषाय को तथा परमतत्त्व की प्राप्तिरूप सन्तोष...** आहाहा! लोभ को जीतने की विधि यह है। **परमतत्त्व की प्राप्तिरूप सन्तोष...** परम आनन्दस्वरूप भगवान की जहाँ अन्तर्मुख होकर प्राप्ति हुई, उसे सन्तोष हुआ, उस सन्तोष से उसने लोभ को जीता। चारों ही बोल का आ गया है।

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामी ने (आत्मानुशासन में २१६, २१७, २२१ तथा २२३ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्यात्,
क्रुद्ध्वा बहि: किमपि दग्धमनङ्गबुद्ध्या।
घोरा–मवाप स हि तेन कृता–मवस्थां,
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानि:।।

[श्लोकार्थ:] कामदेव... शंकर को कामदेव ऐसा लगा कि **(अपने) चित्त में रहने पर भी...** कामदेव तो अपने चित्त में है। आत्मा के आनन्द से विरुद्ध। आहाहा! ऐसी पर की कामना, वह आत्मा के चित्त में है, उसे मारना चाहिए। उसके बदले **जड़ता के कारण उसे न पहिचानकर,...** अपने आनन्दस्वभाव में क्रोध किस प्रकार होता है? चित्त में काम का क्रोध क्यों है, उसकी खबर बिना **शंकर ने क्रोधी होकर बाह्य में किसी को कामदेव समझकर उसे जला दिया।** उन लोगों में आता है न, कामदेव को जलाते हैं। शंकर ने जला डाला।

(चित्त में रहनेवाला कामदेव तो जीवित होने के कारण) उसने की हुई घोर अवस्था को (-कामविह्वल दशा को) शंकर प्राप्त हुए। आहाहा! अन्दर काम की इच्छा, पूर्णानन्द के नाथ से विरुद्ध इच्छा, उस इच्छा को नहीं जलाया और उस दूसरे को किसी को कामदेव मानकर जलाया। **क्रोध के उदय से (-क्रोध उत्पन्न होने से) किसे कार्यहानि नहीं होती?** आहाहा! ऐसा कहते हैं। क्रोध करने पर... क्रोध अर्थात् क्रूरता। बहुत क्रोध करे तो लाल आँख हो जाए। ऐसा क्रोध करने से किसे हानि नहीं होती? **किसे कार्यहानि नहीं होती?** होती ही है, ऐसा कहते हैं। क्रोध करने पर हानि होती ही है। क्योंकि

आत्मा क्रोधरहित स्वभाव है। पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञायक बोध, ज्ञानस्वभावी वस्तु है, उसमें यह क्रोध उसके स्वभाव को हानि करता है। आहाहा!

क्रोध का अर्थ द्वेष का अंश है। द्वेष के दो भाग : क्रोध और मान। शुद्धचैतन्यस्वरूप जो है, उसके प्रति प्रेम नहीं और राग का प्रेम है, इसका नाम क्रोध है। आहाहा! द्वेष अरोचकभाव। आत्मा आनन्द का भाव उसे नहीं रुचता, वही द्वेष है। आहाहा! आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप है, वह नहीं रुचता। उसके विरुद्ध का भाव, रागादि-पुण्यादि रुचते हैं, उसे आत्मा के प्रति द्वेष है। आहाहा! ऐसी व्याख्या। यह तो आनन्दघनजी ने कहा है श्वेताम्बर। तीसरे सम्भवनाथ (स्तवन में कहा है) द्वेष अरोचकभाव। स्वरूप शुद्ध चैतन्य रुचता नहीं, इसका अर्थ ही यह कि उसके प्रति द्वेष है। आहाहा! और उससे विरुद्ध जो राग, उसका प्रेम है, तब इसका द्वेष है। यहाँ राग है तो यहाँ द्वेष है। आहाहा! राग का राग है, वहाँ प्रभु के प्रति द्वेष है। आहाहा! प्रभु अर्थात् आत्मा स्वयं। आहाहा! उससे **किसे कार्यहानि नहीं होती ?** यह श्लोक कहा।

दूसरा श्लोक।

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसन्स्थं,
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुच्येत्।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय,
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति।।

(युद्ध में भरत ने...) आहाहा! दोनों भाई। उसमें युद्ध में भरत को दोनों की लड़ाई हुई, दोनों सम्यक्त्वी।

मुमुक्षु : भगवान के पुत्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के पुत्र। भगवान ने जमीन विभाजित करके दी थी। अब भरत स्वयं पूरा चक्रवर्ती होना चाहता है। उसका जो क्षेत्र है, वह भी मेरा है। भरत चक्रवर्ती है न! उसमें बाहुबलीजी ने इनकार किया। पिताजी ने विभाजन करके दिया है, तो युद्ध करो। आहाहा! भगवान के दोनों पुत्र सम्यक्त्वी। तीसरे काल का अन्तिम भाग होगा। आहाहा! उन्हें भी यह क्रोध हुआ। भाई को मार डालूँ। आहाहा! परन्तु वह चारित्रदोष है।

चारित्रदोष समकित को दोष नहीं बनाता। आहाहा! चारित्र का दोष, वह समकित को दोष नहीं लगाता। आहाहा! और समकित का गुण, वह चारित्रदोष को घटा नहीं सकता। दोनों चीज़ अलग है न? आहाहा!

मुमुक्षु : अनन्तानुबन्धी के दोष को तो निकाल डालता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अनन्तानुबन्धी तो सम्यक्त्व के साथ गया। इसके अतिरिक्त दूसरा चारित्रदोष है। वह समकित है, वह स्वयं तीन कषाय के भाव को टाल नहीं सकता। यह दूसरे गुण की पर्याय है, यह दूसरे गुण की पर्याय है। समकित है, वह श्रद्धागुण की पर्याय है और तीन कषाय है, वह चारित्रगुण की विपरीत पर्याय है। आहाहा! एक-दूसरे युद्ध करने के लिये खड़े हुए। चक्र चलाया। **(बाहुबली पर चक्र छोड़ा...)** आहाहा! यहाँ बाहर से छह काय के जीवों की दया पाले तो भी मिथ्यादृष्टि। यहाँ बाहुबली को मारे तो भी समकिती।

मुमुक्षु : मारने के कारण से....

पूज्य गुरुदेवश्री : इस कारण में जरा कषाय की कमजोरी आयी। चक्रवर्ती हुए न? चक्र घर में आया, इसलिए छह खण्ड आधीन होना ही चाहिए। छह खण्ड आधीन होना चाहिए। उसमें बाहुबली आधीन नहीं हुए तो कहा लड़ाई करो। भले पिताजी ने भाग बाँटकर दिया परन्तु तब मैं चक्रवर्ती नहीं था और अभी चक्रवर्ती हुआ हूँ, चक्र मेरे घर आया है। इसलिए छह खण्ड में कोई मालिक नहीं रहेगा। छह खण्ड का मालिक मैं हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु : छह खण्ड का मालिक होवे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : मालिक-बालिक कहे, वह कथन है। परद्रव्य का स्वामी कैसा? आहाहा! परन्तु मैं चक्रवर्ती हूँ, इसलिए मुझे पूरा राज्य चक्रवर्ती के कारण से मेरे आधीन चाहिए। आहाहा! सम्यग्दृष्टि। यह दोष है, वह चारित्र का दोष है। वह समकित के दोष को जरा नहीं लगाता। आहाहा!

मुमुक्षु : अपने भाई को मार डालने का भाव, वह मात्र चारित्रदोष।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह चारित्रदोष है। कठिन बात है।

मुमुक्षु : जमीन के टुकड़े के लिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : जमीन के टुकड़े के लिये नहीं। मैं चक्रवर्ती हूँ। चक्रवर्ती को छह खण्ड आधीन होता है। व्यवहार से बात है।

मुमुक्षु : चक्रवर्ती को इतना अहं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : छह खण्ड मेरे आधीन हो, यह व्यवहार की बात है न ? वैसे तो भाई सोगानी ने कहा है, खबर है ? कि तीर्थंकरों ने छह खण्ड नहीं साधे हैं परन्तु तीर्थंकरों ने (चक्रवर्ती आदि ने) अखण्ड आत्मा को साधा है।

मुमुक्षु : वह तो आत्मा की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो आत्मा की बात। यह तो बाहर की बात है। समकिती है, तथापि चक्र मारा है। परन्तु बाहुबलीजी चरमशरीरी हैं। उस भव में मोक्ष जानेवाले हैं, इसलिए उन पर चक्र कुछ चला नहीं। हाथ में आकर खड़ा रहा। आहाहा! चारित्रदोष और समकित दोष दोनों की पूरी जाति अलग है। इतना चारित्रदोष, तो भी समकित को जरा भी दोष नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : यह संकल्पी हिंसा में जाएगा या उद्योगी हिंसा में ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चाहे जिस भी हिंसा में जाए। उद्योग है न ? उसका चारित्रदोष है। निश्चय से तो वह जानता है कि राग है, क्लेश है और वेदन भी है। कषाय हुई और वेदन नहीं, ऐसा है ? समकिती है-ज्ञानी है, तथापि वह क्रोध हुआ, उसका वेदन है। परन्तु वह वेदन मेरी चीज़ नहीं है। मैं स्वभाववाला आत्मा हूँ, ऐसा भान तो उस काल में वर्तता है, तथापि ऐसी क्रिया होती है। आहाहा! कठिन काम है।

(वह चक्र बाहुबलि के दाहिने हाथ में आकर स्थिर हो गया।) भरत ने चक्र चढ़ाया, बाहुबलि के हाथ में आ गया, लो, मारने गया तो हाथ में आया। आहाहा!

मुमुक्षु : चक्र तो चक्र के कारण से चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उसके कारण से, परन्तु फिर भी व्यवहार से डाला। चक्र से मार डाले उसे। चक्र छूता नहीं, यह चाकू छूता नहीं तो भी यहाँ मारते हैं, मारते हैं और ऐसा कहा जाता है। चाकू है, गले में यहाँ रखो तो वह गले को स्पर्श नहीं करता, तथापि गला छूट जाता है।

मुमुक्षु : आयुष्य नहीं था, इसलिए मर गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो है परन्तु चक्र चलाया और मरे हैं कहाँ? आयुष्य पूरा हुआ नहीं। उनने तो मारा। समकिती, तो भी सगे भाई को चक्र मारा, तथापि उस समकित में दोष नहीं है।

मुमुक्षु : समकित...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाधा की यहाँ बात नहीं है। होता है तो कैसे हुआ? करना तो नहीं। करे तो नहीं, परन्तु होवे तो उसकी मर्यादा इतनी है। आहाहा!

अपने दाहिने हाथ में स्थित (उस) चक्र को छोड़कर जब बाहुबली ने प्रव्रज्या ली... लो! आथ में चक्र आया, उसे छोड़ दिया और स्वयं प्रव्रज्या अंगीकार की। आहाहा! **तभी (तुरन्त ही)...** मोक्ष पाते **परन्तु वे (मान के कारण मुक्ति प्राप्त न करके)...** मान था, इसलिए मुक्ति नहीं मिली। आहाहा! यह मान हानि करता है। क्या कहा अब? फिर से तीसरा श्लोक।

भेयं माया-महागर्तान्मिथ्या-घन-तमो-मयात्।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः।।

वनचर के भय से... गाय का दृष्टान्त देते हैं। आत्मा आनन्दस्वरूप है। ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप।

मुमुक्षु : श्लोक रह गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ बराबर है।

[श्लोकार्थः] जिसमें (जिस गड्ढे में) छिपे हुए क्रोधादिक भयंकर सर्प.... क्या कहते हैं? जिसे आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञान, ज्ञातास्वरूप है, ऐसी उसे खबर नहीं। जैसे खड्डे में वस्तु होती है, वैसे **क्रोधादिक भयंकर सर्प देखे नहीं जा सकते...** आहाहा! क्या कहते हैं? आत्मा आनन्द सच्चिदानन्द प्रभु। सत्, कायम रहनेवाला सत्ता और चिद् और ज्ञान और आनन्दस्वरूप उसका। उसकी जिसे खबर नहीं है, वह माया, कपट करता है। यह माया, कुटिल कैसी है? **क्रोधादिक...** आहाहा! **भयंकर सर्प देखे नहीं जा सकते...** मिथ्यात्वरूपी जोर में।

शुद्ध चैतन्यस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु अनादि मेरी चीज़ की सत्ता, उसकी आदि नहीं। है, उसकी आदि नहीं; है, उसका नाश नहीं और है, उसके स्वभाव से खाली नहीं। ऐसा मैं आत्मा, ऐसा जिसे आनन्द का अनुभव नहीं है। आहाहा! आत्मज्ञान होने पर आनन्द का अनुभव होता है। अकेला ज्ञान नहीं रहता। अन्यमत में 'नरसिंह मेहता' हुए, उन्होंने ऐसा कहा कि 'ज्यां लगी आत्मातत्त्व चिह्नयो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी' भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु—सत् चित् ज्ञान। है ज्ञान। सच्चिदानन्द और आनन्द, दो मुख्य लिये हैं - आनन्द और ज्ञान, ऐसा आत्मा का भगवान स्वभाव है। वह शाश्वत् है, नित्य है। उसे न जानकर, जो कुछ माया / कपट करता है, कुटिलता और माया... आहाहा! वह **क्रोधादिक भयंकर सर्प देखे नहीं जा सकते...** ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव क्रोध, मान, माया, लोभ होते हैं, उन्हें देख नहीं सकता। आहाहा! अर्थात् क्या कहते हैं? कि अन्तर आनन्द और निर्विकल्प स्वरूप है, उसे न जाननेवाला, उसे जो राग के विकल्प उठते हैं, चाहे जिस प्रकार के हिंसा के, झूठ के, चोरी के, दया, दान के सब विकल्प राग हैं, उस रागरूपी सर्प को, ज्ञानस्वरूपी आत्मा को नहीं जाननेवाले उन्हें नहीं पहचान सकते। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

स्वयं भगवान आत्मा सच्चिदानन्द निर्मल शाश्वत् है, उसका जिसे ज्ञान नहीं है, वह **जिसमें (जिस गड्ढे में) छिपे हुए क्रोधादिक भयंकर सर्प देखे नहीं जा सकते, ऐसा जो मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकारवाला...** आहाहा! माया में मिथ्यात्व बसता है। मिथ्याश्रद्धा, चैतन्यस्वरूप की पूर्णता के लक्ष्य बिना अकेला राग और दया, दान तथा पुण्य-पाप के विकल्प को अपना स्वरूप माने, वे मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के गड्ढे में पड़े हैं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है और इसलिए उन्हें क्रोध और मान अन्दर सूक्ष्म होता है, उसे मिथ्यात्व के जोर से, विपरीत मान्यता के जोर से वे पहचान नहीं सकते।

अन्तर भगवान देह से तो भिन्न है। यह (देह) तो जड़ है, मिट्टी है। अन्दर कर्म हैं, उनसे भी भिन्न है। यह सब पुण्य हो तो पैसा-धूल मिले। गरीब हो तो पुण्य न मिले, वह पूर्व का पुण्य-पाप है न? उसके कारण से संयोग है। बुद्धि का बारदान हो, उन्हें भी पाँच-पाँच लाख कमायी करते देखे और बुद्धि का खां (विशेष बुद्धिमान) होवे, उसे महीने में पाँच हजार कमायी करना हो तो पसीना उतरे। यह पैसा कहीं प्रयत्न का फल नहीं है। यह तो पूर्व का पुण्य हो, उसका संयोग है। तो उसके कारण... ऐसा है।

यहाँ कहते हैं कि उसमें इसे लोभ और राग होता है तथा क्रोध और मान होता है, सूक्ष्म अभिमान आता है कि हम ऐसे हैं। परन्तु मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन का भान नहीं। चैतन्य ज्ञातादृष्टा है, उसकी खबर नहीं, इसलिए मिथ्याश्रद्धा में उस विकार को देख नहीं सकते। उस विकार को विकाररूप नहीं देख सकते। आहाहा! कहो, बलुभाई! यह ऐसी बात यहाँ है। यहाँ तो सूक्ष्म बात है, भाई!

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप, त्रिकाली सत्ता शुद्ध है परन्तु उसकी जैसी त्रिकाली सत्ता शुद्ध है, वैसे त्रिकाल तीनों भूतकाल से भी मलिन दशा चली आती है। उसकी दशा में मलिनता है। वस्तु त्रिकाल शुद्ध है। उस मलिन दशा को अपनी मानी है। आहाहा! पर का भी कुछ कर नहीं सकता तो भी इसे अभिमान में राग और द्वेष के कारण से, मिथ्याश्रद्धा के कारण से उस मिथ्यात्वरूपी गड्ढे में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, तृष्णा कैसे होते हैं, उसे यह समकित नहीं है इसलिए, आत्मज्ञान नहीं है, इसलिए मिथ्याश्रद्धा में (देख नहीं सकते)। समकित है, वह अन्दर आँख है। आत्मा का भान और उसके कारण कुछ रागादि हो तो उन्हें जान सकता है कि यह राग है। मिथ्यात्व है, वह अन्धा है। आहाहा! मिथ्याश्रद्धा इस त्रिकाली स्वरूप के लिये अन्ध... आहाहा! और वर्तमान होनेवाले विकारी के परिणाम विकल्प, उसके लिये भी अन्ध है। दोनों को नहीं जानता। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

यह यहाँ कहते हैं। **क्रोधादिक भयंकर सर्प देखे नहीं जा सकते...** गड्ढे में छुप रहे हैं। अर्थात् यह क्या कहा? भगवान चैतन्यस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति प्रभु का जिसे ज्ञान नहीं, अनुभव नहीं। यदि अनुभव होवे, तब तो आनन्द का स्वाद आवे। आत्मज्ञान होवे, तब तो आत्मा में आनन्द है, अतीन्द्रिय आनन्द से सर्वांग आनन्द से भरपूर है, इसलिए यदि आत्मा का ज्ञान होवे तो उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे। उसके कारण फिर कुछ क्रोधादि हों तो उनका ज्ञान होता है कि मेरी कमजोरी से यह सब हुआ है अर्थात् चैतन्य को भी जानता हैं। ज्ञानी जो चैतन्यस्वरूप है, उसे भी जानता है और रागादि आवें, उन्हें भी मुझसे प्रत्यक्ष (भिन्न) हैं, ऐसे दोनों को जानता है। आहाहा!

मिथ्यादृष्टि चैतन्यस्वरूप का अनजान, चैतन्यचन्द्र चमकता शीतल-शीतल शान्ति से भरपूर... आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा है, उसकी जिसे खबर नहीं, उसकी ओर का

झुकाव नहीं, उसका आदर और सत्कार नहीं, उस मिथ्यादृष्टि को राग और द्वेष तथा क्रोध होता है, वह जैसे गड्ढे में पड़ी हुई चीज़ देख नहीं सकता; वैसे इन्हें देख नहीं सकता। भान नहीं है कि यह क्या हुआ? मैंने क्रोध किया या मान किया? क्रोध अर्थात् ऐसा ही क्रोध (ऐसा नहीं)। विकार का प्रेम, पुण्य और पाप के भाव का प्रेम, यह त्रिकाली प्रभु आनन्दस्वरूप के प्रति उसे द्वेष है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा का प्रेम नहीं और पुण्य-पाप के परिणाम भाव होते हैं, उनका प्रेम। शुभ-अशुभ विकल्प वृत्तियाँ उठती हैं, उनका जिसे प्रेम है, उसे सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा के प्रति अरुचि का द्वेष है और इस पुण्य-पाप के भाव की रुचि का राग है। आहाहा! अब ऐसा कब करे? मार्ग ऐसा है, बापू! ऐसा विषय अनन्त काल से, अनादि-अनादि काल से हुआ अनन्त काल। वस्तु है तो अनादि की है। जो है, उसकी आदि नहीं हो सकती। वह सत्ता है।

मुमुक्षु : कभी विचार नहीं किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : विचार नहीं किया। यह सत्ता प्रभु अन्दर विराजमान है। वह जिसमें ज्ञात हो, वह चैतन्य सत्ता है। यह शरीर ज्ञात नहीं होता। शरीर (को) जानता है जाननेवाला। यह चैतन्यसत्ता शरीर से भिन्न है। इस प्रकार इन दूसरी चीज़ों को जाननेवाली चैतन्यसत्ता में वह ज्ञात होता है। वह ज्ञात होता है, उस चीज़ से चैतन्यसत्ता भिन्न है। इस चैतन्यसत्ता को जो अन्दर जानता नहीं, उसे अनुभव नहीं करता, उसका उसे आदर और सत्कार नहीं है, वह जैसे गड्ढे में पड़ी हुई वस्तु हो, उसे देख नहीं सकता, इसी तरह मिथ्यात्व के कारण अपने विकार परिणाम क्या होते हैं, वह देख नहीं सकता। आहाहा! मिथ्याश्रद्धा के कारण अन्दर शुद्ध चैतन्यमूर्ति के (भान के) अभाव के कारण अनादि से अन्दर सूक्ष्म विकार होता है, उस विकार को वह देख नहीं सकता। क्योंकि विकार का जाननेवाला उसने जाना नहीं। आहाहा! जाननेवाले को जाने बिना राग और पुण्य-पाप मुझसे भिन्न क्या है, यह जान नहीं सकता। आहाहा!

अन्दर सूक्ष्म विकल्प उठता है, कुछ ऐसा करूँ या ऐसा करूँ—ऐसा विकल्प उठता है, वह राग है, विकार है, वह कषाय है। कषाय अर्थात् कष—संसार की आय। उसमें संसार का-भटकने का लाभ है। आत्मा अकषाय है, उसका स्वरूप अकषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभरहित उसका स्वरूप है। ऐसे स्वरूप का जिसे ज्ञान नहीं,

उसे मिथ्याश्रद्धा में गड्ढे में पड़ी हुई चीज़ जैसे गहरी दिखती नहीं, उसी प्रकार उसे क्रोध, मान, माया, लोभ बारीक-सूक्ष्म होते हैं, उन्हें वह देख नहीं सकता। आहाहा! है ?

जिसमें (जिस गड्ढे में) छिपे हुए क्रोधादिक भयंकर सर्प... आहाहा! कुछ प्रतिकूल संयोग आने पर अन्दर अरुचि खड़ी हो, वह द्वेष है। आहाहा! परन्तु अज्ञानी देख नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। क्योंकि चैतन्य का भान नहीं, इसलिए नहीं द्वेष का भान। अन्दर सूक्ष्म द्वेष हो जाता है, वह किस प्रकार होता है, उसे नहीं देख सकता। बलुभाई! यहाँ तो सब कठिन काम है। धर्म की चीज़। आहाहा! इसी प्रकार कुछ अनुकूल चीज़ देखकर अन्दर मान आता है या कोई इसकी महिमा करे, प्रशंसा करे, उसमें इसे मान आता है परन्तु उस मान को देख नहीं सकता क्योंकि सम्यक् चैतन्य जो स्वरूप है, उसने जाननेवाले को जाना नहीं, इसलिए मिथ्याश्रद्धा में ऐसे विकार हों, उन्हें वह पहिचान नहीं सकता। आहाहा! कठिन बात है, भगवान!

यहाँ कुछ दया पालन करना, व्रत पालना, यह यहाँ नहीं। पर की दया तो पाल नहीं सकता। वह तो परद्रव्य है, उसकी आयुष्य होवे तो जीवे, न आयुष्य होवे तो मरे। आहाहा! यह डॉक्टर-वॉक्टर उसे जिलाते हैं या नहीं ? वे जिला सकने के लिये नहीं आये हैं। यह तो देखने के लिये प्रेम से आये हैं। आहाहा! यह वस्तु... यहाँ हेमन्तकुमार नहीं थे। हेमन्तकुमार डॉक्टर थे। वे ऐसा जरा कुछ किसी की दवा का काम करते थे। यहाँ दो-तीन बार आये थे। वहाँ बोले, मुझे कुछ होता है। वे कुर्सी पर बैठे। उड़ गये। देह की स्थिति पूरी हो, उसे रोकने में कोई समर्थ नहीं है। आहाहा! जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस विधि से, जिस रीति से, जिस प्रकार से होना है, वह निश्चित है। उसे बदलने के लिये इन्द्र, जिनेन्द्र कोई समर्थ नहीं है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं **जिसमें (जिस गड्ढे में) छिपे हुए क्रोधादिक...** बात क्या करते हैं ? जरा सूक्ष्म करते हैं। अन्दर के विकारभाव, सूक्ष्म विकल्प उठे, मैं आत्मा हूँ - ऐसा भी एक विकल्प उठे, वह भी राग है। आहाहा! और यह मैं नहीं - ऐसा भाव भी एक राग है। ऐसे राग के, विकार के भाव को वास्तविक चैतन्यतत्त्व को जाननेवाले-देखनेवाले का ज्ञान नहीं होने से, जाननेवाला-देखनेवाला भगवान आत्मा, उससे विरुद्ध भाव को वह पहचान नहीं सकता। आहाहा! बात तो बहुत अच्छी है।

जिसने आत्मा को जाना, वह आनन्दस्वरूप है। अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, अतीन्द्रिय ज्ञान और शान्ति के रस से भरपूर है। ऐसा जिसने जाना, उसे आत्मज्ञान में आत्मा का अतीन्द्रिय स्वाद आये बिना नहीं रहता। और अतीन्द्रिय स्वाद का जहाँ अभाव है, वहाँ समझना कि प्रभु चैतन्य के प्रति उसे रस नहीं है। उसे पुण्य और पाप के विकल्प तथा राग का रस है। वह सूक्ष्म है, उसे जैसे गड्ढे में पड़ी हुई वस्तु देख नहीं सकता, वैसे मिथ्यादृष्टि, विकार के भाव का नुकसान क्या है और कितना विकार किस प्रकार का होता है, उसे देख नहीं सकता। आहाहा! है ?

मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकारवाला... आहाहा! राग, दया के राग को भी अपने लाभ के लिये माने, वह भी मिथ्यादृष्टि है क्योंकि राग, वह चैतन्य का स्वरूप नहीं है। चैतन्य भगवान तो ज्ञातादृष्टा चैतन्य ज्ञायक है। उसे न देखकर राग को अकेले को अस्तित्वरूप से देखता है परन्तु देखने पर उसका भी वास्तविक ज्ञान वह नहीं कर सकता, क्योंकि चैतन्य का ज्ञान वास्तविक नहीं है, इसलिए यह राग का भाग है या नहीं ? या यह विकल्प है या नहीं ? यह राग है या नहीं ? यह दोष है या नहीं ? यह निर्दोष भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति प्रभु चैतन्य है, उसे न जाननेवाला, उससे विरुद्ध दोष को भी नहीं जान सकता। आहाहा! यह समझ में आया ?

क्योंकि दोष को जाने कब ? - कि निर्दोष तत्त्व जानने में आया हो तो उसके साथ मिलान करे तो जाने। मिलान किसके साथ करना ? पूरे दिन सूक्ष्म विकार और दोष ही होते हैं। सूक्ष्म विकल्प किया ही करता है। यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... यह सब राग है, यह सब कषाय है। कषाय अर्थात् कष अर्थात् संसार, आय अर्थात् लाभ। कषाय उसे कहते हैं कि जिससे संसार में भटकने का लाभ मिले। लाभ मिले, भटकने का। आहाहा! परन्तु जिसे यह आत्मा कषाय और पुण्य-पाप के भाव से रहित है, उसकी जिसे खबर नहीं, उस खबररहित प्राणी की दशा में विकार कितना और किस प्रकार से होता है ? उसे विकार कहना या नहीं ? इसकी भी उसे खबर नहीं पड़ती। आहाहा!

परजीव की दया पालने का भाव / राग आया, वह विकार है। आहाहा! परन्तु आत्मा के ज्ञातादृष्टा के भान बिना उस राग को जान नहीं सकता। वह जाने कि मैंने कुछ अच्छा किया। मैंने कुछ अच्छा किया। आहाहा! गड्ढे में पड़े हुए को जैसे जान नहीं

सकता, मिथ्याश्रद्धा के अन्धकार में विकार की कैसी रीत और कैसी जीत है, विकार का किस प्रकार का स्वरूप है... आहाहा! वह नहीं जान सकता। बहुत सरस बात है, लो! गाथा तो बहुत अच्छी आ गयी।

मुमुक्षु : डॉक्टर सेवा करे तो अच्छा करता है या खराब ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सेवा-वेवा तो किसी से हो नहीं सकती। सेवा-वेवा करने का भाव राग।

गाँधीजी व्याख्यान में आये थे, तब कहा था। (संवत्) १९९५ का वर्ष, राजकोट। मैंने कहा—पर की दया पाल सकता हूँ... वह परवस्तु है या नहीं ? तो वह चीज़ है, वह अपने कारण से टिक रही है या पर के कारण से है ? वह अपने कारण से टिकती है और अपने कारण से बदलती है। उसके बदले दूसरा कहे कि मैं उसे बदला दूँ... आहाहा! वह तो मिथ्यात्व है। (संवत्) १९९५ के वर्ष में कहा था।

मुमुक्षु : फिर कोई सेवा नहीं करेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता था सेवा ? सेवा कोई नहीं करता, बापू! आहाहा! क्या कहें ?

सूक्ष्म विकार होता है। इसे अभी खबर नहीं कि यह विकार है और यह निर्विकारी प्रभु है। दोनों के बीच का भेदज्ञान नहीं है, दोनों के बीच का विवेक नहीं है, वह विकार की सूक्ष्मता के भाव को नहीं देख सकता। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु! यहाँ तो जन्म-मरणरहित की बात है। जिससे जन्म-मरण हो, भव में भटके, वह तो चींटी, कौआ, कुत्ते के भव में अनन्त भव किये। अनन्त! अनादि का है तो अनादि का रहा कहाँ ? मुक्ति हुई है ? जो कच्चा चना होता है, वह उगता है। चना कच्चा हो तो तुरास देता है और उगता है। इसी प्रकार यदि अज्ञान होवे तो.... आहाहा! दुःख को वेदन करता है और जन्मता है। और जो चना सिंक गया, वह मिठास देता है और उगता नहीं है। इसी प्रकार जो आत्मा के आनन्द का भान हुआ और रागादि से भिन्न करके स्वरूप को जाना, उसने आत्मा को सेंका है, उसे आनन्द आता है और परिभ्रमण नहीं करता। ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा!

यहाँ तो शरीर को ९१ वर्ष हुए, ९१। यह तो १८ वर्ष से लगायी है। १८ वर्ष की

उम्र से। दुकान पर थे। हमारी दुकान है न! पालेज में दुकान है। भरुच और बड़ोदरा के बीच पालेज है न? वहाँ दुकान है। अभी बड़ी दुकान है। वहाँ नौ वर्ष रहा। पाँच वर्ष तो मैंने दुकान चलायी। १९६३ से १९६८। ६८ में छोड़ दी। वहाँ बड़ी दुकान है। चालीस लाख रुपये हैं। चार लाख की आमदनी है। पालेज में, वह हमारी दुकान थी। मेरी अर्थात् किसी थी नहीं, व्यर्थ में मानी थी। आहाहा!

इसमें तो विशिष्टता क्या आयी? भाई! कि जिसने यह आत्मा अखण्डानन्द मूर्ति प्रभु जानने में आया नहीं, तो उसे जो राग सूक्ष्म होता है; द्वेष सूक्ष्म होता है; क्रोध, मान, माया, लोभ सूक्ष्म होते हैं, (उन्हें) वह जान नहीं सकता।

मुमुक्षु : मिथ्यादर्शन को भी जान सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे मिथ्याश्रद्धा के कारण हुआ न? यहाँ चैतन्य का भान नहीं हुआ, तब मिथ्याश्रद्धा में रुक गया। मिथ्याश्रद्धा अर्थात् अन्धकार। उस अन्धकार के कारण उसे विकार किसे कहना? क्रोध, मान, माया, लोभ सूक्ष्म किसे कहना? उसे पहिचान नहीं सकता। वह तो मानेगा कि मानो हमने ऐसा किया। अमुक किया... अमुक किया, माने सब। बात ऐसी है, भगवान! आहाहा! यह तो ४५ वर्ष से यहाँ सोनगढ़ में चलती है। यहाँ आये हुए ४५ वर्ष हो गये। ४५ वर्ष में आये थे।

मुमुक्षु : अभी ४५ वर्ष चलेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : ४५ वर्ष अब चलेगी? अब तो ९१ तो चला। ९१ तो इस वैशाख शुक्ल दूज को लगा है। मुम्बई। अब यह डॉक्टर देखने आया है, क्या है अन्दर? वहाँ भी आया था। कान्तिभाई के यहाँ देखने (आया था)।

मुमुक्षु : दो-तीन बार आया था।

पूज्य गुरुदेवरी : आया था, और दो-तीन बार आया था। परन्तु अब ऐसा सुनने का समय वहाँ नहीं मिला था।

मुमुक्षु : आज सामने से कहा, मुझे साहेब का व्याख्यान सुनना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा किया। अब यहाँ क्या है, वह तो खबर पड़े। आहाहा! इसमें सूक्ष्मता क्या है? कि चैतन्यस्वरूप ज्ञान और आनन्द है, उसकी जिसे खबर

नहीं, उसे मिथ्या अन्धकार है। प्रकाशस्वरूप प्रभु ढँक गया है, उसका अनुभव नहीं है, आनन्द का स्वाद नहीं है। वह वस्तु मिथ्याश्रद्धा से ढँक गयी है; इसलिए इसे मिथ्याश्रद्धा द्वारा अन्दर सूक्ष्म विकार क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष होते हैं, उसे यह पहिचान नहीं सकेगा। उसमें पड़ा हुआ मानेगा कि हम कुछ करते हैं और हम कुछ चीज़ हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकारवाला मायारूपी महान गड्ढा... आहाहा! कपटरूपी। सूक्ष्म कपट भी किसे कहा जाए, उसकी इसे खबर नहीं पड़ती। आहाहा! सूक्ष्म कपट, सूक्ष्म क्रोध अन्दर होता है। अन्दर जरा राग (रुचता है), आत्मा नहीं रुचता, कठिन लगता है। ऐसे भाव को भी यहाँ क्रोध कहते हैं। आहाहा! भगवान सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्मलानन्द, निर्विकारी का पिण्ड प्रभु, वह जिसे नहीं रुचता, नहीं पोषाता, उसे राग में प्रेम और रुचि तथा पोषाण आया है और इसलिए वह राग को नहीं जान सकेगा। यह मिथ्या अन्धकार है। सम्यक् प्रकाश जागृत नहीं है। यदि अन्दर से सम्यक् प्रकाश जागृत हो तो उसे भी अभी रागादि होते हैं तो वह जानता है कि यह राग है, मैं नहीं। अभी विकार है, दुःख है। मेरी चीज़ आनन्द भिन्न है, ऐसा ज्ञानी ज्ञानस्वरूप को जानते हुए दोष को बराबर जितने-जितने प्रमाण में होता है, उतने प्रमाण में आत्मा से भिन्न उसे जानता है। आहाहा!

अज्ञानी... आहाहा! चैतन्य की जागती ज्योति चैतन्यस्वरूप प्रभु, चैतन्य के प्रकाश बिना 'यह है'—यह जाने कौन? शरीर कुछ जानता है कि मैं शरीर हूँ? शरीर की सत्ता का अस्तित्व जिसकी सत्ता में ज्ञात होता है, वह ज्ञानसत्ता, वह आत्मा है। जिसकी सत्ता में यह ज्ञात होता है यह... यह... यह... वह यह नहीं ज्ञात होता। इसकी सत्ता, ज्ञान की सत्ता, वहाँ ज्ञान ज्ञात होता है परन्तु उसकी इसे खबर नहीं है, इसलिए मानो कि यह जानता हूँ... यह जानता हूँ। परन्तु यह जिसके ज्ञान बिना यह है, ऐसा जाने कौन? आहाहा! ऐसा जो पर का ज्ञान भी स्वयं से होता है। वह पर के कारण नहीं। ऐसी सूक्ष्मता, मिथ्यात्वरूपी गड्ढे में पड़ा हुआ नहीं देख सकता। यह दृष्टान्त दिया है न?

घोर अन्धकारवाला मायारूपी महान गड्ढा... आहाहा! 'मायामा मिथ्यात्व बसे'- आता है, भाई! कहीं श्लोक में आता है। माया, कपट, कुटिल, बहुत सूक्ष्म माया। उसकी माया का, कपट का स्वरूप ही उसे ख्याल में नहीं आता। यह माया है या नहीं? आहाहा!

मायारहित प्रभु के ज्ञान बिना, उसके प्रकाश बिना राग को जाननेवाला कौन है ? यह ज्ञान किया नहीं तो जाननेवाला रहता नहीं। उस अन्धकार में पड़े हुए... आहाहा! सूक्ष्म राग-द्वेष को भी नहीं जान सकता।

मुमुक्षु : इन्द्रियाँ होवे तो ज्ञान होवे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्द्रिय-फिन्द्रिय जड़, काम नहीं करती। इन्द्रियाँ न हो और अन्दर आत्मा जानता है। इन इन्द्रियों से नहीं जानता। ये इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, मिट्टी हैं। इन्द्रियों को भी जाननेवाला भिन्न है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। ऐसी जब तक खबर नहीं, तब तक इन्द्रिय से जानता हूँ, इससे जानता हूँ, वह मिथ्यात्व अन्धकार के बड़े गड्ढे में पड़े हैं। आहाहा! जहाँ तक इन्द्रियों से भी पार है। वह (इन्द्रियाँ) तो जड़ मिट्टी है। वे तो श्मशान में राख होंगी। भगवान चैतन्य है, वह तो नित्य सत्ता है, अनादि है। वह सत्ता तो अन्यत्र चली जाएगी। अब नहीं जाना वह मिथ्यादृष्टि चौरासी के अवतार में भटकेगा। जिसने आत्मा का स्वरूप जाना है, उसे कुछ कदाचित् रागादि थोड़े रहें तो एकाध-दो भव करे, परन्तु फिर भी उसे जानकर, राग को जानने से राग ज्ञात होता है, वह ज्ञान आत्मा को जानने पर राग ज्ञात होता है, उसे विशेष भव नहीं हो सकते। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१३४, श्लोक-१८२, गाथा-११६, रविवार, ज्येष्ठ शुक्ल ११, दिनांक २५-०५-१९८०

नियमसार, कलश तो अपने माया तक आ गया है, परन्तु इस श्लोक में समझने का बहुत है।

जिसमें (जिस गड्ढे में) छिपे हुए... क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यरूपी भयंकर सर्प। आहाहा! वे **देखे नहीं जा सकते...** किसे ? जिसे **मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकारवाला...** गहरे-गहरे जिसे मिथ्यात्व का अंश है, इसलिए वह माया के खड्डे में पड़ा है; इसलिए उसे सूक्ष्म दोष क्या है और कहाँ मेरा दोष आता है, उसे पकड़ नहीं सकता। समझ में आया ? यह श्लोक भी आता है। 'मायामां मिथ्यात्व।' यहाँ तो मिथ्यात्व में माया कहते हैं। वह तो माया में मिथ्यात्व। अन्दर में मिथ्या अन्धकार, वास्तविक स्वरूप का ज्ञान और भान

नहीं होने से मिथ्या अन्धकार से माया के खड्डे में कितने दोष, कैसे बारीक-सूक्ष्म है ? किस दोष में मैं अटकता हूँ ? और मुझे क्या दोष है ? वह जान नहीं सकता। आहाहा ! है न ? यह कल कहा था। डॉक्टर थे।... आहाहा !

भगवान अनन्त गुण का सागर, ऐसा होने पर भी, उससे विपरीत किसी भी अभिप्राय में मिथ्यात्व अन्दर हो, तो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से मायारूपी खड्डे में कितने दोष हैं, कपट में कहाँ-कहाँ दोष है ? यह मिथ्या अन्धकार से जान नहीं सकता। कहो, समझ में आया ? आहाहा ! यह श्लोक आता है 'मायामां मिथ्यात्व' बहुत पढ़े थे, उसमें आता था।

मुमुक्षु : सज्झायमाला में।

पूज्य गुरुदेवश्री : सज्झायमाला में आता है।

मुमुक्षु : मायामां मिथ्यात्व - यह आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सज्झायमाला में आता है।

श्वेताम्बर की सज्झायमाला है न, उसमें यह आता है। वह पढ़ी है न ! चारों पढ़ी है। एक-एक सज्झायमाला में २५० सज्झाय है। दुकान पर चारों पढ़ी है (संवत्) १९६५-६६ के वर्ष में। 'मायामां मिथ्यात्व। साचामां समकित वसे अने मायामां मिथ्यात्व।'—ऐसा उसमें आता है। सत्य वस्तु हो, वहाँ आगे... आहाहा ! सत्य में समकित है और मिथ्या में माया है और माया के गहरे खड्डे में पड़े हुए को, मुझे क्या-क्या दोष है, उन्हें वह मिथ्या अन्धकार में देख नहीं सकता। ओहोहो ! कहा न ?

घोर अन्धकारवाला मायारूपी महान गड्ढा... मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकार। अन्धकार मिथ्यात्व को कहा और मायारूपी खड्डा। आहाहा ! वापस महान खड्डा। **उससे डरते रहना योग्य है।** आहाहा ! अन्दर में सूक्ष्म थोड़ा अभिमान हो जाए और अभिमान में मिथ्यात्व आ जाए, वह ध्यान रखना चाहिए, ऐसा कहते हैं। कुछ जानपना किया, कुछ आया—कुछ पुस्तक लिखना आया, इसमें क्या विशेष भला हुआ ? यह क्या नयी चीज़ है ? आहाहा ! उसका गहराई में इसका अभिमान आवे और बाहर प्रसिद्धि का भाव अन्दर में आवे (कि) किसी प्रकार मुझे पहिचाने, ऐसा मिथ्यात्व अन्धकार और माया

का गड्ढा गहरा है। आहाहा! बहुत सरस बात है। तब सज्झायमाला में पढ़ी थी। 'सांचा में समकित बसे अने मायामां मिथ्यात्व।' ऐसा आता है। अब आज यह बाद का श्लोक है।

वनचर-भयाद्धावन् दैवाल्लताकुल-वालधिः,
किल जडतया लोलो वालव्रजेऽविचलं स्थितः।
बत स चमरस्तेन प्राणै-रपि प्रवियोजितः,
परिणततृषां प्रायेणैवम्विधा हि विपत्तयः।।

[श्लोकार्थः] वनचर के भय से.... वनचर अर्थात् मानस और या जंगल के जानवर बाघ, सिंह या भील आदि। उनके **भय से भागती हुई सुरा गाय की पूँछ...** आहाहा! चमरी गाय की पूंछ... आहाहा! चमरी गाय की पूँछ को मन्दिर में रखते हैं। मन्दिर में रखते हैं। श्वेताम्बर में मन्दिर में चमरी गाय के बड़े चँवर होते हैं। आहाहा! वह चमरी गाय की पूँछ है। **भय से भागती हुई...** आहाहा! **दैवयोग से...** कहते हैं, भागती थी भील और सिंह के भय से। उसमें **दैवयोग से...** आहाहा! **बेल में उलझ जाने पर...** बेल में उसकी पूँछ के बाल उलझ गये। आहाहा! बेल, बेल। दौड़ते-दौड़ते पीछे। सिंह और बाघ या भील। दौड़ती-दौड़ती कहीं ऐसे जाल में उसके बाल उलझ गये। बाल बहुत उत्कृष्ट होते हैं। आहाहा!

दैवयोग से बेल में उलझ जाने पर जड़ता के कारण... वापस भान नहीं कि अब इतने बाल भले उलझे। खींचकर तोड़कर चली जाऊँ, इतने बाल टूटकर चले जाएँ परन्तु इतना भान नहीं होता। आहाहा! मेरे बाल टूट जाएँगे... मेरे बाल टूट जाएँगे। परन्तु मार डालेंगे, आहाहा! **जड़ता के कारण...** उसे भान नहीं होता। **बालों के गुच्छे के प्रति लोलुपतावाली वह गाय (अपने सुन्दर बालों को न टूटने देने के लोभ में)...** आहाहा! **वहाँ अविचलरूप से खड़ी रह गयी,...** थोड़े बाल बेल में पकड़ा गये। ऐसी बेल होती है, वनस्पति की बेल आती है न? वह बहुत पतली, वहाँ वन में बहुत सैकड़ों होती है। ऊपर चढ़ी हुई होती है और उसमें बाल कहीं उलझ गये। उस बाल में उलझे हुए को... आहाहा! **(अपने सुन्दर बालों को न टूटने देने के लोभ में)...** आहाहा! थोड़े बाल टूट जाए तो वहाँ कहाँ मर जाए ऐसा था? आहाहा! इसी प्रकार इस जगत में... कहेंगे।

वहाँ अविचलरूप से खड़ी रह गयी, और अरे रे! उस गाय को... कहा न?

लोलुपतावाली वह गाय (अपने सुन्दर बालों को न टूटने देने के लोभ में) वहाँ अविचलरूप से खड़ी रह गयी, और अरेरे!... 'बत' 'बत' शब्द आया। खेद है कि **उस गाय को वनचर द्वारा प्राण से भी विमुक्त कर दिया गया!** थोड़े बाल के लोभ के कारण खड़ी हुई को वनचर ने मार डाला। आहाहा! थोड़े बाल के अपने प्रेम के कारण कि यह बाल टूट जाएँगे, इसके खातिर प्राण गँवाये। भील, सिंह, बाघ खा गया। आहाहा! **(अर्थात् उस गाय ने बालों के लोभ में प्राण भी गँवा दिये!)...** आहाहा! अब यह तो दृष्टान्त कहा।

जिन्हें तृष्णा परिणमित हुई है... अब सिद्धान्त (कहते हैं)। **जिन्हें तृष्णा परिणमित हुई है...** आहाहा! तृष्णा किसी भी चीज़ की। वह तृष्णा मान की, पूजा की, पुजाने की, स्त्री की, परिवार की, किसी भी जगह उसकी तृष्णा अटक गयी है। आहाहा! **जिन्हें तृष्णा परिणमित हुई है...** लोभ-लोभ। यह लोभ है न? लोभ परिणमित हो गया है। कहीं... कहीं... कहीं... अटक गया है। आहाहा!

मुमुक्षु : बनिया का मूल धर्म है लोभ।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनिया का क्या? लोभिया बनिया कहलाता है ऐसा? यह तो अभी इससे आगे धर्म के नाम से भी गहरे-गहरे अपनी इज्जत की तृष्णा, नाम रखने की, कोई मुझे बाहर में पहिचाने... आहाहा! ऐसी तृष्णा का गड्ढा अन्दर पड़ा है। वहाँ पकड़ा गया है, कहते हैं। आहाहा! कठिन बात है। कुछ भी अपने स्वार्थ के अन्दर में किसी भी जगह सूक्ष्म या स्थूल अटकने के साधन में वहाँ अटक जाता है। आहा! लोभी तृष्णापरिणत, जो तृष्णापरिणत... आहाहा! ममता से परिणत, वह कोई भी स्थूल और सूक्ष्म कषाय में वहाँ पकड़ा जाता है और वहाँ से आत्मा के प्राण नाश करता है। आहाहा!

तृष्णा परिणमित हुई है, उन्हें प्रायः ऐसी ही विपत्तियाँ आती हैं। प्रायः क्यों कहा? सबको ऐसा नहीं होता, ऐसा। किसी को दूसरा दुःख होता है। किसी को कोई हो... आहाहा! कहीं दूसरा लाभ लेने जाए, कोई बाण मारे, किसी ने तलवार मारी। आहाहा! देखो न! अभी यहाँ हुआ नहीं? दूसरे... थे। जनता का व्यक्ति था। क्या कहलाता है वह? इन्दिरा। इन्दिरा के पक्ष का व्यक्ति था। वहाँ वह जनता का व्यक्ति ऐसा आया। ऐसा-ऐसा ऐसे करके फिर छुरी मार दी। मार डाला। आहाहा! गहरे-गहरे उसे मेरा देश... मेरा देश... आहाहा! कहाँ देश था और कहाँ घर था? आत्मा का राग नहीं, वहाँ और देश कहाँ से

आया ? आहाहा ! शुभ और अशुभराग, वह भी आत्मा की चीज़ नहीं। वह भी सूक्ष्म लोभ... आहाहा ! और यह पहले द्वेष जाता है, पश्चात् राग जाता है। लोभ है न ? दसवें में राग है। द्वेष पहले जाता है परन्तु राग, तृष्णा, लोभ की बात बहुत सूक्ष्म है। यह चैतन्य को किस ठिकाने लोभी, तृष्णा में परिणमित अटका है, यह इसे देखना नहीं आता। आहाहा ! यह कहते हैं।

जिन्हें तृष्णा परिणमित हुई है... अकेला पैसा ही, ऐसा कुछ नहीं। अकेले स्त्री-पुत्र नहीं। त्यागी हुआ परन्तु उसमें तृष्णा परिणमकर कहाँ अटका है ? आहाहा ! मुझे कोई पहिचाने, मुझे आगे करे और मैं धर्मी हूँ - ऐसा कोई जाने। ऐसी गहरी तृष्णा जिसे परिणमित हुई है। आहाहा ! कठिन बात है, भाई !

मुमुक्षु : मात्र मोक्ष की अभिलाषा रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष की अभिलाषा, वह इच्छा है, तथापि वहाँ श्रीमद् ने कहा 'मात्र मोक्ष अभिलाष।' तथापि वह मोक्ष की अभिलाषा, वह इच्छा है। वह इच्छा तोड़े तो मोक्ष होता है। अभिलाषा रखे तो मोक्ष नहीं होता। तथापि श्रीमद् ने ऐसा कहा 'मात्र मोक्ष अभिलाष।' आनन्द की पूर्ण दशा के अतिरिक्त अन्दर कोई इच्छा और आशा है नहीं। आहाहा ! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर, उसकी अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्णता के अतिरिक्त जिसे कोई भावना नहीं है, उसे तृष्णा परिणमित नहीं हुई। उसे लोभ नहीं हुआ। आहाहा !

तृष्णा के बहुत प्रकार हैं। कपड़ा पहनने में भी ठीक से कैसे पहनना और लोग ठीक से कैसे देखें ? यह भी अन्दर एक तृष्णा है। आहाहा ! लोभ के बहुत प्रकार हैं। उसमें सूक्ष्म लोभ इसे कहाँ होता है, वह इसे पकड़ना कठिन पड़ता है। आहाहा ! बाथरूम करने जाते होंगे। गुलाबचन्द !

जिन्हें तृष्णा परिणमित हुई है, उन्हें प्रायः... अर्थात् क्या ? गाय को मार डाला, ऐसा कदाचित् न हो। इसलिए प्रायः कहा है परन्तु **प्रायः ऐसी ही विपत्तियाँ आती हैं।** बहुत करके ऐसी ही विपत्तियों का संग और परिचय होता है। वह दुःखी प्राणी है। लोभी प्राणी दुःखी है। कहीं का कहीं, कहीं का कहीं अटक जाता है। आहाहा !

श्लोक-१८२

और (इस ११५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

(आर्या)

क्षमया क्रोध-कषायं मान-कषायं च मार्दवेनैव।
मायामार्जवलाभाल्लोभकषायं च शौचतो जयतु।।१८२।।

(वीरछन्द)

क्रोध कषाय क्षमा से जीतो मान कषाय मार्दव से।
माया को आर्जव से जीतो और लोभ को शुचिता से॥१८२॥

[श्लोकार्थः] क्रोधकषाय को क्षमा से, मानकषाय को मार्दव से ही, माया को आर्जव की प्राप्ति से और लोभकषाय को शौच से (-सन्तोष से) जीतो॥१८२॥

श्लोक -१८२ पर प्रवचन

और (इस ११५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

क्षमया क्रोध-कषायं मान-कषायं च मार्दवेनैव।
मायामार्जवलाभाल्लोभकषायं च शौचतो जयतु।।१८२।।

[श्लोकार्थः] क्रोधकषाय को क्षमा से,... श्वेताम्बर में 'दशवैकालिक' में यह श्लोक आता है। थोड़ी स्थूल बात तो होती है न! सूक्ष्म में तत्त्व की पूरी... यह पूरी गाथा ही इस प्रमाण आती है। क्रोध को क्षमा से जीतना, निर्मानपने से मान को जीतना, सरलपने से कपट को जीतना, सन्तोष से लोभ को जीतना। आहाहा! भाषा तो सादी परन्तु उसके भाव पहिचानना और टालना, यह कठिन बात है, भाई! आहाहा! **क्रोधकषाय को क्षमा से, मानकषाय को मार्दव से...** निर्मान, नरमायी से मान को जीते। आहाहा!

माया को आर्जव की प्राप्ति से... सरलता और आर्जव। मान को सरलता से जीते। सरलतरूप से करे। माया छोड़ने में सरलता रखे **और लोभकषाय को शौच से (-सन्तोष से) जीतो।** लोभ को सन्तोष से जीते। सन्तोष। मेरा आनन्द मेरे आत्मा में है। मैं आनन्द हूँ। मेरे आनन्द के लिये कहीं कोई आवश्यकता नहीं है तथा यहाँ आनन्द में कोई कमी नहीं है। वह आनन्द प्राप्त करने के लिये बाह्यपदार्थ की कोई अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहकर अन्दर में आनन्द का सन्तोष रखे, उसे लोभ नहीं होता। सन्तोष किसका? आनन्द का सन्तोष, हों! पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये हों और फिर दो करोड़ रखकर मानों सन्तोष करते हैं। वह सन्तोष नहीं हैं। पच्चीस हजार की पूँजी हो और फिर दस हजार की। अरे! पच्चीस हजार की पूँजी हो और पाँच लाख की करे। यह तो शास्त्र में है। पाँच लाख का... प्रतिज्ञा ले, तथापि समकिती होता है, तथापि वह तीव्र तृष्णा है, उसे घटा दे। मिथ्यात्व टल गया है, वह भी अपने घर में पचास हजार की पूँजी हो और प्रतिज्ञा करे कि पाँच लाख से ऊपर मुझे नहीं चलेंगे, तो भी वह मिथ्यात्व नहीं है, वह विरुद्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह है, शास्त्र में कथन है।

प्रतिज्ञा करनेवाला समकिती, आत्मज्ञानी कदाचित् पूँजी थोड़ी हो तो भी अधिक की प्रतिज्ञा करे, तो भी उसके प्रतिज्ञा खोटी है और समकित नहीं है, ऐसा नहीं है। आहाहा! और अज्ञानी प्रतिज्ञा पूरी सब करे, यह मेरे नहीं चलेगा... यह मेरे नहीं चलेगा... यह मेरे नहीं चलेगा... परन्तु आत्मा नहीं चलेगा, इसकी उसे खबर नहीं है। आहाहा! यह पुण्य-पाप अधिकार में आता है न? चाण्डाल का पुत्र कहे कि यह मुझे नहीं चलेगा... यह मुझे नहीं चलेगा... यह मुझे नहीं चलेगा। ऐसा जो जीव... आहाहा! वहाँ कहा है। चाण्डाल का पुत्र कहे मुझे यह चलेगा।

इसी प्रकार कितने ही शुभरागी जीव अशुभराग यह नहीं चलेगा, मुझे स्त्री नहीं चलेगी, मुझे.... परन्तु अन्दर में राग की एकताबुद्धि है, उसे तो तोड़। बाहर में यह नहीं चलेगा... यह नहीं चलेगा। समझ में आया? बाहर की सब प्रतिज्ञा ली। पाँच लाख की पूँजी हो और भले प्रतिज्ञा दस लाख की ली, तो भी अन्तर सम्यग्दर्शन और भान है, तो उस ओर की तृष्णा उसे नहीं है। मात्र इतनी तृष्णा की प्रतिज्ञा ली है। अज्ञानी... आहाहा! पूँजी थोड़ी होवे तो भी उसकी प्रतिज्ञा में इतनी ही रखे परन्तु अन्तर चैतन्य के भान बिना वह

अटक गया कि यह प्रतिज्ञा मैंने की है, वह मेरा व्रत और मेरा तप, वह मेरा प्रत्याख्यान है। ऐसा अज्ञानी... आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! मार्ग सूक्ष्म! जन्म-मरणरहित होने का मार्ग... आहाहा! जन्म-मरण होंगे वह तो कहाँ जन्मकर आयेगा? मनुष्यपना तो चला जाएगा। कहाँ जाएगा? आहाहा!

मुमुक्षु : अज्ञानी को प्रतिज्ञा लेने से मन्द कषाय तो होती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह मन्द कषाय होती है, वह मिथ्यात्व के कारण जोर है। आहाहा! मिथ्यात्व का वहाँ जोर है। आहाहा! यह राग मेरा है और मैंने राग को घटाया है, ऐसी मान्यता, वह मिथ्यात्व है। सूक्ष्म बात है, भगवान! ज्ञानी तो राग के अंश को भी 'मेरा' नहीं मानता। उसे घटाऊँ, वह तो अंश भी मेरी चीज़ नहीं, परन्तु मेरे चारित्रदोष को मैं घटाता हूँ। श्रद्धा समकितदशा में भी चारित्रदोष को मैं कम करता हूँ। दोष तो मानता है। कम करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। मिथ्यादृष्टि को तो राग के ऊपर ही लक्ष्य है। आहाहा! राग का ही अन्दर लोभ और लोभी। गहरे आत्मा प्रभु भगवान, वह तो एक ओर पड़ा रहा है। और इस रमणता में राग में उसने कुछ घटाया, प्रतिज्ञा की परन्तु वह सब मिथ्यात्व है। आहाहा! है?

गाथा-११६

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स।।११६।।

उत्कृष्टो यो बोधो ज्ञानं तस्यैवात्मनश्चित्तम्।
यो धरति मुनिर्नित्यं प्रायश्चित्तं भवेत्तस्य।।११६।।

अत्र शुद्धज्ञानस्वीकारवतः प्रायश्चित्तमित्युक्तम्। उत्कृष्टो यो विशिष्टधर्मः स हि परमबोधः इत्यर्थः। बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम्। अत एव तस्यैव परमधर्मिणो जीवस्य प्रायः प्रकर्षेण चित्तम्। यः परमसंयमी नित्यं तादृशं चित्तं धत्ते, तस्य खलु निश्चयप्रायश्चित्तं भवतीति।

उत्कृष्ट निज अवबोध अथवा ज्ञान अथवा चित्त को।
धारे मुनि जो पालता वह नित्य प्रायश्चित्त को॥११६॥

अन्वयार्थ : [तस्य एव आत्मनः] उसी (अनन्त धर्मवाले) आत्मा का [यः] जो [उत्कृष्टः बोधः] उत्कृष्ट बोध, [ज्ञानम्] ज्ञान अथवा [चित्तम्] चित्त उसे [यः मुनिः] जो मुनि [नित्यं धरति] नित्य धारण करता है, [तस्य] उसे [प्रायश्चित्तम् भवेत्] प्रायश्चित्त है।

टीका : यहाँ, 'शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को प्रायश्चित्त है' ऐसा कहा है।

उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट धर्म वह वास्तव में परम बोध है—ऐसा अर्थ है। बोध, ज्ञान और चित्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं। ऐसा होने से ही उसी परमधर्मी जीव को प्रायः चित्त है अर्थात् प्रकृष्टरूप से चित्त (-ज्ञान) है। जो परमसंयमी ऐसे चित्त को नित्य धारण करता है, उसे वास्तव में निश्चय-प्रायश्चित्त है।

[भावार्थः] जीव धर्मी है और ज्ञानादिक उसके धर्म हैं। परम चित्त अथवा परम ज्ञानस्वभाव जीव का उत्कृष्ट विशेषधर्म है। इसलिए स्वभाव-अपेक्षा से जीवद्रव्य को प्रायःचित्त है अर्थात् प्रकृष्टरूप से ज्ञान है। जो परम संयमी ऐसे चित्त की (-परम ज्ञानस्वभाव की) श्रद्धा करता है तथा उसमें लीन रहता है, उसे निश्चयप्रायश्चित्त है।

गाथा - ११६ पर प्रवचन

अब ११६ (गाथा।)

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स।।११६।।

नीचे हरिगीत-

उत्कृष्ट निज अवबोध अथवा ज्ञान अथवा चित्त को।
धारे मुनि जो पालता वह नित्य प्रायश्चित्त को॥११६॥

टीका : यहाँ, 'शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को...' आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञान का पिण्ड है, शुद्ध ज्ञान का सागर है। सवेरे आया था। उस शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को, इसके अतिरिक्त किसी भी चीज़ का स्वीकार जहाँ नहीं। आहाहा! अपना प्रभु, अकेला ज्ञान और आनन्द का रूप तथा उसका स्वरूप ही है। उसका स्वभाव और स्व-रूप ज्ञान और आनन्द इत्यादि गुण अन्दर इकट्ठे हैं, ऐसे '**शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को...**' अशुद्धता के राग और पर की बात तो छोड़ दी है। मात्र अन्दर शुद्ध ज्ञानस्वरूप पवित्र का जिसे स्वीकार है, वह '**प्रायश्चित्त है**'... वह धर्म है। आहाहा!

'**शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को...**' ज्ञानमूर्ति प्रभु शुद्ध है, पवित्र है, अनाकुल आनन्द का रसकन्द है। ऐसे शुद्ध ज्ञान और आनन्दवाले सहित का जिसे अन्तर में स्वीकार है। आहाहा! बस! वह प्रायश्चित्त है। यह पूरे संसार में उसने प्रायश्चित्त किया। अल्प ज्ञान को भी आदरना नहीं, राग को नहीं, पर को नहीं, राग को नहीं, अल्प ज्ञान भी नहीं। आहाहा! इस नियमसार कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, मैंने मेरे लिये बनाया है। मेरी भावना के लिये मैंने बनाया है। आहाहा! इसमें यह (बात) है।

शुद्ध ज्ञान चैतन्यमूर्ति अन्दर पुण्य और पाप के विकल्प के राग से रहित, अल्पज्ञपना भी जहाँ नहीं, जहाँ पूर्ण सर्वज्ञस्वरूपी है... आहाहा! शुद्ध ज्ञान का स्वीकार। वह स्वयं सर्वज्ञस्वभाव ही है। आहाहा! उसके '**शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को प्रायश्चित्त है**' **ऐसा...** शास्त्र में भगवान ने **कहा है।** आहाहा! बाहर से करे, हाथ जोड़े, ऐसा करे, वैसा

करे, वे सब बातें अनन्त बार की है। अन्तर में शुद्ध चैतन्य की पूर्णता, शुद्ध चैतन्य का दल, उसका स्वीकार। पर्याय का भी नहीं, राग का तो नहीं। संयोगी निमित्त परचीज़ का तो नहीं। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र का भी जहाँ स्वीकार नहीं। उनके प्रति की भक्ति के राग का भी जहाँ स्वीकार नहीं। उस भक्ति के राग को जाननेवाली वर्तमान पर्याय का भी जहाँ स्वीकार नहीं। आहाहा! देवीलालजी! ऐसी बातें हैं, बापू! दुनिया से अलग है। आहाहा!

अकेला त्रिकाली शुद्धस्वरूप, ध्रुव शुद्धस्वरूप, नित्य शुद्धस्वरूप का स्वीकार (हुआ), वह पर्याय। उसका स्वीकार, वह पर्याय है परन्तु पर्याय का स्वीकार पर्याय, ऐसा नहीं। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु अब भाव तो... आचार्य महाराज कहते हैं कि मैंने तो मेरी भावना के लिये बनाया है। अब यह तो सबको सुनने को मिला, सुनो! आहाहा! '**शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को...**' पढ़ा हुआ और जाना हुआ यह डॉक्टर का, वकालात का, व्यापार का, वह ज्ञान नहीं; वह तो सब कुज्ञान है। आहाहा! उसका भी जहाँ स्वीकार नहीं। बड़ी पदवी मिले, दस हजार, बीस हजार की पदवी मिले, उतना पढ़ा हो, वह भी कोई शुद्ध ज्ञान नहीं है। वह सब अशुद्ध और मलिन है। आहाहा!

त्रिकाली आत्मा शुद्धस्वरूपी पर्याय से भी पार, ऐसा जो त्रिकाली स्वभाव है, उसका स्वीकार, उसका सत्कार, उसका आदर वह उपादेय, वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! सब पाप का छेद करनेवाला यह है। पुण्य और पाप का छेद करनेवाला शुद्ध ज्ञान स्वभाव का स्वीकार, वह पुण्य और पाप का छेद करनेवाला है। आहाहा! ऐसी बात है। जगत को कठिन पड़ती है। दया पालना, व्रत पालना, ऐसा तो आता नहीं। भाई! वह तो सब विकल्प है, बापू! वह वस्तु नहीं।

यह तो चैतन्यमूर्ति शुद्ध ज्ञान का स्वभाव पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, जिसमें देह रहित, वाणी रहित, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित और जिसमें अल्पज्ञपना भी नहीं। उस अल्पज्ञपने में त्रिकाल का स्वीकार। अल्पज्ञ में अल्पज्ञ का भी स्वीकार नहीं। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु... स्वीकार करना, वह तो पर्याय है परन्तु किसका स्वीकार? कि त्रिकाली चीज़ का। आहाहा! वह त्रिकाली चीज़ शुद्ध है। उसका स्वीकार, वह पर्याय है, अवस्था है, वह प्रायश्चित्त है, वह संसार के छेद का कारण है। आहाहा!

यहाँ तो जरा पाप लगा, फिर प्रायश्चित्त दो। दो अपवास करना, तीन अपवास

करना, हो गया प्रायश्चित्त। वहाँ धूल में भी प्रायश्चित्त नहीं है। आहाहा! प्रायश्चित्त, बापू! प्रायः, इसका अर्थ अभी करेंगे। देखो! **उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट धर्म, वह वास्तव में परम बोध है...** आहाहा! उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट धर्म, वह वास्तव में परम बोध है। अन्दर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण स्वरूप की प्रतीति का अनुभव, उसका स्वीकार, वही बोध है। वह परम बोध है। शास्त्र का साधारण जानना, वह कहीं परम बोध नहीं है। आहाहा! संसार की कला को लाख कला को जाने। शास्त्र में बहत्तर कला आती है न? राजकुमार बहत्तर कला सीखते हैं, वह कोई चीज़ नहीं है, वह तो संसार है। वह है (परन्तु) संसार है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, उत्कृष्ट त्रिकाली जो भगवान आत्मा अनादि-अनन्त सत्रूप रहनेवाला, जिसे कोई राग की अपेक्षा भी नहीं, ऐसा जो प्रभु... आहाहा! **उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट...** खास धर्म। उत्कृष्ट ऐसा खास धर्म... आहाहा! **वह वास्तव में परम बोध है...** उसका नाम परम बोध है। ज्ञान की पूर्ण शक्ति, पूर्ण स्वभाव, उसकी जो प्रतीति और अनुभव, वह परम बोध है। उसे उत्कृष्ट ज्ञान हुआ है। दूसरे सब पठनवालों को ज्ञान हुआ हो या शास्त्र का पठन ग्यारह अंग, वह ज्ञान, ज्ञान नहीं है। आहाहा! **ऐसा अर्थ है।** है?

उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट धर्म... ज्ञान धर्म, चैतन्यमूर्ति। ऐसा जो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव, **वह वास्तव में परम बोध है...** उसका ज्ञान, वही ज्ञान है। बाकी दूसरी चीज़ का ज्ञान, वह ज्ञान है ही नहीं। आहाहा! लोक में चतुर बहुत होते हैं न? यह डॉक्टर, वकील, दूसरे भी अनेक प्रकार के यह फोड़े की पट्टी बाँधने के, काटने के, काटकर ऐसा करने के बहुत प्रकार के होते हैं न? आहाहा! कपड़े के व्यापारी होशियार होते हैं। वहाँ अफ्रीका में गये थे न? नैरोबी। बीस-बीस लाख का कपड़ा। एक दुकान में... क्या कहलाता है लकड़ी का घोड़ा? लकड़ी का घोड़ा होता है न? इस ओर, इस ओर तथा इस ओर। चारों ओर बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस लाख का कपड़ा। एक-एक को ऐसी बड़ी दुकानें। अपने मुमुक्षु बड़े व्यापारी हैं। करोड़पति हैं। आठ व्यक्ति तो करोड़पति हैं। जिस मकान में उतरे थे, वह मकान पन्द्रह लाख का था। मकान ही पन्द्रह लाख का, परन्तु उसमें अटक जाय सब। आहाहा! अपने को पैसा मिला, अपन पैसेवाले। पैसा तो जड़ है, धूल है। उसका ज्ञान, वह भी ज्ञान नहीं। आहाहा! शरीर का ज्ञान, वाणी का ज्ञान, अरे! शास्त्र का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं। आहाहा!

तब ज्ञान किसे कहना? आहाहा! **उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट धर्म...** आत्मा का। आत्मा का जो खास स्वभाव धर्म... आहाहा! वह **परम बोध है...** उसका नाम परम ज्ञान है। आहाहा! वह ज्ञान प्रायश्चित्त है, वह ज्ञान पाप और पुण्य को छेद डालता है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : स्वसन्मुख का ज्ञान...

पूज्य गुरुदेवश्री : स्व का आदर हुआ। अकेला स्व का ही आदर है। परम बोध, शुद्ध चैतन्यस्वरूप का आदर, वह परम बोध है। बाकी दूसरे सब शास्त्र का जानपना और दूसरे लौकिक का जानपना, बड़े वकील पाँच-पाँच हजार लेते हों न... आहाहा! वह सब बोध नहीं है, वह ज्ञान नहीं है। वह तो सब कुज्ञान है। आहाहा!

परम बोध तो उसे कहते हैं। उत्कृष्ट और विशिष्ट अर्थात् खास। अपना जो धर्म ज्ञान, उसका ज्ञान वह परम बोध है। अपनी सत्ता, चैतन्य सत्ता पूर्ण है। अपूर्ण नहीं, विकृत नहीं, ऐसा पूर्ण परमात्मा स्वयं, ऐसा जो ज्ञानस्वभाव पूरा, उसका ज्ञान, उसे परम बोध कहा जाता है। उसके ज्ञान को बोध ज्ञान कहा जाता है। बाकी दूसरे तुम्हारे बड़े-बड़े कपड़े के व्यापारी, लाखों के कपड़े हों, वह कहीं होशियार नहीं कहलाते। आहाहा! वहाँ नैरोबी में ऐसी बड़ी दुकान है, हों! बीस-बीस लाख के कपड़े। बड़ी दुकान गहरे-गहरे। आहाहा! और हर दिन की आमदनी भी सही। एक तो हमारे जेठाभाई न? कोई ऐसा कहता था कि जेठाभाई ने नब्बे लाख का व्यापार किया, नब्बे लाख पैदा हुए।

मुमुक्षु : आप मकान में उतरे तो होंगे ही न!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल मकान... आवे कुछ। नब्बे लाख का व्यापार। कोई कहता था। वे बैठे थे। इन्हें नब्बे लाख की आमदनी हुई है। नब्बे लाख की इन्हें आमदनी हुई है। परन्तु अब यह वहाँ कुछ नहीं। वापस विरोध करे न? श्वेताम्बर लोगों के लोगों को बुलाये नहीं। फिर मुझे एकान्त में कहा कि मेरे पास एक करोड़ की तो जमीन है और पाँच करोड़ दूसरे हैं। ऐसी एकान्त में बात की। बात बाहर प्रसिद्ध करे तो दूसरों को ईर्ष्या हो और द्वेष करे। नब्बे लाख का धन्धा। डबल। जितनी कीमत का माल आया था, उससे डबल कीमत उसमें से उपजी है। कोई कपड़ा-बपड़ा होगा। पच्चीस रुपये का एक तो वह पचास में ले गये। परन्तु यह ज्ञान कुज्ञान है। आहाहा!

मुमुक्षु : अनाज के दाने तो आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दाने उससे नहीं आते। दाने, दाने के कारण से आते हैं। पैसे के कारण से दाने नहीं आते। यह कठिन बात है, भाई! दाने भी तत्त्व हैं या नहीं? अस्ति है न? तो सत् है, वस्तु है, उसमें उत्पादव्ययध्रुवशक्ति है या नहीं? उत्पादव्ययध्रुवशक्ति होवे तो उसकी उत्पत्ति जहाँ जाना हो, उसकी उत्पत्ति उससे होती है। दूसरा कहे, मेरे लिये यह दाना आया और अमुक आया, वह सब मिथ्यात्व भ्रम है। आहाहा! इसी तरह कपड़ा। कपड़े में भी उत्पाद-व्यय-ध्रुव है या नहीं उसमें? अस्ति है या नहीं? या नास्ति है? है, तो वह सत् है। सत् है तो वह उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् है। वह सत् है। नयी पर्याय उत्पन्न हो, पुरानी पर्याय नाश हो, सदृशपना कायम रहे, वह तो उसका स्वभाव है। वह कहीं दूसरे के कारण से वहाँ उत्पन्न होता है और दूसरे के लिये वहाँ उत्पन्न होकर आवे, वह वस्तु नहीं है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! बात सुनना मुश्किल पड़े, ऐसा हो गया है। आहाहा! यह श्लोक बहुत अच्छा है।

उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट धर्म... खास धर्म तो यह ज्ञान। धर्मी आत्मा का खास धर्म ज्ञान-स्वरूप। वह वास्तव में परम बोध है। उसका ज्ञान, वह ज्ञान है। बाकी सब अंकरहित शून्य है। बड़े पढ़-पढ़कर बड़े पुंछड़े (डिग्रीयाँ) लगाये हों। आहाहा! क्या यह बहुत विद्या में आता है न? उद्योग का सीखते हैं, अमुक सीखते हैं, अमुक कला में सीखते हैं, ऐसा कुछ नाम आता है। तुम्हारे क्या? बी.एस. का था? बी.एस. में था। और बी.एस. में ऐसा है, अमुक में ऐसा है। उसमें उद्योग का अन्दर आता है और अमुक आता है। आहाहा! वह सब कचरा है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसे डिग्री-उपाधि कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपाधि ही है। बड़े एल.एल.बी. और एम.ए. की उपाधि है। यह भगवान आत्मा... आहाहा!

पहली तो ऐसी बात की थी कि शुद्ध ज्ञान का स्वीकार, वह प्रायश्चित्त। अब उसे स्पष्ट करते हैं कि यह शुद्ध ज्ञान अर्थात् क्या? कि जो उत्कृष्ट ऐसा जो खास आत्मा का ज्ञान स्वभाव। आत्मा और आत्मा का ज्ञान त्रिकाली स्वभाव। आत्मा जैसे त्रिकाली है, वैसे उसका ज्ञान त्रिकाली है। आहाहा! ऐसे धर्म का स्वीकार, वह वास्तव में परम बोध है।

उसका ज्ञान वह ज्ञान है, बाकी व्यर्थ है। दुनिया का चतुर, दुनिया की सब बड़ी-बड़ी बातें करे, कपड़े का ऐसा होता है, अमुक का ऐसा होता है, मिल करो तो ऐसा होता है, मशीन ऊपर करो तो ऐसा होता है, कारखाने करो तो ऐसा होता है, यह सब ज्ञान कुज्ञान है। आहाहा!

उत्कृष्ट... दो बोल लिये। पहले तो यह लिया कि '**शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को प्रायश्चित्त है**'... शुद्ध ज्ञान त्रिकाली का स्वीकार, उसका नाम प्रायश्चित्त। अर्थात् धर्म, अर्थात् मोक्ष का मार्ग। अब कहते हैं कि यह क्या? कि **उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट..** आत्मा का उत्कृष्ट ऐसा खास धर्म, ज्ञान-आनन्द। यहाँ तो ज्ञान को लेना है। ऐसा जो आत्मा का त्रिकाली ज्ञानस्वभाव। जैसे आत्मा त्रिकाल है, ऐसा उसका ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है, ऐसा जो धर्म वह वास्तव में उसका ज्ञान, वही वास्तविक परम ज्ञान है। आहाहा! यह आत्मा का ज्ञान, वही परम ज्ञान है, ऐसा कहते हैं। बाकी व्यर्थ है।

मुमुक्षु : व्यर्थ, ऐसा लिखा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यर्थ नहीं लिखा, बड़ा शून्य लिखा है। आहाहा!

आहाहा! देह में चैतन्यमूर्ति प्रभु उत्कृष्ट और विशिष्ट - खास। ऐसा जो धर्म - ज्ञान, उसका जो ज्ञान **वह वास्तव में परम बोध है—ऐसा अर्थ है।** आहाहा! वह चैतन्यमूर्ति है। चैतन्यस्वभाव है। वह शक्तिरूप से भी त्रिकाल को जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसा त्रिकाल को जाने, ऐसा स्वभाव शक्तिरूप से है, उसका पर्याय में स्वीकार करना और उसका ज्ञान करना, उसका नाम परम बोध और परम ज्ञान कहने में आता है। आहाहा! बाकी ऐसे एल.एल.बी. हो और एम.ए. हो, वह सब डिग्रियाँ कुज्ञान की है। कुज्ञान की उपाधियाँ हैं। कोई वकील अपनी बुद्धि से एक दिन के पाँच हजार लेता हो तो वह बुद्धि नहीं, वह कुबुद्धि है। आहाहा! ऐसी बात है। कहो, हीरालालजी! आहाहा! कपड़ा ऐसा होता है, बीस-पच्चीस लाख का कपड़ा (होता है और) दुकान में बैठा हो। ऐसा ग्राहक आवे, वहाँ दुगने की आमदनी हो, ऐसा भी वहाँ आता है। दुगनी आमदनी। कहा न, एक दिन माल आया तो नब्बे लाख की आमदनी हुई। वह आया था उससे दुगना। ऐसे भी वहाँ नैरोबी में व्यापार हैं। आहाहा! परन्तु उसमें क्या? वह कहीं ज्ञान है? वह कहीं बोध है? वह कहीं आत्मा के हित का ज्ञान है? आहाहा!

आत्मा के हित का ज्ञान तो प्रभु! उत्कृष्ट जो चैतन्य खास जिसका धर्म है, खास जिसका स्वभाव है... आहाहा! चेतन का चैतन्यस्वभाव, उसका ज्ञान। आहाहा! चेतनद्रव्य, उसका चैतन्य गुण, उसका ज्ञान, वह परम बोध है। द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों आ गये। चेतन उत्कृष्टभूत कहा न? उत्कृष्ट, वह चेतन। आहाहा! उसमें विशिष्ट - खास अर्थात् चैतन्यस्वभाव। वास्तव में उसका ज्ञान, वह परम बोध है। आहाहा! द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों आ गये। द्रव्य त्रिकाली प्रभु, उसका ज्ञान भी त्रिकाली, परम बोध उत्कृष्ट, उसका ज्ञान, वह परम बोध है। उसका ज्ञान इसलिए उसे परम बोध कहने में आता है। दूसरा ज्ञान कम-ज्यादा हो, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण भरपूर है, उसका जिसे ज्ञान (हुआ)। ज्ञानी आत्मा का खास धर्म ज्ञान, खास धर्म, उसका जिसे ज्ञान (हुआ), वह परम बोध है। आहाहा! पूरा सब उड़ा दिया। दुनिया की यह बात, चतुराई... आहाहा!

मुमुक्षु : .....सब उड़ा दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यहाँ कहाँ कमी है? कहते हैं कि यहाँ कहाँ कमी है, वह दूसरे के ज्ञान से तुझे ज्ञान कहना? आहाहा! यह कहाँ अधूरा है कि दूसरे के ज्ञान से तुझे ज्ञान कहना? आहाहा! उत्कृष्ट कहा न!

पहले कहा '**शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को प्रायश्चित्त है**'... आहाहा! अब उसकी व्याख्या की है कि शुद्ध ज्ञान **उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट...** धर्म है। आहाहा! उत्कृष्ट ऐसा आत्मा का स्वभाव है। चेतन आत्मा, उत्कृष्ट चैतन्य का ज्ञान उसका स्वभाव है। आहाहा! उसे वास्तव में... उसे जिसने जाना है, उसे वास्तव में परम बोध, परम ज्ञान, सच्चा ज्ञान, सत्य ज्ञान, उसे कहा जाता है। आहाहा! अभी तो जहाँ हो वहाँ बाड़ा में बातें (यह करे कि) व्रत करो, अपवास करो, भक्ति करो, पूजा करो, हो गया, मरकर जाओ फिर भटकने। आहाहा!

यह भगवान आत्मा अन्दर... अन्दर सब भगवान है, हों! देह में विराजमान प्रभु है। कहते हैं, उस चेतन का जो चैतन्य उत्कृष्ट बोध-खास धर्म उसका। चेतन का खास धर्म ज्ञान है। सबकी अपेक्षा (खास धर्म)। आहाहा! चेतनस्वरूप भगवान... परन्तु कभी सुना न हो, वह और चेतन कैसा होगा और कहाँ होगा? इन सबको जो जानता है, वह

जाननेवाली चीज़ से भिन्न है। दूसरे सबको जो जानता है, वह जाननहार की सत्ता दूसरे सबसे भिन्न है। अरे! राग को जानता है तो राग की सत्ता से भगवान भिन्न है। दया, दान के राग को भी जाननेवाला ज्ञान है। वह ज्ञान भी राग से भिन्न है; इसलिए यहाँ उत्कृष्ट—विशिष्ट—खास धर्म... आहाहा! कहा न?

उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट धर्म... ज्ञान। उसका ज्ञान, वह वास्तव में परम बोध है। आहाहा! बात ऐसी है, भाई! बात तो बहुत अच्छी आयी है परन्तु इसे रुचि में लेना चाहिए। आहाहा! पोषाण, पोषाण। पोसाने का, बनिये को पोसावे ऐसा माल लेता होगा न? बनिये को पोसावे, ऐसा माल ले न! ढाई रुपये का मण है और यहाँ सवा दो उपजे, वह माल लेगा? ढाई रुपये का मण और तीन उपजते हों तो माल लेगा। इसी प्रकार यह पोसाता है। इसमें लाभ मानता हो तो इसे माने कि इसमें लाभ है। दया, दान, व्रत और राग तथा पुण्य में लाभ नहीं, वह तो नुकसान है। संसार है, राग है, विकार है। आहाहा!

अपना **विशिष्ट धर्म वह वास्तव में परम बोध है—ऐसा अर्थ है। बोध, ज्ञान और चित्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं।** देखा? बोध कहो, ज्ञान कहो या चित्त कहो। चित्त अर्थात् वह मन नहीं। चित्त अर्थात् ज्ञान। आत्मा के अन्तरस्वभाव को - त्रिकाली को बोध कहो, ज्ञान कहो, चित्त कहो। आहाहा! वे तीनों को अलग पदार्थ नहीं हैं। एक के तीन नाम हैं। ज्ञानस्वरूपी भगवान त्रिकाली ध्रुव, यह उसके तीन नाम हैं। वस्तु तीन नहीं। उसके तीन नाम हैं। आहाहा! ऐसा उपदेश है। किस प्रकार का ऐसा उपदेश? इसमें क्या करना, यह तो कुछ सूझता नहीं। करना क्या? यह करना नहीं है? उत्कृष्ट परम धर्म आत्मज्ञान की प्रतीति और उसके सन्मुख होकर उसका ज्ञान (करना), वह चित्त है। आहाहा!

ऐसा होने से ही... बोध, ज्ञान और चित्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं। ऐसा होने से ही उसी परमधर्मी जीव को... आहाहा! उस परमधर्मी जीव को—जिसने आत्मा का बोध किया, ज्ञान का ज्ञान किया। ज्ञान जो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव, उसका जिसने ज्ञान किया, ऐसा जो धर्मी। परमधर्मी। आहाहा! ऐसे जीव को **प्रायः चित्त है...** उसके पाप छिद जाते हैं। जिसने अन्दर आत्मा का उत्कृष्ट बोध किया... आहाहा! उसकी पर्याय में जहाँ अन्दर आनन्द का उछाल आया, वहाँ रागादि का नाश हो जाता है, प्रायश्चित्त हो जाता है। आहाहा! ऐसी बात है। प्रवीणभाई! कहीं मिले ऐसी नहीं है। आहाहा! कठिन लगे ऐसी

है। यह क्या कहते हैं परन्तु ऐसा यह ? यह सब करना-फरना होता है। पूरे दिन मन्दिर करना, पूजा करना, भक्ति करना, लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करना। चाहे जो खर्च करे न, कहा न ? नैरोबी में अभी कहा न ? यह पौष महीने में नैरोबी-अफ्रीका गये थे न ? साठ लाख इकट्ठे किये। साठ लाख। पन्द्रह लाख तो पहले मन्दिर के लिये होंगे और पैंतालीस लाख मैं था और इकट्ठे हुए, छब्बीस दिन में पैंतालीस लाख का चन्दा। बड़ा करोड़ोंपति। अच्छी बात, बापू! तेरे करोड़ों खर्च कर डाल न! संगमरमर की हजारों पेटियाँ आयी थीं। भगवान की वेदी प्रतिष्ठा हो गयी। यह पत्थर बराबर आ गये। इसके अतिरिक्त... वह क्या कहलाता है ? स्तम्भ और वह सब बहुत बाकी है तो हजारों-सैकड़ों क्या कहलाता है वह ? पेटियाँ। लकड़ी की पेटियाँ पड़ी थीं परन्तु सबको ऐसा कि बापू! यह बात है, वह है। यह होता है, उसके कारण से। उसमें इसका भाव हो तो शुभ है। उसे शुभ का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है। आहाहा! यह ज्ञान उत्कृष्ट आत्मा का ज्ञान, उसका ज्ञान... आहाहा! यह शुभ को जाने, वह ज्ञान वहाँ अटका हुआ है। आहाहा! शुभराग तो धर्म नहीं, शुभराग तो धर्म नहीं परन्तु शुभ को जाने, वह ज्ञान नहीं। ज्ञान अन्दर त्रिकाली चैतन्यस्वरूप, उसे जाने। आहाहा!

ऐसा होने से ही उसी परमधर्मी जीव को प्रायः चित्त है अर्थात् प्रकृष्टरूप से चित्त (-ज्ञान) है। लो, प्रकृष्टरूप से अर्थात् उसे ज्ञान है। उसे पर्याय में ज्ञान खिला, वह ज्ञान है। पर का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है। आहाहा! **परमसंयमी ऐसे चित्त को नित्य धारण करता है,...** जो सच्चा संयमी मुनि है, वह नित्य ऐसे ज्ञान को धारण करता है। आहाहा! वह पंच महाव्रत के विकल्प आते हैं, उन्हें धारण नहीं करता। आहाहा! **परमसंयमी ऐसे चित्त को...** अर्थात् ज्ञान को। **नित्य धारण करता है,...** नित्य धारण करता है। एक समय भी उसका अन्तर नहीं है। किसी समय महाव्रत पाले और किसी समय आत्मा का ज्ञान (करे, ऐसा नहीं) आहाहा! **नित्य धारण करता है, उसे वास्तव में निश्चय-प्रायश्चित्त है।** लो! उसे वास्तव में संसार का छेद है। उसे संसार नहीं रहता। उसे आत्मा...

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१३५, श्लोक-१८३-१८५, गाथा-११६-११७, सोमवार, ज्येष्ठ शुक्ल १२, दिनांक २६-०५-१९८०

नियमसार ११६ गाथा का अर्थ चलता है। फिर से लेते हैं ११६।

टीका : यहाँ, 'शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को प्रायश्चित्त है' ऐसा कहा है। मूल तो पूरा सिद्धान्त संक्षिप्त तो ऐसा है कि जितना स्व आश्रय उतना धर्म और जितना पराश्रय, उतना अधर्म। यह बहुत संक्षिप्त है। आहाहा! वह और पर से खस, स्व में वस, वह और... यहाँ तो स्वचैतन्यस्वरूप जो है, ज्ञानानन्द अनन्त गुण का भण्डार, उसका जितना आश्रय, उतना धर्म। और उससे जितना परद्रव्य का आश्रय, उतना संसार, उतना अधर्म। इस प्रकार संक्षिप्त बात है। आहाहा! जिसे कल्याण करना है, उसे स्व का आश्रय लेना पड़ेगा। दूसरी सब लाख बातें हों। आहाहा! चैतन्यमूर्ति, चैतन्यस्वभावी...

यहाँ कहते है न? **'शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को प्रायश्चित्त है'...** अर्थात् धर्म। पाप के छेदनवाला धर्म। आहाहा! शुद्ध ज्ञान का स्वीकार अर्थात् वह आश्रय। वह ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है, उसका स्वीकार और आश्रय, वही प्रायश्चित्त अर्थात् धर्म है। आहाहा! **ऐसा कहा है।** भगवान ने ऐसा कहा है। **उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट धर्म...** उत्कृष्ट ऐसा खास जो ज्ञानधर्म। **वह वास्तव में परम बोध है...** आहाहा! ऐसा इसका अर्थ है। वह वास्तव में परम बोध है। आहाहा!

बोध, ज्ञान और चित्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं। ज्ञान कहो, बोध कहो या चित्त अर्थात् ज्ञान। चिद्ज्ञान। तीनों का एक ही अर्थ है। **ऐसा होने से...** ऐसा होने से। इस कारण से। **उसी परमधर्मी जीव को...** आहाहा! जिसने शुद्ध स्वस्वभाव का स्वीकार किया है, ऐसे परमधर्मी जीव को... आहाहा! **प्रायः चित्त है...** अर्थात् कि पर्याय में अकेला चित्त—ज्ञान ही है। ज्ञान, आनन्द, शान्ति इत्यादि की पर्याय में वह है। आहाहा! प्रायश्चित्त, वह तो पर्याय है। शुद्ध ज्ञान, वह तो त्रिकाल है और स्वीकार होता है, वह प्रायश्चित्त है, वह तो पर्याय है।

यहाँ प्रायश्चित्त अर्थात् **प्रकृष्टरूप से चित्त (-ज्ञान)...** वह वर्तमान पर्याय है। आहाहा! ज्ञानानन्दस्वरूप देह के रजकणों से, देह के परमाणुओं से अत्यन्त भिन्न चैतन्य

भगवान अन्दर विराजमान है, उसका ज्ञान, वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! **प्रकृष्टरूप से चित्त (-ज्ञान) है।** वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! यहाँ तो पर में दौड़ादौड़ (करे और) उसमें धर्म मानना। **जो परमसंयमी...** जिसका आत्मा अपने स्व में लीन है। चैतन्य पूर्णानन्द का नाथ है, उसका स्वीकार करके उसमें लीन है, ऐसे **परमसंयमी ऐसे चित्त को नित्य धारण करता है,...** ऐसे चित्त को अर्थात् एकाग्रता। ज्ञान और बोध जो स्वरूप है, उसकी एकाग्रता का वह ध्यान करता है, उसे धारण करता है। आहाहा! **उसे वास्तव में निश्चय-प्रायश्चित्त है।** उसे अन्तर में निर्मलानन्द की दशा (प्रगट होती है)। जिसे बोध और ऐसा तत्त्व जो है, उसका जिसने आश्रय लिया, उसका स्वीकार किया, उसकी पर्याय में प्रायश्चित्त है, अर्थात् संसार के छेदन की दशा है। आहाहा! उसमें बाहर का क्या करना, वह तो कुछ आया नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि बाहर निकला। स्व के आश्रय से जहाँ बाहर आया, वह कोई भी... आहाहा! भले उपदेश में या लिखने में (आया), वह विकल्प है। पराश्रित उतना संसार है। आहाहा! नियमसार में तो कहा है न? शुभयोग, वह घोर संसार है। आहाहा!

जो परमसंयमी ऐसे चित्त को... ऐसे चित्त को अर्थात् शुद्ध प्रकृष्टरूप से ज्ञान, आनन्द ऐसे चित्त को नित्य धारण करता है अर्थात् कि आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु में नित्य रमता है, वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! व्यवहारवाले को निश्चय लगता है, तथापि कहेंगे निश्चय और व्यवहार दोनों।

[भावार्थः] जीव धर्मी है... अर्थात् वस्तु है। भगवान धर्मी है, उसके ज्ञान-दर्शन, आनन्द के धर्म को धरनेवाला है। आहाहा! **और ज्ञानादिक उसके धर्म हैं।** ज्ञान-दर्शन-आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, ये उसके गुण-धर्म हैं। धर्म का धर्मी यह और इस धर्मी का यह धर्म। आहाहा! **परम चित्त अथवा परम ज्ञानस्वभाव जीव का उत्कृष्ट विशेषधर्म है।** परम चित्त अथवा परम ज्ञानस्वभाव ऐसा जीव का उत्कृष्ट विशेषधर्म है। धर्म अर्थात् धार रखा हुआ। **इसलिए स्वभाव-अपेक्षा से जीवद्रव्य को प्रायःचित्त है...** स्वभाव अपेक्षा से जीवद्रव्य को प्रायःचित्त है। **अर्थात् प्रकृष्टरूप से ज्ञान है।** वस्तु वह है और उसका आश्रय करे तो ज्ञान प्रायःचित्त है।

जो परम संयमी ऐसे चित्त की... अर्थात् ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करता है। आहाहा!

दृश्य में शरीर, देखने में शरीर, देखने में इन्द्रियाँ... आहाहा! उन्हें छोड़कर देखनेवाले को देखना, जाननेवाले को जानना, वही ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करता है। आहाहा! **तथा उसमें लीन रहता है, उसे निश्चयप्रायश्चित्त है।** आहाहा! प्रायश्चित्त अर्थात् धर्म। उसे धर्म है। उसे मोक्ष का मार्ग है। उसे संसार के पन्थ का अन्त आने की स्थिति है। आहाहा!

श्लोक-१८३

[अब ११६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(शालिनी)

यः शुद्धात्मज्ञानसम्भावनात्मा प्रायश्चित्तमत्र चास्त्येव तस्य।
निर्धूतांहः संहतिं तं मुनीन्द्रं वन्दे नित्यं तद्गुण-प्राप्तयेऽहम्।।१८३।।

(वीरछन्द)

आत्मज्ञान की सत्य भावनावन्त उन्हें प्रायश्चित है।
पापक्षपक उस मुनिवर को गुण प्राप्ति हेतु नित वंदन है॥१८३॥

[श्लोकार्थः] इस लोक में जो (मुनीन्द्र) शुद्धात्मज्ञान की सम्यक् भावनावन्त है, उसे प्रायश्चित्त है ही। जिसने पापसमूह को खिरा दिया है ऐसे उस मुनीन्द्र को मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु नित्य वन्दन करता हूँ॥१८३॥

श्लोक -१८३ पर प्रवचन

[अब ११६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

यः शुद्धात्मज्ञानसम्भावनात्मा प्रायश्चित्तमत्र चास्त्येव तस्य।
निर्धूतांहः संहतिं तं मुनीन्द्रं वन्दे नित्यं तद्गुण-प्राप्तयेऽहम्।।१८३।।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारि मुनि कहते हैं कि **इस लोक में जो (मुनीन्द्र) शुद्धात्मज्ञान की सम्यक् भावनावन्त है,...** यहाँ भावना आयी। शुद्धात्मा जो त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु है, उसकी सम्यक्—सच्ची भावनावन्त है। आहाहा! अर्थात् धार रखा है कि यह शुद्धात्मा है, ऐसा नहीं। आहाहा! उस **शुद्धात्मज्ञान की सम्यक्...** सच्ची भावना है, एकाग्रता है। आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान में जो एकाग्रता का आनन्द है... आहाहा! उसे यहाँ धर्म और प्रायश्चित्त कहते हैं। आहाहा! यह लोगों को एकान्त लगता है। व्यवहार कुछ आता नहीं। परन्तु सब व्यवहार पराश्रय है और व्यवहार पराश्रित है तो बन्ध का ही कारण है। चाहे तो तीन लोक के नाथ की भक्ति हो या उनकी वाणी सुनते हो परन्तु पराश्रित है, वह सब राग है। आहाहा! स्व-आश्रय—स्वावलम्बन। पर का अवलम्बन छोड़कर स्व अवलम्बन करना, वह निश्चय धर्म है। प्रायश्चित्त कहो या धर्म कहो। आहाहा!

इस लोक में जो (मुनीन्द्र) शुद्धात्मज्ञान की सम्यक् भावना... अकेला आत्मा नहीं लिया, शुद्धात्मज्ञान, शुद्धात्मस्वरूप की जो **सम्यक् भावनावन्त है, उसे प्रायश्चित्त है ही। जिसने पापसमूह को खिरा दिया है...** आहाहा! मुनि की दशा तो अलौकिक है। आहाहा! **जिसने पापसमूह को खिरा दिया है...** यह व्यवहार से कथन है। अन्दर स्वरूप में रमते हैं, इसलिए उदय नहीं आता, टल जाता है। **ऐसे उस मुनीन्द्र को...** मुनि स्वयं कहते हैं कि **ऐसे उस मुनीन्द्र को मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु...** देखो! आया इसमें...। वे कहते थे न कि देखो! यहाँ भगवान के गुण की लब्धि के लिये वन्दन करते हैं। परन्तु यह तो विकल्प है। विकल्प से कथन है। आहाहा! **ऐसे उस मुनीन्द्र को मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु...** भावना में यह है परन्तु है विकल्प। उन्हें **नित्य वन्दन करता हूँ।** नित्य वन्दन करता हूँ। आहाहा! इसका अर्थ (यह कि) मैं मेरे स्वरूप में ही एकाग्र होता हूँ। आहाहा!

जिसने पापसमूह को खिरा दिया है, ऐसे उस मुनीन्द्र को मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु... उनके ही आनन्द, शान्ति, वीतरागता ऐसे गुण हैं, उनकी **प्राप्ति हेतु नित्य वन्दन करता हूँ।** आहाहा! नित्य वन्दन करता हूँ, इसका क्या अर्थ हुआ? कि मेरे स्वरूप में नित्य एकाग्रता कायम है। ऐसा यह कहते हैं। बाहर में नित्य वन्दन करने जाए तो बाहर में विकल्प जाए। नित्य बाहर दूसरे मुनि को वन्दन का तो विकल्प है। आहाहा! यहाँ तो कहते

हैं कि **मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु नित्य...** नित्य मेरा स्वभाव भगवान आत्मा, उसमें मैं नित्य वर्तता हूँ, उसे वन्दन करता हूँ, उसका स्वीकार करके उसमें स्थिर होता हूँ, उसका नाम यहाँ प्रायश्चित्त है। आहाहा! उसमें व्रत और अपवास करना, यह कब आयेगा? भगवान की भक्ति करना, पूजा करना, मन्दिर बनाना।

मुमुक्षु : वह तो बन गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन गये। अभी बनता है न? अफ्रीका में बड़ा मन्दिर बनता है। साठ लाख रुपये इकट्ठे किये हैं। तथापि वहाँ यह की यह बात की थी। बात कहीं दूसरी है नहीं। यहाँ तो यह है परन्तु वहाँ पढ़नेवाले हैं। एक झबेरचन्दभाई है। छह-सात भाई करोड़पति हैं। बहुत करोड़पति हैं, दूसरे एक बालजीभाई? बेलजीभाई। बेलजीभाई हैं। साधारण नौकरी है परन्तु फिर भी बहुत प्रेम और बहुत रस। वाँचन करते हैं तो लोगों को बहुत पसन्द आता है। इसलिए अफ्रीका में यहाँ जैसा चले, वैसा वहाँ चलता है। ऐसा नहीं कि अफ्रीका अनार्य देश है इसलिए... २५-३० वर्ष से चलता है। आहाहा!

ऐसे उस मुनीन्द्र को मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु नित्य वन्दन करता हूँ। ११७।

मुमुक्षु : एक मुनि दूसरे मुनि को वन्दन करते हैं...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार की बातें। एक मुनि को दूसरे मुनि को वन्दन करना, इसका अर्थ कि मैं मेरे स्वरूप में लीन होता हूँ। वे मुनीन्द्र और मैं मुनीन्द्र। मुनीन्द्र स्वयं जिन्होंने आत्मा को मौनरूप से राग से और विकल्प से भी मौनरूप से जिन्होंने अन्दर साधा है। आहाहा! उसमें जो वन्दन-एकाग्र हो, वही वन्दन है। आहाहा! एक गुरु को वन्दन है, दूसरे मुनि का। आहाहा! क्योंकि वे दूसरे मुनि भी उनके स्वभाव के गुण का आदर करके रमते हैं। मैं भी स्वभाव के गुण का आदर करके रमता हूँ। इसलिए मैं तो उनके गुण की प्राप्ति अर्थात् यहाँ जो गुण है, उनकी प्राप्ति के लिये नित्य वन्दन करता हूँ। नित्य। एक समय भी खाली नहीं। इसका अर्थ क्या हुआ? पर में जाए तो विकल्प है। आहाहा!

मेरा नाथ नित्य प्रभु चैतन्य अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द की प्रभुता से भरपूर भगवान गुण का सागर, स्वभाव की शक्ति का भण्डार है। उसमें मेरा एकाग्रता का झुकाव

है। आहाहा! वही गुण की प्राप्ति का कारण है। आहाहा! सम्प्रदाय में ऐसी बात मिलती नहीं; इसलिए फिर लोगों को ऐसा लगता है कि यह कुछ नया धर्म निकाला इन्होंने? नया धर्म (नहीं है)।

मुमुक्षु : यह तो आचार्य स्वयं कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नया धर्म कहाँ है? बापू! यह तो अनादि की बात है। शास्त्र बोलते हैं कौन यह? आहाहा! पढ़ा नहीं, सुनना नहीं और सुनकर के दरकार करना नहीं। फिर निश्चय... निश्चय... निश्चयाभास करके व्यवहार-व्यवहार करो, उससे धीरे-धीरे होगा। इसमें भी अभी आयेगा। उस ओर आयेगा। निश्चय और व्यवहारस्वरूप, परम तपश्चरण आता है न? उसका अर्थ करेंगे।

गाथा-११७

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह अणेय-कम्माण खय-हेऊ।।११७।।

किं बहुना भणितेन तु वरतपश्चरणं महर्षीणां सर्वम्।
प्रायश्चित्तं जानीह्यनेक-कर्मणां क्षय-हेतुः।।११७।।

इह हि परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वराणां निश्चयप्रायश्चित्तम्। एवं समस्ता-चरणानां परमाचरणमित्युक्तम्। बहुभिरसत्प्रलापैरलमलम्। पुनः सर्वं निश्चयव्यवहारात्मकपरमतप-श्चरणात्मकं परमजिनयोगिनामासन्सारप्रतिबद्धद्रव्यभावकर्मणां निरवशेषेण विनाश-कारणं शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमिति हे शिष्य त्वं जानीहि।

बहु कथन से क्या जो अनेकों कर्म-क्षय का हेतु है।
उत्तम तपश्चर्या ऋषि की सर्व प्रायश्चित्त है॥११७॥

अन्वयार्थ : [बहुना] बहुत [भणितेन तु] कहने से [किम्] क्या? [अनेककर्मणाम्] अनेक कर्मों के [क्षयहेतुः] क्षय का हेतु ऐसा जो [महर्षीणाम्] महर्षियों का [वरतपश्चरणम्] उत्तम तपश्चरण [सर्वम्] वह सब [प्रायश्चित्तं जानीहि] प्रायश्चित्त जान।

टीका : यहाँ ऐसा कहा है कि परम तपश्चरण में लीन परम जिनयोगीश्वरों को निश्चयप्रायश्चित्त है; इस प्रकार निश्चयप्रायश्चित्त समस्त आचरणों में परम आचरण है ऐसा कहा है।

बहुत असत् प्रलापों से बस होओ, बस होओ। निश्चयव्यवहारस्वरूप परम-तपश्चरणात्मक ऐसा जो परम जिनयोगियों को अनादि संसार से बँधे हुए द्रव्यभावकर्मों के निरवशेष विनाश का कारण वह सब शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है ऐसा, हे शिष्य! तू जान।

गाथा -११७ पर प्रवचन

११७ (गाथा)।

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह अणेय-कम्माण खय-हेऊ।।११७।।

बहु कथन से क्या जो अनेकों कर्म-क्षय का हेतु है।
उत्तम तपश्चर्या ऋषि की सर्व प्रायश्चित्त है॥११७॥

ऋषिराज की तपस्या अर्थात् तपन। गुण को तपावे - प्रगट करे। गुण की पर्याय को प्रगट करे, वह कर्म के नाश का हेतु है। वह तपस्या है। ज्ञान बिना अपवास करे, समकित बिना करे, वह सब लंघन है, लंघन। आहाहा! अर्थ आयेगा।

टीका : यहाँ ऐसा कहा है कि परम तपश्चरण में लीन... परम तपश्चरण की व्याख्या है न? अकेला तपस्या शब्द नहीं है। परम तपश्चरण अर्थात् कि आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित, चारित्र में भी उग्र पुरुषार्थ। प्रतपन इति तपः जैसे सोना गेरू से ओपित-शोभित होता है, वैसे प्रभु पूर्ण पुरुषार्थ से चारित्रसहित को पूर्ण पुरुषार्थ से ओपता है, शोभता है, गुण की पर्याय बढ़ती है, उसे यहाँ तपस्या कहा जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : आप तो एक ही बात कहते हो कि आत्मा के सन्मुख हो, इसका नाम धर्म।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु बात तो एक ही कही। पहले तो कही। स्व-आश्रय धर्म और पर-आश्रय अधर्म। वीतराग का पूरा महासिद्धान्त। यह अनन्त तीर्थंकरों का कथन। जो आत्मा वस्तु निर्मलानन्द शुद्ध है, उसका जितना आश्रय और अवलम्बन, उतना धर्म और उसे छोड़कर जितना परद्रव्य का आश्रय हो... आहाहा! चाहे तो अक्षर लिखता है तो भी वह परावलम्बी बन्ध का कारण है। आहाहा! टीका करते हुए भी बन्ध का ही कारण है। यह विकल्प है। आहाहा!

मुमुक्षु : टीका का अर्थ करना और सुनाना वह?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना, वह विकल्प है। आहाहा! राग है, बापू! मार्ग अलग। मार्ग तो समझकर अन्दर में समा जाना। बाहर में चमक-दमक में कहीं पड़ना नहीं। बाहर

की चमक की बात में कहीं नहीं पड़ना। आहाहा! कहो, देवीलालजी!

भगवान परमानन्दमूर्ति, बस उसका स्वीकार करके अनुभव करके उसमें स्थिर होना, स्व-आश्रय में रहना, वह धर्म है। जितना स्व-आश्रय छोड़कर पराश्रय (में जाएगा) उतना बन्धन और आवरण है। ऐसी तीन काल के तीर्थंकरों की एक आवाज है। आहाहा! बहुत कठिन बात, भाई! यह सब करते हैं न, सूर्यास्त से पूर्व भोजन करे, व्रत करे, तप करे, सवेरे दन्त-मंजन करके णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं (बोले), चरण लगे, कोई सूर्य को वन्दन करे। सूर्य में भगवान की प्रतिमा है। सूर्य में भगवान है न? आहाहा! भरत चक्रवर्ती भी पैर लगते थे (वन्दन करते थे)।

मुमुक्षु : यहाँ कहाँ दिखता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो दिखता नहीं, उन्हें दिखता है। उन्हें दिखता है, उतना पुण्य अन्दर लाये हैं। अपने महल में... देव ने महल बनाये। वहाँ खड़े-खड़े सूर्य के अन्दर देखे। आहाहा! यह चर्चा अभी आयी है कि ऐसी बातें तुम क्या मानते हो? ऐसी आँख का इतना तेज होता है और इतना... यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू! उसमें भरत अर्थात् भगवान के पुत्र और समकिती, ज्ञानी, चरमशरीरी। पहले ही ऋषभदेव भगवान की शुरुआत में भरत हुए। आहाहा! एक तो चक्रवर्ती और एक समकिती। उनकी आँख का तेज ऐसा था। यों भी इन्द्रिय का विषय आता है न? कि इतना देख सकते हैं, ऐसा आता है। आँख इतना देख सकती है। इतना विषय उन्हें खिल गया है। उसमें क्या? वह कोई नयी नहीं है। आहाहा! ऐसे सूर्य हो, वहाँ अन्दर नजर पड़े। नजर की निर्मलता... आहाहा!

जिनकी निर्मलता नजर के निधान में, आत्मा में पड़ी है। चक्रवर्ती जैसे पुरुष को उनकी नजर बाहर में वहाँ जाए, वह कुछ विशेषता नहीं है। आहाहा! अभी इसकी चर्चा चली है कि ऐसे आँख को देखे, ऐसा अमुक करे। भाई! तुम्हारा काम नहीं। यह तो अलौकिक अगम्य बातें हैं। अगम्य बातों का मेल क्या है, यह कठिन है। भाई! बाहर से तुम्हारी शैली से उसका तर्क करके खड़े रहोगे, वह नहीं चलेगा। आहाहा! वीतराग की शैली से देखो! आहाहा! यह कहा न?

यहाँ ऐसा कहा है कि परम तपश्चरण में लीन... परम तपश्चरण। आनन्दस्वरूप भगवान। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में उत्कृष्ट स्वाद। आहाहा! प्रभु आत्मा तो अतीन्द्रिय

आनन्द का दल है न, प्रभु! तू उस अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। राग तो नहीं परन्तु अल्पज्ञपना नहीं। ऐसा जो परम अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु, उसमें जो दृष्टि करके लीन है, वह परम तपश्चरण में लीन कहलाता है। आहाहा! कहो, यह पकड़ में आता है या नहीं? ऐसी सूक्ष्म बात है। यह कलकत्ता में कहीं मिले ऐसा नहीं है। वहाँ तो धूल मिलती है, धूल।

मुमुक्षु : वह भी भाग्य में होवे तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पुण्य होवे तो। पुण्य होवे तो पैसा मिलता है। आहाहा! भाई ने तो ऐसा कहा है न, हुकमचन्दजी (ने कहा है) कि पूर्व का पुण्य हो तो मिलता है परन्तु वह पैसा स्वयं पाप है क्योंकि परिग्रह है। चौदह अभ्यन्तर परिग्रह, दस बाह्य परिग्रह। दस परिग्रह में वह पैसा है तो जैसे चौबीस प्रकार का परिग्रह पाप है, तो वह पैसा, पाप है। आहाहा! मिला पुण्य से परन्तु है पाप। आहाहा! परचीज़ है न? वह स्व कहाँ है? आहाहा! सम्प्रदाय के आग्रही हों और पहले-पहले सुने उसे तो ऐसा लगे कि अरे! यह क्या ऐसा कहते हैं? यह क्या कहते हैं?

यहाँ ऐसा कहा है कि परम तपश्चरण में लीन... परम तपश्चरण। 'तपन्ते इति तपः।' आत्मा आनन्द गुण से तपे अर्थात् शोभे, बढ़े... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द की पर्याय में वृद्धि प्राप्त हो, उसे यहाँ तपस्या कहा जाता है। आहाहा! **परम जिनयोगीश्वरों को...** ऐसे। **परम तपश्चरण में लीन परम जिनयोगीश्वरों को निश्चयप्रायश्चित्त है;...** उन्हें वास्तव में संसार के छेदन का भाव उत्पन्न हुआ है। आहाहा! वह तो ऐसा कहे कि भाई! पाँच-पचास हजार यहाँ खर्च करो, लाख यहाँ खर्च करो। जाओ, तुम्हारे ऐसा होगा। तख्ती लगाओ कि इसने इतना पैसा दिया है। नाम तो रहे। आत्मा कहाँ रहा वहाँ? आहाहा! लक्ष्मीचन्दभाई ने वहाँ प्रतिमा तो पधरायी। लक्ष्मीचन्द नरम व्यक्ति है। करोड़पति है, ७०-८० लाख होंगे। साढ़े पाँच लाख रुपये देकर एक प्रतिमा पधरायी है। मूल... मूल क्या कहलाता है वह? मूलनायक। मूलनायक की प्रतिमा साढ़े पाँच लाख। बहुत लम्बी बात नहीं। वह कहे लाख, वह कहे दो लाख, वह कहे ढाई लाख, पाँच लाख, साढ़े पाँच लाख। ऐसा संक्षिप्त... साढ़े पाँच लाख की एक ही प्रतिमा, हों! पूरा मन्दिर अलग, दूसरी प्रतिमाएँ अलग। आहाहा!

मुमुक्षु : आप पुण्य की महिमा तो करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पुण्य का फल आया है, उसने यह प्रयोग किया, इतनी बात करनी है। उसका शुभभाव है। ऐसे परदेश में भी साढ़े पाँच लाख देकर, इतना शुभभाव है न? तो वह शुभभाव कहीं धर्म नहीं है। यह तो स्पष्ट बात है। वह तो पराश्रय है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **इस प्रकार निश्चयप्रायश्चित्त समस्त आचरणों में...** यह लो, ठीक। परम आचरण है, ऐसा कहा है। **निश्चयप्रायश्चित्त...** आहाहा! वर्तमान पर्याय का स्वामी द्रव्य, उसे जिसने पकड़ा है। आहाहा! वर्तमान निर्मल पर्याय से जिसने पर्यायवान द्रव्य को पकड़ा है, उसमें स्थिर हुआ है, वह निश्चयप्रायश्चित्त है। समस्त आचरणों में सब लाख-करोड़ आचरण करता हो परन्तु उसमें परम आचरण यह है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है। है? **ऐसा कहा है।** आहाहा!

बहुत असत् प्रलापों से बस होओ,... कहते हैं... आहाहा! क्या कहें? असत् यद्वा-तद्वा बातें चलें। स्व का आश्रय छोड़कर दूसरी बातें चलें, ऐसी असत् कल्पना से क्या करें? आहाहा! बस होओ। असत् कल्पना से बस होओ... बस होओ... अलम्। **निश्चय-व्यवहारस्वरूप परम-तपश्चरणात्मक...** दो लाये हैं। व्यवहार से उपवासादि हैं, निश्चय अन्दर में स्थिरता है। वह निमित्तमात्र लिया और यह उपादान, शुद्ध उपादान लिया। निमित्त का ज्ञान साथ में कराया। निश्चय और व्यवहारस्वरूप। निश्चय स्वाश्रय। व्यवहार में पराश्रय का जो विकल्प आया वह। उसमें **परम-तपश्चरणात्मक ऐसा जो परम जिनयोगियों को...** आहाहा! वास्तव में तो यह निश्चय-व्यवहार का अर्थात् विकल्परहित, निर्विकल्पदशा में वह लीन है।

उन **परम जिनयोगियों को अनादि संसार से बँधे हुए...** आहाहा! **द्रव्यभावकर्मों के निरवशेष विनाश का कारण...** आहाहा! कुछ बाकी रखे बिना नाश का कारण है। कर्म का कुछ भी अंश बाकी रखे बिना, आत्मा के आनन्द की उग्रदशा में रमते हुए। आहाहा! एकदम मुक्ति (प्राप्त करे) और कर्म का एक अंश भी न रहे। निरवशेष—कुछ भी बाकी न रहे। उसके **विनाश का कारण...** ऐसे कर्म के नाश का कारण। **वह सब शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है ऐसा, हे शिष्य! तू जान।** मुनि स्वयं कहते हैं, लो! **हे शिष्य! तू जान।** यह जान... यह जान... ऐसा कहते हैं। हे शिष्य! सब छोड़कर यह जान। ऐसा

कहते हैं। सब व्यवहार-व्यवहार की बातें, व्यवहार से कुछ साधन कहा हो, उन सब बातों में से यह जान। करनेयोग्य यह है और यही मोक्ष का कारण है। आहाहा! **हे शिष्य! तू जान।** क्या जान? कि संसार के नाश का कारण शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है। पहले दोनों इकट्ठे लिये थे।

निश्चयव्यवहारस्वरूप परम-तपश्चरणात्मक ऐसा जो परम जिनयोगियों को अनादि संसार से बँधे हुए द्रव्यभावकर्मों के निरवशेष विनाश का... बाकी रखे बिना विनाश का कारण **वह सब शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है...** आहाहा! व्यवहार को वहाँ रखा था, उसे यहाँ निकाल दिया। व्यवहार का ज्ञान कराया। अकेला निश्चयप्रायश्चित्त है। **ऐसा, हे शिष्य! तू जान।** आहाहा! निवृत्ति कहाँ है? और निवृत्ति मिले तो सम्प्रदाय में पकड़े गये हों। ऐसी बात कान में पड़े तो कहे, नहीं, यह तो निश्चय की बात करते हैं, यह तो एकान्त बात है। एकान्त है... एकान्त है... जाओ! है तो एकान्त। नय ही एक अंश को स्वीकार करता है। शुद्धनिश्चय का विषय तो एकान्त शुद्ध परमात्मा ही है। आहाहा! अनेकान्त में भी एकान्त सम्यक् यह एक नय है। आहाहा! स्वरूप के अन्दर... भले तुझे दिखता न हो, परन्तु नहीं दिखता—ऐसा अन्दर कौन है वह? नहीं दिखता—ऐसा कौन कहता है? कौन जानता है? मैं नहीं दिखता—ऐसा कौन जानता है? आहाहा! वह स्वयं जाननेवाला कहता है कि मैं मुझे नहीं जानता। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप भगवान आनन्द का नाथ सागर है वह तो। हे शिष्य! निश्चयप्रायश्चित्त का यह स्वरूप है, ऐसा जान। कोई दोष लगा और गुरु के पास प्रायश्चित्त लिया, उसे कुछ निश्चयप्रायश्चित्त न जान। वह व्यवहार बीच में आता है। उसे छोड़ना... छोड़ना...। आहाहा! ऐसी बात है। सम्प्रदाय में सुनने को मिलती नहीं और यह मिले तो कहे यह जैनधर्म ऐसा होगा? अपने सम्प्रदाय में ऐसा कहीं सुनायी नहीं देता। स्थानकवासी में कहते हैं सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, यह आता है। कन्दमूल नहीं खाना, छह परवी ब्रह्मचर्य पालना। मन्दिरमार्गी में भक्ति करो, मन्दिर बनाओ, यात्रा करो, यह आता है। यहाँ कहते हैं कि वह सब राग और क्रिया संसार है। आहा! कठिन बात है।

श्लोक-१८४

[अब इस ११७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं:]

(द्रुतविलम्बित)

अनशनादितपश्चरणात्मकं सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम्।
सहजबोधकला-परिगोचरं सहजतत्त्व-मघक्षय-कारणम्।।१८४।।

(वीरछन्द)

अनशनादि तपरूप शुद्ध चैतन्यरूप को जो जानें।
सहजज्ञान की कलागम्य जो तत्त्व पाप क्षय हेतु उन्हें॥१८४॥

[श्लोकार्थः] अनशनादितपश्चरणात्मक (अर्थात् स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त अर्थात् उग्र स्वरूपपरिणति से परिणमित) ऐसा यह सहज-शुद्ध-चैतन्यस्वरूप को जाननेवालों को [१]सहजज्ञानकलापरिगोचर सहजतत्त्व [२]अघक्षय का कारण है॥१८४॥

श्लोक -१८४ पर प्रवचन

[अब इस ११७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं:]

अनशनादितपश्चरणात्मकं सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम्।
सहजबोधकला-परिगोचरं सहजतत्त्व-मघक्षय-कारणम्।।१८४।।

[श्लोकार्थः] आहाहा! **अनशनादितपश्चरणात्मक (अर्थात् स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त...)** अनशनादितपश्चरण शब्द लिया है। व्यवहार का अनशनादि

१. सहजज्ञानकलापरिगोचर=सहज ज्ञान की कला द्वारा सर्व प्रकार से ज्ञात होने योग्य।
२. अघ=अशुद्धि; दोष; पाप। (पाप तथा पुण्य दोनों वास्तव में अघ हैं।)

शब्द लिया है परन्तु उसका अर्थ, आहाहा! **(अर्थात् स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त अर्थात् उग्र स्वरूपपरिणति से परिणमित)...** आहाहा! उग्र स्वरूपरूप परिणमित। अपना भगवान अन्दर आनन्द का सागर है, उसमें उग्ररूप से आनन्द में आया हुआ। आहाहा! उस आनन्द के वेदन में उसे ढ़ेर पड़ते हों। आहाहा! मुनि को पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का तो पुंज पड़ता है। आहाहा! क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्द का तो सागर है, उसमें जो लिपट गया और एकाग्र हुआ, उसे अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र स्वाद आता है। आहाहा!

वह **अनशनादितपश्चरण...** अर्थात् **(स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त...)** ऐसा। अकेला अनशन अर्थात् आहार का त्याग, ऐसा नहीं। आहाहा! **(स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त अर्थात् उग्र स्वरूपपरिणति से परिणमित) ऐसा...** आहाहा! आत्मा के स्वभाव की पूर्णता को दृष्टि में लेकर स्वरूप की परिणति बढ़ाते जाते हैं। आहाहा! उस स्वरूपपरिणति से प्रतापवन्त परिणमित हुआ, यह अनशन आदि में से भी निकाला हुआ यह। अनशन में रूका नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **(स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त अर्थात् उग्र स्वरूपपरिणति से परिणमित)** आहाहा! भगवान चैतन्यस्वरूप, उसके उग्र पुरुषार्थ से स्वरूपपरिणति से परिणमित, ऐसा यह सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप, ऐसा यह स्वाभाविक शुद्ध चैतन्यस्वरूप। आहाहा! यहाँ तो अकेले प्रभु के गुण हैं। चैतन्य के ही गुण गाये हैं। आहाहा! जो महा गुण का भण्डार, जिसमें अनन्त गुण ठसाठस भरे, उसकी तो बातें नहीं और बातें यह बाहर की दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, छह परबी ब्रह्मचर्य पालना, छह परबी कन्दमूल न खाना, ब्रह्मचर्य पालन करना... वहाँ हो गया धर्म। आहाहा! भाई! ऐसा तो अनन्त बार किया है।

भगवान को अन्तर्दृष्टि में लेकर... आहाहा! उसमें स्थिर होकर उग्र परिणति से परिणमित... आहाहा! **ऐसा यह सहज-शुद्ध-चैतन्यस्वरूप...** देखा? ऐसा यह स्वाभाविक **शुद्ध-चैतन्यस्वरूप को जाननेवालों को...** आहाहा! **सहजज्ञानकलापरिगोचर... सहजज्ञानकलापरिगोचर=सहज ज्ञान की कला द्वारा सर्व प्रकार से ज्ञात होने योग्य।** अन्तर ज्ञान की सम्यक् निर्मल, निर्मल ज्ञान की कला द्वारा ज्ञात होने योग्य ऐसा जो भगवान चैतन्य, वह कोई निमित्त से ज्ञात नहीं होता, राग से ज्ञात नहीं होता, व्यवहार से ज्ञात नहीं

होता। आहाहा! **(स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त अर्थात् उग्र स्वरूपपरिणति से परिणमित) ऐसा यह सहज...** स्वाभाविक वस्तु, उसके **शुद्ध-चैतन्यस्वरूप को जाननेवालों को सहजज्ञानकलापरिगोचर...** आहाहा! **सहज ज्ञान की कला द्वारा सर्व प्रकार से ज्ञात होने योग्य।** बाकी किसी प्रकार से वह ज्ञात होनेयोग्य नहीं है। वह ज्ञान की कला और आनन्द की कला द्वारा ज्ञात होनेयोग्य है। बाकी किसी प्रकार से वह भगवान ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! टीका भी कितनी सरस की है! आहाहा! शब्द काम नहीं करते, इतने आत्मा के गुणगान हैं। आहाहा!

सहज-शुद्ध-चैतन्यस्वरूप को (वस्तु को) जाननेवालों को सहजज्ञानकला-परिगोचर... स्वाभाविक निर्मल ज्ञान से ज्ञात होनेयोग्य सहज तत्त्व प्रभु... आहाहा! वह **अघक्षय का कारण है।** अघ शब्द से पुण्य और पाप दोनों। नीचे अर्थ है। **अघ=अशुद्धि; दोष; पाप। (पाप तथा पुण्य दोनों वास्तव में अघ हैं।)** आहाहा! शुभभाव—दया, दान, व्रत, भक्ति का शुभभाव, वह पाप है। आहाहा! योगीन्द्रदेव ने तो कहा है कि पुण्य को पाप अनुभवी कहते हैं। 'पाप पाप को तो सब कहे, परन्तु अनुभवी पुण्य को पाप कहे।' यहाँ तो मुनि स्वयं कहते हैं, देखो! ऐसा यह अघक्षय। अघ अर्थात् पुण्य और पाप, उनके क्षय का कारण... आहाहा! स्वरूप में लीनता, वह पुण्य और पाप के क्षय का कारण है। आहाहा! कितने ही नये लोगों ने तो सुना नहीं होगा। यह तो क्या बात है ऐसी!

मुमुक्षु : महाविदेह की बात करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ की बात है। यह इसकी बात है। महाविदेह की नहीं और दूसरे की नहीं। इस आत्मा की (बात है)। आहाहा! अन्दर भगवान आत्मा है। अन्दर सब भगवान है। आहाहा! विशुद्ध भावना में तो कहा न, मन-वचन-काया से तीन काल-तीन लोक के जीव रहित होकर सब शुद्ध होओ, सब परमात्मा होओ। द्रव्यसंग्रह में तो कहा है परन्तु सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में तीन जगह कहा है। एक बन्ध अधिकार के अन्त में, एक सर्वविशुद्ध के अन्त में—दो, वहाँ और एक परमात्मप्रकाश के अन्त में। सब भगवान होओ। प्रभु! तुम पूर्णानन्द के नाथ हो। जैसा अमृतस्वरूप तुम हो, उस प्रकार होओ। इन जहरीले पुण्य-पाप के भाव को छोड़ दे। आहाहा! कलश-टीका में इस शुभभाव को काला नाग कहा है। शुभभाव। अर..र..र..! भगवान की भक्ति, भगवान का स्मरण,

भगवान के गुण गाना, कहते हैं कि वह शुभभाव जहर है। भगवान अमृतस्वरूप है, उससे उल्टा जहर है। आहाहा! यह बात जँचना... सुनने को मिलती नहीं, उसमें जँचे कब? आहाहा!

सहजतत्त्व अघक्षय का कारण है। क्षय का कारण। वापस भाषा देखी? पंचम काल के मुनि हैं न? सुननेवाले को (अघ) क्षय का कारण कहते हैं। नाश का कारण, मूल में से नाश का कारण है। काल है, वह आत्मा को कहाँ लागू पड़ता है? आत्मा तो भगवान विराजता है। चाहे जैसे काल में हो। पूर्णानन्द से विराजमान है। उसमें हीनता और न्यूनता और विकृति नहीं आती। उसे कोई काल या बाहर की प्रतिकूलता उसको लागू नहीं पड़ती। आहाहा! ऐसे पूर्ण स्वरूप को... आहाहा! सहजतत्त्व को। सहजतत्त्व कहा न? पर्याय भी नहीं।

सहजतत्त्व अघक्षय का कारण है। फिर पर्याय हुई, वह निर्मल है परन्तु पर्याय में सहजतत्त्व को जान। त्रिकाली तत्त्व जो भगवान ध्रुव है, नित्यानन्द प्रभु है, (उसे जान)। आहाहा! चौरासी लाख के अनन्त अवतार किये, परन्तु उसमें से कुछ हीन हुआ नहीं। उसकी जो समृद्धि अन्दर है। अनन्त निगोद के भव किये, अनन्त-अनन्त कषाय के भव किये, अनन्त तो अरबोंपति के भव किये परन्तु उस चीज़ में कोई विकृति, पर की छाया कुछ भी स्पर्श नहीं हुई। आहाहा! ऐसा वह भगवान स्वरूप अन्दर है। आहाहा! अब यहाँ खाने बैठे, उसमें दाल एक रस न हुई हो तो ढिंचणियों (पुराने जमाने में भोजन करते समय पैर के नीचे रखा जानेवाला लकड़ी का टुकड़ा) उड़े। किसने किया ऐसा? अब उसे ऐसा आत्मा कहना। आहाहा! प्रभु! तू आत्मा है। आज समझ, कल समझ, बाद में समझ परन्तु यह समझे बिना जन्म का अन्त आनेवाला नहीं है। 'लाख बात की बात...' आता है न? 'लाख बात की बात निश्चय उर लाओ, छोड़ सकल जग द्वन्द्व फन्द निज आतमध्याओ।' छहढाला में आता है। आहाहा! १८४ हुआ।

श्लोक-१८५

(शालिनी)

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात् स्वद्रव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्मशुक्लम्।
कर्म-व्रात-ध्वान्त-सद्बोध-तेजो-लीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नि।।१८५।।

(वीरछन्द)

जो स्वद्रव्य का धर्मध्यान अरु शुक्लध्यान मय चिन्तन है।
कर्मजन्य तम नाश हेतु जो सम्यग्ज्ञान तेज-सम है॥
निर्विकार निज महिमा में ही रहता है जो लीन सदा।
ऐसा प्रायश्चित वास्तव में उत्तम पुरुषों को होता॥१८५॥

[श्लोकार्थः] जो (प्रायश्चित्त) इस स्वद्रव्य का *धर्म और शुक्लरूप चिन्तन है, जो कर्मसमूह के अन्धकार को नष्ट करने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है तथा जो अपनी निर्विकार महिमा में लीन है—ऐसा यह प्रायश्चित्त वास्तव में उत्तम पुरुषों को होता है॥१८५॥

श्लोक - १८५ पर प्रवचन

१८५ (श्लोक)

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात् स्वद्रव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्मशुक्लम्।
कर्म-व्रात-ध्वान्त-सद्बोध-तेजो-लीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नि।।१८५।।

[श्लोकार्थः] जो (प्रायश्चित्त) इस स्वद्रव्य का धर्म... नीचे **धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप जो स्वद्रव्यचिन्तन, वह प्रायश्चित्त है।** लो! देखो! आया। स्वद्रव्य का चिन्तन, वह प्रायश्चित्त है। चिन्तन अर्थात् एकाग्रता। आहाहा! लाख बात की बात, करोड़ बात की बात, अनन्त बात की बात—स्वरूप में एकाग्रता, वह ध्यान, वह धर्म। आहाहा!

* धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप जो स्वद्रव्यचिन्तन, वह प्रायश्चित्त है।

(प्रायश्चित्त) इस स्वद्रव्य का धर्म... अर्थात् **धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप जो स्वद्रव्यचिन्तन, वह प्रायश्चित्त है।... धर्म और शुक्लरूप... स्वद्रव्य का धर्म और शुक्लरूप चिन्तन...** धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप भावना—एकाग्रता। आहाहा! **जो कर्मसमूह के अन्धकार को नष्ट करने के लिए....** आहाहा! यहाँ तो धर्म धर्मध्यान कहा। वे कहे, धर्मध्यान शुभभाव को कहते हैं। आहाहा! धर्मध्यान में शुद्धता थोड़ी है, शुक्लध्यान में अधिक है। बाकी दोनों शुद्ध हैं। धर्मध्यान शुद्ध है, वह मोक्षमार्ग के अधिकार में है न! चिन्तन करता है, वह शुभधर्मध्यान। शुभ परिणामरूपी धर्मध्यान। वह धर्म-बर्म नहीं। आहाहा!

स्वद्रव्य का धर्म और शुक्लरूप चिन्तन... चिन्तन अर्थात् एकाग्रता। चिन्तन अर्थात् उसका विकल्प करना और चिन्ता करना, वह नहीं। आहाहा! **जो कर्मसमूह के अन्धकार को नष्ट करने के लिए...** आहाहा! **सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है...** आहाहा! सूर्य का प्रकाश होता है, अन्धकार का नाश होता है, इसी प्रकार भगवान आत्मा सम्यग्ज्ञान का तेज है। जितना तेज प्रगट हो, उतना राग का नाश हो जाता है। आहाहा! **कर्मसमूह के अन्धकार को नष्ट करने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है तथा जो अपनी निर्विकार महिमा में लीन है...** आहाहा! मानो शब्द कम पड़ते हैं। निर्विकार—वास्तव में... आहाहा! **जो अपनी निर्विकार महिमा...** निर्विकारी वस्तु है, उसकी महिमा, उसकी महत्ता लक्ष्य में आकर लीन होता है। उससे बड़ा जगत में कोई नहीं है। परमेश्वर भी इसका बड़ा, इसका बड़ा नहीं। आहाहा! ऐसा सम्यक्रूपी तेज **तथा जो अपनी निर्विकार महिमा में लीन है...** देखा? **ऐसा यह प्रायश्चित्त वास्तव में उत्तम पुरुषों को होता है।** आहाहा!

जघन्य को नहीं होता। जघन्य के दो अर्थ होते हैं। एक जघन्य अर्थात् छोटा और एक जघन्य अर्थात् निन्दायोग्य। जघन्य के दो अर्थ होते हैं। एक जघन्य अर्थात् छोटा और एक जघन्य अर्थात् निन्दा के योग्य। यह जघन्य अर्थात् निन्दायोग्य है, छोड़नेयोग्य है। आहाहा! **ऐसा यह प्रायश्चित्त वास्तव में उत्तम पुरुषों को होता है।** आहाहा! यह उत्तम पुरुष, जिसे आत्मा की लगन लगी है और आत्मा में जो जम जाता है। आहाहा! बाहर की कोई चिन्ता उसे है नहीं। ऐसे महापुरुषों को ऐसा प्रायश्चित्त और ऐसी स्थिति होती है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-१८६

(मंदाक्रांता)

आत्मज्ञानाद्भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण,
ज्ञान-ज्योतिर्निहत-करण-ग्राम-घोरान्धकारा।
कर्मारण्योद्भवदव-शिखाजालकाना-मजस्रं,
प्रध्वन्सेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु धारां वमन्ती।।१८६।।

(वीरछन्द)

आत्मज्ञान से आत्मलब्धि होती है क्रमशः यमियों को।
ज्ञान ज्योति से इन्द्रियदल के अन्धकार का नाशक जो॥
कर्मवनों की दावानल की शिखाजाल शम करने को।
शमजलमय धारा तेजी से सततरूप बरसाती जो॥१८६॥

[श्लोकार्थः] यमियों को (संयमियों को) आत्मज्ञान से क्रमशः आत्मलब्धि (आत्मा की प्राप्ति) होती है—कि जिस आत्मलब्धि ने ज्ञानज्योति द्वारा इन्द्रियसमूह के घोर अन्धकार का नाश किया है तथा जो आत्मलब्धि कर्मवन से उत्पन्न (भवरूपी) दावानल की शिखाजाल का (शिखाओं के समूह का) नाश करने के लिए उस पर सतत शमजलमयी धारा को तेजी से छोड़ती है—बरसाती है॥१८६॥

प्रवचन-१३६, श्लोक-१८६-१८८, गाथा-११८, शुक्रवार, ज्येष्ठ शुक्ल १३, दिनांक २७-०५-१९८०

नियमसार, प्रायश्चित्त अधिकार। शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त। १८६ कलश। १८६ कलश है।

आत्मज्ञानाद्भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण,
ज्ञान-ज्योतिर्निहत-करण-ग्राम-घोरान्धकारा।
कर्मारण्योद्भवदव-शिखाजालकाना-मजस्रं,
प्रध्वन्सेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु धारां वमन्ती।।१८६।।

सूक्ष्म बात है। यहाँ कहते हैं कि संयमियों को... संयमी किसे कहना, यह अभी (खबर नहीं होती)। जिसे आत्मज्ञान हुआ हो; आत्मा राग और पुण्य के विकल्प से भी भिन्न है, ऐसा जिसे आत्मज्ञान और आत्मदर्शन हुआ हो, वह जीव जब संयम में अर्थात् स्वरूप में लीन होता है। अभी केवलज्ञान नहीं है, परन्तु स्वरूप में लीनता का भाव करता है, लीन होता है, उसे यहाँ संयमी कहते हैं। यमियों अर्थात् संयमी। सम-यम। सम्यग्दर्शनपूर्वक जिसकी स्वरूप में एकाग्रता है। आहाहा! पहले व्याख्या (कि) संयमी किसे कहना, इसका विवाद।

आत्मज्ञान और आत्मदर्शन, अन्तर में आनन्द का स्वाद आया हो, तब तो उसे आत्मज्ञान और आत्मदर्शन / समकित कहा जाता है। तदुपरान्त चारित्र में तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र वेदन होता है। प्रचुर स्वसंवेदन। अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर-बहुत स्वसंवेदन (होता है।) आहाहा! उसे यमी - साधु कहते हैं। आहाहा! ऐसे **यमियों को (संयमियों को) आत्मज्ञान से...** आहाहा! भगवान आत्मा पूर्ण गुण का सागर पूरा। अनन्त-अनन्त गुण का समुद्र, उसमें से उसे... आहाहा! **क्रमशः आत्मलब्धि (आत्मा की प्राप्ति) होती है—** आहाहा! दया, दान और व्रत की किसी क्रिया से आत्म-लब्धि होती है - ऐसा नहीं कहा। वहाँ कैसे बैठे बलुभाई? समझ में आया? आहाहा!

एक तो पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना, इसका उपाय पहले जानना चाहिए। आत्मा आनन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय ज्ञान और शान्त अकषायस्वभाव शान्त त्रिकाल शाश्वत् वस्तु का प्रथम अनुभव, उसका अनुभव होकर प्रतीति होना, इसका नाम तो अभी सम्यग्दर्शन है। आहाहा! और वह सम्यग्दृष्टि जीव यमी-संयमी होता है। आहाहा! आत्मा में अन्दर रमने में आनन्द का प्रचुर वेदन करता है। अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर वेदन-बहुत वेदन करता है। चौथे (गुणस्थान) में है, वह थोड़ा वेदन है; पाँचवें में उससे थोड़ा विशेष; छठवें (-सातवें) में विशेष है। आहाहा! ऐसे जो प्रचुर आनन्द के वेदन से आत्मलब्धि प्राप्त होती है। आहाहा! उसमें बाहर के सब व्यवहार के साधन-फाधन की तो बात भी नहीं ली है। उससे नहीं होता। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव तो पुण्य है। वह कहीं धर्म नहीं है और धर्म का कारण भी नहीं है कि उससे धर्म हो, कारण हो।

यह तो **(संयमियों को) आत्मज्ञान से...** आहाहा! **क्रमशः...** क्रम-क्रम से उसे

आत्मा में लब्धि बढ़ती जाती है। आनन्द की शान्ति क्रम-क्रम से बढ़ती जाती है। आहाहा! **कि जिस आत्मलब्धि ने...** जो क्रम-क्रम से आत्मा की शान्ति और आत्मा का आनन्द सम्यग्दर्शनसहित क्रम-क्रम से अन्तर में बढ़ता जाता है। आहाहा! उस **आत्मलब्धि ने ज्ञानज्योति द्वारा...** आत्मलब्धि से ज्ञानज्योति द्वारा... आहाहा! **इन्द्रियसमूह के घोर अन्धकार का नाश किया है...** यह पाँच इन्द्रिय से देखना, वह तो अन्धकार है; वह कहीं आत्मा का ज्ञान नहीं हे। आहाहा! इन्द्रियों से देखना अज्ञान-अन्धकार है। भगवान स्वयं जो अनीन्द्रिय, ऐसा जो चैतन्य भगवान, उसे इन्द्रियों से देखते जो अज्ञान का अन्धकार है... आहाहा! उसे **ज्ञानज्योति द्वारा इन्द्रियसमूह के घोर अन्धकार का...** आहाहा! **नाश किया है...**

मुमुक्षु : इन्द्रियज्ञान का झुकाव ही छूट गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्द्रिय की ओर का झुकाव ही टूट गया, कहते हैं। जरा-सा रहा है, उसे वह अन्दर में झुकाव अतीन्द्रिय में ही आया है। आहाहा! इसे संयम कहते हैं, इसे प्रायश्चित्त कहते हैं और इसे धर्म कहते हैं। ऐसा सुने बिना... कहो, क्या कहलाये? बलुभाई ने किया था न?

मुमुक्षु : वर्षीतप।

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्षीतप। अकेला लंघन किया था।

मुमुक्षु : श्रीगुरु उसे लंघन कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्होंने वर्षीतप किया था। अन्त में इनके घर आहार किया था। सब लंघन, कुछ खबर नहीं होती। भाई बैठे थे, बापा! चुनीभाई भी बैठे थे।

मुमुक्षु : इनकी वाह.. वाह.. होती थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें कुछ नहीं, धूल (है)। आहाहा!

अन्दर भगवान आत्मा पूर्ण आत्मा की सम्पदा से भरपूर, विपदा के अभावस्वभावरूप... आहाहा! वह पुण्य और पाप के भाव तो विपदा है, आपदा है, दुःख है। आहाहा! उनसे रहित भगवान अन्दर में अनन्त आनन्द और शान्ति की सम्पदा से भरपूर आत्म सम्पत्तिवाला। लोग कहते हैं न, वह तो सम्पत्तिवाला है। दो-पाँच-दस-पच्चीस लाख सम्पत्ति। वह सम्पत्ति से, वह तो धूल भी सम्पत्ति नहीं है। मरकर नरक में

चला जाएगा। आहाहा! यहाँ अरबों रुपये हो और मरकर नरक में जाए। इसमें उसके साथ क्या सम्बन्ध है ? आहाहा!

इस आत्मा को संयम से.. संयम अर्थात् यह। सम्यग्दर्शनसहित आनन्दस्वरूप में प्रचुर वेदन। उससे... आहाहा! **ज्ञानज्योति द्वारा इन्द्रियसमूह के घोर अन्धकार का नाश किया है...** आहाहा! इन्द्रिय के ओर के झुकाव का जिसने नाश किया है, कहते हैं। आहाहा! इन्द्रिय से देखना, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहाहा! इससे इन्द्रिय के समूह से उत्पन्न हुए ज्ञान में अन्धकार, उसे आत्मसंयम से उसका नाश किया है। आहाहा! अब ऐसी बात है। कभी सुनी नहीं होगी।

मुमुक्षु : बात-बात में अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात-बात में अन्तर है। आहाहा! अभी बाहर से हाँकते हैं यह किया... यह किया... यह किया... आहाहा! भाई! प्रभु! तू कौन है ? तुझे तेरी महिमा नहीं आती और तेरी अन्दर महिमा क्या भरी हुई है ? जिसकी महिमा के समक्ष इन्द्र का इन्द्रासन सड़े तृण (जैसा लगता है), ऐसा आत्मा सम्पदावाला है। ऐसी उसमें सम्पदा भरी है कि इन्द्र का इन्द्रासन, करोड़ों इन्द्राणियाँ... इन्द्र बत्तीस लाख विमान का स्वामी... आहाहा! जिसके आत्मा की सम्पदा, सम्यग्दर्शन के समक्ष तो वह सब धूल है। आहाहा! अरबों रुपये हों और चक्रवर्ती का राज हो, तो भी समकिती को धूल है। संयमियों को तो वह है ही नहीं। आहाहा!

ज्ञानज्योति द्वारा इन्द्रियसमूह के घोर अन्धकार... अर्थात् पाँच इन्द्रियों से जो काम लेता है, वह घोर अन्धकार है। आहाहा! भगवान अनीन्द्रिय... संक्षिप्त शब्दों में कितना समाहित किया है! आहाहा! प्रभु तो अन्दर अनीन्द्रिय भगवान है। उसकी खबर बिना पाँच इन्द्रिय के विषय में रुककर अज्ञान को जो सेवन करता है, वह अनीन्द्रिय ऐसा जो आत्मा, उसकी संयम की सम्पदा द्वारा उस इन्द्रिय के घोर अन्धकार का नाश होता है। कोई क्रियाकाण्ड करने से नाश नहीं होता। आहाहा! अब ऐसी बातें। निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा!

ज्ञानज्योति द्वारा इन्द्रियसमूह के घोर अन्धकार का नाश किया है... ओहोहो!

कहने का आशय ऐसा है कि अनीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका दर्शन और उसकी लीनता, वह इन्द्रिय की ओर के झुकाव के घोर अन्धकार का नाश करता है। आहाहा! कहो, ऐसी बात अब इसमें तो... बाड़ा में तो यह बात भी मिले, ऐसा नहीं है। वह तो यह करो, अपवास करो, हो गया जाओ। हो गया वर्षीतप। उसे वर्षीतप हो गया। तब कहा था - यह लंघन किया है।

मुमुक्षु : ऐसी ही दृष्टि थी न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी ही थी। सम्प्रदाय की लाईन थी न। दूसरी कहाँ थी? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं अनीन्द्रिय ऐसा प्रभु! ये इन्द्रियाँ भाव और जड़ दोनों इन्द्रियाँ आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहाहा! यह जड़ इन्द्रियाँ और अन्दर भावेन्द्रियाँ। एक-एक विषय को जाने, वे दोनों आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा उनसे भिन्न अनीन्द्रियस्वरूप भगवान है। उसका ज्ञान करके, उसमें स्थिरता करके इन्द्रिय की ओर के घोर अज्ञान का नाश होता है। बाकी दूसरा कोई उपाय नहीं है। आहाहा! दूसरी बात।

तथा जो आत्मलब्धि... आत्मप्राप्ति। लब्धि अर्थात् प्राप्ति। आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान की प्राप्ति। वह **कर्मवन से उत्पन्न...** कर्म के वन से उत्पन्न... आहाहा! **(भवरूपी) दावानल...** आहाहा! यह भव उत्पन्न होता है, वह दावानल है। आहाहा! स्वर्ग का भव भी वही। आहाहा! करोड़पति का, अरबोंपति का भव, मनुष्य का भव और देव का भव, कहते हैं कि भवरूपी दावानल है। आहा! वहाँ भव में तो कषाय और मिथ्यात्व की अग्नि सुलगती है। आहाहा! उस **दावानल की शिखाजाल का...** दावानल की शिखा, ऐसा दावानल बहुत ऊँचा हो, शिखा भभक.. भभक.. सुलगती हो, ऐसी **(शिखाओं के समूह का) नाश करने के लिए उस पर सतत...** आहाहा! भव के भाव पर, भव का भाव वह अग्नि है, कषाय है। आहाहा! उस पर धर्मी जीव शिखाजाल का **नाश करने के लिए उस पर सतत...** आहाहा! **उस पर सतत शमजलमयी धारा को तेजी से छोड़ती है—** शमजलमयी—समता, वीतरागता। आत्मा के अवलम्बन से हुई आत्मलब्धि की वीतरागता, उस आत्मा की वीतरागता की लब्धि द्वारा... आहाहा! **शमजलमयी धारा को तेजी से छोड़ती है—** धीरे-धीरे नहीं। आहाहा!

संसार का अन्त आने का, इस सम्यग्दर्शनसहित संयमलब्धि की प्राप्ति, लब्धि अर्थात् प्राप्ति सहित **(भवरूपी) दावानल की शिखाजाल का...** आहाहा! उसके ऊपर शमजल की धारा डालती है। आहाहा! वीतरागता की धारा डालती है और वह भी शीघ्रता से। आहाहा! शीघ्रता से **बरसाती है।** फिर उसे भव नहीं है, इसका नाम प्रायश्चित्त है। आहाहा! कितनों ने तो ऐसा कभी सुना नहीं होगा। प्रायश्चित्त क्या और धर्म क्या? यह पर की दया पालो, यह करो, व्रत करो, हो गया धर्म। अनन्त काल बिताया, भाई! अनन्त अवतार हुए। ऐसे भव की शिखाजाल के अनन्त अवतार हुए, उन अनन्त अवतार को आत्मा की समता—सम्यग्दर्शन, ज्ञानसहित की वीतरागता शीघ्रता से छोड़ती है कि जिससे भव का नाश हो जाता है। आहाहा!

उस पर सतत शमजलमयी धारा को... सतत। जिसे एक समय का अन्तराल नहीं। आहाहा! आत्मा के स्वरूप की संयमलब्धि, शान्ति और आनन्द की प्राप्ति, उसे सतत। आहाहा! उस **सतत शमजलमयी धारा को तेजी से छोड़ती है—बरसाती है।** भव को शान्त कर देती है। आहाहा! शमजलरूपी वीतरागस्वभाव की जो धारा, वह संसार के भव का... चाहे तो स्वर्ग का भव हो या इस धूल के सेठिया कहलावें वे अरबोंपति और करोड़ोंपति, उन सबको शान्त कर डालती है। वह सब जहर का दावानल है। आहाहा! बहुत सरस! श्लोक आया है, बहुत सरस आया है!! आहाहा! १८६ (श्लोक पूरा) हुआ।

श्लोक-१८७

(उपजाति)

अध्यात्म-शास्त्रमृत-वारिराशेर्मयोद्धृता संयम-रत्नमाला।
बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे सालङ्कृतिर्मुक्तिवधूधवानाम्।।१८७।।

(वीरछन्द)

संयम-रत्नमाल गूँथी अध्यात्म शास्त्र के सागर से।
मुक्ति-वधू के वल्लभ तत्त्वज्ञों का कण्ठाभूषण है॥१८७॥

[श्लोकार्थः] अध्यात्मशास्त्ररूपी अमृत समुद्र में से मैंने जो संयमरूपी रत्नमाला बाहर निकाली है, वह (रत्नमाला) मुक्तिवधू के वल्लभ ऐसे तत्त्वज्ञानियों के सुकण्ठ का आभूषण बनी है ॥१८७॥

श्लोक -१८७ पर प्रवचन

अध्यात्म-शास्त्रमृत-वारिराशेर्मयोद्धृता संयम-रत्नमाला।
बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे सालङ्कृतिर्मुक्तिवधूधवानाम् ।।१८७।।

[श्लोकार्थः] आहाहा! कहते हैं **अध्यात्मशास्त्ररूपी अमृत समुद्र...** यह नियमसार, समयसार, प्रवचनसार, ये सब अध्यात्मशास्त्र हैं। आत्मा को खोलकर बतलानेवाले, आत्मा का खजाना खोलकर बाहर बतलाते हैं कि देख बापू! यह तेरा खजाना है और तू कहाँ खजाने में पड़ा है? आहाहा! अन्तर आत्मा में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त खजाना पड़ा है। ज्ञान अनन्त, आनन्द अनन्त अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, जीवत्वशक्ति आदि अनन्त शक्तियाँ हैं न? उन अनन्त शक्तियों का समुद्र भरा है।

उस **अध्यात्मशास्त्ररूपी अमृत समुद्र में से...** आहाहा! **मैंने जो संयमरूपी रत्नमाला बाहर निकाली है,...** संयमपना भी समझाया, ऐसा कहते हैं। अध्यात्मशास्त्र में से संयम किसे कहना, (यह समझाया है)। आहाहा! यह तो वस्त्र छोड़े और कुछ अन्दर हो जाए तो संयमी हो गया, साधु हो गया। आहाहा! **अध्यात्मशास्त्ररूपी...** महासमुद्र। आहाहा! वह तो अमृत समुद्र है। अध्यात्म शास्त्र में तो अमृत भरा है। आत्मा के जीवन का अमृत और यह राग-द्वेष का जीवन तो जहर का जीवन है। आहाहा! संसार का जो राग और द्वेष, उसके असंख्य प्रकार हैं। राग और द्वेष के। उससे जीवन है, वह तो जहर का जीवन है। जहर के ग्रास भरता है। आहाहा! ज़हर के प्याले पीता है। आहाहा! वह तो अध्यात्मशास्त्र अमृत का सागर भगवान।

कहते हैं कि **अमृत समुद्र में से मैंने जो संयमरूपी रत्नमाला बाहर निकाली है,...** अध्यात्मशास्त्र में से संयम किसे कहना, यह मैंने बाहर समझाया। आहाहा! **वह (रत्नमाला) मुक्तिवधू के वल्लभ...** आहाहा! ऐसा जो अमृत सागर शास्त्र, उसमें से जो मैंने संयमरूपी

रत्न निकाला, वह रत्न मुक्तिवधू, मुक्तिरूपी स्त्री के वल्लभ। आहाहा! **ऐसे तत्त्वज्ञानियों के...** आहाहा! तत्त्वज्ञानी धर्मी तो मुक्तिवधू के वल्लभ हैं। मोक्ष के वल्लभ हैं। संसार के जहर को तो निकाल डाले ऐसा है। आहाहा! **मुक्तिवधू के वल्लभ...** मोक्षरूपी जो स्त्री-निर्मल परिणति, उसके जो वल्लभ हैं, प्रिय हैं—ऐसे तत्त्वज्ञानी। तत्त्वज्ञानी उन्हें कहते हैं... आहाहा! कि जिन्हें मोक्षरूपी लक्ष्मी प्रिय है। आहाहा! जिन्हें यह पैसा-वैसा धूल और शरीर की इन्द्रियों का ज्ञान प्रिय नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी को अज्ञान प्रिय है। इन्द्रिय के विषय का वह जहर (प्रिय है)। आहाहा! जहर का प्याला घोल-घोलकर पीता है, अज्ञानी राग और द्वेष के घूँट पीता है। आहाहा! जो प्रभु आत्मा में वह है नहीं।

यहाँ आचार्य मुनिराज कहते हैं कि मैंने तो अध्यात्मशास्त्र में से यह संयमरूपी रत्नमाला निकाली, वह किसके लिये? आहाहा! **मुक्तिवधू के वल्लभ ऐसे तत्त्वज्ञानियों के सुकण्ठ का आभूषण बनी है।** आहाहा! उनके कण्ठ का आभूषण। अमृत सागर तो प्रगट हुआ परन्तु वाणी में भी अमृत सागर को बरसाते हैं। आहाहा! ऐसा आभूषण है। लो, ऐसा उपदेश। आहाहा! अध्यात्मशास्त्र में से यह निकाला है। साधारण शास्त्र में से नहीं ऐसी बात। और वह संयमरूपी रत्नमाला मैंने निकाली है। आहाहा!

मुमुक्षु : माला में रत्न चाहिए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : माला स्वयं रत्न है। यहाँ अकेली रत्न की ही माला है। अकेले ज्ञान-दर्शन-चारित्र-आनन्द आदि रत्न भरे हैं। वह रत्न की माला संयम है। आहाहा! संयमरूपी रत्न कहा न? वह चारित्र, हों! वह रत्नमाला बाहर निकाली है। शास्त्र में से बाहर निकालकर मैंने समझायी है।

वह (रत्नमाला) मुक्तिवधू के वल्लभ... मोक्षरूपी स्त्री के जो वल्लभ **ऐसे तत्त्वज्ञानियों...** आहाहा! कितना भरा है! तत्त्वज्ञानी उन्हें कहते हैं कि जिन्हें मोक्ष वल्लभ है, मोक्ष प्रिय है। आहाहा! उसका साध्य मुक्ति है, ध्येय आत्मा है परन्तु साध्य मुक्ति है। मुक्ति का मार्ग भी नहीं, जिन्हें मुक्ति प्रिय है। देखा! आहाहा! अब ऐसा सुनना। पूरे दिन संसार में पड़ा, मजदूरी करके मर जाते हैं बेचारे। यह स्त्री का किया, पुत्र का किया, धन्धा

किया, पाँच-पचास करोड़ इकट्ठे किये।

मुमुक्षु : अशीलों का किया। वकीलों ने अशीलों का किया, कितनों को जेल में से छुड़ाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वकील। ऐसी वकालात की, अमुक को छुड़ाया... अमुक को छुड़ाया... अमुक को छुड़ाया।

मुमुक्षु : उन्हें सुखी कर दिया न? साहेब!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं किया। अभिमान किया है। आहाहा! डॉक्टर कहते हैं कि मैंने इंजेक्शन चढ़ाया, यह दवा दी। उसके कारण रोग मिटता है। वकील कहते हैं कि मैंने इन्हें छुड़ाया। दोनों समान, दोनों जहर के प्याले हैं। आहाहा! मार्ग अलग, प्रभु! आहाहा!

यह मुनिराज कहते हैं कि मैंने यह संयमरूपी रत्नमाला अध्यात्मशास्त्र में से निकाली है। यह मुक्ति के प्रेमी जीव को सुकण्ठ में... आहाहा! शोभे ऐसी है। उसके आत्मा में शोभे ऐसी है। आहाहा! **ऐसे तत्त्वज्ञानियों के सुकण्ठ का आभूषण बनी है।** आहाहा! ऐसी प्ररूपणा और ऐसी सूक्ष्म बातें। लोगों को कठिन पड़ता है। अभ्यास नहीं होता, अभ्यास नहीं। पूरे दिन संसार, कमाना पैसा और धूल और .... आहाहा! अफ्रीका में पैसा... पैसा... पैसा। पाँच लाख और दस लाख और बीस लाख और धूल लाख... रतिलाल एक अरबपति आया था न? वहाँ आया था। मुम्बई आया था।

मुमुक्षु : लन्दन में मन्दिर बनाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मन्दिर बनाते हैं। अरबपति है। छोटी उम्र है। बड़ा भाई था, वह मर गया। परन्तु तत्त्व की कुछ खबर नहीं होती। पैसा मानो दो-पाँच-पच्चीस लाख खर्च करे और उसमें हो... हा... होवे और आहाहा! बैण्ड-बाजा बजे और ऐसा बड़ा रथ निकले... आहाहा! उसमें धूल में भी कुछ नहीं है। उसमें राग की मन्दता करता हो तो पुण्य है। वह पुण्य भी बन्धन का कारण जहर है। आहाहा! काला नाग है। शुभराग जो है, वह भी काला नाग है। भगवान आत्मा अमृत का सागर है, उसके सन्मुख देखे बिना उस अमृत का स्वाद इसे नहीं आता और अकेला अनादि संसार के राग के स्वाद में रच-पच जाता है। आहाहा! मुनिराज ने गजब श्लोक (कहा)। १८७ हुए न?

श्लोक-१८८

(उपेन्द्रवज्रा)

नमामि नित्यं परमात्मतत्त्वं मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवासम्।
विमुक्तिकान्ता-रतसौख्यमूलं विनष्टसन्सारद्रुमूलमेतत्।।१८८।।

(वीरछन्द)

मुनिजन चित्त-कमल का वासी, मुक्ति कामिनी रति सुख मूल।
नित्य नमूँ परमात्मतत्त्व को भवतरु किया विनष्ट समूल॥१८८॥

[श्लोकार्थः] मुनीन्द्रों के चित्तकमल के (हृदयकमल के) भीतर जिसका वास है, जो विमुक्तिरूपी कान्ता के रतिसौख्य का मूल है (अर्थात् जो मुक्ति के अतीन्द्रिय आनन्द का मूल है) और जिसने संसारवृक्ष के मूल का विनाश किया है—ऐसे इस परमात्मतत्त्व को मैं नित्य नमन करता हूँ॥१८८॥

श्लोक -१८८ पर प्रवचन

१८८ (श्लोक)

नमामि नित्यं परमात्मतत्त्वं मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवासम्।
विमुक्तिकान्ता-रतसौख्यमूलं विनष्टसन्सारद्रुमूलमेतत्।।१८८।।

[श्लोकार्थः] मुनीन्द्रों के चित्तकमल के (हृदयकमल के) भीतर जिसका वास है,... आहाहा! परमात्म तत्त्व बसता है। मुनीन्द्र के हृदय में परमात्मा बसता है। ओहोहो! मुनीन्द्र और समकिती के हृदय में परमात्मा का ध्येय वर्तता है। मैं परमात्मस्वरूप हूँ, ऐसा वर्तता है। आहाहा! **मुनीन्द्रों के चित्तकमल के (हृदयकमल के) भीतर जिसका वास है, जो विमुक्तिरूपी कान्ता के रतिसौख्य का मूल है...** आहाहा! जो मुक्तिरूपी स्त्री के साथ सम्बन्ध करना, उस आनन्दरूपी रति के सुख का मूल है। आहाहा! वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द की रति का सुख है। आहाहा! उसे यहाँ संयमी कहते हैं, उसे यहाँ प्रायश्चित्त लेनेवाला कहते हैं, उसे प्रायश्चित्ति अथवा धर्मी कहते हैं। आहाहा!

मुनीन्द्रों के चित्तकमल के (हृदयकमल के) भीतर जिसका वास है,... भगवान का। आहाहा! यह परमात्मा अन्दर हृदयकमल में बसता है परन्तु इसके सन्मुख कभी देखता नहीं और धूल के सन्मुख तथा इन्द्रिय विषय के सन्मुख देख-देखकर अनन्त जिन्दगी बितायी। आहाहा! अनन्त-अनन्त भव बिताये परन्तु भगवान परमात्मा, चैतन्यप्रभु, सहजानन्दी आत्मा अन्दर चित्त में विराजता है, उसके सन्मुख कभी देखा नहीं। आहाहा! बाहर के इन्द्रियों के विषय में शुभ और अशुभ दोनों विषय में रुकने से... आहाहा! चित्तकमल के अन्दर जिसका वास है, उसे देखा नहीं। चित्तकमल के अन्दर यह भगवान बसता है। आहाहा! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। अतीन्द्रिय अनन्त.. अनन्त.. अनन्त आनन्द का सागर है और अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त शान्ति... शान्ति... शान्ति... अकषायभाव, अनन्त शान्ति से भरपूर भगवान है। आहाहा! वह अन्दर चित्तकमल में विराजता है। आहाहा! परन्तु अन्दर देखे उसे खबर पड़े न! आहाहा! ऐसी बात है।

मुनीन्द्रों के चित्तकमल के (हृदयकमल के) भीतर जिसका वास है, जो विमुक्तिरूपी कान्ता के रतिसौख्य का मूल है... वास्तविक आनन्द का मूल तो वह भगवान आत्मा परमात्मा स्वयं है। आत्मा स्वयं परमात्मा ही है। सब आत्माएँ अन्दर स्वभावभाव से परमात्मा ही है। आहाहा! यह सब फेरफार था, वह इन्द्रिय के विषय और कर्म के कारण सब विकृतपना और फेरफार दिखता है। बाकी तो प्रत्येक आत्मा अन्दर में भगवान परमात्मस्वरूप है। आहाहा! परमात्मस्वरूप न होवे तो परमात्मा केवली होंगे कहाँ से? कहीं बाहर से आवे, ऐसा कुछ है? आहाहा! केवलज्ञान और परमात्मदशा, वह परमात्मस्वरूप स्वयं है, उसमें से आती है। आहाहा! साधारण प्राणी को ऐसा? साधारण प्राणी साधारण है ही नहीं। सब असाधारण आत्मा परमात्मा हैं।

सबको सुख चाहिए। सुख तो यहाँ है। आहाहा! मृग की नाभि में कस्तूरी। उसकी गन्ध वन में देखते हुए चारों ओर वन में दौड़ता है, इसी प्रकार भगवान आत्मा में अन्दर आनन्द है और बाहर में गुलांट खाता है। यहाँ से मिलेगा। इन्द्रिय के विषय खाने से, पीने से, भोग से... आहाहा! प्रभु! उसने आत्मा को मार डाला। विद्यमान चीज़ को अविद्यमान किया और अविद्यमान चीज़ को विद्यमान कर दिया। आहाहा! जो कायम रहनेवाली नहीं, क्षणिक है, दुःख है, विकार है, विपाक है, उसका विकार है... आहाहा! उस अविद्यमान

को विद्यमान करके ऐसा का ऐसा मर गया। विद्यमान चीज़ अन्दर परमात्मा जो है... आहाहा!

भीतर जिसका वास है, जो विमुक्तिरूपी कान्ता (स्त्री) के रतिसौख्य का मूल है (अर्थात् जो मुक्ति के अतीन्द्रिय आनन्द का मूल है)... मुक्ति अर्थात् मोक्ष के आनन्द का मूल... आहाहा! परमात्मा है। अन्दर इस चित्तकमल में विराजमान भगवान स्वयं... आहाहा! श्लोक किये हैं कुछ! गजब किया है! आहाहा! अमृत बरसाया है!! आहाहा!

मुमुक्षु : अमृत तो आप बरसाते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : अमृत बरसाया है। आहाहा!

कहते हैं प्रभु! परन्तु तेरे चित्तकमल में यह परमात्मा विराजता है न! वहाँ देखता नहीं और यह क्या करता है? आहाहा! बाहर में तू है नहीं, वहाँ तू देखा करता है और जहाँ तू है, वहाँ देखता नहीं। आहाहा! थोड़ी बात में बहुत बड़ी बात। आहाहा! लोग तो भरते हैं, हों! अब वहाँ करे तो दिक्कत नहीं। महिलाएँ बहुत हैं। आहाहा!

(अर्थात् जो मुक्ति के अतीन्द्रिय आनन्द का मूल है) और जिसने संसारवृक्ष के मूल का विनाश किया है— आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु परमात्मस्वरूप विराजमान है। उसका ध्यान करके... आहाहा! उसका झुकाव करके **संसारवृक्ष के मूल का विनाश किया है—** संसारवृक्ष का मूल मिथ्यात्व, अज्ञान का तो विनाश किया है। **ऐसे इस परमात्मतत्त्व को...** देखा! यहाँ तो परमात्मतत्त्व लेना। स्वयं अपना, हों! आहाहा! मुनीन्द्रों के चित्तकमल में परमात्मा विराजते हैं। अन्दर जिसका वास है। **जो विमुक्तिरूपी कान्ता के रतिसौख्य का मूल है (अर्थात् जो मुक्ति के अतीन्द्रिय आनन्द का मूल है)** आहाहा! **और जिसने संसारवृक्ष के मूल का विनाश किया है—** आहाहा! संसार के बीज जला डाले हैं। आहाहा! और केवलज्ञान का बीज बोया, वहाँ परमात्मप्रकाश को प्रगट किया। आहाहा! कहो, ऐसा तो, वहाँ सुना नहीं होगा, वर्षीतप किया था, उसमें आहाहा!

संसाररूपी वृक्ष फलाफूला यह भटकने का... आहाहा! उसका तो परमात्म ने विनाश किया है। परमात्मतत्त्व अन्दर है, उसकी दृष्टि और अनुभव करने पर यह संसार फलाफूला दिखता है, उसे मार डाला है, नाश कर डाला है, आहाहा! और जीवती ज्योति चैतन्य प्रभु को सन्मुख रखा है। आहाहा! अमृत का सागर भगवान! उस विद्यमान चीज़ को विद्यमान

किया है। उस अविद्यमान चीज़ का तो नाश कर डाला है। आहाहा! ऐसा उपदेश है। आहाहा! अनजाने व्यक्ति ने तो कभी सुना नहीं होगा। पूरे दिन धन्धा, पाप, पूरे दिन पाप—खाना-पीना, कमाना, दुकान में धन्धा, आठ-आठ घण्टे, दस-दस घण्टे दुकान में बैठे, ग्राहक को दिया... आहाहा! पूरी जिन्दगी जाती है। जहर में जिन्दगी जाती है। परमात्मतत्त्व यहाँ विराजता है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं। मुनि यह कहते हैं कि परमात्मा ऐसा कहते हैं कि परमात्मतत्त्व तो तू यहाँ अन्दर में है न, प्रभु! उसे छोड़कर तू बाहर यह सब प्रपंच में कहाँ पड़ा? आहाहा!

संसारवृक्ष के मूल का विनाश किया है—ऐसे इस परमात्मतत्त्व को मैं नित्य नमन करता हूँ। आहाहा! मुनिराज कहते हैं, परमात्मा की ओर मेरा ढलान नित्य है, कायम ढलान है। आहाहा! एक समय भी व्यवहार और निमित्त में मेरा झुकाव नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान परमात्मस्वरूप ही अन्दर विराजता है। उसके सन्मुख देखने पर उस परमात्मा का अनुभव होता है। वह परमात्मतत्त्व मैं हूँ। वह परमात्मतत्त्व मैं हूँ। आहाहा! यहाँ अरबों रुपये और करोड़ों रुपये धूल एकत्रित की। आहाहा! अरबोंपति, कहा न! नैरोबी। गाँव में ऐसे पन्द्रह अरबपति हैं। एक अफ्रीका के नैरोबी में पन्द्रह अरबपति और साढ़े चार सौ करोड़पति—साढ़े चार सौ धूल के पति।

मुमुक्षु : सबकी रिपोर्ट आपके पास आ जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे लोग बातें करते थे। सब करोड़पति व्याख्यान में आते थे। छब्बीस दिन रहे न? छब्बीस दिन। तब शरीर को भी ठीक रहा। वहाँ का हवा-पानी भी यहाँ के जैसे रहे। नहीं तो वहाँ तो दूसरा दिन निकलने के बाद तो वर्षा और यह सब हुआ। छब्बीस दिन कुछ नहीं हुआ।

मुमुक्षु : अभी कुछ मिलता नहीं। घी नहीं, दूध नहीं, चावल नहीं, नमक नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : और पैसा का ढ़ेर। वस्तु मिले नहीं। आहाहा! ऐसा का ऐसा दु:खी होकर बेचारा मर जाता है। आहाहा! ११७ गाथा (पूरी) हुई।

गाथा-११८

णंताणंतभवेण समज्जियसुहअसुहकम्मसंदोहो ।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्तं तवं तम्हा ।।११८।।

अनन्तानन्तभवेन समर्जितशुभाशुभकर्मसन्दोहः ।
तपश्चरणेन विनश्यति प्रायश्चित्तं तपस्तस्मात् ।।११८।।

अत्र प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः प्रायश्चित्तं भवतीत्युक्तम् । आसन्सारत एव समुपार्जितशुभाशुभकर्मसन्दोहो द्रव्यभावात्मकः पञ्चसन्सारसम्वर्धनसमर्थः परमतपश्चरणेन भावशुद्धिलक्षणेन विलयं याति, ततः स्वात्मानुष्ठाननिष्ठं परमतपश्चरणमेव शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमित्यभिहितम् ।

अर्जित अनन्तानन्त भव के जो शुभाशुभ कर्म हैं ।
तप से विनश जाते, सुतप अतएव प्रायश्चित्त हे ॥११८॥

अन्वयार्थ : [अनन्तानन्तभवेन] अनन्तानन्त भवों द्वारा [समर्जितशुभाशुभकर्मसंदोहः] उपार्जित शुभाशुभ कर्मराशि [तपश्चरणेन] तपश्चरण से [विनश्यति] नष्ट होती है; [तस्मात्] इसलिए [तपः] तप [प्रायश्चित्तम्] प्रायश्चित्त है।

टीका : यहाँ (इस गाथा में), प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन वह तप प्रायश्चित्त है (अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर प्रतपना—प्रतापवन्त वर्तना सो तप है और वह तप प्रायश्चित्त है) ऐसा कहा है।

अनादि संसार से ही उपार्जित द्रव्यभावात्मक शुभाशुभ कर्मों का समूह—कि जो पाँच प्रकार के (-पाँच परावर्तनरूप) संसार का संवर्धन करने में समर्थ है वह—भावशुद्धि लक्षण (-भावशुद्धि जिसका लक्षण है ऐसे) परमतपश्चरण से विलय को प्राप्त होता है; इसलिए स्वात्मानुष्ठाननिष्ठ (-निज आत्मा के आचरण में लीन) परमतपश्चरण ही शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है ऐसा कहा गया है।

गाथा - ११८ पर प्रवचन

११८ गाथा।

णंताणंतभवेण समज्जियसुहअसुहकम्मसंदोहो।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्तं तवं तम्हा।।११८।।

अर्जित अनन्तानन्त भव के जो शुभाशुभ कर्म हैं।
तप से विनश जाते, सुतप अतएव प्रायश्चित्त हे॥११८॥

परन्तु यह तप कौन सा? आहाहा! यह कहेंगे।

टीका : यहाँ (इस गाथा में), प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन वह तप... यह तप की व्याख्या। अपवास करना, छह महीने का लंघन करना, वह अपवास नहीं; वह तो लंघन है। आहाहा! यह **प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्व...** यहाँ तो प्रसिद्ध है, कहते हैं। आहाहा! अन्दर भगवान कारणपरमात्मा शक्तिस्वभावरूप से कायम प्रसिद्ध है वह तो। आहाहा! उसे तूने अप्रसिद्ध कर डाला और यह अप्रसिद्ध है, उसे प्रसिद्ध कर डाला। इन्द्रियों के विषय और उनके फल और... आहाहा! ऐसी बात है। मुम्बई में दुकान हो, बराबर चलती हो। 'टोलिया'! इन्हें बाजार में दुकान है। दुकान में गये थे न? और दुकान चलती हो, आमदनी होती हो, लड़के आवें। आहाहा! धमाधम तुम्हारे... आहाहा! निवृत्ति नहीं मिलती। हमारे यहाँ लड़के हैं न 'भूपेन्द्र डाईंग एण्ड प्रिन्टिंग वर्क्स' छापखानावाले।

मुमुक्षु : किसी समय मिलने आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहार के समय आया था। बाकी तो सामने देखे नहीं। आवे और सामने देखे नहीं। कमाने के कारण धूल में रूकता है। आहाहा!

मुमुक्षु : अभी कमा लें फिर आत्मा का करेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कमा-कमाकर मर जाएगा। मैंने तो एक बार कहा था कि पूरे दिन यह करते हो, मरकर ढोर होओगे। याद रखना। उसके लड़कों के पास साठ लाख रुपये हैं। वह हमारे भाई के पुत्र हैं। 'भूपेन्द्र डाईंग एण्ड प्रिन्टिंग वर्क्स' खेतबाड़ी में। मरकर

पशु होओगे, याद रखना। सामने देखते नहीं, सुनने आते नहीं और बहुत से बनिये तो ढोर ही होनेवाले हैं। धर्म नहीं, तथा पुण्य नहीं। पुण्य कब होता है? कि दो-चार घण्टे सत्समागम हो। सत्समागम कहना किसे, इसकी भी अभी खबर नहीं होती। जिस-तिस साधु ने वस्त्र पहने हों, उसे सत्य माने और उसके साथ रहे, वह तो मिथ्यात्व का पोषण है। आहाहा! प्रतिदिन दो-चार घण्टे सत्समागम होवे तो पुण्य भी बाँधे, तो स्वर्ग में जाए, अच्छा मनुष्य होवे। आहाहा!

मुमुक्षु : आपके भाई के पुत्र को आपको पशु में भेजना है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान ने ऐसा कहा है। भगवान ने ऐसा कहा है कि जिसे कुछ धर्म की खबर नहीं... आहाहा! और सत्समागम से कुछ पुण्य भी नहीं बाँधा। सत्समागम दो-चार घण्टे, एक घण्टे सुनकर चले जाएँ और फिर उसका कुछ ठिकाना न हो। दो-चार घण्टे, पाँच-पाँच घण्टे सत्समागम में आवे तो उसे पुण्य तो बँधे, तो स्वर्ग में जाए, मनुष्य में आवे। यह दोनों न हों, वे ढ़ोर में जानेवाले हैं। आहाहा! ये करोड़पति और अरबोंपति सब पशु होनेवाले हैं। आहाहा! कठिन बात है बापू! सत्य तो यह है परन्तु अब जगत को... आहाहा! अज्ञान का इतना विस्तार हो गया है, मिथ्यात्व का इतना अधिक प्रचार हुआ है कि उसमें आत्मा का समकित क्या है, यह बात तो पूरी गुम हो गयी है। आहाहा! सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने जो कहा... आहाहा! वह बात तो एक ओर पड़ी रही और उसे छोड़कर सब बहुत-बहुत प्रकार के भेद डाले हैं, वे सब अज्ञान के भेद हैं, यह एक ही परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के मुख से वाणी निकली है, वह यह शास्त्र है।

यहाँ (इस गाथा में), प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्व में... परमात्मस्वरूप आत्मा प्रसिद्ध है। अस्ति है और प्रसिद्ध है। सत्ता है और अस्तिरूप से प्रसिद्ध है। आहाहा! यह सब अप्रसिद्ध है। उस क्षणिक में रुके हुए... ५०-५०, ६० वर्ष उसमें रहकर चले जाएँ पशु की तरह। आहाहा! कठिन काम है, बापू! **प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहकर...** देखा? अन्तर्मुख। परमात्मा अन्दर आत्मा अन्तर्मुख है। बहिर्मुख इन्द्रियों के विषय में वह नहीं है। आहाहा! अन्दर की निर्मल वीतरागी पर्याय द्वारा अन्तर्मुख से दिखायी दे, ऐसा यह आत्मा है। आहाहा! वीतरागी निर्मल पर्याय... आहाहा! उससे **अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन, वह तप...** देखो! कहो, बलुभाई! यह तुम्हारे अपवास को

तप नहीं कहा। आहाहा! महिलाएँ वर्षीतप करें। पश्चात् पति पास में पैसा होवे तो उत्सव करे, पाँच-दस हजार खर्च करे। महिलाएँ रात्रि में गाना गाने इकट्ठी हों, फिर सबको प्रभावना दे तो ओहोहो! उसमें अन्तिम और कुछ ढोंग करे, अट्ठम करे तो कहे सिर दुःखता है। सोंठ-बोंठ चोपड़े।

मुमुक्षु : सुखड़ चोपड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुखड़ चोपड़े। आहाहा! सब देखा है न। आहाहा!

यह प्रभु अन्दर परमात्मतत्त्व विराजमान है। अन्तर्मुख देख! - ऐसा कहते हैं। अन्तर्मुख विराजमान है। बहिर्मुख की दृष्टि से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! **अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन...** देखो! अन्तर में रहकर प्र-विशेष, तपन अर्थात् एकाग्रता। शुद्धता में बहुत चारित्रसहित एकाग्रता। चारित्रसहित, हों! अकेली नहीं। तब उसे तप कहने में आता है। आहाहा! तपन्ते इति तपः। जैसे सोना गेरूं से ओपता और शोभता है, वैसे भगवान आत्मा अन्तर की एकाग्रता के निर्मल परिणाम से शोभता और ओपता है। आहाहा! उसे तपस्या कहा जाता है। बाकी सब लंघन-लंघन है। आहाहा! यह तप की व्याख्या आयी।

शुद्धकारणपरमात्मतत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहकर... आहाहा! वह भी **सदा अन्तर्मुख रहकर...** वापस, हों! आहाहा! जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसे तो दृष्टि में सदा परमात्मा ही विराजता है। उसके ध्येय में तो परमात्मा सदा है। आहाहा! उसकी दृष्टि में दृष्टि का विषय भी दृष्टि नहीं। दृष्टि का विषय तो ध्येय परमात्मा है। आहाहा! वह राग को गिनता नहीं, पर्याय को मानता नहीं, त्रिकाली परमात्मा.. आहाहा! **अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन...** वापस प्रतपन कहा। अकेला तप नहीं लिया। प्रतपन अर्थात् चारित्रसहित आनन्द की रमणता में विशेष अतीन्द्रिय आनन्द में उछाला मारना। समुद्र के किनारे जैसे ज्वार आती है, वह उसमें भरा हुआ है, उसमें से ज्वार आता है। इसी प्रकार भगवान में अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। उसमें से पर्याय के किनारे अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है, उसे तप कहा जाता है। आहाहा! बात-बात में अन्तर। वे लोग नहीं कहते? 'आनन्दा कहे परमानन्दा माणसे माणसे फेर, एक लाखे न मले, और एक त्रांबिया न तेर।' इसी प्रकार यहाँ प्रभु कहते हैं तुझे और मुझे बात-बात में अन्तर है, प्रभु! आहाहा! मोक्ष का मार्ग और तेरी प्रतीति का झुकाव, इन दोनों को (परस्पर) विपरीतता है। आहाहा!

प्रतपन वह तप प्रायश्चित्त है... पाप लगा और गुरु के पास जाकर कुछ उपवास, दो उपवास लिये, वह तो सब बाहर की बातें हैं। वह पुण्य बन्ध का कारण, वह तो संसार है। आहाहा! **(अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर...)** देखा! **शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर प्रतपना—** आहाहा! प्रतपना—प्रतापवन्त वर्तना। प्रतापवन्त वर्तना, अपना प्रताप। पर्याय में आनन्द की ओर का प्रताप वर्ते। जिसके प्रताप में दया, दान का विकल्प भी प्रतापवन्त जिसमें नहीं है। आहाहा! युवाओं ने तो ऐसा सुना भी नहीं होगा। सात-आठ वर्ष कमाने का पढ़े हों, सात-आठ वर्ष उसमें जाए। निवृत्त होकर फिर धन्धे में उलझ जाए। हो गया। आहाहा!

(सो तप है और वह तप प्रायश्चित्त है)... उस तप को भगवान ने प्रायश्चित्त कहा है। क्या कहा? शुद्धात्मस्वरूप, त्रिकाली शुद्ध परमात्मस्वरूप में (लीन) रहकर, लीन रहकर... आहाहा! आनन्द की उग्रता होना, इसका नाम तप है। आहाहा! और वह तप प्रायश्चित्त है, ऐसा भगवान ने कहा है। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर महाविदेह में विराजमान हैं, उनका यह कथन है। परमात्मा साक्षात् विराजते हैं। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ (विराजते हैं)। आहाहा! यह बात जँचना... यह थोड़ा देश इतना है और महाविदेह कहाँ रहा, उसे मानना! महाविदेह में साक्षात् बीस तीर्थंकर विराजमान हैं। लाखों केवली विराजते हैं। लाखों केवली! आहाहा! वहाँ की यह बात है, वहाँ से आयी हुई यह बात है। आहाहा! उसे प्रायश्चित्त कहते हैं, दूसरे को प्रायश्चित्त नहीं कहते।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)